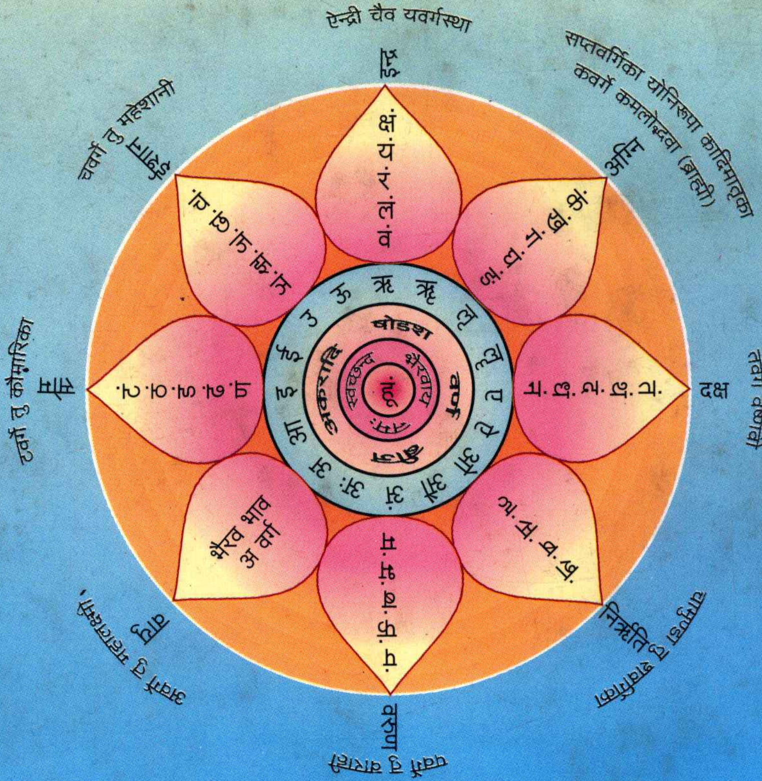
महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[तृतीयो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्



हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[३२]

महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[तृतीयो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च
डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंस'



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 32]

ŚRĪ SVACCHANDATANTRA

[PART THREE]

With Two Commentaries

'UDDYOTA'

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ KṢEMARĀJA

&

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

By

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. RAJENDRA MISHRA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'



VARANASI
2004

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-130-6 (Part III)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at —
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 450.00



Printed by—
VIJAY PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[३२]

महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[तृतीयो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'



वाराणस्याम्

२०६१ तमे वैक्रमाब्दे १९२६ तमे शकाब्दे २००४ तमे खैस्ताब्दे

ISBN : 81-7270-130-6 (Part III)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक: —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।



प्रकाशक:—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२



प्राप्ति-स्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२



प्रथमं संस्करणम् – ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् – ४५०.०० रूप्यकाणि



मुद्रक:—
विजय प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी।

नान्दीवाक्

'स्वच्छन्दतन्त्रम्' के तृतीय भाग का नान्दीवाक् लिखते हुए विलक्षण स्वच्छन्दता एवं आह्लाद का अनुभव कर रहा हूँ । इस खण्ड के पाँच पटलों में काश्मीरक शैवसम्प्रदाय की अनन्यत्रोपलब्ध रहस्यमय साधनोपायभूत सामग्री का संकलन किया गया है । पाँचवा पटल **तत्त्वादिदीक्षाप्रकाशन,** छठाँ पटल **पञ्चप्रणवाधिकार,** सातवाँ पटल **कालाधिकार,** आठवाँ पटल **अंशकाधिकार** तथा नवाँ पटल **कोटराक्षविधान** कहा गया है । ग्रन्थगर्भित इन शीर्षकों के अन्तर्गत अत्यन्त गूढ़, गहनप्रयत्नसाध्य, स्वानुभूतिमात्रसंवेद्य तत्त्वसमीक्षा-सामग्री संकलित की गई है ।

दीक्षा का सन्दर्भ भगवती भैरवी की पृच्छा एवं परमेश्वर (शिव) के समाधानवचनरूप में व्याख्यात किया गया है । भारतीय शास्त्रों में प्रतिपाद्य-प्रस्तुति की यह सुगम एवं मनोरम शैली सर्वत्र मिलती है । सारे पुराण प्राय: संवादात्मक हैं । कहीं वीतराग शुक एवं परीक्षित का युग्म है वक्ता-श्रोता के रूप में, तो कहीं ब्रह्मा एवं देवर्षि नारद का युग्म; उपनिषदों में भी कहीं याज्ञवल्क्य-गार्गी, याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी अथवा यम-नचिकेता का युग्म है, तो कहीं उद्दालक-श्वेतकेतु का अथवा सत्यकाम-गौतम का ! यहाँ तक कि पातञ्जल महाभाष्य की व्याकरण शिक्षा भी गुरुशिष्य-संवाद रूप में ही प्रस्तुत की गई है । संवादात्मक होने के ही कारण शास्त्रों का शुष्क एवं चूडान्त सिद्धान्त-ज्ञान सरल, सुगम एवं रुचिकर प्रतीत होने लगता है ।

स्वच्छन्दतन्त्र में व्याख्यात **तत्त्वदीक्षा** का अभिप्राय है पृथ्वी से शिव तक परिगणित छत्तीस तत्त्वों की दीक्षा । ये समस्त तत्त्व वाग्मी साधक गुरु द्वारा सुयोग्य शिष्य के शरीर में अधिष्ठित किये जाते हैं । तत्त्वों के अधिष्ठान का अत्यन्त मनोरम क्रम स्वच्छन्दतन्त्र में बताया गया है–पदतल से गुल्फ-पर्यन्त पृथ्वीतत्त्व, गुल्फ से नाभिपर्यन्त जलादारभ्य प्रधान-पर्यन्त २३ तत्त्व, नाभि से तालुपर्यन्त सात तत्त्व–पुरुष, कला, विद्या, राग, काल, नियति एवं माया, तालु से ब्रह्मबिलपर्यन्त तीन तत्त्व–शुद्धविद्या, ईश्वर एवं सदाशिव तथा ब्रह्मबिल से ऊपर समनापर्यन्त शक्तिसंवलित शिवतत्त्व ।

तत्त्वदीक्षा का प्रकरण पूर्णत: व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक है । स्वच्छन्द-भैरव बनने की प्रक्रिया जितनी ही गूढ़, दुस्साध्य एवं संकटप्रत्यवाय-बहुल है, सिद्धि-प्राप्ति की स्थिति में उतनी ही विस्मयावह भी । सिद्धिप्राप्त साधक ब्रह्मा, विष्णु तथा इन्द्रादि देवों तक का स्वामी बन जाता है । वह दैत्यों, नागों तक का

स्वामी, निग्रहानुग्रह का पूर्ण अधिकारी, काल के दर्प का भी दलनकर्ता तथा पर्वतों को भी ढहाने में समर्थ बन जाता है–

त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छन्दसदृशो भवेत् ।
ब्रह्मविष्णिवन्द्रदेवानां सिद्धदैत्योरगेशिनाम् ।।
भयदाता च हर्ता च शापाऽनुग्रहकृद् भवेत् ।
दर्पं हरति कालस्य पातयेद् भूधरानपि ।।

(स्वच्छन्दतन्त्रम्–६.५४-५५)

मन्त्र में अमोघ शक्ति होती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ही मन्त्रात्मक सत्ता है और जो मन्त्रात्मकता ब्रह्माण्ड में अनुस्यूत है, वही पिण्ड अथवा शरीर में भी । इस रहस्य का ज्ञान तथा अनुभव सिद्ध साधक को ही हो पाता है, सबको नहीं ।

बालीद्वीप के तन्त्रवेत्ता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को परमशिव **भटार अतिन्तिय** (अर्थात् निष्कल शिव) की ही अभिव्यक्ति मानते हैं । समस्त दशों दिशाएँ शिवाधिष्ठित हैं तथा प्रतीकाक्षरबोध्य हैं । उन सबको प्रणव (ऊङ्कार) से संयोजित करके ही मन्त्रराज का निर्माण होता है, जिसे **दशाक्षर** कहते हैं । क्रम इस प्रकार है–

नवसंघ (Nava Sangga)

स्थान	**देव**	**वर्ण**	**मन्त्राक्षर**
१. केन्द्र (Puseh)	शिव	मिश्र	इंग्-यंग् (=शक्ति+शिव)
२. उदीची (Kadja)	विष्णु	कृष्ण	हैंग्
३. ऐशानी (Kadja Kangin)	शम्भु	नील	वंग्
४. प्राची (Kangin)	ईश्वर	श्वेत	संग्
५. आग्नेयी (Clod Kangin)	महेश्वर	पाटल	मैंग्
६. अवाची (Clod)	ब्रह्मा	रक्त	बंग्
७. नैऋती (Clod Kauh)	रुद्र	नारंग	यंग्
८. प्रतीची (Kauh)	महादेव	पीत	यंग्
९. वायव्य (Kadja Kauh)	शङ्कर	हरित	सिंग्

इस प्रकार 'इंग् यंग् हैंग् वंग् संग् मैंग् बंग् मंग् यंग् सिंग्' स्वरूप नवाक्षर मन्त्र ही समूचे ब्रह्माण्ड का बोध करा देता है । इस मन्त्र को **ओङ्कार** से समन्वित कर साधक (पेडण्डा) दुर्लभ सिद्धियों का स्वामी बन जाता है । बालीद्वीपीय **ओङ्कार** में भी अंग-उङ्ङ्-मंग् ये तीन अक्षर समाविष्ट हैं, जो सदाशिव, परमशिव, महा-शिव के अथवा स्वर्ग, पृथ्वी, पाताललोक के अथवा अग्नि,

जल, वायुतत्त्व के अथवा पुरुष, नारी एवं शिशु (=सृष्टि) के प्रतीक माने जाते हैं। बालीद्वीपीय शैवतन्त्र ग्रन्थों में मन्त्रराज ओङ्कार को साकार दर्शाया गया है तथा इसके अनुकूल-प्रतिकूल प्रयोगों की बृहत् चर्चा की गई है। ओङ्कार का विग्रह इस प्रकार है- 

ओङ्कार के इस विग्रह में शीर्ष पर खड़ी रेखा ही 'नाद' है, इसी को ओङ्कार का **लिङ्ग** भी कहा जाता है। नीचे का अर्धचन्द्र **योनि** है। इन दोनों के बीच स्थित बिन्दु ही वीर्य एवं रज के समन्वय से उद्भूत **सृष्टि** तत्त्व है। शेष भाग ओङ्कार-पुरुष का शरीर है। बालीद्वीप के महासाधक दो ओङ्कार-पुरुषों का मुँह परस्पर जोड़कर **ओङ्कार-मधुमुख** नामक ताबीज बनाते हैं, जो प्रतिकूल एवं असाध्य लक्ष्य को भी अनुकूल एवं सुलभ बना देता है। परन्तु पूँछ भाग से जुड़े ओङ्कारों की ताबीज **ओङ्कार-पसह्** उच्चाटन एवं मारण तक कर देती है। यह सब सिद्ध धर्माचार्य (पेडण्डा) की साधना पर आधारित होता है। यन्त्रविज्ञान अत्यन्त गूढ़, कृच्छ्रसाध्य तथा प्रत्यवायात्मक तो है, परन्तु उसकी सिद्धियाँ विलक्षण हैं।

तन्त्रविज्ञान-नदीष्ण आचार्य **डॉ० परमहंस मिश्र** जी की असीम कृपा से सामान्य पाठकों को भी उस भयावह अरण्यानी में सकुशल प्रवेश का अवसर प्राप्त हो पा रहा है। मैं शैवतन्त्र के मूर्तविग्रह आचार्य मिश्र के प्रति हार्दिक आभार एवं प्रणामाञ्जलि उपन्यस्त करता हूँ। उनकी जैसी शास्त्र-प्रतिभा एवं दुर्धर्ष मन्त्रसाधना के आचार्य वाराणसी में अब विरले ही हैं। **सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय** के प्रति डॉ० मिश्र का असीम वात्सल्य है, जिसका परिणाम है 'स्वच्छन्दतन्त्रम्' का यह हिन्दी रूपान्तर। मैं भूयोभूयः कृतज्ञ हूँ आचार्य मिश्र के प्रति।

प्रकाशनतन्त्र के सूत्रधार **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** तथा प्रकाशन-संस्थान के सभी सहयोगियों को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, इस सद्ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ। आशा है विद्वज्जगत् उपकृत होगा इस प्रकाशन से।

वाराणसी
रामनवमी, वि०सं० २०६२
१८ अप्रैल, २००५ ई०

सहृदय-वशंवद

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

कुलपति

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

स्वात्मविमर्श

स्वच्छन्दतन्त्र का यह तीसरा भाग है । इसके पहले के दो भागों में स्वतन्त्र भैरवभट्टारक के रहस्यों को परत दर परत खोलने की चेष्टा की गयी है । भारत-वर्ष की मनीषा के उन्मेष के सोपानों का स्वाध्याय किसी भी अध्येता के सौभाग्य का संवर्द्धन करता है । भैरव सम्प्रदाय सिद्ध मान्यताओं की रहस्यानुभूतियों का भावन करने वाला महापुरुष अपनी अणुता में ओतप्रोत अल्पज्ञता का अपासन कर सर्वज्ञता में अनुप्रवेश पा लेता है ।

सम्प्रदाय शब्द का यहाँ जान-बूझकर प्रयोग किया गया है । गुरुपरम्परा से प्राप्त, स्वबोध सुधा से सराबोर, रहस्यानुभव भव्य, चेतना की चेतसिकता के चिन्मय संचार की अनिर्वचनीयता से अञ्चित, चिरन्तन विज्ञान जब एक मान्यता के पारम्परिक प्रवाह में प्रवहमान हो जाता है, तो वही एक सम्प्रदाय का रूप लेता है । शक्तिपात से पवित्रित शिष्य को सद्गुरु वह ज्ञान प्रदान करते हैं, जिससे ज्ञान का सद्भाव सिद्ध हो जाता है । साथ ही पशुवासना का क्षय हो जाता है । सद्गुरु द्वारा ज्ञान दान और जीवभाव पर पड़े आवरण का क्षरण दीक्षा से होता है । दीक्षा से दीक्षित वह वर्ग जो उन महान् मान्यताओं से अनुशासित होता है, एक सम्प्रदाय बन जाता है ।

मानव जीवन में सम्प्रदाय, उत्तरदायित्वों के पालन की प्रेरणा देता है । इसी भारतीय जीवनदृष्टि को व्यावहारिक रूप देने के लिये भैरवसद्भावसिद्ध इस विशिष्ट सम्प्रदाय का सूत्रपात आगमिक मनीषियों ने किया था । स्वच्छन्दतन्त्र की पद्धतियों के स्वाध्याय से इसके साम्प्रदायिक उत्कर्ष का इतिहास सामने आ जाता है और एक भारतीय जीवन पद्धति के आगमिक राजमार्ग का अध्याय खुल जाता है । जीवन की सभी व्यावहारिक दशाओं का आदिम चित्र आविष्कृत हो जाता है । भारतवर्ष के सभी सम्प्रदाय गुरुजनों द्वारा प्रवर्त्तित समयाचार से अनुशासित होते हैं । पारम्परिक रूप से गुरुक्रम से ही शिष्यों में रहस्यात्मक अनुक्रमों का संक्रमण किया जाता रहा है ।

शैव सम्प्रदाय परम्परा का महाप्रवाह वैदिक आचार परम्परा के समान्तर चलने वाला प्रवाह है । इसमें शिव, रुद्र और भैरव की उपासनाओं के संस्कार आज भी उसी तरह प्रवाहित हैं । कालक्रम से परिवर्त्तनशील संसार में प्रकृति में विकृति आती रहती है । विकृति को संस्कृति में बदलने की प्रक्रिया भी चलती रहती है ।

प्राचीन आगमिक ग्रन्थों में विकृति को संस्कृति में परिवर्त्तित करने की आनुशासनिक सरणी ही संग्रथित है। भैरव साधना के सन्दर्भ में शिष्य को क्या करना चाहिये ? इसका सर्वाङ्ग सम्पूर्ण निर्देश इस ग्रन्थ में मिलता है।

प्रस्तुत खण्ड में दीक्षा पद्धतियों के भेद, मोक्ष के महान् उद्देश्य की उपलब्धि के साधन रूप छः अध्वावर्ग के शोधन का प्रकार, षाट्कोशिक देह और भैरवलीला कलापों के प्रतीक विश्व में काल की कलना के आयाम का ऊहापोह, विश्वभरण, रवण और वमन के विशद रूप, वैद्युतिक ऊर्जा के आधार की अंशात्मक रश्मियों का विमर्श तथा कोटराक्ष भैरव साधना के सन्दर्भों में साधकों की शारीरिक रक्षा के आयुर्वेदिक उपाय वर्णित हैं।

इनके विभिन्न सोपान इस खण्ड में केवल चार पटलों में संगृहीत हैं। उनका संक्षिप्त सारांश यहाँ प्रस्तुत है।

इसी क्रम में सर्वप्रथम सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के कुलक्लृप्ति-कोविद, महनीय महाकवि, कुलपति आचार्यप्रवर **प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र** जी की प्रसादसिद्ध स्वस्तिवाचिक प्ररोचना के लिये उन्हें आशीर्वाद सुधा से अभिषिक्त कर रहा हूँ।

प्रकाशन निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** मेरी आत्मीयता से परिपूर्ण आन्तर आलवाल में विकसित स्नेहलता के प्रसून की सुरभि से प्रसन्न होने वाले सहृदय शिरोमणि हैं। उन्हें अनन्त अनन्त आशीर्वाद।

पूरा प्रकाशन विभाग मुझे स्नेहन प्रदान करता है। मैं सबका आभार स्वीकार करता हूँ।

॥ इति शम् ॥

परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

सार-निष्कर्ष

पञ्चम पटल

तत्त्व-दीक्षा का स्पष्टीकरण करने के लिये ही इस पटल का प्रवर्त्तन किया गया था। कलादीक्षा का वर्णन भगवान् भूतभावन ने चतुर्थ पटल में किया था। देवी ने स्वच्छन्द भट्टारक से यह कहा कि, भगवन्! आपने कला-दीक्षा की प्रक्रिया का कथन पहले ही कर दिया है। अब कृपा कर तत्त्वदीक्षा के सम्बन्ध में हमें बतायें।

तत्त्व ३६ माने जाते हैं। पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त ३६ तत्त्व परिगणित हैं। २५ तत्त्व सांख्य और भागवत सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। पृथ्वी से पुरुष पर्यन्त २५ तत्त्व होते हैं। इसके बाद मायात्मक षट्कञ्चुक पर्यन्त ३१ तत्त्व होते हैं। ये सभी असित सृष्टि के तत्त्व हैं। सितसृष्टि में ५ तत्त्व विद्या, ईश्वर, सदा-शिव, शक्ति और शिव परिगणित हैं। इस तरह ३१+५=३६ तत्त्व तन्त्र की आगमिक परम्परा में परिगणित हैं। इन तत्त्वों का शोधन साधक की आध्यात्मिक सिद्धि के लिये आवश्यक है।

तत्त्व दीक्षा चार प्रकार की मानी जाती है–

१. षट्त्रिंशत्तत्त्व दीक्षा– इसमें ३६ तत्त्वों के शोधन की प्रक्रिया विशेषत: अपनायी जाती है।

२. नवतत्त्व दीक्षा– इसमें प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव परिगणित हैं। इसकी एक रहस्यात्मक विशिष्टता की ओर अध्येता वर्ग का ध्यान आकृष्ट कराना चाहता हूँ। भैरव सम्प्रदाय में भैरवाष्टकों की आराधना का सर्वाधिक महत्त्व है। ये १–कपालेश, २–शिखिवाहन, ३–क्रोधराज, ४–विकराल, ५–मन्मथ, ६–मेघराज, ७–सोमेश्वर और ८–विद्याराज नामक भैरवाष्टक रूप से प्रसिद्ध हैं।

इनके आठवें भैरव, विद्याराज माने जाते हैं। इनका नौ अक्षरों का नवाक्षर मन्त्र ही प्रातिलोम्य दृष्टि से नवतत्त्व के प्रतीक के रूप में मान्य है। जैसे विद्याराज के मन्त्राक्षर ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ऊ और प्रणव बिन्दु हैं। १–प्रतिलोम दृष्टि से 'ऊ' का अर्थ पृथ्वी से प्रकृति पर्यन्त २४ तत्त्व है।

२– 'य्'कार का अर्थ पुरुष और पुरुष के स्पृहामय होने के कारण रागतत्त्व अर्थात् पुरुष और राग दो तत्त्व हैं।

३–'व्'कार का अर्थ नियति और विद्यातत्त्व है ।

४–'ल्'कार का अर्थ काल और कला दो तत्त्वात्मक है ।

५–'म्'कार का अर्थ मायातत्त्व है ।

६–'क्ष्'कार शुद्धविद्या तत्त्व, ७–'र्'कार ईश्वरतत्त्व और ८–'ह्'कार का अर्थ सदाशिव तत्त्व होता है । इस प्रकार इन आठ वर्णों में ३४ तत्त्व अन्तर्भूत हो जाते हैं । जहाँ तक प्रणव बिन्दु का प्रश्न है, इसमें शक्ति और शिव ये दोनों परस्पर अवियुक्त परिगणित करने पर ३६ तत्त्वों की गणना नौ तत्त्वों में ही हो जाती है । इन नौ अक्षरों में ३६ तत्त्वों की स्वात्मव्याप्ति होती है । इन सबका शोधन मूलमन्त्र से करके परमतत्त्व में योजन करने की प्रक्रिया ही दीक्षा कहलाती है ।

३. त्रितत्त्व दीक्षा–इसके अन्तर्गत १–आत्मतत्त्व, २–विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व आते हैं । आत्मतत्त्व के अन्तर्गत पृथ्वी से माया पर्यन्त ३१ तत्त्व आते हैं । इनका वाचक अक्षर 'अ'कार है । 'अ'कार प्रणव का प्रथम अक्षर है । 'अ'-कार ही आत्मतत्त्व है ।

२–दूसरा तत्त्व विद्यातत्त्व है । इसके अन्तर्गत शुद्ध विद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्व परिगणित हैं । एक तरह से यह विद्यातत्त्व इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का प्रतीक तत्त्व है । इसका वाचक बीज 'उ'कार है ।

३–तीसरा शिवतत्त्व है । प्रणव का मकार शिवतत्त्व का ही वाचक अक्षर है । 'म्' के अतिरिक्त प्रणव में बिन्दु और नाद भी आते हैं । इनके साथ उन्मना तक का शोधन हो जाता है । तत्पश्चात् परतत्त्व में गुरुदेव जोड़ देते हैं ।

४–चौथी दीक्षा एकतत्त्व दीक्षा होती है । इसमें केवल शिवतत्त्व का शोधन होता है । शिव में सभी तत्त्वों की स्वात्मव्याप्ति और सभी तत्त्वों में शिव की स्वात्मव्याप्ति होती है । शिवतत्त्व के शुद्ध होने पर परमशिव में योजन हो जाता है ।

इस पटल का मुख्य प्रतिपाद्य विषय विद्याराज भैरव के मूलबीज मन्त्र 'ह्क्ष्म्लव्यूं' के नौ अक्षरों के आधार पर नवनाभ मण्डल का यथाविधि निर्माण कर मध्य पीठ में भैरवदेव के पूजन का विधान है । यह एक तरह से पद्माष्टकान्तर्गत भैरव-यज्ञ का अनुष्ठान होता है । गुरुदेव इस यज्ञ के आचार्य होते हैं । पद्मपत्राष्टकों पर वर्ण न्यास, विद्याराज मन्त्रवर्ण न्यास होता है । इस विधान के अनुसार वर्ण वर्ण का, मन्त्रों का, भुवनों (कालाग्नि से समस्त १०८ भुवनों) का

शोधन हो जाता है । त्रितत्त्व-दीक्षा के अनुसार भी सभी तत्त्वों के शोधन का अन्तर्विधान इस पटल में वर्णित है ।

शिष्य के सभी तत्त्वों के शोधन के उपरान्त उसको समय का श्रावण करते हैं । 'समय' सम्प्रदाय के अनुसार पालनीय आचार और नियम माने जाते हैं । अनुशासित रहकर ही आचारवान् शिष्य सम्प्रदाय की रक्षा कर सकता है । भुक्ति और मुक्ति रूप उभयार्थ फल की प्राप्ति अनुशासनबद्ध समयाचार पालन से ही सम्भव है ।

इस पटल की मुख्य विशेषता 'विज्ञानदीक्षा' है । विज्ञान-दीक्षा में श्री सद्गुरुदेव शिष्य के स्वात्म को स्वात्म-प्राण में नियोजित कर लेते हैं । 'उद्घात' प्रक्रिया द्वारा शिष्य का शोधन स्वयं कर देते हैं । पाँच उद्घातों से धरा तत्त्व का, ओङ्कार के त्रितत्त्वों का और इसी तरह शिष्य के उन्मनान्त तत्त्वों का शोधन हो जाता है । शिष्य क्रमशः तत्त्वव्यापी और शिवव्यापी हो जाता है । परतत्त्व में योजन की विशिष्ट प्रक्रिया भी इस पटल का मुख्य विषय है । क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्तियों की परिभाषाओं के अनुसार चलना साधक का विशेष कर्त्तव्य है ।

गुरु परम्परा से प्राप्त साम्प्रदायिक सिद्धान्त विशेष रूप से रक्षणीय होते हैं । षाट्कोशिक शरीर की सारी चक्र-साधना इसी पर निर्भर करती है । षडध्व-दर्शन के अनुसार ही अध्वाशोधन भी सम्भव है । इस प्रकार के आचरण से सारा कृत सुकृत हो जाता है ।

सार-निष्कर्ष

षष्ठ पटल

समयाचार के श्रावण का सन्दर्भ पञ्चम पटल के मुख्य विषय के रूप में सन्दृब्ध है । यहाँ उसकी सूचना मात्र है । शिष्य की तपस्या पर ही निर्भर है कि, वह कितनी सिद्धि प्राप्त कर सकता है ।

१–सिद्धि के प्रथम उपाय के रूप बत्तीस अक्षर वाले अघोर मन्त्र के अक्षर-लक्ष संख्या का जप माना गया है ।

२–प्रणव भेदन की प्रक्रिया के ज्ञान से परतत्त्वानुप्रवेश सिद्ध हो जाता है एवं निःशंसय मृत्यु हो जाती है ।

३–प्रणव पाँच प्रकार का होता है । अतः इसकी पचीस तत्त्वात्मक अवस्थायें हो जाती हैं । इसका जानना मन्त्री के लिये आवश्यक है । अक्षर-लक्ष जप में निष्कल भैरव बीज का प्रयोग भी आवश्यक है ।

४–पञ्चक संयुक्त सकल निष्कल भैरव इसी शरीर में शश्वत् स्फुरित हैं ।

५–महाह्रदरूप परामृत महोदधि के अनुसन्धान से मन्त्रवीर्य में अनुप्रवेश हो जाता है । मुमुक्षु के लिये यह आवश्यक है ।

६–सकल भैरव मन्त्र जप से निष्कल भैरव का जप भी स्वत: सम्पन्न हो जाता है ।

७–प्रणव त्रिवर्ण, पञ्चदैवत और पञ्चधावस्थ होता है ।

८–मूल सकल मन्त्र 'प्राकृत', अकारादि रूप प्रथम प्रसरात्मक विकृतरूप तथा प्रकृति विकृति रूप योग से निष्पन्न षष्ठस्वर समन्वित निष्कल बीज माना जाता है । यह प्रणव के पाँच रूपों का उपक्रम है ।

९–शक्ति, व्यापिनी, समना, निष्कल, उन्मना ये पाँचों भी पञ्च प्रणव ही माने जाते हैं । ये सभी देव और असुरों के निकेतन हैं । जैसे कञ्चुक छोड़ने पर सर्प उससे मुक्त हो जाता है, उसी तरह प्रणव का ज्ञान हो जाने पर साधक बोध-सिद्ध होकर मुक्त हो जाता है । सृष्टि न्यासात्मक इसका उच्चार 'संहारयोग' माना जाता है । यह नाद, शक्ति और व्यापिनी में भी पाँच-पाँच प्रकार से उल्लसित रहता है ।

१०–अघोर मन्त्र के जप की विशिष्ट विधि का प्रयोग श्लोक ५०-५१ में स्पष्ट रूप से परिभाषित है ।

११–इस मन्त्र के जप का प्रकार और इसके फल का विशद वर्णन इस पटल में दिया गया है ।

इस प्रकार की भैरव मन्त्र साधना में संलग्न साधकों के कल्याण और उनके शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ ऐसे प्रयोग आवश्यक होते हैं, जो स्वास्थ्य को ठीक रखें । कुछ ऐसे प्रयोग भी आवश्यक होते हैं, जिनमें वशी-करण आदि षट् कर्म भी किये और कराये जाते हैं । इनसे सम्बन्धित वशीकरण (६/७१), उच्चाटन (६/७२-७६), विद्वेषण (६।७६-७८), विद्वेषनिराकरण (७/७९-८०), वशीकरण (६/८१-८२), आकर्षण (६/८३-८४), मारण (६/८५-९३) ये सभी प्रयोग उक्त राजराजेश्वर मन्त्र के सिद्ध हो जाने पर सफल हो जाते हैं । प्रतिलोम जप से मारण आदि भयप्रद प्रयोगों की शान्ति हो जाती है । यह ध्यान देने की बात है कि, साधक 'सर्वं शिवमयं जगत्' का पक्षपाती होता है । राजतन्त्र में राजन्य वर्ग के लोग षट्कर्म कराया करते थे । जगत् में शत्रु-मित्र के भाव से ऊपर उठकर व्यवहार करना चाहिये । सभी षट्कर्म वर्जित हैं ।

सार-निष्कर्ष

सप्तम पटल

यह पूरा पटल काल-कला के अंशों के स्वाध्याय का अपूर्व, अद्भुत और अनुपम उदाहरण है । क्रियायोग में काल का सबसे अधिक महत्त्व है । जैसे आप ॐकार के जप की प्रक्रिया में लगे हुए हैं । क्रियायोग के अनुसार इसमें व्यापृत हैं । इस क्रम में अकार में ब्रह्मांशक, उकार में विष्ण्वंशक और मकार के रुद्रांश की आंशिक अवस्थाओं में उसी काल के देवांशक भी व्यतीत होते ही हैं । इन अंशकों पर यह पटल विचार करता है । सूर्य की उपासना में रश्मियों के अंशकों पर ध्यान देना उपासना को आंशिक बना देता है । यह कमी सभी मन्त्रों के क्रियायोग के समय हो जाती है । इस पर अवश्य ध्यान देना चाहिये । देवी इस विषय में सावधान थीं । उन्होंने इस पटल में कालांशक सम्बन्धित प्रश्न का समाधान करने की प्रार्थना की । भगवान् ने इसका प्रवर्त्तन इस पटल में किया है ।

काल दो प्रकार के होते हैं–१–सौर और २–आध्यात्मिक । १–सौर काल में वार, करण, लग्न, योग, दिन, राशियाँ, उत्तरायण, ऋतु, मास, वर्ष, सूर्योदय, सूर्यास्त सभी कालखण्ड आते हैं । इसी तरह दूसरे आध्यात्मिक काल में इस षाट्कोशिक देह (१-त्वक्, २-मांस, ३-रक्त, ४-मज्जा, ५-अस्थि और ६-शुक्र) युक्त शरीर में पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, विषय, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्रकृति पुरुष आदि में अवस्थित और अधिष्ठित देववर्ग आत्मा, जीव और प्रभुशक्ति का स्वात्मगत समन्वय होता है । शरीर में १० प्राणवायु, ७२ हजार नाड़ियों में रक्त की गतिशीलता, शरीरस्थ चक्र, कुण्डलिनी विज्ञान सारा का सारा ऋतसत्यमय गति और तपस् सभी परिगणित हैं ।

इन सबको जीवन्त बनाने वाला प्राणापानवाह आध्यात्मिक काल का निदान है । यह प्राणापानचार ही नाडियों के दश प्राणों के और इस जागतिक अस्तित्व के वलन का मूल कारण है । इसका विशद प्रतिपादन इस पटल में किया गया है ।

समस्त शरीर में व्याप्त सर्वगत प्राण विशेषतः शरीर के केन्द्र रूप हृदय देश में निवास करता है । 'प्राणिनामुर सिस्थितः' के अनुसार यह प्राण प्राणन व्यापार करता है और सबको प्राणवन्त बनाता है । इसीलिये इसे प्राण कहते हैं । श्वासरूप में इसी प्राण का अनुभव करते हैं; किन्तु दुर्भाग्य है कि, विश्वस्तरीय शिक्षा में श्वास के सम्बन्ध का ज्ञान किसी विश्वविद्यालय के द्वारा स्वाध्याय का

विषय नहीं बनाया जाता । श्वास-साधना अल्पज्ञता को सर्वज्ञता में अनुप्रवेश कराने का मूल मन्त्र है ।

यह जगत् सूर्य-सोमात्मक माना जाता है । सूर्य अग्नि का प्रमाण और सोम अग्नि प्रमाता का मेय है । मेय, मान और प्रमातामय इस विश्व में इस आध्यात्मिक काल-विज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है । इसके स्वाध्याय के लिये सप्तम पटल विश्व के लिये आगमिक वरदान के रूप में भूतभावन भैरव भट्टारक से विशेष रूप से प्राप्त है ।

इस आध्यात्मिक काल के आकलनकर्त्ता, इसके विमर्श के संवाहक कालेश्वर 'हंसरूप' महाकाल भगवान् स्वच्छन्द भैरव देव हैं । ये सकलेश्वर हैं नासिका के रन्ध्रमार्ग में गतिशील सर्वावभासक भगवान् इस जगत् का सर्जन और संहार कर रहे हैं । यह सभी स्थावर-जङ्गम को प्राणवन्त और जीवन्त रखते हैं एवं लीलापूर्वक संहार की क्रीडा का प्रवर्त्तन भी करते रहते हैं ।

छः मास के लगातार ध्यान करने से सर्वज्ञत्व की प्राप्ति हो सकती है । त्रिकालज्ञ ऋषीश्वर, कालेश की कृपा से मन्त्रदर्शन में समर्थ हो जाते थे । यह प्राण कालहंस कहलाता है । इसके ध्यान और इसकी आराधना से आराधक कालेश्वर बन सकता है । काल-साधना से रोगों से भी छुटकारा मिल जाता है । कालजयी पुरुष धन्य है । वह सभी ऐश्वर्यों का अधिष्ठाता हो जाने की योग्यता का अधिकारी हो जाता है ।

कालसाधना की विशिष्ट पद्धतियों का विश्लेषण इस पटल के श्लोक २१८ से २३६ तक में संक्षिप्त रूप में किया गया है । अधश्चार रूप सृष्टि पुरुष की उत्पत्ति पर जन्म-सूतक और ऊर्ध्वचार रूप मृत्यु पर मरण-सूतक लगता है । (२४०) सारा जगत् इन दोनों सूतकों से अशुद्ध हो रहा है । इससे शुद्धि का एक ही उपाय है कि, महाकालेश्वर की कालतत्त्ववृत्ति में तत्समवर्त्तन करने लगे । यह तत्समवर्त्तन की साधना ही कालेश्वरी-तादात्म्य-साधना कहलाती है । इस तत्त्ववृत्ति का वर्णन भी श्लोक २४१ से २५२ तक किया गया है । इसके बाद साधकों के आचार सम्बन्धी निर्देश भी इसमें दिये गये हैं ।

शिव के ६ गुण माने जाते हैं (२५५-२५६) । १-वह सर्वज्ञ है । २-वह नित्यपरितृप्त है । ३-वह परिपूर्ण है । ४-वह स्वतन्त्र है । ५-अलुप्तविभव भी वही है । ६-वह अनादिबोध शक्तिमन्त है । इस षाड्गुण्य से समन्वित स्वच्छन्द भट्टारक भैरव शिव काल-वेला-विवर्जित अकाल पुरुष हैं । इन सभी छः गुणों से सम्बन्धित योगयुक्त पुरुष हो जाता है; क्योंकि वह तादात्म्य-बोध के परमामृत का पान कर पारमेश्वर सामरस्य का आधार बन जाता है ।

उसका कलन काल नहीं कर सकता । जीते जी ही वह योगयुक्त पुरुष मुक्त हो जाता है (२५९) यही स्वच्छन्दयोग माना जाता है ।

अन्त में कालज अरिष्टों के प्रति भी सबको सावधान करने का प्रयास इस पटल में किया गया है (२६१) । ये सभी अरिष्ट बहिर्लिङ्ग माने जाते हैं । इन्हें अयोगी भी सामान्यतया जानते ही हैं ।

१-छः मास के मृत्यु चिह्न २६४, २६५, २६६, २६७

२-स्वप्न से ज्ञातव्य अरिष्ट-२६८-२७०

३-सन्निकट मृत्यु का लक्षण-२७१-२७२

४-महायान, अरुन्धती, सोमसूर्य के नेत्रगत मण्डलों का न दीख पड़ना सन्निकट मृत्यु के लक्षण हैं ।

५-अकस्मात् स्थूल, अकस्मात् कृश, अत्यन्त क्रुद्ध, अत्यन्त भीत होना भी वर्षान्त मृत्यु के लक्षण हैं ।

६-एक मास में ही मृत्यु के लक्षण-२७७-२७८-२८०

७-१५ दिन में मृत्यु के लक्षण-२८१

८-४मास में मृत्यु के लक्षण-२८३

ये सभी मृत्यु के लक्षण ध्यान, धारणा, जप, होम और रक्षा-विधान करने से नष्ट होते हैं । अतः योगी इसी के प्रति सावधान रहे, जिससे उसके योगमार्ग में कोई बाधा न आ सके । अपने योगाभ्यास की प्रक्रिया का परित्याग कभी नहीं करना चाहिये ।

नाडियों के शोधन से प्राणजप की प्रक्रिया का प्रवर्त्तन करते हुए भगवान् भैरव साधकों से यह अपेक्षा करते हैं कि, वे इसका भी प्रयोग करते रहें । इसका विधान इस पटल के श्लोक २८९ से ३०० तक वर्णित है । इसे दशधा योग-मार्ग कहते हैं । इसी क्रम में माहेयी, वायवी, आग्नेयी और आकाशी धारणायें भी सम्पन्न करते हैं ।

योग-प्रक्रिया में 'उद्घात' की प्रक्रिया बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है । इसी से चक्रभेदन होता है और 'प्रत्याहार' सिद्ध होता है । इसके बाद रूप के प्रकार, प्राणनाद और प्राणों की क्रियाओं का स्पष्ट वर्णन यहाँ किया गया है । दशधा प्राणों के भेद, प्राणजप का उपाय और फल, प्राणों के स्थान का वर्णन किया गया है (३१३-३१६) ।

प्राणों के निरोध के काल पर भी ध्यान देना प्राणायाम की सिद्धि का कारण माना जाता है । प्राणनिरोध की अवस्था के ज्ञान और उसके आचरण से

संसार बन्ध से भी निर्मुक्त हुआ जा सकता है । प्राणायाम की अवस्था में स्वप्न-वृत्ति, सुषुप्तिवृत्ति, प्रबोध का ज्ञान भी योगी को होता रहता है । (२३४-३२५) मूर्धा के द्वार का आश्रय लेते हुए निष्कल ध्यान से 'प्रत्यय' होता है । इसी क्रम में उन्मना में प्रवेश प्राप्त हो जाता है ।

आध्यात्मिक काल की अनुभूतियों के ये सन्दर्भ योगी के अभ्यास के निदर्शन हैं । इस तत्त्ववृंत्ति में ही योगी जीवित रहता है । वह मृत्यु के महासमुद्र का संवरण कर स्वात्मबोध के शाश्वत प्रकाश में जीवन की जयनशीलता का उदाहरण बन जाता है ।

सार-निष्कर्ष

अष्टम पटल

अंशकाधिकार नामक इस पटल में यह स्पष्ट उल्लेख है कि अंशक छः प्रकार के होते हैं–१–भावांशक, २–स्वभावांशक, ३–पुष्पातांशक, ४–मन्त्रांशक, ५–द्विधा निरूपित अंशकापादन (१–होम, २–दीक्षा), ६–अनि-रूपित अंशकापादन । इन अंशकों की परिभाषायें इनके नामानुरूप ही मानी गयी हैं । जैसे भाव को देवानुस्मरण कहकर सहजावस्था को भी भाव मान लिया गया है । इसी तरह स्वभावांश को ब्रह्मांश, विष्ण्वंश, यक्षांश, चन्द्रांश, वातांश, नागांश, गन्धर्वांश, दैत्यांश, राक्षसांश, अग्न्यंश, सवित्रंश आदि रूप में स्पष्ट किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि, मनुष्यों में इन योनियों के अनुसार ही स्वभावांश का निर्धारण किया जाता है । अपने अनुसार जप, ध्यान और हवन आदि से ये फल-प्राप्ति में कारण बनते हैं ।

स्वच्छन्द भैरव सम्प्रदाय के अनुसार समस्त देववर्ग भैरव के ही अंग या अंश या रश्मि रूप हैं (११) । ये अङ्गरूप में फल प्रदान करते हैं । मन्त्र प्रक्रिया में अरि, सिद्ध, साध्य और सुसिद्ध रूप मन्त्रों के अनुसार मन्त्रांशों का वर्गीकरण करने के उपरान्त ही सद्गुरुदेव मन्त्र प्रदान करते हैं । इन्हीं मन्त्रों और मन्त्ररूप देवों की आराधना से भोग के इच्छुक बुभुक्षु साधकों को भोगरूप फल की प्राप्ति होती है ।

इसी क्रम में 'अकथह' चक्र और उसकी उपयोगिता की ओर अध्येता का ध्यान आकर्षित किया गया है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, साध्य और सुसिद्ध मन्त्र से ही दीक्षित का कल्याण सम्भव है ।

इस प्रसङ्ग में रहस्य की बात यह है कि सर्वान्तर्गत भगवान् भैरव ही फलप्रद हैं। ये वर्ण, रूप में प्रयुक्त मन्त्र फलप्रद नहीं होते। अक्षरों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अनक्षर भगवत्सत्ता में अनुप्रवेश से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

इस पटल की उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त एक दूसरी विशेषता यह है कि, इसमें तन्त्रावतार का एक ऐतिहासिक क्रम निर्दिष्ट है। ध्वनिरूप, परम कारण रूप, अदृष्ट विग्रह सुसूक्ष्म शिव से अनुष्टुप् छन्दबद्ध करोड़ों मन्त्रों से पूत शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। (२७३)

सर्वप्रथम शिव से 'विद्या' को, उससे विद्येश्वरों को, माया नियति से होते हुए रुद्रों को, श्रीकण्ठ से ईश्वर को, प्रधान से शतरुद्र पर्यन्त को, इन तन्त्रों का ज्ञान हुआ। श्रीकण्ठ के द्वारा ही श्रीस्वच्छन्द भैरव को भी दीक्षापूर्वक ज्ञान की प्राप्ति हुई।

श्रीस्वच्छन्द भैरव से ही देवी को तन्त्र की दीक्षा मिली थी। देवी से स्कन्द, स्कन्द से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं को, उनसे वसुवों को, इनसे मातृकाओं को और इनसे सूर्य को और देवों को इस विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर नागों और यक्षों को। भगवान् ने आदेश दिया कि, देवि ! तुम ऋषियों को यह विद्या प्रदान करो। ऋषियों से मनुष्यों तक यह विद्या प्राप्त हो जायेगी।

सिद्धरत्नों का पिटारा ही तन्त्रशास्त्र है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! तुम अब इसे किसी को न देना।

सार-निष्कर्ष

नवम पटल

यह एक विकट भैरव साधना का निरूपण करने वाला पटल है। नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाँय–ऐसे इस विकराल भैरव को यह पटल 'कोटराक्ष' कहता है। आँखों को कोटर के समान देखकर कौन ऐसा हो सकता है, जो अपनी आँखों को खुली रख सके ? ये 'कोटराक्ष' देव महाभैरव देव के हृदय देश से विनिःसृत सृष्टिसंहार सक्षम समर्थ देव हैं। इनके भयङ्कर शरीर का शब्द-चित्र भी भयङ्कर है; किन्तु इनके स्मरण मात्र से उल्बण पाप-संघात का विघात अवश्यम्भावी है।

इनका मन्त्र वही ३२ अक्षरों वाला 'अघोर' मन्त्र है। इस मन्त्र के आदि और अन्त दोनों ओर पञ्च प्रणव और भैरव हंस बीज का उच्चारण अनिवार्यतः आवश्यक है।

इसके जप का विशिष्ट विधान गुरु-मुखारविन्द से जानकर ही इस साधना प्रक्रिया में उतरना चाहिये । इसके जप के समय पूर्ण रक्षा-विधान आवश्यक है । मुझे इसके कटु, मधुर अनुभव प्राप्त हैं । इसलिये मैं साधकों को सावधान करना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ ।

इसके साधन-प्रकल्प का वर्णन श्लोक १२ से श्लोक ४२ तक वर्णित है । इसके सिद्ध हो जाने पर क्या होता है ? इसका वर्णन श्लोक ४३ से ४६ तक वर्णित है । संक्षेप में ४७ में एकवीर का वर्णन है ।

रक्षा-विधान में अघोर-रक्षण-विधान का निर्देश श्लोक ४९ में दिया गया है । इस रक्षा के अन्तर्गत साधकों के हित की दृष्टि से ऐसे भैरव यन्त्र को बनाने के निर्देश हैं, जिनसे मृत्युवशाघ्रात पुरुष की भी निश्चित रक्षा हो जाती है । (४९-५९)

मृत्यु से रक्षा के प्रकारान्तर विधान (६०-६१) भी यहाँ वर्णित हैं, शिखि-वाहन भैरव मन्त्र से शत्रु शरीर में भयङ्कर दाह उत्पन्न होता है और अन्त में मृत्यु भी सम्भव है ।

क्रोधराज मन्त्र के जप और यन्त्र निर्माण से सात रात में ही मृत्यु हो जाना ध्रुव माना जाता है । (६४-६६)

विकराल भैरव के मन्त्र से शत्रुभय, मन्मथ भैरवमन्त्र से वशीकरण (६८-७०), मेघनाद भैरवमन्त्र से उच्चाटन (७१-७३), सोमराज भैरवमन्त्र प्रयोग से असाध्य-साधन, क्रोधराज भैरव-मन्त्र प्रयोग से शत्रु उन्माद तक सम्भव है ।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रयोग भी इस पटल में प्रदर्शित हैं, जिनसे किसी की भी मृत्युभय से रक्षा की जा सकती है । (७७-८०)

'शान्ति' के प्रयोग भी ८१-८५ तक में वर्णित हैं । इसके साथ ही मृत्यु पर विजय के लिये यन्त्र प्रयोग का उल्लेख भी (८५-९९) यहाँ है । इसके अति-रिक्त गुटिका के प्रयोग भी दर्शित हैं ।

सर्प-विष या किसी प्रकार के विष की शान्ति के अनेक रक्षा प्रयोग भी यहाँ निर्दिष्ट हैं । प्रयोग के अवसर पर प्रयोक्ता को स्वात्म को भैरव भाव से देखना और उसी भाव में रहना आवश्यक है (१००-१०८) । इन्हें अगद प्रयोग कहते हैं ।

।। इति शुभम् ।।

परमहंस मिश्र
ए. ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

विषयानुक्रमः

नवमः पटलः (कोटराक्षविधानम्)

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

[तृतीयो भागः]

।। अथ पञ्चमः पटलः ।।

दीक्षादीक्षणनिर्माणनानोपायप्रदर्शनः ।
जयत्यनुग्रहैकान्तविश्रातः परमेश्वरः ॥

अथ पटलसङ्गतिं कुर्वती उक्तकलादीक्षानुवादपूर्वं तत्त्वदीक्षां प्रस्तावयितुं श्रीदेव्युवाच–

कलादीक्षा सुरेशान कथिता परमेश्वर ।
तत्त्वदीक्षां समासेन कथयस्व प्रसादतः ।।१।।

अथ

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

तृतीयो भागः

पञ्चमः पटलः

सतत अनुग्रहकर विभो परमेश्वर निखिलेश ।
जय दीक्षा निर्मिति विविध पथदर्शक परमेश ॥

पटल की संगति को समन्वित करती हुई उक्त कलादीक्षा के अनुवाद के उपरान्त भगवती भैरवी तत्त्व दीक्षा के सविधि श्रवण का प्रस्ताव कर रही हैं। वे विनम्र निवेदन कर रही हैं कि, भगवन् ! आप स्वयं सभी देवताओं के स्वामी हैं। आपने देवत्व की उपलब्धि के लिये उपाय भूत कलादीक्षा का सरहस्य विश्लेषण करते हुए उसके मर्म से अवगत कराया। इसके उपरान्त तत्त्वदीक्षा का समास शैली में कथन कर हमें अनुगृहीत करें ! आपका प्रसाद प्राप्त कर मैं जीवन को दिव्य बनाना चाहती हूँ।

सुरेशानो ब्रह्मादीनां स्वामी । परमेश्वरस्तु परभैरवसत्तानुप्रवेशात् । समासेनेति संक्षेपेण विधिविस्तारस्य कलादीक्षायामुक्तत्वात् ।।१।।

एवमभ्यर्थित: श्रीभैरव उवाच–

समासात्कथयिष्यामि त्वत्प्रियार्थं वरानने ।

पूर्वप्रश्नेन प्रकृतां तत्त्वदीक्षां नानाभेदभिन्नाम् । तत्र–

षट्त्रिंशत्तत्त्वमुख्यानि यथा शोध्यानि पार्वति ।।२।।
पृथिव्यादिशिवान्तानि स्वव्याप्त्यानुगुणैः सह ।
यथा शुद्ध्यन्ति देवेशि तथा ते कथयाम्यहम् ।।३।।

सुरेशान कहने का तात्पर्य विश्व जीवन में सुरत्व की प्रतिष्ठा का सामर्थ्य है । परमेश्वर की परा सत्ता में अनुप्रवेश के कारण परमेश्वर की संज्ञा भी सार्थक है । समास शैली में कथन करने की प्रार्थना के कई कारण हो सकते हैं । १–कलादीक्षा का विस्तार बहुत था । उसके धारण करने और आचरण की असमर्थता से इसे संक्षेप में सुनने का पक्ष ही सर्वोत्तम है । २–विस्तार से ऊब और उपेक्षा दोनों सम्भव हैं । समास में कथन से उसके क्रमिक आचरण में सौविध्य होता है । अत: देवी तत्त्वदीक्षा को संक्षेप में ही सुनना चाहती हैं ।

इस प्रकार भगवती भैरवी से अभ्यर्थित भगवान् श्री भैरव भट्टारक ने कहा–

सुमुखि ! देवि ! मैं तुम्हारे अनुरोध के अनुसार ही तत्त्वदीक्षा का संक्षेप रूप से ही कथन करूँगा । तुम्हारी प्रसन्नता में ही मैं भी प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ । तुमने तत्त्वदीक्षा के सम्बन्ध में प्रश्न किया है । मैं इसके भेदों के साथ ही इसे सुनाने जा रहा हूँ । देवि ! मुख्यरूप से ३६ तत्त्व ही प्रसिद्ध हैं । ये सभी शोध्य होते हैं ।।१।।

पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त ये छत्तीस तत्त्व शास्त्र में वर्णित हैं । ये स्वात्म-व्याप्ति पूर्वक अपने आनुगुण्य से समन्वित तत्त्वों के साथ कैसे शोधित होते हैं, इसे देवेश्वरि ! मैं तुम्हें अवश्य सुनाऊँगा । ध्यान से सुनो ।।२।।

पृथ्वी से शिवपर्यन्त तत्त्वों की दीक्षा को तत्त्वदीक्षा कहते हैं । तत्त्वों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि, इनमें अध्वावर्ग भी अन्तर्भावित है । हाँ, उनकी अपेक्षा तत्त्वों का प्राधान्य होता है । इनकी इस प्रमुखता को ही इनकी स्वव्याप्ति कहते हैं । अध्वा सब गौण रूप से उपस्थित रहते हैं ।

तत्त्वदीक्षायां तत्त्वानामन्तर्भाविताध्वान्तरापेक्षं प्राधान्यमेव व्याप्तिरध्वान्तराणां तु गुणीभावः । एवमन्यत्र । येन प्रकारेण शोध्यानि शोधनीयानि, यथा च शुद्ध्यन्ति तथा शोधकशोध्यगतं प्रकारं तव अनुग्रहैकपरायाः कथयामीति प्रतिज्ञा ॥३॥

तत्र–

विद्याराजस्य ये वर्णा नवसंख्योपलक्षिताः ।

वाचकास्ते च तत्त्वानां

शोध्यत्वेनोपस्थाप्यानाम् । यथा भवन्ति तथा–

कथयाम्यनुपूर्वशः ॥४॥

तत्र–

धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मृतः ।

पुरुषस्य यकारो वै रागततत्त्वान्वितस्य च ॥५॥

स्मृत इति श्रीश्रीकण्ठेन । अतश्च तेनैव वर्णेन प्रणवनवात्मोच्चारपूर्वं तत्तत्तत्त्वं कलोपस्थापनवदुपस्थाप्य अध्वसन्धानादिशुद्धाशुद्धतत्त्वानुसंध्यन्तं सर्वं पूर्ववत् कर्तव्यम् । एवं सर्वत्र । पुरुषस्य स्पृहामयत्वाद् रागतत्त्वान्वितस्येत्युक्तम् ॥५॥

इन्ही प्रधान तत्त्वों का शोधन किया जाता है । इनके शोधन का जो प्रकार है, शोधक–शोध्यगत जो शुद्धि के प्रकार हैं, देवि उन सभी विधाओं का कथन मैं तुमसे करूँगा । तुम मेरे अनुग्रह भाव में ही परायण रहती हो । अतः तुमको यह आवश्यक विषय अवश्य सुनाऊँगा ॥३॥

इस सन्दर्भ में विद्याराज मन्त्र के नव संख्या में परिगणित वर्णों पर सर्वप्रथम विचार करने की आवश्यकता है । ये वर्ण तत्त्वों के वाचक वर्ण माने जाते हैं । वही तत्त्व जो शोध्यरूप से उपस्थाप्य हैं, उनके ये वाचक माने जाते हैं । देवि ! पार्वति ! यह सब मैं आनुपूर्वी भाव से क्रमिक रूप से सुनाऊँगा ॥४॥

धरित्री अर्थात् धरातत्त्व से प्रधान पर्यन्त का वाचक वर्ण 'ऊ'कार है । पुरुष का वाचक 'य' वर्ण है । पुरुष तत्त्व स्पृहासमन्वित होने के कारण रागतत्त्व से अन्वित होता है । यह भगवान् श्रीकण्ठ की उक्ति है । इसी ऊकार वर्ण के साथ प्रणवोच्चार पूर्वक सभी तत्त्वों को कलाओं की तरह ही उपस्थापितकर अध्वसन्धान आदि शुद्ध और अशुद्ध तत्त्वों की अनुसन्धि पर्यन्त एक एक वर्ण का शोधन करना चाहिये ॥५॥

नियामिकां वकारेण विद्यातत्त्वसमन्विताम् ।
कालं कलां लकारेण कल्पयेत्तु वरानने ।।६।।

किञ्चिद्वेदनात्मनोऽशुद्धविद्यायाः किञ्चिदंशे नियमानुप्रवेशान्नियत्या सह निर्देशः । कलायास्तु किञ्चित्कर्तृत्वात्मनः । क्रियाविशिष्टायाः कालानुवेधस्यावश्यंभावात् कालेन सह निर्देशः । सहनिर्देशश्चायं वाच्यवाचकभावप्रदर्शनाय । शोधनं तु पृथगेव ॥६॥

किञ्च–

मायातत्त्वं मकारेण विद्यातत्त्वं क्षकारतः ।
रेफेण चैश्वरं तत्त्वं हकारेण सदाशिवः ।।७।।
प्रणवेन तथा शक्तिर्न्यसितव्या वरानने ।

प्रणवेन बिन्दुना । शक्तिरिति [1]शक्तितत्त्वं परमशिवरूपमेव ॥७॥

अत एव–

व्यापिनीं समनां चोर्ध्वे तत्रैव तु विशोधयेत् ।।८।।

तत्रैवेति शिवतत्त्वे प्रणवेनैव ॥८॥

य वर्ण के अनन्तर 'व' वर्ण का क्रम आता है । किञ्चित् वेदनात्मक अशुद्ध विद्या का किञ्चित् अंश में नियमन करने के कारण नियति तत्त्व के साथ ही अशुद्ध विद्या का निर्देश किया गया है । इसी तरह क्रमिक रूप से उपस्थित 'ल' वर्ण से काल और कला का प्रकल्पन होता है । इसका कारण है । कला किञ्चित् कर्तृत्वात्मक क्रिया से विशिष्ट मानी जाती है । इस प्रक्रिया में कालानुवेध स्वाभाविक रूप से होता है । इसलिये कला के साथ ही इसका निर्देश किया गया है । सुमुखी देवस्वामिनी से भगवान् भैरव ने इस रहस्य का उद्घाटन किया । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, तत्त्वों का यह निर्देश वाच्यवाचक भाव प्रदर्शित करने के लिये ही किया गया है । इनका शोधन पृथक् रूप से ही करना चाहिये ॥६॥

'म' वर्ण से माया तत्त्व का बोध होता है । विद्यातत्व का क्षकार से, ईश्वर तत्त्व का रेफ से और सदाशिव तत्त्व का निर्देश यहाँ 'ह' वर्ण से किया गया है । प्रणव से शक्ति तत्त्व का न्यास करना चाहिये । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, शक्ति परमशिव रूप में ही सर्वदा समाहित रहती है । अतः व्यापिनी और समना को भी वहीं शोधित करना चाहिये अर्थात् प्रणव से शिवतत्व में ही शोधन कर लेना चाहिये ॥७-८॥

---

१. ख. पु. तत्त्वं परमशिवरूपमिति पाठः ।

एतच्च सर्वं पूर्वोक्तेन सर्वेण विधिना–

शोधयित्वा क्रमेणैव मूलमन्त्रेण सुव्रते ।
योज्य आत्मा परे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे ।।९।।
निराभासे परे शान्ते ईशाने चाव्यये त्वजे ।

शिष्यदेहे पादान्ताद् गुल्फान्तं पृथ्वी, गुल्फान्नाभ्यन्तं जलादिप्रधानान्तानि त्रयोविंशतिः, ततस्ताल्वन्तं पुमादिमायान्तानि सप्त, ततो ब्रह्मबिलोपान्तं विद्यादि-सदाशिवान्तं त्रयम्, तदुपरि समनान्तं शक्तितत्त्वसहितं शिवतत्त्वम्–इति तत्त्वानि विन्यस्य, दीक्ष्यस्य तानि सर्वाणि क्रमेण पूर्वोक्तविधिना प्रोक्तनवात्मावयवैः शोध-

---

तत्त्वों को पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही शोधित करना चाहिये । यह शोधन मूल मन्त्र से ही होता है । शोधन के उपरान्त आत्मा का परतत्त्व में योजन करना चाहिये । यह परतत्त्व उन्मना से भी अतीत सर्वग तत्त्व माना जाता है । उसे निराभास, पर, शान्त, अव्यय, अज और ईशान की संज्ञाओं से विभूषित करते हैं ।

विषय को और सरल बनाने की दृष्टि से शिष्य के शरीर में इन तत्त्वों के अधिष्ठान का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

१– पदतल से गुल्फ पर्यन्त पृथ्वीतत्त्व

२– गुल्फ से नाभिपर्यन्त जल से प्रधान पर्यन्त २३ तत्त्व

३– नाभि से तालुपर्यन्त पुरुष, कला, विद्या, राग, काल, नियति और माया नामक ७ (सात) तत्त्व

४– तालु से ब्रह्मबिल के अव्यवहित सान्निध्य पर्यन्त शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव रूप तीन तत्त्व

५– उसके ऊपर समना पर्यन्त शक्ति तत्त्व सहित शिव तत्त्व ।

शिष्य के शरीर में न्यास की दृष्टि से तत्त्वों का यह क्रम सावधानी पूर्वक अपनाना चाहिये । विद्याराज की दृष्टि से नौ वर्णों की व्यापकता का तत्त्वों की दृष्टि से भी सावधानी पूर्वक ध्यान रखना चाहिये ।

मूल मन्त्र ह्+र्+क्ष्+म्+ल्+व्+य्+ऊ+प्रणव बिन्दु । अक्षर क्रम से भी तत्त्वों का ध्यान याद रहना चाहिये–

१– 'ऊ' कार–धरा से प्रकृति पर्यन्त २४ तत्त्व

२– 'य्' कार–पुरुष तत्त्व, स्पृहामयत्व के कारण रागतत्त्व युक्त

यित्वा, आत्मा 'परे तत्त्वे' परमशिवे मूलमन्त्रेणेति अवयवापेक्षया समग्रेण नवात्मना योज्यः । कीदृशे उन्मनामतीते तदनुप्रवेशानन्तरलभ्ये शक्तिमदात्मनि 'सर्वगे' व्यापके । ईषद्भासनात् निष्क्रान्ते सर्वाभासोत्थापके च, निःशेषभेदोपशमात्परे शान्ते, ईशाने विश्वेश्वरे, अव्यये अजे चेति नित्ये ॥९॥

तदित्थमेकैकं शोधनीयत्वेन–

षट्त्रिंशत्तत्त्वमाख्यातं

पात्रादित्वात् समाहारे स्त्रीप्रत्ययाभावः । अथ–

नवतत्त्वं प्रचक्ष्महे ॥१०॥

३– 'व्' कार-नियति और विद्यातत्त्व

४– 'ल्' कार-काल और कला तत्त्व

५– 'म्' कार-माया तत्त्व

६– 'क्ष्' कार शुद्ध विद्या तत्त्व

७– 'र्' कार-ईश्वर तत्त्व

८– 'ह्' कार-सदाशिव तत्त्व

९– प्रणव रूप मन्त्रान्त आसीन बिन्दु तत्त्व के अन्तर्गत शक्ति और शिवतत्त्व । शक्ति और शिव के मध्य में विराजमान व्यापिनी समना का भी शोधन इसी के अन्तर्गत होता है ।

इस नवात्मक्रम से शिष्य देह में न्यस्त तत्त्वों का शोधन करना आचार्य का उत्तरदायित्व है । इसके बाद शिष्य की आत्मा का योजन परतत्त्व में सम्भव है । यह योजन विद्याराज के मूलमन्त्र से होता है । अवयव की अपेक्षा समग्र मूलमन्त्र अधिक प्रभावित करता है ।

परतत्त्व को उन्मनातीत कहने का तात्पर्य यह होता है कि, जब साधक उन्मना में प्रवेश करता है और आन्तरालिक अनिर्वचनीयता में स्वात्म का जैसा अनुभव करता है, वह एक तरह से उन्मनातीत अवस्था ही होती है । वही सर्वग व्यापक, सर्वाभास भेदोपशम के कारण शान्त, अव्यय अज अर्थात् नित्य पद माना जाता है । इसी अवस्था में तादात्म्य बोध उल्लसित होता है ॥९॥

एक एक कर सभी ३६ तत्त्वों का शोधन करना चाहिये । अर्थात् उक्त रीति से ये सभी शोधनीय हैं । ऊपर इनका कथन कर अब नव प्रधानतत्त्वों का वर्णन किया जा रहा है । वे नवतत्त्व इस प्रकार हैं–

तत्र–

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च ।

माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ।।११।।

एतानि मुख्यानि नवतत्त्वानि नवभिर्नवात्मकैः प्रातिलोम्येन पूर्वोक्त-विधिना–

शोधयित्वा तु विधिवद्व्याप्त्या[1]त्मानं नियोजयेत् ।

शिष्यस्य प्राधान्येन तु–

पञ्चतत्त्वी यदा शोध्या

तदा–

वक्त्रमन्त्रास्तु वाचकाः ।।१२।।

तैश्च सद्योजातादिक्रमेण–

धरित्र्यादि खपर्यन्तं शोधयेत्तत्क्रमेण तु ।

तत्त्वपञ्चकस्याशेषाध्वशुद्ध्यनुगुणां निवृत्त्यादिकलाव्याप्तिमाह–

कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तावदेव हि ।।१३।।

१– प्रकृति, २– पुरुष, ३– नियति, ४– काल, ५– माया, ६– विद्या, ७– ईश, ८– सदाशिव और ९– शिव ।

ये मुख्य नवतत्त्व हैं । इन नवतत्त्वों का भी विद्याराज महामन्त्र की नवात्मकता के प्रतिलोम क्रम से पूर्वोक्त विधि से शोधन कर, स्वात्म का नियोजन समायोजन उसी विद्याराज की व्याप्ति में करना चाहिये ॥१०-११॥

प्रधान रूप से शिष्य के पञ्चतत्त्वी का भी शोधन होना चाहिये । इसके वाचक वक्त्र मन्त्र हैं । इन मन्त्रों से सद्योजात क्रम से पृथ्वी से आकाश पर्यन्त के पाँच तत्त्वों का शोधन करना चाहिये ।

इन पाँचों तत्त्वों की शुद्धि समस्त अध्वाओं की शुद्धि में निहित है । इनकी आनुगुण्यमयी व्याप्ति और निवृत्ति आदि कलाओं की व्याप्ति के सम्बन्ध में इस तन्त्र के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

कलाओं की जितनी व्याप्ति है, तत्त्वों की व्याप्ति भी उतनी ही है । इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, कलादीक्षा में उक्त सारी विधियों का उप-क्रम पंचतत्त्वी के शोधन में भी करना आवश्यक है ।

---

१. क. द्धात्र्यात्मानमिति पाठः ।

एवं च वदन् कलादीक्षोक्तोऽत्र सर्वो विधिः, केवलं कलोपस्थापनाद्यवसरे सद्योजातादिमन्त्रैर्धरादितत्त्वोपस्थापनादि कार्यम् । अतश्च तत्त्वपञ्चकमेतद् भगवद्वक्त्रमन्त्रस्फारसारताय परभैरवमयमेवेति तदभेदव्याप्तिरेव परं शुद्धिसाधनमिति शिक्षयति ॥१३॥

अथ–

त्रितत्त्वमधुना वक्ष्ये यथा शोध्यं वरानने ।

आत्मविद्याशिवाख्यं मेयमानमातृरूपम् । अस्य वाचकव्याप्तिमाह–

अकार आत्मतत्त्वस्य वाचकः परिकीर्तितः ॥१४॥

मायान्तं तद्विजानीयाद्

अकार इति प्रणवसत्कः । मायान्तमेकत्रिंशता तत्त्वैरपरिवर्जित आत्मा शिवशक्तेर्मेय इति तावत्येवास्य व्याप्तिः ।

विद्याख्यस्याप्युकारकः ।

जहाँ केवल कला आदि की उपस्थापना का अवसर हो, सद्योजातादि पञ्चवक्त्र मन्त्रों से धरादितत्त्वों की उपस्थापना करना चाहिये । इस आधार पर एक विचित्र मर्म का भी उद्घाटन होता है । वस्तुतः ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पाँचों तत्त्व भगवान् भैरव के मन्त्रों के महास्फार सार रूप ही हैं । इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि, ये परभैरवमय हैं और अभेद अद्वय व्याप्ति में ही स्फुरित हैं । यह अभेद अद्वय व्याप्ति पराशुद्धि के लिये पर्याप्त प्रमाण है ॥१२-१३॥

यहाँ मैं त्रितत्त्व का वर्णन करने जा रहा हूँ । भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि सर्वेश्वरी देवि ! इनका भी शोधन करना होता है । ये शोध्य ही हैं । यह कैसे होता है ? यह भी ध्यातव्य है । इन तीन तत्त्वों को हम १–आत्मतत्त्व, २–विद्या तत्त्व और ३–शिवतत्त्व की संज्ञा दे सकते हैं । ये क्रमशः मेय, मान और प्रमाता रूप ही हैं । इनके वाचकों की व्याप्ति के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि, 'ओं'कार के 'अ'कार को आत्मतत्त्व का वाचक मानते हैं । मायान्त ३१तत्त्वों से समन्वित आत्मा शिवशक्ति का ही मेय प्रमेय रूप है । इसकी व्याप्ति भी वहीं तक अवश्य स्वीकरणीय है ॥१४॥

दूसरा तत्त्व विद्यातत्त्व है । 'उ'कार इसका उपकारक है । विद्यातत्त्व का वाचक उकार है । यह सकल पर्यन्त व्याप्त माना जाता है । सकल सदाशिव को कहते है क्योंकि कलाओं की व्याप्ति सदाशिव पर्यन्त ही होती है ।

सकलावधि तज्ज्ञेयं

विद्याज्ञानक्रियात्मा शक्तिः शुद्धविद्येश्वरसदाशिवव्याप्तिका । सकलः सदाशिवः । तदुपरि शक्तिव्यापिनीसमनाशक्तिव्यापकस्य–

शिवस्य तु मकारकः ।।१५।।

यस्तु तदूर्ध्वगो बिन्दुरुन्मनाव्याप्तिसतत्त्वः–

खस्वरः

खं पराकाशं स्वरयति शब्दयति सः पराकाशात्मा । अत एव–

खस्वरूपस्य शिवतत्त्वस्य वाचकः ।

तदित्थमेतदनुसन्धाय प्राग्वदध्वोपस्थापनपूर्वम्–

शोधयित्वा क्रमेणैव

शिष्यात्मानम्–

परे तत्त्वे नियोजयेत् ।।१६।।

खस्वरोक्तव्याप्तिसारेण प्रणवेन ॥१६॥

विद्या तत्त्व ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का समन्वित स्फार रूप माना जाता है । यह शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्वों में व्याप्त विशिष्ट तत्त्व है ।

तीसरा प्रधान तत्त्व स्वयं शिव है । यह शक्ति, व्यापिनी और समना शक्तियों तक व्यापक है । इसका वाचक 'म'कार है । इस तरह 'अ' आत्मतत्त्व का, 'उ'कार विद्या तत्त्व का और 'म'कार शिवतत्त्व का वाचक है । प्रणव तत्त्व का पूर्णरूप ही इन तीन तत्त्वों में व्याप्त है, यह सिद्ध हो जाता है ॥१५॥

ओङ्कार का चतुर्थ अंश रूप बिन्दु अभी ध्यातव्य रूप में शेष था । शास्त्रकार कह रहे हैं कि, प्रणव का बिन्दु उन्मना का वाचक है । इस बिन्दु को 'ख'स्वर' की संज्ञा से विभूषित करते हैं । 'ख' पराकाश का वाचक है । उस पराकाश को भी जो 'स्वर' शब्दतत्त्व से प्रकाशित कर दे, वह पराकाशात्मक बिन्दु ही उन्मना को अर्थवान् करता है ।

इस सन्दर्भ में बिन्दु का महत्त्व सर्वाधिक है, यह सिद्ध हो जाता है । यह 'ख'स्वर 'ख' रूप चिदाकाश के चिन्मय शिवतत्त्व का वाचक माना जाता है । बिन्दु भी खस्वर और शिव का यह स्तर भी खस्वरात्मक ! दोनों के चमत्कार में ही अर्धचन्द्र भी चरितार्थ हो जाता है ।

तदित्थमत्र–

तत्त्वदीक्षा समाख्याता चतुर्भेदव्यवस्थिता ।

पूर्वं तु योजनिकाग्रन्थान्ते एकतत्त्वदीक्षापि उक्तेति दर्शितमेव ।

एवं प्रश्निततां तत्त्वदीक्षामुक्त्वा, अनुजिघृक्षोर्भगवत्या आशयपरितोषायाप्रश्नितामपि पदादिदीक्षां निरूपयिष्यन् भगवानाह–

पददीक्षां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।।१७।।

वर्णमन्त्रदीक्षाभ्यां तुल्येतिकर्तव्यतां भुवनदीक्षां तदवसर एव संक्षेपेण प्रतिपादयिष्यति, विस्तरेण तु दशमपटले । ततः पददीक्षामेव तावदाह ।।१७।।

तत्र–

विद्याराजे तु ये वर्णा नवसंख्योपलक्षिताः ।
पृथग्भेदेन तेषां तु विन्यासं कथयामि ते ।।१८।।

इन सबका क्रमिक रूप से शोधन भी विधि पूर्वक सम्पन्न करना चाहिये । शोधन करने के उपरान्त शिष्य की आत्मा को परतत्त्व में समायोजित कर देना आचार्य का उत्तरदायित्व है । यह समायोजन 'खस्वर' की पराव्याप्ति का विस्फार माना जाना चाहिये ।।१६।।

यहाँ तक का प्रकरण तत्त्व दीक्षा को अर्पित था । यह तत्त्व दीक्षा चार भेदों में भिन्न है । १– ३६ तत्त्वात्मिका, २– नवतत्त्वात्मिका, ३– पञ्चतत्त्वात्मिका और ४– त्रितत्त्वात्मिका दीक्षा । पहले ग्रन्थ के योजनिका के सन्दर्भ में एकतत्त्व दीक्षा की चर्चा भी की गयी है । वह इन चारों से पृथक् है ।

यहाँ तक देवी के प्रश्न के उत्तर की दृष्टि से तत्त्व दीक्षा को भगवान् भैरव ने पूरी तरह व्यक्त किया है । भगवान् अनुग्रहशाली हैं । प्रश्न के साथ कुछ यदि अप्रश्नित रह जाता है, उसे भी जानकर पार्वती के परितोष की पूर्त्ति के उद्देश्य से पद आदि अवशिष्ट कुछ दीक्षाभाग की चर्चा यहाँ कर रहे हैं–और कह रहें हैं कि, देवि ! मैं पदादिदीक्षा का वर्णन भी आनुपूर्वी रूप से कर रहा हूँ ।।१७।।

विद्याराज मन्त्र में जितने वर्ण हैं, उनकी संख्या सीमित है । वे मात्र नौ ही हैं । वह भी प्रणव बिन्दु के साथ गणना करने पर ही नौ होते हैं । वर्ण तो मात्र आठ ही है । प्रणवात्मक बिन्दु को वर्ण मान लिया जाता है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! उनके पृथक् भेद के साथ विन्यास की विधि का कथन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ । यह परम्परा से प्राप्त विधि है । इसे तुम भी पूरी तरह अवगम करो ।।१८।।

तत्र–

नवनाभं पुरं कृत्वा नवपद्मोपलक्षितम् ।

कथम् ?

नवहस्तं लिखेद्वेश्म अष्टपर्वाधिकं बुधः ।।१९।।

वेश्म मण्डलक्षेत्रम् । अष्टभिः पर्वभिरङ्गुलैराधिक्ये सर्वमेतत् क्षेत्रमङ्गुलशतद्वयं चतुर्विंशत्यधिकं भुवनाध्वप्रतिबिम्बरूपं भवति । तस्मिन्सर्वतः सप्तभागकल्पनयैकैकस्य भागस्य द्वात्रिंशदङ्गुलत्वं जायते–इति तदर्थमङ्गुलाष्टकाधिक्यदानम् ।।१९।।

अथ–

सप्तभागीकृतं तत्तु

कुर्यात् । किं कृत्वा ?

दक्षिणोत्तरभाजितम् ।

चतुरस्त्रं विभज्यादौ मत्स्यैश्चैवात्र चिह्नितम् ।।२०।।

इसमें सर्वप्रथम नवनाभ मण्डल का प्रकल्पन करते हैं । यह मण्डल नौ कमलों से उपलक्षित होना चाहिये । यह मण्डल क्षेत्र रूपी यागवेश्म नौ हाथ का हो, जिसके अन्तर्गत ८ पर्व स्वभावतः बनते हैं । आठ पर्वों से गुणित होने पर सारा क्षेत्र २२४ अंगुल का हो जाता है । एक तरह से यह भुवनाध्वा का प्रतिबिम्ब बन जाता है ।

२२४ अङ्गुलों में सात भाग करने पर ३२ अङ्गुल का होता है । इसीलिये इसमें आठ अङ्गुल अधिक का प्रकल्पन आवश्यक हो जाता है । आठ अङ्गुल कम करने पर मात्र २१६ अङ्गुल का होता है । नौ हाथ में चौबीस का गुणा करने पर २१६ अङ्गुल होता है । इसी में आठ का योग करने पर २२४ अङ्गुल होता है । सात भाग का प्रकल्पन दक्षिणोत्तर की ओर होता है ।।१९।।

इस मण्डल को पहले चार भागों में ही बाँटना चाहिये । इसमें मत्स्य[1] चिह्न का भी निर्माण करते हैं । ब्रह्म बिन्दु[2] से पूर्वापर स्थानों का अङ्कन करना आवश्यक होता है । उक्त चारों भागों को क्षेत्र मान के बराबर ही सूत्र का मान होना चाहिये । पहले पूरब पच्छिम के मान वाले भाग को बायें हाथ में प्रतिबद्ध करते हैं । अर्थात् दबाते हैं । दाहिने हाथ के अग्रभाग से दोनों पार्श्व में मत्स्य बन्ध

---

१. श्री तन्त्रलोक ३१/३ । २. तदेव ३१/११ ।

भाविनीत्या ब्रह्मस्थानात्पूर्वापरदिशौ अङ्कयित्वा, किञ्चिदूनेन चतुर्भागेन क्षेत्र-मानेन सूत्रेण पूर्वापराङ्कयोर्वामहस्तप्रतिबद्धेन दक्षकरगताग्रभागेन पार्श्वयोर्मत्स्य-बन्धाकारं रेखाद्वयमुत्पाद्य, तन्मध्ये सूत्रमास्फाल्य दक्षिणोत्तरभाजितं क्षेत्रं कृत्वा, क्षेत्रार्धमानेन सूत्रेण पार्श्वगतमध्याङ्कप्रतिबद्धेन कोणेषु मत्स्यबन्धचतुष्कमुत्पाद्य, तत्र सूत्रास्फालनेन चतुरस्रं विभज्येत्यत्र पिण्डार्थः ॥२०॥

एवं चतुरस्रे क्षेत्रे पूर्वापरायतैः सूत्रैः सप्तधा विभक्ते–

कोष्ठकैकोनपञ्चाशत्सूत्रेण तु समालिखेत् ।

दक्षिणोत्तरायतैर्मध्यगतैः षड्भिः सूत्रैरेकोनपञ्चाशतं कोष्ठकानुत्थापयेत् ।

एवं कृत्वा–

मध्यमे कोष्ठके सूत्रं द्वात्रिंशाङ्गुलसंमितम् ।।२१।।

समालिख्य महादेवि चतुर्भागविभाजिते ।

ब्रह्मस्थानाच्चतुर्भिः समभागैर्भ्रमैः पर्यन्तभाविव्योमरेखावकाशं परिकल्प्य विभक्त इत्यर्थः । तत्र भागचतुष्टयमध्यात्–

प्रथमे कर्णिकां कुर्यात्केसराणि द्वितीयके ।।२२।।

की दो रेखाओं का उत्पन्न करते हैं अर्थात् मन्त्यबन्ध का चित्र बना लेते हैं । परकाल से ज्यामिति चित्र द्वारा सरलता से इसे बनाया जा सकता है । दोनों मत्स्यबन्धों की सन्धि से दक्षिणोत्तर विभाग किया जाता है । इसके लिये पहले सूत्र का आस्फालन करते थे । अब भी सर्वतोभद्र या लिङ्गतोभद्र आदि चित्रों में सूत्रास्फालन द्वारा रेखायें उभाड़ते हैं और विभिन्न देवों के रंग भरते हैं ।

अब सूत्र को आधा कर लेना चाहिये और पार्श्व के मध्याङ्क पर दबा कोणों में चार मत्स्यबन्ध बना लेना चाहिये । इसका चित्र श्रीतन्त्रालोक ३१/६ चित्र पृ० ८९ पर देखना चाहिये । इस प्रकार चतुरस्र विभाजन भी सरलता से हो जाता है । दक्ष आचार्य अपने ढङ्ग से इन श्लोकों के आधार पर इन रेखाचित्रों का निर्माण मण्डप में करता है ॥२०॥

चतुरस्र क्षेत्र को सात भाग में विभाजित करने के लिये पूर्वापर रेखा का प्रयोग करना चाहिये । इसमें ४९ कोष्ठक तैयार होते हैं । इतनी प्रक्रिया के बाद मध्य कोष्ठ में सूत्र, जिसकी लम्बाई ३२ अङ्गुल की होनी चाहिये, लेकर उस मध्यबिन्दु रूप ब्रह्मभाग से चार भागों में विभाजित करना चाहिये । ये सभी समभाग में विभक्त होते हैं । पर्यन्त की रेखा को व्योमरेखा कहते हैं । वहाँ तक पूरा क्षेत्र निर्मित होता है । इन चारों में से प्रथम भाग में कर्णिका, और दूसरे भाग में केशर का प्रकल्पन करते हैं ॥२१-२२॥

तृतीये दलसंधींश्च दलाग्राणि चतुर्थके ।

यत्र दलानि तदग्रैः संधीयन्ते ते दलसंधयः ।

पूर्वोक्तेषु चतुर्षु भागेषु वृत्तवर्तनविधिमाह–

दिक्षु रेखाष्टकं दत्त्वा प्रतिदिक्षु तथैव च ।।२३।।

भ्रामयेच्चतुरो वृत्तांश्चतुरङ्गुलसंमितान् ।

दिक्षु अष्टस्वष्टौ, तन्मध्ये चाष्टौ सूत्राणि दत्त्वा, ब्रह्मस्थानात् पूर्वविभागाङ्केषु चतुरो भ्रमान् कुर्यात् ॥२३॥

अथ–

द्वाभ्यां प्रतिदिग्रेखाभ्यां मध्ये सूत्रं निधाप्य तत् ।।२४।।

सूत्रांग्रं[1] तु ततो भ्राम्यमर्धचन्द्रविधानतः ।

प्रतिदलसंधि अर्धचन्द्रद्वयविधानाय पूर्वदिग्रेखायाः पार्श्वरेखाभ्यामुपलक्षिते मध्ये मध्यद्वये वामेन करेण सूत्रं रुद्ध्वा, दक्षिणेन सूत्राग्रं[2] पार्श्वरेखाभ्यां मध्यरेखान्तं भ्रामयेत् । अत्र चैकैकपार्श्वरेखा आयामतो मध्याद् विभक्तव्यायामेन संसक्तदला[3] भवति ॥२४॥

अर्धचन्द्रयोरुत्पत्तिहेतुप्रतिदिग्रेखयोर्मध्यद्वये मध्यग्रहणाय केसरसिद्ध्यर्थम्–

मध्यसूत्रं च दातव्यं किञ्जल्कस्थं विपश्चिता ।।२५।।

तीसरे भागों में दलों की सन्धियाँ निर्मित होती हैं और चौथे भाग में दल के अग्रभाग बनाये जाते हैं । इसके बाद आठ दिशाओं की परिचायिका आठ रश्मिरेखाओं को चित्रित करते हैं ।

इसके बाद यह ध्यान देना चाहिये कि, ब्रह्मस्थान से पूर्व विभागों के साथ चारवृत्तों की भ्रमि बनायी जाय । आठ दिग्विभागों में जो आठ रश्मिरेखायें थीं, उनके मध्य से ये भ्रमियाँ चित्रित की जाती हैं ॥२३॥

दो दिग्रेखाओं के मध्य में रेखाओं को रख रखकर सूत्राग्रों को इस प्रकार घुमाया जाना चाहिये, जिससे अर्धचन्द्र बनते जाँय । प्रति दल सन्धियों को ये अर्धचन्द्र जोड़ते हैं । इसमें भी बायें हाथ से सूत्र दबा दबाकर अर्धचन्द्र बनाते हैं । पार्श्वरेखा से दूसरी पार्श्वरेखा के बीच में ऊपरी सिरे पर अर्धचन्द्र बनने से सभी दलाग्र परस्पर संसक्त हो जाते हैं ।

---

१. क. ख. ग. पु. सूत्राश्रमिति पाठः ।   २. क. ग. घ. सूत्राभमिति पाठः ।
३. क. पु. दलतेति पाठः ।

किञ्जल्के केसरे तन्निमित्तं तिष्ठति । तेनैकैकार्धचन्द्रमध्यानुसारदलमध्यसूत्रोत्पन्नकिञ्जल्कस्य पार्श्वयोः किञ्जल्कद्वयोत्पादनाय अर्धचन्द्रद्वयोत्पत्त्यर्थं मध्यलाभे चादावेव सूत्रद्वयं देयम् । एवं साकल्येन द्वात्रिंशत्सूत्राण्येतानि भवन्ति ॥२५॥

एतदुपसंहरन्नन्यत्रापि अतिदिशति–

पूर्वपत्रं प्रसाध्यैवमितराण्येवमेव हि ।

प्रसाधयेत् । तत्र च–

केसराणि च संलिख्य चतुर्विंशतिसंख्यया ॥२६॥

पत्राग्रतो न्यसेल्लेखां वर्तुलां तु सुशोभनाम् ।

प्रतिदलं त्रीणि केसराणि । पत्राग्रत इति दलान्युत्पाद्य तद्बहिः सुशोभनां सम्पूर्णाम् ॥२६॥

किञ्च–

तस्यान्तं चतुरस्रं तु कर्तव्यं तत्प्रमाणतः ॥२७॥

तस्येति वृत्तरेखान्तस्य पद्मस्य । तत्प्रमाणत इति वर्तुलरेखाप्रमाणरेखम् ॥२७॥

सर्वस्यास्य विधेर्भित्तिभूतामाद्यं विधिं वक्तुमाह–

पूर्वं ब्रह्म प्रसाध्यं तु विषुवत्स्थेन हेलिना ।

आठ रेखायें प्रतिदिग्विभाग की, अर्धचन्द्रों के मध्य में आठ किञ्जल्क रेखायें और प्रति सन्धिरेखा पर दो किञ्जल्करेखायें कुल मिलाकर बत्तीस किञ्जल्करेखाओं के निर्माण से वह यागगृह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है ॥२५॥

इन बत्तीस सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों का भी इसी प्रकार साधन करना चाहिये । उनमें केशर की स्थिति का लेखन करना चाहिये । आठ दलों में तीन तीन के क्रम से २४ संख्या का मान यहाँ हो जाता है । पत्र के अग्रभाग में वर्तुल रेखाओं का निर्माण होता है । इससे इनके सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है ॥२६॥

वृत्त रेखान्त में निर्मित कमल के ही प्रमाण के अनुसार चतुरस्र निर्माण करने की भी प्रथा है ॥२७॥

यह ध्यान देना चाहिये कि इन सभी विधियों के मूल में विद्यमान आधार भित्ति रूप विधि क्या है ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि, सबसे पहले विषुवद्वर्त्ती सूर्य को लेना चाहिये । ब्रह्म की परिभाषा करते हुए उसे मध्य बिन्दु

ब्रह्म मध्यस्थानम् । हेलिः सूर्यः । तत्रादौ–

पूर्वपश्चां[1]ततं सूत्रं शङ्कुना साधयेत्प्रिये ।।२८।।

द्वादशाङ्गुलमानेन

शङ्कुः कीलकम् ॥२८॥

कथम ?

मध्ये शङ्कुं प्ररोप्य तम् ।

पार्श्वेषु भ्रामयेद्रेखां षोडशाङ्गुलसंमिताम् ।।२९।।

शङ्कुक्षेत्रात् षोडशाङ्गुलं भ्रमं द्वात्रिंशदङ्गुलपद्मार्थं दद्यात् । एतच्च जिघृक्षितक्षेत्रोपलक्षणपरम् ॥२९॥

तत्र च–

पूर्वाह्णे ग्राहयेच्छायामपरस्थां सुचिह्निताम् ।

अपरस्थेन सूर्येण प्राक्छायां लाञ्छयेत्प्रिये ।।३०।।

एवं भ्रमरेखाच्छायापृष्ठे पूर्वापरगिदङ्कनां कृत्वा–

ध्रुवेणोत्तरदक्षस्थां लाञ्छयेत्तु वरानने ।

वाला स्थान मानते हैं । हेलि सूर्य का पर्याय है । पूरब से पच्छिम की ओर सूत्र के आस्फालन से रेखा का निर्माण करना चाहिये । इसमें शङ्कु प्रयोग करते हैं । शङ्कु रूप कील को मध्य में ठोककर उसी से पत्रों को बनाने की क्रिया पूरी करते हैं । उसी कील को आधार मानकर रेखाओं का भ्रमण करते हैं । शङ्कु से १६ अङ्गुल की भ्रमि देते हैं । इससे बत्तीस अङ्गुल पद्म की प्रक्रिया भी पूरी हो जाती है । यह सब जितना ग्रहणार्थ अभीप्सित भूमि होती है, उसी पर निर्माण होता है ॥२८-२९॥

पूर्वाह्न में छाया का ग्रहण करते हुए यह ध्यान देना चाहिये कि, वह सुचिह्नित कर ली जाय । उस समय छाया अपरस्थ होती है । पूर्व की ओर सूर्य के रहने पर छाया अपर भाग में रहती है, यह स्वाभाविक है । जब सूर्य ही अपरस्थ हो जाय, उस समय छाया प्राग्विभाग में आ जाती है । छाया के पृष्ठ पर भ्रमि रेखा देनी चाहिये । यह भ्रमि पूर्वापर व्याप्ति की दृष्टि से की जानी चाहिये ॥३०॥

---

१. क. ग. पु. पश्चात्तु तमिति पाठः ।

ध्रुवेण शङ्कुना हेतुभूतेन पूर्वनिर्णीतदिशोः[१] स्थापितमत्स्यद्वयमध्यसूत्रेण उत्तरदक्षस्थां भ्रमरेखां लाञ्छयेत् । यद्वा, क्वचिद्रात्रावेव विधातव्ये यागे ध्रुवेणेति चतुर्दशतारकारब्धशरीरेण ध्रुवनाम्ना निश्चलेन तारकेणादौ उत्तरदक्षिणदिक्सिद्धिं कुर्यात् । तत्र चैवमामनन्ति–सुषिरनाडिकामुखेन ध्रौवीं[२] मुखतारामुत्तरदिक्संस्थां लक्ष्यीकृत्य तन्नाडिकानुसारेणोत्तरां दिशमङ्कयित्वा ध्रुवनाडितारानुसारेण मध्यम्, तत्पुच्छतारानुसारेण च दक्षिणामङ्कयेत् । ततो [३]मध्यरन्ध्रानुसारं [४]पूर्वापरेऽप्यङ्कयेत् । अत एवान्यत्र–

'ध्रुववेधेन वोदीचीम्................ ।

इत्युक्तम् । यत्तु तत्र–

'प्राचीं वा ध्रुवतारया.............. ।

ध्रुव शङ्कु को कहते हैं । यह शङ्कु निर्मिति का कारण माना जाता है । पहले दो मत्स्यों की चर्चा की गयी है । उन दोनों के मध्य में स्थित मध्य बिन्दु से उत्तरदक्ष रेखा का निर्माण करना चाहिये । मत्स्य पूर्व पश्चिम छोर को छूते हैं । जब कि, मध्य बिन्दु से यह रेखा उत्तर दक्षिण का छोर छूती है ।

कहीं सम्भव है कि, रात्रिकालीन याग की व्यवस्था हो, उस समय कुछ विशेष ध्यान पूर्वक यह प्रक्रिया पूरी करते हैं । ध्रुव नामक निश्चल तारक अत्यन्त प्रसिद्ध है । यह सप्तर्षि मण्डल की गति का केन्द्र है । इसी की परिक्रमा सप्तर्षि तारक मण्डल निरन्तर करता है । उसी तारे को दृष्टि में रखकर उत्तरदक्षिण रेखा का निर्धारण होता है ।

मान्यता यह है कि, सुषिरनाडी के माध्यम से ध्रुवतारा को चूँकि उत्तर दिशा में अवस्थित है, इस निश्चल बुद्धि से उत्तर दिशा का अङ्कन करते हैं । पुनः ध्रुवनाडी के अनुसार मध्य का और पुच्छतारा से दक्षिण का अङ्कन करते हैं । यह आकलन ताराओं की रात्रिकालीन काल्पनिक आकृति के आधार पर करते हैं । इसी क्रम में मध्यरन्ध्र को आधृत कर पूर्वापरा दिक् का भी अङ्कन करते हैं ।

एक स्थान पर कहा गया है कि, 'ध्रुववेध से उत्तर दिक् को निर्धारित करते हैं' ।

इसी तरह 'ध्रुवतारा से ही प्राची दिशा का भी निर्धारण करना चाहिये' यह निर्देश भी है ।

---

१. क. ग. घ. दिशोत्थापितेति पाठः ।
२. क. ख. ग. पौर्वीं मुखतारेति पाठः ।
३. क. ख. ग. मत्स्यरन्ध्रेति पाठः ।
४. क. ख. पूर्वामारोप्याङ्केति पाठः ।

इत्युक्तम् तत्र ध्रुवतारासाम्येन मध्यं कल्पयित्वा तदनुसारं प्राचीं गृहीत्वा तदनुसारमितरां व्यवस्थापयेदिति योज्यम् । ध्रुवं ध्रुवस्थानग्रहणचतुरस्त्रीकरणपूर्वमेकोनपञ्चाशद्भागानां मध्यभागे पूर्वोक्तक्रमेण पद्मं कुर्यादिति ।

उपसंहरति–

ततः समालिखेत्पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ।।३१।।

अथ–

दिक्कोष्ठकांश्च संगृह्य अष्टसंख्योपलक्षितान् ।
शेषा लोप्या वरारोहे एकान्तरितयोगतः ।।३२।।

चतुर्दिक्कद्वारार्थं बहिःकोष्ठकपङ्क्तिं त्यक्त्वा मध्यपद्मानुसारं दिक्षु प्रतिदिक्षु चैकैककोष्ठकलोपान्तरितकोष्ठकाष्टकं पद्माष्टकार्थं गृह्णीयात् । एवं च मध्यवीथ्या पद्माष्टकक्षेत्रस्य द्वारवीथ्याश्चैकेनैव ग्रन्थेन स्वीकार उक्तः ।।३२।।

एवं चाष्टसु कोष्ठेषु–

पद्माष्टकं ततो दिक्षु

कुर्यात् । अथ–

बाह्ये द्वाराणि चालिखेत् ।

कथम् ?

वीथ्यर्धसंमितां देवि शोभां चैव प्रकल्पयेत् ।।३३।।

ध्रुवतारा के साम्य से मध्य का निर्धारण भी होता है । इसी क्रम में मध्य के आधार पर प्राची और प्राची के आधार पर अन्य दिशाओं का भी निश्चय कर मण्डप प्रक्रिया पूरी कर लेते हैं । इसमें कुशल आचार्य की आवश्यकता होती है । वह ४९भागों सहित चारों पद्मों का निर्माण कर लेता है ।

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं–

इसके बाद कर्णिका से समन्वित आठ दलों वाले कमल का निर्माण करे । अष्टदल कमल इस प्रक्रिया का आधार है ।।३१।।

इस प्रकार दिशाओं के क्रम से निर्धारित विधि के अनुसार इस याग मण्डप में आठ अष्टदल बन जाते हैं । आठ कोष्ठों में आठ कमलों का आकर्षण कर्मकाण्ड को दिग्विभाग का आधार प्रदान करता है और ब्रह्माण्ड का सूचक बन जाता है । याग मण्डप के द्वारों का भी सविधि निर्माण होना चाहिये । इसमें चारों दिशाओं को जाने वाली वीथियों का ध्यान देना चाहिये, जो मध्य को आधार देती हैं । इस क्रम में आकर्षण के लिये सजावट कर शोभा वृद्धि के उपाय भी आवश्यक माने जाते हैं ।।३२-३३।।

उपशोभां च तन्मानां कपोलान्तं समालिखेत् ।
तथा कण्ठं च तन्मानं द्वारमेतत्प्रकीर्तितम् ।।३४।।

बाह्यवीथ्या मध्ये दैर्घ्ये सूत्रं दत्त्वा, आद्येऽर्थे वीथीं कृत्वा, परार्धं कल्पित-वीथिक्षेत्रादूर्ध्वतोऽर्धमानां शोभां द्वारीयकण्ठपार्श्वोत्पद्यमानं विपुलमवयवमुपशोभां च तदधोगतं सूक्ष्मं भागं कल्पयेत् । कपोलो द्वारस्याग्रे विपुलो भागः । कण्ठस्तु कपोलपुरःसरो भागः, तं च तन्मानमिति निरूपितवीथ्यर्धमानं दैर्घ्याच्चैव वैपुल्याच्च कल्पयेत् । कपोलस्यात्र मानं यद्यपि अर्थसिद्धत्वान्नोक्तम्, तथापि तद्दैर्घ्याद् वीथि-मानं वैपुल्यात्तदर्धमानमिति संहितान्तरादवसितम्–इत्येतद्भागनिष्पत्त्या द्वारं निष्पद्यत इत्यर्थः ।।३४।।

तदित्थम्–

द्वाराष्टकविभागेन नवनाभं पुरं स्मृतम् ।

द्वार में व्यक्तित्व का आरोपण कर यदि उसमें कण्ठ, कपोल, पार्श्व आदि का प्रकल्पन कर उसे अवयवानुसार सजाये, तो इससे द्वार का महत्त्व बढ जाता है ।

कपोल द्वार के आगे का लम्बा चौड़ा भाग है । कण्ठ कपोल को मिलाने वाला भाग और पार्श्व भाग द्वार के दोनों ओर का भाग माना जाता है ।

कुशल कर्मा आचार्य वीथियों की लम्बाई चौड़ाई के साथ ही द्वार के उक्त अवयवों के साथ अच्छी तरह सजावट करता है । इस प्रकार भाग रूपी द्वाराङ्गों के प्रकल्पन के साथ ही पूरी साजसज्जा से वहाँ के सौन्दर्य में चार चाँद लग जाते हैं ।।३४।।

इस प्रकार यह यागगृह आठ द्वारों और नौ नाभिकेन्द्रों में सुसज्जित रूप से सज जाता है । कोणों में द्वार का प्रकल्पन आठ द्वारों से पूरा होता है ।

लक्ष्मीकौलार्णव तन्त्र के उदाहरण द्वारा इस प्रक्रिया के अतिरिक्त बिन्दु पर विचार कर रहे हैं–

''तीन द्वारों को ढक देना चाहिये किन्तु पश्चिमी द्वार को पिहित नहीं करना चाहिये । पूर्व वही दिशा होती है, जो देव भैरव और देवी भैरवी के सम्मुख पड़ती है । पश्चिम और पूर्व दिशा का निर्धारण देव साम्मुख्य के आधार पर ही होता है । यही दशा दक्षिण और उत्तर की भी है । सभी सम्प्रदायों का यह शिवोक्त निर्देश मानना चाहिये । दुर्जनों से इस रहस्य का उद्घाटन नहीं करना

विदिशि द्वारस्याम्नातत्वात् प्रतिदिशं पद्मत्रयान्तरालद्वारद्वयं कुर्यात् । एवं च द्वाराष्टकविभक्तं नवनाभं [1]नवनाभिस्थानस्थनवपद्ममेतत्पुरमण्डलम् । अत्र च देव-सम्मुखं द्वारद्वयमपिहितं कार्यम् । यथोक्तं लक्ष्मीकौलार्णवे–

'द्वारत्रयं पिधातव्यं पश्चिमं न पिधापयेत् ।
तच्च पूर्वं विजानीयाद्देव्या देवस्य सम्मुखम् ॥
पूर्वं तु पश्चिमं ज्ञेयं पश्चिमं पूर्वसंज्ञितम् ।
उत्तर दक्षिणं ज्ञेयं दक्षिणं चोत्तरं तथा ॥
सामान्यः सर्वमन्त्राणां क्रमोऽयं शिवभाषितः ।
गोपनीयः प्रयत्नेन शिष्याणां दुष्टचेतसाम्' ॥ इति ।

एतत्तु गुरुपारम्पर्येणायातम् । तद्यथा–

'मूलाद्यक्षिपरप्रतीततनुगद्वाराष्टकोर्ध्वोन्मना[2]-
घोरादित्रितयत्रयात्मविकचज्योतिर्नवाब्जद्युतिम् ।
मूलादिग्रहतत्त्वपर्वभुवनाभेदप्रथं भैरवं
स्वं वन्दे नवनाभमण्डल[3]रहःसारं नवात्मेश्वरम्' ॥ इति ।

चाहिये'' ये बातें सम्प्रदायगत और पारम्परिक हैं । गुरुक्रम से प्राप्त हैं । इस सम्बन्ध में यहाँ एक श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं–

मैं उस नवात्मेश्वर नवनाभमण्डल–रहस्योद्भासित भैरवदेव की प्रार्थना कर रहा हूँ, जो इस समस्त सृष्टि का प्रतीक है, १– शरीर की दृष्टि से मूलाधार से आज्ञा चक्र तक की साधना से परमेश्वर की प्रतीति के साथ ही आठ द्वारों के साथ उन्मना पर्यन्त का अवबोध सम्भव है ।

२– उपासना की दृष्टि से अघोर, घोर और घोरतर भैरव मार्ग से पर, अपर और परापरभाव की भव्यता का भावन हो जाता है । ३– और संसार रचना की दृष्टि से ब्राह्मी भैरवभावना में समस्त मूलादिग्रहतत्त्व, पर्व और भुवनों के भेद की प्रथा का प्रथन अनुभूत होता है ।

इस श्लोकार्थ का निहितार्थ ग्रन्थ ४/३४ में वर्णित है । रजस् प्रयोग से उसी भैरवतेज की अनुभूति होती है । यह आगमोक्ति उसी भाव से भावित है । इस सम्बन्ध में अन्य आगमिक उक्तियों पर भी ध्यान देना चाहिये । एक स्थान पर लिखा है कि,

---

१. क. ख. ग. घ. पु. नवं नाभिस्थानस्थेति पाठः ।
२. ख. पु. र्ध्वोन्मने घोरेति पाठः ।
३. ख. पु. वहःसारमिति पाठः ।

अस्यायमर्थन्यासोऽत्र–

'धाम्ना तु रजसां पातस्सिताद्यश्चागमोदितः' । (४/३४)

इति पूर्वमुक्तत्वादागमान्तरोक्तविभागोऽनुसर्तव्यः[१] । स च–

'लेख्या चात्र सिता रेखा शालिपिष्टकृता पुरः ।

हरिद्रावर्णसंमिश्रा कर्णिका पीतपिञ्जरा ॥

सितपीतारुणानां स्यात्केसराणां त्रयं दले' ।

'तानि शुक्लानि वा कुर्याद्धरितान्यन्तराणि वा ।

कोणा रक्ताः सितं पीठं प्रतिरेखा सिता[२]ङ्गुलात्' ॥ इति ।

तथा–

'अङ्गुष्ठः शक्तिमान्बिन्दुश्चतस्रोऽङ्गुलयः कलाः ।

तदाधारं रजः कृत्वा शक्तिस्पर्शा च बिन्दुना ॥

पातयेच्छक्तिगर्भं तत्तेन तच्छक्तिमण्डलम्' ।

इति श्रीपरायामस्ति । अथवा–

अग्रभाग में श्वेत रेखा का निर्माण शालिचूर्ण से करना चाहिये । कर्णिका पीतपिंजरवर्ण की होती है । अतः उसका निर्माण हरिद्राचूर्ण से करना चाहिये । केशर श्वेतपीत रक्तवर्णी होते हैं । अतः तीनों का सम्मिश्रण उसमें उपयोगी होता है । केशर का स्थान कमलदल के पास है । अतः दलसान्निध्य में उसकी रचना करें ।

दल कई रङ्गों के हो सकते हैं । शुक्ल, पीत, हरित अथवा समानवर्णी किसी अन्य रंग का भी प्रयोग कर सकते हैं । जहाँ तक कोणों का प्रश्न है, उन्हें रक्त वर्ण का होना चाहिये । पीठ भाग श्वेत और प्रतिरेखा के साथ श्वेत रंग देना सौन्दर्य के लिये आवश्यक है ।

इस सम्बन्ध में श्रीपराशास्त्रोक्ति विचारणीय हैं । जैसे, अङ्गुष्ठ शक्तिमान् रूप से मान्य है । शक्तिमान् बिन्दु रूप है, और चारों अङ्गुलियाँ कलारूप में प्रसिद्ध हैं । इनके द्वारा कलाधार पर रजःपात (रंग सज्जा में) किया जाता है । 'रज' और बिन्दु सृष्टि के मूल तत्त्व हैं । पूरी प्रक्रिया इस तरह शक्तिस्पर्शा सिद्ध हो जाती है । बिन्दुपात से शक्तिगर्भ की स्थिति में पूरा यागमण्डल शक्तिमण्डल की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है ।

---

१. ख. पु. अनुमन्तव्य इति पाठः ।

२. ख. पु. सितास्तथेति पाठः ।

'सितं पद्मं विजानीयात्केसरांस्तु विचिन्तयेत् ।
सितान्पीतांस्तथा रक्तान् मूलमध्याग्रतः क्रमात् ॥
कर्णिका हेमसंकाशा पुष्करा हरिताः स्मृताः' । इति ।

इहान्तर्यागोक्तध्यानानुसारं रजःपातः कार्यः । अथ–

स्नात्वा तु विधिवद्देवि प्रविशेद्भवनं गुरुः ।।३५।।

द्वारार्चां कृत्वा ततः–

पूर्वोक्तेन विधानेन सकलीकरणादिकम् ।

कुर्यात् ।

ततः सम्पूजयेद्देवं भैरवं परमेश्वरम् ।।३६।।

केन ?

प्रणवेन

नवात्मसत्कबिन्दूपलक्षितसमग्रोर्ध्वव्याप्तिसतत्त्वेनेत्यर्थः । किं कृत्वा इत्याह–

आसनं दत्त्वा शिवान्तं वरवर्णिनि ।

अथवा एक नये प्रकल्प के अनुसार 'पद्म श्वेत रहे । केशर सित, पीत और रक्त वर्ण के हों । ये मूल, मध्य और अग्रभाग से निष्पन्न होते निर्मित हों । कर्णिका हेमवर्णी हो । पुष्कर हरित वर्ण के हों' ।

रजःपात कलाधार पर अंगुलियों से किया जाता है । यह प्रक्रिया अन्तर्यागोक्त ध्यान के अनुसार होनी चाहिये ।

याग मण्डल के तैयार हो जाने पर स्नानादि प्रक्रिया पूरी कर आचार्य उस यागगृह में प्रवेश करे, यह शास्त्र का निर्देश है ॥३५॥

प्रवेश के अवसर द्वार पूजन विधि के अनुसार द्वार की पूजा आवश्यक होती है । इसके सारे विधान पहले कहे जा चुके हैं । इसी के अनुसार सकलीकरण आदि के प्रयोग भी पूरा कर लेना चाहिये । तदनन्तर परमेश्वर भैरव देव की पूजा करनी चाहिये ॥३६॥

पूजा के मन्त्र विषयक जिज्ञासा की पूर्त्ति करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, पूजा प्रणव मन्त्र से ही की जानी चाहिये । प्रणव रूप बिन्दु से शक्ति न्यास का प्रकरण श्लोक आठ में आया हुआ है । शक्तितत्त्व में व्यापिनी समना की ऊर्ध्व व्याप्ति का ध्यान देते हुए नवात्मक तत्त्व के साथ प्रणव बिन्दु का ध्यान प्रणव द्वारा पूजन के सन्दर्भ में भी रखना चाहिये ।

प्रणवेनेति काकाक्षिवदिहापि योज्यम्, तेन पूर्वोक्तानन्ताद्यनन्तमध्यानन्तान्त-व्याप्तिना प्रणवेनासनं तेनैवोन्मनान्तव्याप्तिना तून्मनाभिन्नपरमशिववादिना भैरवं पूजयेदित्यत्रार्थः । वरमुत्कृष्टं परं तत्त्वं वर्णयति परामृशति तच्छीला वरवर्णिनी ।

क्व किं कथं पूजयेदित्याह–

मध्ये सम्पूजयेद्देवं स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ।।३७।।

पूर्वोक्तेन विधानेन अङ्गषट्कसमन्वितम् ।

मध्य इति पद्म कर्णिकायाम् । विधानमावाहनादिसुरार्घपर्यन्तं सर्वम् । अङ्गान्यपि अत्र प्रणवेनैव स्वनामजात्यन्तेन नवात्मनावयवभेदेन मन्त्रान्तरावकाश-योगात् । एवं पद्मान्तरेष्वपि वक्ष्यमाणकपालीशादिभैरवतदङ्गपूजा मन्तव्या ॥३७॥

तदेवं मध्यपद्मे कर्णिकायां वर्णतद्वाच्यदेवतान्यासावुक्तौ, तत्पत्रेष्वप्याह–

पत्राष्टके न्यसेद्वर्णान् पूर्वादीशांस्ततः क्रमात् ।।३८।।

सर्वप्रथम प्रणव मन्त्र से परमेश्वर के आसन की व्यवस्था करनी चाहिये । प्रणव का प्रयोग काकाक्षिन्याय से यहाँ भी होता है । इसलिये अनन्तादि, अनन्त मध्य और अनन्तान्त व्याप्ति वाले प्रणव से आसन देना चाहिये । यह प्रणव उन्मना पर्यन्त व्याप्त माना जाता है । गहराई से विचार करने पर यह जान पड़ता है कि, उन्मना एवम् परमशिव का अभिन्नत्व प्रणव द्वारा सिद्ध होता है । उसी पारमार्थिक मन्त्र द्वारा भैरव देव की पूजा की जानी चाहिये । वरवर्णिनी शब्द श्रेष्ठ परामर्शिका देवी शक्ति के लिये ही प्रयुक्त है ।

स्वच्छन्द भैरव देव की पूजा मध्य में ही की जाती है । मध्य अर्थात् कमल की कर्णिका में पूजन होना चाहिये । आवाहन से लेकर सुरा के अर्ध्यप्रदान पर्यन्त सारी प्रक्रिया इस पूजा में अपनायी जाती है । अङ्गों की पूजा भी प्रणव से सम्पादित की जाती है । अङ्गों के नाम के साथ उनकी छः जातियों के प्रयोग से मन्त्र बनते हैं । नवात्म के अवयव भेद से प्रणव के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों के प्रयोग भी किये जा सकते हैं । मध्य पद्म में स्वच्छन्द और अन्य सात पद्म में कपालीशादि भैरवों की क्रमशः पूजा की जानी शास्त्र से समर्थित है ॥३७॥

मध्य पद्म की कर्णिका में वर्णों के वाच्य देवताओं के न्यास तो होते ही हैं, उनके पत्रों पर भी न्यास होना चाहिये । यही कह रहे हैं । इस पूजा क्रम में मध्य पद्म के आठों पत्रों पर भी पूर्व से ईशान कोण पर्यन्त दिक् क्रमानुसार न्यास करना चाहिये ॥३८॥

तत्र–

सदाशिवं हकारेणेत्यवमादि वरानने ।
प्रकृत्यन्तं विजानीयान्मध्ये पीठेशकल्पना ।।३९।।

पीठेशं स्वच्छन्दनाथं मध्यकर्णिकायां शिवतत्त्वाधिष्ठायकं विन्यस्य, सृष्टि-क्रमेण नवात्मसम्बन्धिहरक्षमलवयऊकारैः पूर्वादीशान्तदलाष्टके कपालीश-शिखि-वाहन-क्रोधराज-विकराल-मन्मथ-मेघनाद-सोमराज-विद्याराजान् सदाशिवेश्वर-विद्यामायाकलानियतिपुरुषप्रकृतितत्त्वाधिष्ठायिनो विन्यस्यार्चयेदित्यर्थः ।।३९।।

मध्यपद्मे विधिमुक्त्वा पूर्वादिपद्मेषु संक्षेपेण निरूपयति–

दिक्पद्मकर्णिकासंस्थानष्टौ देवान्प्रपूजयेत् ।

इसमें भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! सदाशिव की पूजा हकार बीज से की जानी चाहिये । प्रकृति पर्यन्त यही क्रम अपनाना चाहिये । मध्य में पीठेश का प्रकल्प पूरा करते हैं ।

पीठेश स्वच्छन्द भैरव को ही कहते हैं । इन्हें पद्म की मध्य कर्णिका में प्रतिष्ठित करना शास्त्र की आज्ञा के अनुसार ही है । इन्हें शिवतत्त्वा-धिष्ठायक मानते हैं । सृष्टिक्रम से ह्क्ष्म्ल्व्यूं के मन्त्राक्षरों के अनुसार क्रमशः पहले कहे नियम के अनुसार पूर्व दल में 'ह' से सदाशिव और कपालीश आदि क्रम अपनाना चाहिये । जैसे–

१– पूर्व पद्म पर 'ह्' बीज से सदाशिव तथा कपालीश की पूजा

२– अग्नि पत्र पर 'र्' बीज से ईश्वर तथा शिखिवाहन की ''

३– दक्ष पत्र पर 'क्ष' बीज से शुद्धविद्या तथा क्रोधराज की ''

४– नैऋत्यपत्र पर 'म' बीज से माया तथा विकराल भैरव की ''

५– पश्चिम पत्र पर 'ल' बीज से कला और मन्मथ की ''

६– वायव्य कोणीय पत्र पर 'व' बीज से नियति+मेघनाद की ''

७– उत्तर कोण पत्र पर 'य' बीज से पुरुष और सोमराज की तथा

८– ईशान कोणीय पत्र पर 'ऊं' बीज से प्रकृति+विद्याराज की पूजा की जाती है । अधिष्ठान–अधिष्ठेय और अधिष्ठाता भाव को ध्यान रखना आवश्यक है ।।३९।।

उक्त देवताओं की दिक् क्रम से जो न्यास विधि ऊपर बतायी गयी है, उसी के अनुसार उन्हीं वर्ण बीजों से उन्हीं देवताओं की पूजा आवाहन से सुरा

मध्यपद्मे पूर्वादिदलेषु यैरेव हकारादिभिर्वर्णैर्ये कपालीशादयो भैरवास्तानेव तैरेव वर्णै: पूर्वादिदिक्पद्मकर्णिकासु पूजयेत् ।

पूर्वादिपद्मेषु स्वच्छन्दनाथस्य स्थानमाह–

तत्स्थाने भैरवः पूज्यः

प्रणवेणैव[1] पूर्वोक्तेन । पूर्वपद्मस्य मध्ये हकारेण कपालीश: प्रणवेन तु पूर्वदले स्वच्छन्द: । आग्नेयपद्मस्य मध्ये रेफेण शिखिवाहन: शिखिवाहनस्थाने आग्नेयपत्रे प्रणवेन स्वच्छन्दनाथ: । एवमन्यत् । एवं चैकैकभैरवस्थाने पर्यायेण स्वच्छन्दनाथस्य विन्यस्तत्वात् तदभेदव्याप्तिसारता सर्वभैरवाणां तदधिष्ठेयानां च सर्वतत्त्वानां शिवतत्त्वव्याप्तिमयतैव दर्शिता-इति परमाद्वयमयतया महारहस्यसारता अस्यानुष्ठानस्य प्रकटिता, अतश्च 'सर्वत: [2]सर्वेभ्य' इति रूपविशेषेण मन्त्र-पदार्थ: स्फुटीभूतो जात इत्यलम् ।

के अर्घ पर्यन्त पूजा का विधान है, यही बात श्लोक में संकेत रूप कही गयी है कि, दिक् पद्म कर्णिका में स्वच्छन्द के अङ्ग रूप इन भैरव देवों की पत्रों में पूजा की जाती है ।

पूर्वादि पद्मों में भी स्वच्छन्द भैरव देव का स्थान निर्धारित होता है । वहीं प्रणव से उनकी पूजा करनी चाहिये । इसका क्रम इस प्रकार है–

१– पूर्व पद्म 'ह' से मध्य में कपालीश पूजन और पूर्व पत्र में स्वच्छन्द पूजन

२– आग्नेय पद्म मध्य में रेफ से शिखिवाहन की तथा शिखिवाहन के स्थान पर आग्नेय पत्र पर प्रणव से स्वच्छन्द भैरव की पूजा ।

३– दक्षपद्म मध्य में क्रोधराज की 'क्ष' से पूजा और क्रोधराज के स्थान पर स्वच्छन्द भैरव की प्रणव से पूजा

४– निर्ऋतिकोण पद्मपर मध्य में 'म' वर्ण से विकराल की और विकराल के स्थान पर प्रणव से स्वच्छन्द की पूजा

५– पश्चिम पद्म पर 'ल' वर्ण से मध्य में मन्मथ की एवं मन्मथ के स्थान पर स्वच्छन्द की पूजा प्रणव से ही करनी चाहिये ।

---

१. ख. ग. घ. भैरवेनैवेति पाठ: ।
२. ग. पु. सर्वत: शर्वेभ्य इति पाठ: ।

पूर्वादिदलानां कपालीशादिस्वपीठेश्वरदलव्यतिरिक्तेषु दलेषु मध्यपद्मदलोक्त एव न्यासादिविधिरित्याह–

शेषा वर्णैर्यथाक्रमम् ।।४०।।

एष च वर्णन्यासः पूर्वमेवास्माभिः प्रस्तारेण दर्शितः । अत्र च पृथक्-पृथक् पद्मस्थित्या नव, सामस्त्येन चैक इति दश देवगृहा जाताः, भगवतो विद्याराजस्य बिन्दुसतत्त्वत्वात् तदवयवानामपि पूजाकाले बिन्दुयोगोऽवश्यंभावी, एकैकोऽपि च वर्णः प्रदर्शितक्रमव्याप्त्या सम्पूर्णविद्याराजस्फार एव । यद्वक्ष्यति–

६– वायव्य पद्म मध्य में 'व' वर्ण मेघनाद की मध्य में और मेघनाद के स्थान पर स्वच्छन्द की प्रणव से पूजा होती है ।

७– उत्तर पद्म मध्य में सोमराज की य वर्ण से पूजा और सोमराज के स्थान पर स्वच्छन्द भैरव की प्रणव से पूजा करने का विधान है ।

८– ईशान पद्म मध्य में विद्याराज की बिन्दु रूप प्रणव से पूजा और विद्याराज के स्थान पर स्वच्छन्द की प्रणव से पूजा करनी चाहिये ।

इस प्रकार एक एक भैरव के स्थान पर स्वच्छन्द नाथ का विन्यास और उनके स्थान पर भैरवाष्टक में से एक का न्यास कर पूजन करने से दोनों की अभेदव्याप्ति का मर्म प्रकट हो जाता है । यह अभेद सदाशिवादि प्रकृत्यन्त पदार्थ न्यास से भी समर्थित है । यह भी सिद्ध होता है कि, इस परमाद्वयमय रूप में महा रहस्य का साररस भरा हुआ है । ऐसे नय का अनुष्ठान भी इस तरह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो जाता है । 'अघोर' मन्त्र में सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः का उल्लेख इस तरह सार्थक और चरितार्थ हो जाता है । मन्त्रपदार्थ की स्फुटता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

यहाँ तक अष्टदल देवन्यास पूजन क्रम बताया गया है । पद्म के शेष दलों से नौ पद्म और सामूहिक पृथक् पद्म की दृष्टि से नौ पद्म और सामूहिक रूप से पूजन का एक मिलकर दशदेवगृह सिद्ध होते हैं ।।४०।।

वर्णन्यास के सम्बन्ध में प्रस्तार के माध्यम से पहले ही विस्तार पूर्वक कहा गया है । यहाँ पृथक् पृथक् पद्म की अवस्थिति के कारण नौ और सामस्त्य भाव से एक इस तरह कुल मिलाकर दश देवगृह प्रकल्पित हैं । भगवान् विद्याराज के मन्त्र में बिन्दु रूप प्रणव की सत्ता सर्वमान्य है । इससे अवयवों की भी पूजा के समय बिन्दु योग आवश्यक है । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि, विद्या-राज मन्त्र में गृहीत सभी वर्णों का जो क्रम प्रदर्शित है, सबमें श्री विद्याराज मन्त्र की मन्त्रात्मक व्याप्ति मय मन्त्र स्फार का स्फूर्जन व्याप्त है ।

'यतः सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतः स्मृतः ।
तत्सिद्धिमुक्तिदातासौ न वर्णाः परमार्थतः' ॥ इति । (८/२५)

एवं सृष्टिक्रमेण न्यासमुक्त्वा संहारक्रमेण दीक्षामाह–

शोधयेच्च प्रकृत्यादिशिवान्तं सुरसुन्दरि ।

प्रकृतिर्वाच्यरूपा आदिः शिवश्चान्ते यस्य पदजातस्य तच्छोधयेत् । कथम् ?

ईशानदिश आरभ्य मध्यपीठं विशोधयेत् ।।४१।।

ईशानदिक्पद्मगतेशानदिक्पत्रात् पूर्वोत्तरादिक्रमेण प्रणवाद्यूकारान्तं पदनवकं प्रणवविद्याराजोच्चारपूर्वकमुच्चार्य, प्रकृतितत्त्वस्य अन्तर्णीतक्षित्यादिगुणतत्त्वान्त-तत्त्वजातस्य पूर्ववदन्तर्भूतेतराध्वप्रपञ्चस्य चात्रैवान्तर्भावं भावयित्वा, 'पदनवकाय नमः' इत्यन्तेन मन्त्रेणोपस्थानादि पूर्वोक्तं सर्वं विधिं कुर्यात् । एवमनेन क्रमेण पदानि तावद्विशोधयेत्, यावच्छिवतत्त्वव्यापकं मध्यपद्मगतमूकारादिप्रणवान्तं पद-नवकम् । यस्तु 'प्रकृतितत्त्वरूपादिपदनवकाय नमः' इति केनचित्क्रमो दर्शितः,

---

श्लोक ८/२५ के द्वारा यह कहा गया है कि, "चूँकि भैरव देव सर्वगत अर्थात् सर्वव्याप्त हैं और सबके अन्तराल में उल्लसित हैं । अतः सिद्ध है कि, वही सिद्धि रूप भोग और मुक्ति रूप अपवर्ग प्रदान करते हैं, पारमार्थिक रूप से वर्ण इसमें समर्थ नहीं हैं" ।

वर्णों का सृष्टिक्रम न्यास ऊपर श्लोक ३९-४० में उक्त है । इसके बाद संहार क्रम का न्यास कैसे होता है, यह ज्ञातव्य है । यह वर्णों की संहारक्रम की दीक्षा से सम्बन्धित तथ्य है । जिसे शास्त्रकार व्यक्त कर रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि शिवे ! प्रकृति से प्रारम्भ कर शिव पर्यन्त न्यस्त वर्णों का शोधन होना चाहिये । यह कैसे किया जाय, वही बता रहे हैं–

ईशानकोण से प्रारम्भ कर मध्य पीठ का विशेष रूप से शोधन करना चाहिये । ईशान दिशा में स्थित पद्म के ईशान दल से पूर्व से उत्तर पर्यन्त क्रम पूर्वक प्रणव से ऊकारान्त वर्णों को ॐविद्याराज मन्त्रोच्चार के साथ ही उच्चारण करते हुए प्रकृति तत्त्व के अन्तर्गत क्षिति आदि गुणतत्त्वान्त सभी तत्त्वों का और अन्य अध्वाओं का पदाध्वा में अन्तर्भावन कर 'पदनवकाय नमः' इस मन्त्र से सभी उपस्थानादि प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । यह क्रम तब तक अपनाना चाहिये, जबतक मध्य पद्मगत ऊकार प्रणवान्त पदनवक पूरा न हो जाय ।

स न युक्तः, कलादीक्षोक्तपदक्रमस्य नवात्मवर्णगतप्रातिलोम्यक्रमोच्चारस्य च प्रसिद्धस्यावृत्त्या[१]मापत्तेः पूर्वस्य संहारक्रमस्य चोपेक्षणात् । अत्र पददीक्षायां नवतत्त्वदीक्षावन्नाभ्यन्ताद्यनाश्रितान्ते स्थाननवके पद्मनवकगतवर्णैकाशीतेर्न्यासः कार्यः ।।४१।।

एवं पदाध्वानं शोधयित्वा–

योजयेत्तु परे तत्त्वे शिवे परमकारणे ।

वर्णादिदीक्षामपि अतिदेशेनातिदिशति–

एवं वर्णास्तथा मन्त्रान्भुवनानि विशोधयेत् ।।४२।।

किमवधीत्याह–

कालाग्न्यादि शिवान्तं तु

स्वच्छन्दतन्त्र के अज्ञातनामा टीकाकार जिनका नाम देने का कष्ट भी श्री क्षेमराज ने नहीं किया है, उन्होंने एक नया अभिमत इस विषय में दिया था । उन्होंने कहा था कि, क्रम की क्रमिकता प्रकृति से होनी चाहिये । उस आधार पर उन्होंने 'प्रकृतितत्त्वरूपादि पदनवकाय नमः' इस मन्त्र का प्रकल्पन किया था । आचार्य क्षेमराज इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि, यह युक्ति संगत नहीं है ।

कारण यह है कि, कलादीक्षोक्त पदक्रम का नवात्म वर्णगत प्रातिलोम्य क्रम परम्परा से प्रचलित है । उसकी पूर्त्ति इस अभिमत से नहीं हो सकती । दूसरी आपत्ति यह है कि, पूर्व प्रथित संहार क्रम की इससे उपेक्षा भी होती है । इस पददीक्षा में नव तत्त्वों की तरह नाभ्यन्त से अनाश्रित पर्यन्त नव स्थानों पर नव पद्मों तथा नौ स्थानों को गुणित करने ९×९=८१ स्थानों का न्यास यहाँ अनिवार्यतः आवश्यक भी है ।।४१।।

इस प्रकार पदाध्वा शोधन हो जाता है । इस प्रक्रिया के उपरान्त इसका परमकारण रूप में सम्पूर्ण समायोजन कर देना चाहिये । इसी क्रम से वर्ण दीक्षा में तथा मन्त्रदीक्षा में वर्णों और मन्त्रों का शोधन करना चाहिये । शोधन के इस क्रमानुसार वर्ण, पद और मन्त्रों के एक त्रिक प्रक्रिया के शुद्ध होकर परमतत्त्व में समायोजित करने के बाद दूसरे भुवन, तत्त्व और कला के त्रिक के ही अन्तर्गत भुवन अध्वा के शोधन की चर्चा कर रहे हैं ।

---

१. ख. पु. मावृन्न्यासेति पाठः ।

कथं वर्णमन्त्रभुवनदीक्षाः कुर्यादित्याह–

कलावधि समाश्रयेत् ।

कलादीक्षोक्तप्रघट्टकपञ्चकानुसारेण वर्णादीन् प्रत्येकं विभज्येत्यर्थः । अत्र कलादीक्षावन्मन्त्रा अधिक्रियन्ते । इह च वर्णानाम्–

'शब्दराशिसमुत्थस्य..................' । (स्पन्द० ४/१५)

इति नीत्या बन्धकत्वम्, पदमन्त्राणां तु तत्तद्भिन्नाभिन्नतत्त्ववाचकत्वेन । यथा च मन्त्राणां शोध्यत्वेऽपि शोधकत्वं तन्निर्णीतमेवेति तदेवेह स्मर्तव्यम् । तदेवमिह त्रिपञ्चनवषट्त्रिंशद्भेदेन चतुष्प्रकारा तत्त्वदीक्षा पदमन्त्रवर्णभुवनदीक्षाश्चोक्ताः । तत्र पञ्चदीक्षायां ''कलानां यावती व्याप्तिः' इत्यतिदेशाद् वर्णमन्त्रभुवनदीक्षासु च 'कलाविधिसमाश्रयात्' इत्युक्तत्वात् कलावदध्वपञ्चकान्तर्भावश्चिन्त्यः ।

यह कैसे करते हैं ? इसकी अवधि की भी कोई परिकल्पना है क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि, भुवनों की सीमा कालाग्नि भुवन से शिव पर्यन्त मानी जाती है । यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि, भुवनों का भी वर्णों और मन्त्रों के साथ कथन किया गया है । कैसे वर्णों, मन्त्रों और भुवनों की दीक्षा दी जाय ? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, कला पर्यन्त इस विधि का आश्रय लेना चाहिये ।

यहाँ कला दीक्षा में कहे गये ५ प्रघट्टकों को तथा नव तत्त्व दीक्षा के ३५ प्रघट्टक उद्घृत किये गये हैं । इनमें प्रथम नव प्रघट्टकों में भी पाँच प्रघट्टक खण्डों में जैसा कहा गया है, उसके अनुसार वर्णों आदि का विभाजन कर उनके स्वरूप का आकलन करना चाहिये । यहाँ कलादीक्षा की तरह मन्त्रों का भी अधिकार सिद्ध होता है अर्थात् जैसे मन्त्रों के वहाँ अधिकार निर्धारित हैं, उसी तरह वे यहाँ भी अधिकृत होते हैं ।

जहाँ तक वर्णों का प्रश्न है, वे स्पन्दकारिका के ४/१५ श्लोक के अनुसार शब्दराशि से बँधे हुए हैं । पद और मन्त्र उन उन भिन्न भिन्न तत्त्वों के वाचक होते हैं । इसके कारण इनका दूसरी तरह का सम्बन्ध होता है । वस्तुतः वर्ण, पद और मन्त्र का यह विभाग, कला, तत्त्व और भुवन विभाग के कलातत्त्व की सीमा तक ही अधिकृत है ।

परिस्थिति और अवसर के अनुसार आचार्य इस विषय का निर्णायक माना जाता है । जैसे मन्त्र शोध्य भी होते हैं । फिर उनमें बलवत्ता आने पर शोधक भी हो जाते हैं । इसके शास्त्रीय प्रमाण हैं । यह निर्णीत तथ्य है ।

पददीक्षायां तु नवधा विभक्तायाः प्रथमे प्राकृते प्रणवाद्यूकारान्ते पदानां नवके निवृत्तिप्रतिष्ठे कले, पृथिव्यादीनि प्रधानान्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, भुवनानां कालाग्न्यादियोगाष्टकान्तं शतं चतुष्षष्ट्यधिकम्, क्षादिटान्ताश्चतुर्विंशतिर्वर्णाः, सद्योजातवामदेवहृदयशिरःशिखाः पञ्च मन्त्राश्चान्तर्भूताः ॥१॥

पौरुषे ऊकारादियकारान्ते नवके विद्या कला, पुरुषरागौ तत्त्वे, तुष्टिसिद्धी भुवने, अणिमादि[1]गुरुशिष्यपङ्क्तित्रयनाडीविग्रहाष्टदेहपाशागन्तुगणेशविद्येशपाशभुवनानि दश सुहृष्टादिरुद्रदशकस्य कल्याण्यादेर्गुरुशिष्यदशकस्य भुवनमिति चतुर्दश भुवनानि, ऊझौ वर्णौ, मन्त्रावघोरकवचौ ॥२॥

जहाँ तक तत्त्व दीक्षा का प्रश्न है । कला दीक्षा के सन्दर्भ के बाद ही इसका क्रम आता है । तत्त्व दीक्षा चार प्रकार की मानी जाती है । तीन, पाँच, नव और ३६ भेद भिन्ना इस दीक्षा की तरह ही पद, मन्त्र और वर्ण दीक्षा भी चतुष्प्रकारी होती है । भुवन दीक्षा की भी यही बात है । इनमें अर्थात् वर्ण, पद, मन्त्र, तत्त्व और भुवन रूप पाँचों दीक्षाओं में कला-व्याप्ति की जितनी मात्रा भी है, वह इन सभी को प्रभावित करती है । इसी के आधार पर सारी उक्त दीक्षाओं में भी कलाविधि का ही अनुसरण या समाश्रयण किया जाता है ।

मेरी दृष्टि से विद्वत्ता का यह अपचय है । विधियों को इस प्रकार व्यामिश्रित करने से विकार की ही सम्भावना होती है । इसका स्पष्टीकरण ही किसी टीकाकार का पुनीत कर्त्तव्य है । स्पष्ट रूप से सभी दीक्षाओं को अलग अलग कर उनके तीन, पाँच, नौ और ३६ भेदों का उल्लेख शास्त्र में होना चाहिये । उलझा कर विषय विवादित नहीं करना चाहिये ।

१– पददीक्षा नवधा विभक्त है । विद्याराज मन्त्र के प्रणव से लेकर ऊकार पर्यन्त प्रथम प्राकृत नव पदों में निवृत्ति और प्रतिष्ठा कला, पृथ्वी से प्रधान तक २५ तत्त्व, १६४ भुवन क्ष से ट पर्यन्त २४ वर्ण, सद्योजात, वामदेव, हृदय, शिर और शिखा ये पाँच मन्त्र अन्तर्भूत हैं ।

२– यकार पुरुष तत्त्व है । ऊ से य तक नौ पदों में विद्याकला, पुरुष और राग दो तत्त्व, तुष्टि और सिद्धि दो भुवन, १-अणिमादि २-गुरु, ३-शिष्य पङ्क्ति, ४-नाड्यष्टक, ५-विग्रहाष्टक, ६-देहपाश, ७-आगन्तु ८-गणेश, ९-विद्येश और १०-पाश, भुवन, सुहृष्ट आदि दश रुद्र, कल्याणी आदि गुरु शिष्यों के दश भुवन सब मिलाकर अर्थात् तुष्टि से गुरु शिष्य भुवन पर्यन्त १४ भुवन, ञ और झ वर्ण अघोर और कवच ये दो मन्त्र अन्तर्भूत हैं ।

---

१. ख. ग. पु. गुरुशिष्यदशकस्य भुवनमित्येवंविधः पाठः ।

ऊकारादिवकारान्ते नैयते नवके कलामन्त्रौ प्राग्वत् । एवमुत्तरत्रापि नियति-विद्ये तत्त्वे, वामदेवाद्यष्टकभुवनं वामादिनवकभुवनं च, जछौ वर्णौ ॥३॥

ऊकारादिलकारान्ते कालीये नवके कालकले तत्त्वे, शुद्धादिदशकभुवनं महादेवादिभुवनत्रयं च, [१]चङौ वर्णौ ॥४॥

ऊकारादिमकारान्ते मायीये नवके माया तत्त्वम्, गोपत्याद्यनन्तान्तानि सप्त भुवनानि, घ-वर्णः ॥५॥

ऊकारादिक्षकारान्ते विद्यापदनवके विद्यातत्त्वं [२]त्रिगुणादिविद्याराज्ञीभुवन-मेकम्, शान्ता कला, तत्पुरुषास्त्रे मन्त्रौ, ग-वर्णः ॥६॥

ऊकारादिरेफान्ते ऐश्वरे नवके कलामन्त्रौ प्राग्वत्, ऐश्वरं तत्त्वम्, ईश्वर-भुवनादिज्ञानक्रियाभुवनान्तं भुवनपञ्चदशकम्, ख-वर्णः । ॥७॥

ऊकारादिहकारान्ते सादाशिवे नवके सादाशिवं तत्त्वम्, सादाशिवमेव [३]सुशिवाद्यनन्तभुवनव्यापकमेकं भुवनम्, क-वर्णः ॥८॥

३– व कार नियति तत्त्व है । ऊकार से वकार पर्यन्त नौ पदों में विद्या कला, अघोर कवच मन्त्र, नियति विद्या तत्त्व, वामदेवाद्यष्टक और वामादिनवक ये भुवन तथा ज-छ दो वर्ण हैं ।

४– ऊकार से लकार पर्यन्त काल पद्म के नवक में काल और कला तत्त्व, शुद्ध आदि दश भुवन, महादेवादि तीन भुवन च और ङ वर्ण हैं ।

५– ऊकार से मकारान्त मायीय पद्म के नवक में माया तत्त्व, गोपति से अनन्त भुवन पर्यन्त सात भुवन और घ वर्ण है ।

६– ऊ से क्ष पर्यन्त विद्या पद्म के नौ पदों में विद्या तत्त्व, त्रिगुणादि विद्याराज्ञी नामक १ भुवन, शान्ता कला, तत्पुरुष और अस्त्र दो मन्त्र तथा ग वर्ण है ।

७– ऊ से रेफ पर्यन्त ऐश्वर पद्म नव पदों में ईश्वर तत्त्व, विद्या कला, अघोर कवच मन्त्र ईश्वर से ज्ञान क्रिया भुवन तक पन्द्रह भुवन, ख वर्ण हैं ।

८– ऊ से हकार पर्यन्त सदाशिव पद्म में सदाशिव तत्त्व सदाशिव नामक सुशिव से अनन्त पर्यन्त व्यापक एक ही भुवन और कवर्ण हैं ।

---

१. ख. ग. पु. चञाविति पाठः ।
२. ख. ग. पु. त्रिगुण्यादीति पाठः ।
३. क. ख. ग. पु. सशिवाद्येति पाठः ।

ऊकारादिप्रणवान्ते शैवे नवके शान्त्यतीता कला, शक्तितत्त्वाभिन्नं शिवतत्त्वम्, शान्त्यतीताभुवनादिकानि शिवभुवनान्तानि षोडश भुवनानि, नेत्राभिन्नमूर्तिः, ईशानमन्त्रः विसर्गाद्या हकारान्ताः षोडश वर्णाः ॥९॥

पददीक्षावद् नवतत्त्वदीक्षा । तत्र पदस्थाने प्रकृत्यादितत्त्वानि उपस्थाप्यानि, तत्त्वस्थाने तु पदान्यन्तर्भाव्यानि इति विशेषः ।

त्रितत्त्वदीक्षायां तु **आत्मतत्त्वे** क्षित्यादिमायान्तानि एकत्रिंशत्तत्त्वानि, निवृत्तिः प्रतिष्ठा विद्या कलाः, कालाग्न्याद्यनन्तान्तं भुवनानां शतमेकनवत्यधिकम्, प्रकृतिकोष्ठकेशदिग्गतप्रणवात्प्रभृति पूर्वपद्मगतयाम्यक्षकारान्तं पदान्येकोनसप्ततिः, सद्योजातवामदेवाघोरहृदयशिरःशिखाकवचाः सप्त मन्त्राः, क्षादिघान्ता एकत्रिंशद्वर्णाः ॥१॥

विद्यातत्त्वे शान्ता कला, विद्येश्वरसदाशिवास्तत्त्वानि, विद्यारज्ञ्यादिसदाशिवभुवनान्तानि सप्तदश भुवनानि, पदानि पूर्वपद्माद् र-ओं-ह इति त्रीणि, मध्यपद्मादूकाराद्या हकारान्ता अष्टौ इत्येकादश, तत्पुरुषास्त्रे मन्त्रौ, ग-ख-कवर्णाः ॥२॥

९- ऊकार से प्रणव पर्यन्त शैव पद्म के पद नवक में शान्त्यतीता कला, शक्तितत्त्व से अभिन्न शिवतत्त्व, शान्त्यतीता भुवन से शिव भुवन पर्यन्त १६ भुवन, नेत्राभिन्नमूर्त्ति रूप शिव, ईशान मन्त्र, विसर्ग के आदि के हकार पर्यन्त १६ वर्ण मान्य हैं ।

पद दीक्षा की तरह नव तत्त्व दीक्षा भी मान्य है । पद स्थान पर प्रकृत्यादि तत्त्व होते हैं । तत्त्वों में पदों का अन्तर्भाव किया जा सकता है ।

जहाँ तक त्रितत्त्व दीक्षा का प्रश्न है, इसमें सर्वप्रथम आत्मतत्त्व आता है । आत्मतत्त्व में क्षिति से माया पर्यन्त ३१ तत्त्व, निवृत्ति-प्रतिष्ठा और विद्या कला, कालाग्नि भुवन से अनन्त-भुवन पर्यन्त १९१ भुवन, प्रकृति कोष्ठक के ईशान कोण से, प्रणव से क्षकार पर्यन्त ६९ पद (पहले के पद्मों में कोष्ठकों के अनुसार) सद्योजात वामदेव अघोर हृदय, शिर, शिखा और कवच रूप सात मन्त्र, क्ष से घ पर्यन्त ३१ वर्ण आते हैं ॥१॥

विद्यातत्त्व दीक्षा–

विद्यातत्त्व में शान्ता कला, विद्येश्वर, सदाशिव दो तत्त्व, विद्याराज्ञी भुवन से सदाशिव भुवन तक १७ भुवन पूर्व पद्म से र–ओं और ह ये तीन पद, मध्य पद्म से ऊ से ह पर्यन्त आठ पद, कुल मिलाकर ११पद, तत्पुरुष और अस्त्र ये दो मन्त्र ग–ख और क ये तीन वर्ण माने जाते हैं ॥२॥

नवतत्त्व दीक्षा का अक्षर विन्यास चित्र

विद्याराज बीज मन्त्र 'ह्क्ष्म्ल्व्यूं, १-अ, २-ह, ३-र, ४-क्ष, ५-म, ६-ल, ७-व, ८-य, ९-ऊ भैरवाष्टक क्रम-ओङ्कार-स्वच्छन्द भैरव ओङ्कार को मिलाकर ९ वर्ण ह-कपालीश, र-शिखिवाहन, क्ष-क्रोधराज, म-विकराल, ल-मन्मथ, व-मेघनाद, य-सोमराज, ऊं-विद्याराज ।

पूर्वा

आग्नेयी दिक्

ईशान

सदाशिव:

प्रकृतितत्त्व	ओं	ह	र	ऊ	ओं	र	ऊ	ह	ओं	ईश्वरतत्त्व
	य	ऊ	क्ष	य	ह	क्ष	य	र	क्ष	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
पुरुषतत्त्व	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	शुद्धविद्यातत्त्व
	ओं	य	क्ष	य	ओं	क्ष	य	क्ष	ओं	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
नियतितत्त्व	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	मायातत्त्व
	य	व	क्ष	य	ल	क्ष	य	म	क्ष	
	ओं	ल	म	व	ओं	म	व	ल	ओं	

उत्तर

दक्षिणा

कालतत्त्व

वायु

निर्ऋति दिक्

वरुण

	दिक्	आठभैरव/आठ बीज	नवतत्त्व
१–	मध्यपद्म–	मध्य में स्वच्छन्दनाथ ॐ बीज से लेख्य	शिवतत्त्व
२–	पूर्वपद्म–	मध्य कपालीश बीज हकार से	सदाशिव
३–	आग्नेयपद्म–	शिखिवाहन र से प्रारम्भ	ईश्वर
४–	दक्षपद्म–	क्रोधराज बीज क्ष मध्य से	शुद्धविद्या
५–	निर्ऋति–	विकराल बीज म मध्य से	माया
६–	वरुणपद्म–	मन्मथ बीज ल मध्य से प्रारम्भ	काल
७–	वायु–	मेघनाद बीज व मध्य से	नियति
८–	उत्तर–	सोमराज बीज य मध्य से	पुरुषराग
९–	ईशान–	विद्याराज बीज ऊ मध्य से	प्रकृति

शिवतत्त्वे शक्तिशिवौ तत्त्वे, पदं प्रणवः, भुवनादि प्राग्वत् ॥३॥

१–षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षायां तु पृथिव्यां निवृत्तिः कला, अष्टोत्तरशतं भुवनानाम्, प्रकृतिपद्मान्नव पद्मानि प्रकृत्यन्तं तेषामेव नियुक्तत्वात्, सद्योहृदये मन्त्रौ, क्ष-वर्णः ।

२. जले प्रतिष्ठा कला, वामदेवशिरःशिखास्त्रयो मन्त्राः, पदानि पूर्वोक्तानि नव । एतानि मन्त्रकलापदानि प्रकृत्यन्तं यावत् । एवमेव ह-वर्णः, भुवनानि लकुलीशादीन्यमरान्तान्यष्टौ ।

३. तेजसि स-वर्णः, भैरवादीनि हरिश्चन्द्रान्तान्यष्टौ भुवनानि ।

४. वायौ ष-वर्णः, भीमादिगयान्तानि अष्टौ भुवनानि ।

५. खे श-वर्णः स्थाण्वादिवस्त्रापदान्तानि भुवनान्यष्टौ ।

६. गन्धे व-वर्णः, शार्वं भुवनम् ।

७. रसे ल-वर्णः, भुवनं भवस्य ।

८. रूपे र-वर्णः, भुवनं पशुपतेः ।

त्रितत्त्व दीक्षा में **शिवतत्त्व** के अन्तर्गत शक्ति और शिव दो तत्त्व, प्रणव ही एक मात्र पद, शान्त्यतीता कला, १६ भुवन, ॐ जूंसः रूप मूर्त्ति, ईशान मन्त्र और १६ वर्ण होते हैं ।

१– ३६ तत्त्वात्मिका दीक्षा में पृथिवी में निवृत्ति कला, १०८ भुवन, प्रकृति पद्म से नौ पद्म, सद्योजात और हृदय मन्त्र, तथा क्ष वर्ण माने जाते हैं ।

२– जलतत्त्व में प्रतिष्ठा कला, वामदेव शिर और शिखा ३मन्त्र, प्रणव से लेकर ऊकार पर्यन्त नौ पद, ह वर्ण और लकुलीश भुवन से अमर भुवन पर्यन्त आठ भुवन आते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, इसमें कहे गये मन्त्र, कला और पद, संख्या चौबीस तक में परिगणित प्रधान तत्त्व तक समानरूप से सब में आते ही हैं ।

३– तेज में– स वर्ण, भैरव से हरिश्चन्द्र पर्यन्त आठ भुवन ।

४– वायु में– ष वर्ण, भीम से गया पर्यन्त आठ भुवन ।

५– अकाश में– श वर्ण, स्थान से वस्त्रापद पर्यन्त आठ भुवन ।

६– गन्ध में– व वर्ण, शार्व भुवन ।

७– रस में– ल वर्ण, भव भुवन ।

८– रूप में– र वर्ण, पशुपति भुवन ।

९. स्पर्शे य-वर्णः, ईशानभुवनम् ।

१०. शब्दे म-वर्णः, भीमभुवनम् ।

११. उपस्थे भ-वर्णः, कश्यपभुवनम् ।

१२. पायौ ब-वर्णः, मित्रस्य भुवनम् ।

१३. पादे फ-वर्णः, विष्णोर्भुवनम् ।

१४. पाणौ प-वर्णः, इन्द्रस्य भुवनम् ।

१५. वाचि न-वर्णः, अग्नेर्भुवनम् ।

१६. घ्राणे ध-वर्णः, पृथ्व्या भुवनम् ।

१७. जिह्वायां द-वर्णः, वरुणस्य भुवनम् ।

१८. चक्षुषि थ-वर्णः, रवेर्भुवनम् ।

१९. त्वचि त-वर्णः, वायोर्भुवनम् ।

२०. श्रोत्रे ण-वर्णः, दिशां भुवनम् ।

२१. मनसि ढ-वर्णः, चन्द्रस्य भुवनम् ।

२२. अहंकृतौ ड-वर्णः स्थलेश्वरादिछगलाण्डान्तानि भुवनान्यष्टौ ।

२३. बुद्धौ ठ-वर्णः, देवयोनिक्रोधतेजोयोगाष्टकानि चत्वारि भुवनानि ।

९– स्पर्श में– य वर्ण, ईशान भुवन ।

१०– शब्द में– म वर्ण, भीम भुवन ।

११– उपस्थ में– भ वर्ण, कश्यप भुवन ।

१२– पायु में– ब वर्ण, मित्र भुवन ।

१३– पाद में– फ वर्ण, विष्णु भुवन ।

१४– पाणि में– प वर्ण, इन्द्र भुवन ।

१५– वाक् में– न वर्ण, अग्नि भुवन ।

१६– घ्राण में– घ वर्ण, पृथिवी भुवन ।

१७– जिह्वा में– द वर्ण, वरुण भुवन ।

१८– नेत्रेन्द्रिय में– थ वर्ण, रवि भुवन ।

१९– त्वक् में– त वर्ण, वायु भुवन ।

२०– श्रोत्र में– ण वर्ण, दिशाओं के भुवन ।

२१– मन में– ढ वर्ण, चन्द्र भुवन ।

२२– अहंकार में– ड वर्ण, स्थलेश्वर से छगलाण्ड पर्यन्त आठ भुवन ।

२३– बुद्धि में– ठ वर्ण, देवयोनि–क्रोध–तेज और योगाष्टक नामक चार भुवन ।

२४. अन्तर्भूतगुणतत्त्वे प्रधाने ट-वर्णः, गुरुपङ्क्तित्रयादाद्यानां शिवशक्तियोक्तृणां त्रीणि भुवनानि क्रोधेश्वराष्टकभुवनं प्रकृतिभुवनं चेति पञ्च भुवनानि । एतावत्पर्यन्तं कलामन्त्रपदानि प्राग्वत् ।

२५. पुंसि विद्या कला, अघोरकवचौ मन्त्रौ, मायान्ते षट्के कलामन्त्रौ एवमेव, ऊकारादियकारान्तमुत्तरदिक्पद्मगतं पदनवकम्, ञ-वर्णः, तुष्टिसिद्धिगुरुशिष्यपङ्क्तित्रयनाडीविग्रहाष्टकदेहपाशागन्तुगणेशवैद्येशपाशभुवनानि द्वादश ।

२६. नियतौ वायव्यपद्मगतमूकारादिवकारान्तं पदनवकम्, झ-वर्णः, वामदेवाद्यष्टकभुवनम् ।

२७. कालतत्त्वे ऊकारादिलान्तं वारुणपद्मगतं पदनवकम्, ज-वर्णः, शुद्धादिशंभुराडन्तशिवदशकभुवनानि ।

२८. रागे पौरुषमेव पदनवकम्, छ-वर्णः, सुहृष्टादिरुद्रदशकस्य भुवनम्, कल्याणादेश्च गुरुशिष्यदशकस्य भुवनम् ।

२४– प्रधान में तीनों गुण तत्त्व भी अन्तर्भूत माने जाते हैं । इसमें मात्र 'ट' वर्ण होता है । तीन गुरु पँक्ति में क्रमिक रूप से तीनों का शिवशक्ति समायोजन के साथ तीन भुवन तथा क्रोधेश्वराष्टकों का १ भुवन एवं प्रकृति भुवन कुल मिलाकर पाँच भुवन होते हैं । क्रम संख्यां दो में यह पहले ही लिख दिया गया है कि, प्रधान पर्यन्त अर्थात् प्रकृति पर्यन्त ऊपर के सभी तत्त्वों में मन्त्र, कला और पद समान ही होते हैं । अर्थात् प्रतिष्ठा 'कला' वामदेव, शिर और शिखा ये तीन मन्त्र एवम् उक्त विद्याराज मन्त्रगत नौ पद यहाँ तक के सभी तत्त्वों में होते हैं ।

२५– पुरुष तत्त्व में विद्या कला, अघोर और कवच दो मन्त्र, नवनाभ मण्डल में उत्तर पद्म में 'ऊ'कार से 'य'कार पर्यन्त क्रम में प्रयुक्त नौ पद, ञ वर्ण तथा तुष्टि, सिद्धि, गुरु शिष्य की तीन[३] पक्तियाँ, [१]नाडी, [१]विग्रहाष्टक, [१]देहपाश, [१]आगन्तु, [१]गणेश, वैद्येश[१] और [१]पाशनामक १२ भुवन आते हैं ।

२६– नियति तत्त्व में–वायुकोणीय पद्म में प्रयुक्त ऊकार से 'व' क्रमके सभी नौ पद, झवर्ण, वामदेवाष्टक नामक एक भुवन हैं ।

२७– कालतत्त्व में, वरुण पद्म के 'ऊ'कार के 'ल' पर्यन्त के नौ पद, ज वर्ण, शुद्ध से शंभुराज भुवन पर्यन्त दश शिव भुवन आते हैं ।

२८– रागतत्त्व में–पुरुष पद्म के नौ पद, छ वर्ण, सुहृष्टाव्यादि दश रुद्रों का एक भुवन ।

२९. अशुद्धविद्यायां नैयतमेव पदनवकम्, च-वर्णः, वामादिमनोन्मनान्तं भुवननवकम् ।

३०. कलायां पदनवकं कालीयमेव, ड-वर्णः, महादेवमहातेजोमहाज्योतिषां भुवनत्रयम् ।

३१. मायायां निवृत्तिपद्मादूकारादिमान्तं पदनवकम्, घ-वर्णः, गोपत्याद्यनन्तान्तानि सप्त भुवनानि ।

३२. शुद्धविद्यायां याम्यपद्मादूकारादिक्षान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

३३. ईश्वरतत्त्वे आग्नेयपद्मादूकारादिरेफान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

३४. सदाशिवतत्त्वे प्राक्पद्मादूकारादिहान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

३५. शक्त्यभिन्ने शिवतत्त्वे मध्यपद्मादूकारादिप्रणवान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

२९– अशुद्ध विद्या में नियति स्वीकृत पद्म के नौ पद, च वर्ण, वामादि मनोन्मनान्त नौ भुवन परिगणित हैं ।

३०– कला में काल पद्मगत नौ पद, 'ड' वर्ण, महादेव, महातेज और महाज्योतियों के तीन भुवन आते हैं ।

३१– माया में निवृत्ति पद्म गत ऊ से म तक के क्रम में प्रयुक्त नौ पद, घ वर्ण गोपति से अनन्त पर्यन्त सात भुवन आते हैं ।

३२– शुद्धविद्या में दक्षिण पद्म को ऊकार से क्षकार पर्यन्त नव पद आते हैं । शेष पद दीक्षा की तरह ही मन्त्र आदि होते हैं । गवर्ण, तत्पुरुष अस्त्रमन्त्र आते हैं ।

३३– ईश्वर तत्त्व में अग्निकोणीय पद्म में ऊकार से रेफ पर्यन्त नौ पद खवर्ण, शान्ताकला, तत्पुरुष अस्त्र मन्त्र होते हैं ।

३४– सदाशिव तत्त्व में पूर्वपद्म के ऊकार से हकार पर्यन्त नौ पद होते हैं । शान्ताकला, तत्पुरुष अस्त्र मन्त्र, क वर्ण और सादशिव तत्त्व होते हैं ।

३५– शक्त्यभिन्न शिव तत्त्व में मध्य पद्म के ऊकार से प्रणव पर्यन्त नौ पद आते हैं । शान्त्यतीता कला, शक्त्यभिन्न शिवतत्त्व, शान्त्यतीता भुवन से शिव भुवन पर्यन्त १६ भुवन, नेत्राभिन्न मूर्त्ति, ईशान मन्त्र विसर्ग से ह पर्यन्त १६ वर्ण आते हैं ।

अध्वव्याप्तिरियं ग्रन्थे सूचिता[1] न स्फुटीकृता ।
सम्यग्दीक्षाविधिष्वत्र धीः सुधीभिर्निधीयताम् ॥

एवमीदृगेकतमप्रकारकृतदीक्षं निर्बीजदीक्षादीक्षितवर्ज शिष्यम्–

समयाञ्छ्रावयेत्पश्चात्तन्त्राम्नायोत्थितान् प्रिये ।।४३।।

तन्त्ररूपादित आम्नायादुत्थितानित्यनेन स्रोतोभेदेन समयानां भिन्नाभिन्न-रूपतैव इति सूचयति ॥४३॥

तानाह–

न निन्देद्भैरवं देवं शास्त्रं वान्यसमुद्भवम् ।

लौकिकीं भेददर्शनवासनां च हित्वा तत्समुद्भवानि अन्यान्यपि तत्तदाचा-राण्यपि भैरवशास्त्राणि तदुक्तं तत्तदुपासोपास्यं च तं तं देवविशेषं परभैरव-वद्वन्द्यतयैव पश्येदित्यर्थः ।

आचार्य क्षेमराज विनम्रता पूर्वक अपनी बात कह रहे हैं । उनका कहना है कि, इस प्रकार अध्वव्याप्ति विषयक ग्रन्थ में अब तक जो लिखा गया है, वह सूचना मात्र है । वास्तविकता की स्फुटता के सम्बन्ध में सुधीवर्ग ही प्रमाण है । मेरा निवेदन है कि, विद्वद्वर्ग इन दीक्षा विधियों की विविध व्यवस्थाओं का निर्णय करे और अपनी अनुभूतियों को बुद्धिवाद की कसौटी पर कसकर निकषायित करें ।

इस प्रकार से ऊपर कही गयी दीक्षाओं में से किसी विधा में दीक्षित शिष्य का निर्बीज दीक्षा–दीक्षित शिष्य को छोड़कर समयाचार का श्रावण कराना चाहिये । ये समयाचार तन्त्राम्नायों में चूँकि अलग होते हैं । अतः जिस आम्नाय में जो सर्वाधिक रूप से ऊपर की श्रेणी में उत्थित हो अर्थात् आदर के साथ ग्राह्य हो उसी को सुनाना उचित है । इसे स्रोतों के आधार पर उत्पन्न समय भेद कहते हैं । अतः आम्नाय गृहीत समय का सुनाना ही शास्त्रद्वारा अनुमोदित है ॥४२॥

समयों के सम्बन्ध में तथ्य का उद्घाटन कर रहे हैं–

१– कभी भी किसी भी अवस्था में भैरवदेव की निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

---

१. ग. पु. सूचिताप्यस्फटीकृतेति पाठः ।

किञ्च–

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत् ।।४४।।

तद्दर्शनस्थांस्तदनुपपत्तिदर्शनेन प्रयोजकव्यापारेण न तन्निन्दायां प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ।।४४।।

अत्र हेतुः–

यतः शिवोद्भवाः सर्वे ह्यपवर्गफलप्रदाः ।

तत्तत्स्वोचितमुक्तिकारिणस्तावन्मात्रविश्रान्तानां वाक्यैकवाक्यतया परिपूर्णव्याप्तिविदां सद्योमुक्तिदा अपि–

'अदृष्टविग्रहाच्छान्तात्...............।' (८/२७)

इति भाविनीत्या नानारूपाच्छिवात् सर्वशास्त्राणां उत्पन्नत्वेन तदभिन्नव्याप्तिकत्वात् । अनेनैवाशयेन–

यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम् ।

२– लोक में प्रचलित भेदवाद पर आधृत द्वैतवृत्ति का परित्याग कर देना चाहिये ।

३– भैरवभाव प्रतिपादक शास्त्रों और उनसे उद्भूत प्रचलित अन्यान्य शास्त्रों की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

४– अन्यान्य शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा नयी उपासना पद्धतियों और उनके अनुसार उपास्य देवों की निन्दा नहीं करनी चाहिये ।।४३।।

इन उपदेशात्मक नियमों का कारण यह है कि, सारे शास्त्र शिव से संप्रवर्त्तित माने जाते हैं । ये सभी आचरित होने पर अपवर्ग रूप फल प्रदान करने में समर्थ भी हैं । प्रत्येक शास्त्र में सम्प्रदायानुसार मुक्ति क्रिया में समर्थ वाक्यों की निहितार्थता में एकवाक्यता की कला में प्रवीण परिपूर्ण, शैवव्याप्ति के सुविज्ञ, सिद्ध साधकों के लिये तत्काल मुक्तिप्रद भी होते हैं ।

इस तथ्य का समर्थन इसी ग्रन्थ के अष्टम पटल में २७ वें श्लोक से ३९ वें श्लोकों के द्वारा किया गया है । वहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, स्वात्मफलक में अवभासित अदृश्य–शरीरी शिव से ही विभिन्न रूपों में सभी शास्त्र प्रवर्त्तित हैं । सारे शास्त्र नाना रूप शिवों से ही उत्पन्न हैं । शास्त्रीय सभी नियमों में तादात्म्यभाव से शैवव्याप्ति ही निहित है । इसी भावना को बल प्रदान करते हुए एक पौराणिक उक्ति प्रायः सूक्ति के रूप में उदाहृत की जाती है । उसका तात्पर्य है कि,

"चूँकि यह सारा प्रपञ्च प्रसार शिव से ही समुद्भूत है । अतः शिव धाम रूप फल प्रदान करने में समर्थ है" ।

इति पाठं पुराणपुस्तकदृष्टमिह केचित् पठन्ति । पूर्णव्याप्त्यवेद्याभिप्रायेण तु–

'सर्वान्भ्रमयते माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया' । (१०/१३९)

इत्यादि वक्ष्यति ॥४४॥

किञ्च–

स्मार्त्तं धर्मं न निन्देत्तु आचारपथदर्शकम् ।।४५।।

तदाचाररतानां न बुद्धिभेदं कुर्यादित्यर्थः ।

ब्रह्मादिदेवता याश्च मातरश्चुम्बको गिरिः ।
वीराश्चैव भगिन्यश्च गावो भूतगणास्तथा ।।४६।।

यह तो हुई शिव व्याप्ति की बात और उसकी वेद्यता की बात ! किन्तु शिव की पूर्ण व्याप्ति वेद्य न होने पर तो यह बात नहीं कही जा सकती । उस दशा में कहने वाले माया को ही उत्तरदायी बनाते हैं । उनके अनुसार अमोक्ष में ही कल्पित मोक्ष की लिप्सा में लगे लोगों को माया अमोक्ष के जाल में डालकर निरन्तर भ्रमित करती रहती है । यही तथ्य श्रीतन्त्रालोक में भी प्रतिपादित है ॥४४॥

५– इसी तरह स्मार्त्त धर्म की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । स्मार्त्त धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जो आचार के पथ का प्रदर्शक माना जाता है । इसलिये इस आचार पथ पर चलने वाले स्मार्त्त धर्मानुयायियों की बुद्धि में भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये । गीता भी 'न बुद्धि भेदं जनयेत्' का उपदेश देती है ॥४५॥

६– ब्रह्मा इत्यादि देववर्ग, मातृकाओं, चुम्बक गुरु, गिरि संज्ञक साधकों, वीरों, बहनों और माताओं, गायों और पिशाचादि भूतों और प्रमथादि गणवर्ग के देवों की भी किसी दशा में निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

(अ) ब्रह्मा इत्यादि देव कारणवर्ग में आते हैं । इनका एक स्तर होता है । साधना से इनके स्तर का अतिक्रमण किया जा सकता है । फिर भी इनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

(आ) मातृकायें लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टियों से पूज्य होती हैं । इन्हें आठ रूपों में शास्त्रों ने देखा है वे हैं–१-महालक्ष्मी, २-ब्राह्मी, ३-माहेश्वरी, ४-कौमारी, ५-वैष्णवी, ६- वाराही, ७-ऐन्द्री और ८-चामुण्डा । ये निन्द्य नहीं मानी जातीं ।

ब्रह्मादीन्युल्लङ्घनीयान्यपि कारणानि, मातरो लौकिकाचारतो ब्राह्मयाद्याः, चुम्बति वक्त्रपारम्पर्येण शिष्यं प्रबोधयति रहस्यार्थे यः स गुरुः, गिरिरिव गिरिः मन्त्राराधनादावविचलः साधकः, वीरा रहस्यचर्यानिष्ठाः, भगिन्यो मातृभक्ता योगिन्यः, गावः पशुशास्त्रप्रतिपादितपवित्रभावाः, भूतानि पिशाचापस्मारादीनि, गणाः प्रमथाः एतान्सर्वान्न निन्देदिति सम्बन्धः ॥४६॥

किञ्च–

देवद्रव्यं न हिंस्यात्तु सिद्धान्ते यद्व्यवस्थितम् ।

(इ) चुम्बक गुरु मुख से मन्त्रोच्चार कर शिष्य के कर्ण कुहर में परम्परा से मन्त्र प्रदान करते हैं । इस तरह रहस्य में अर्थतः नियोजित कर देते हैं । ये भी पूज्य हैं । इनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

(ई) पर्वतों की तरह मन्त्रों की आराधना में अविचल साधक गिरि कहलाते हैं । ये भी समादरणीय माने जाते हैं । इनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

(उ) रहस्यचर्या में निष्ठ साधक 'वीर' कहलाते हैं । इनकी कभी निन्दा न करें ।

(ऊ) भगिनी बहनों और माताओं के अतिरिक्त ६४ योगिनियों को भी कहते हैं । इनके अतिरिक्त श्रीचक्र आदि और शरीर में भी योगिनियों का निवास होता है । अतः इनकी निन्दा भी नहीं होनी चाहिये ।

(ए) गाय एक ऐसा पशु प्राणी है, जिसकी पशुशास्त्रों में बड़ी प्रशंसा की गयी है । इसके रोम रोम में देवों का निवास है । ये पूज्य हैं । मां हैं और अनिन्द्य हैं ।

(ऐ) भूत योनि विशेष है । पिशाच भी उन्हीं की श्रेणी में आते हैं ।

(ओ) गण शंकर के गण रूप से प्रसिद्ध है । ये भी पूज्य श्रेणी में आते हैं । इनकी पूजा भी की जाती है । ये निन्द्य नहीं होते ॥४६॥

(औ) सिद्धान्त पर स्थिर रहना कर्त्तव्य श्रेणी में आता है । इसके अनुसार जीवन का व्यवस्थित सञ्चालन होता है । इसके अनुसार यह निर्धारित कर लिया जाता है कि, स्वोपार्जित धन में इतना देवपूजन के लिये अलग सुरक्षित कर लिया जाय । वह धन और सामग्रीसमुदाय देवद्रव्य कहलाता है । इसका अपव्यय नहीं होना चाहिये । इसका दुरुपयोग ही इसकी हिंसा होती है । ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये ।

सिद्धान्ते निश्चये यद्व्यवस्थितं तद्देवार्थमेवेदं द्रव्यमिति तन्न हिंस्यात् ।

किञ्च–

गुरोरन्नं न भुञ्जीत अदत्तं परमेश्वरि ।।४७।।

गुरुणा यन्न प्रसादीकृतं तत्तदीयमन्नमपि नाश्नीयात् ।।४७।।

मद्यं मांसं तथा मत्स्यानन्यानि च वरानने ।

साचारांश्च निराचाराँल्लिङ्गिनो न जुगुप्सयेत् ।।४८।।

अन्यानीति वीरद्रव्याणि, निराचारानिति तद्रूपेण निह्नुततत्स्वरूपाणां सिद्धानामपि भावाद् न जुगुप्सीत ।।४८।।

चरुकं प्राशयेन्नित्यं

स्वेष्टदेवतायै दत्तम् ।

गुरून्सम्पूजयेत् सदा ।

(अं) गुरुदेव के लिये निर्धारित अन्नराशि उनके निमित्त खर्च करनी चाहिये । उसका अपने भोजनादि के लिये उपयोग नहीं करना चाहिये । हाँ यदि गुरुदेव प्रसाद के रूप में लेने का आदेश दें, वही प्रसाद मात्र ग्राह्य है ।।४७।।

७– शास्त्रों में पञ्चमकार सम्बन्धी उपासना का भी वर्णन है । उसमें मद्य, मांस, मत्स्य आदि द्रव्यों का प्रयोग होता है । बहुत से आचारवान् इसे अच्छा नहीं मानते, किन्तु इस भैरवीय सम्प्रदायवाद में दीक्षित व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि, कभी भी इनकी निन्दा न करें ।

अन्य पदार्थों में वीर द्रव्य आते हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि देवि किसी भी दशा में उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । लिङ्ग धारण करने वाले लिङ्गी सिद्धों की आचारमयी या निराचारमयी प्रक्रिया की भावना का आदर करना चाहिये, निन्दा नहीं ।।४८।।

८– समयाचार के अनुपालन में संलग्न शिष्य को अनवरत चरु का ही, जिसे अपने इष्ट देवता को अर्पित किया गया है, उसी का प्राशन करना चाहिये ।

९– सदा गुरुजनों की पूजा करने के व्रत का निर्वाह करना चाहिये । ऐसा न करने पर नित्यार्चा रूप अधिकार की समाप्ति हो जाती है ।

अन्यथा नित्यार्चाधिकाराभावात् ।

उपस्करान्महादेवि पादेन तु न संस्पृशेत् ।।४९।।

उपस्करान् दृषदुलूखलमुसलादीनि गृहोपकरणादीनि, तेषां मतङ्गशास्त्रेषु नवयागविधौ देवतासङ्केतस्थानत्वेनाम्नातत्वात् ।।४९।।

संहितां चिन्तयेन्नित्यं

संहितां शैवं शास्त्रम् ।

[1]भक्तानां श्रावयेत्सदा ।

गुरुस्तदनुज्ञातोऽन्योऽपि वा, अतः प्राधान्येनायं गुरोरेव समयः ।

आह्निकं न विलुम्पेत्तु सन्ध्याकर्म वरानने ।।५०।।

आह्निकं पूजादिनित्यकर्म, सन्ध्यां सन्ध्याकालसंपाद्यां मन्त्रोपासाम् ।।५०।।

अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छास्त्रपद्धतिम् ।

१०– उपस्कर एक संज्ञा शब्द है । इसमें शील, ओखली और मूसल आदि वे द्रव्य आते हैं, जिनका घर-गृहस्थी में नित्य उपयोग होता है । इन्हें गृहोपकरण भी कहते हैं । मतङ्ग शास्त्र में नवयाग प्रक्रिया की विधि में इन गृहोपकरणों में देवबुद्धिपूर्वक देव-सङ्केत-स्थान के रूप में आम्नात किया गया है । अतः इनको पैर से स्पर्श नहीं करना चाहिये । इससे उनका अनादर होता है ।।४९।।

११– शैवशास्त्र ही संहिता माने जाते हैं । अपनी स्वीकृत परम्परा के जो शैव शास्त्र हैं, इनका निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिये । साथ ही साथ भक्त जनों को उन्हें सुनाते रहना चाहिये । प्रधानतया गुरुजनों और आचार्यों के लिये यह आवश्यक है । गुरु की अनुज्ञा से कोई अन्य शिष्य भी ऐसा करे । यह प्रधान समय है ।

१२– भगवान् कह रहे है कि, देवि ! शिष्य और गुरु, सबका यह कर्त्तव्य है कि, दैनिक जितने समुदाचार हैं, उनका कभी विलोप नहीं होना चाहिये । सन्ध्या कर्म सबके लिये अनिवार्यतया आवश्यक है ।।५०।।

१३– जिनकी अभी दीक्षा नहीं हो सकी है, ऐसे अनधिकारी शिष्य के समक्ष शास्त्र-पद्धति की चर्चा नहीं होनी चाहिये । शास्त्र-पद्धति का तात्पर्य शास्त्र के प्रक्रियात्मक क्रियायोग की पद्धति से है । साधकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि,

---

१. ख. पु. भक्त्या तामाश्रयेदिति पाठः ।

शास्त्रपद्धतिं पारमेशशास्त्रप्रक्रियाम् । साधकविषयमाह–

त्रिकालं पूजयेद्देवं जपध्यानरतः सदा ।।५१।।

प्रातर्मध्याह्ने सायं च ।।५१।।

तदेतदन्यथायोगं पुत्रकादिः–

समयान्पालयेन्नित्यमुभयार्थफलेप्सया ।

उभयार्थमैहिकमामुष्मिकं च फलं भोगो मोक्षश्च ।

तदित्थं समयश्रवणान्तां क्रियादीक्षामुक्त्वा, ज्ञानदीक्षां निरूपयितुमाह–

अतो विज्ञानदीक्षां तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।।५२।।

अध्यात्मगतिचारेण केवलेन विशोधिकाम् ।

अनुपूर्वशो वक्ष्यमाणोद्घातक्रमेण । अध्यात्मात्मनि गत्या ज्ञानेन यश्चारः सौषुम्नमार्गारोहः, तेन । केवलेन होत्रादिहीनेन ।

१४– त्रिकाल संध्या के समय भैरव देव की पूजा अवश्य ही सम्पन्न करनी चाहिये ।।५१।।

जहाँ तक पुत्रकों का प्रश्न है, उनका भी यह कर्त्तव्य है कि, वे भी उभयार्थ अर्थात् ऐहिक फल अर्थात् भोग सिद्धि के लिये और आमुष्मिक अर्थात् मोक्ष सिद्धि के लिये समयों का अवश्य पालन करें ।

समयाचार में समय पालन और समय श्रावण अर्थात् समय सुनाकर दूसरों को भी समय पालन के लिये प्रवृत्त करना ये दो कर्त्तव्य विभाग हैं । इन्हें **क्रियायोग दीक्षा** कहते हैं ।

इसके बाद ज्ञानयोग की दीक्षा का प्रकरण आता है । इस विषय में भगवान् पार्वती को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! अब मैं तुम्हें ज्ञानदीक्षा का अनुपूर्वशः विज्ञान सुनाने जा रहा हूँ । तुम ध्यान पूर्वक सुनो ।।५२।।

इस विज्ञान दीक्षा की अपनी विशेषता है । पहली विशेषता इसकी यह है कि, यह जीवनतत्त्व की विशोधिका होती है । दूसरी इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि, यह केवल विज्ञानमयी होती है । इसमें अग्निहोत्र आदि बाह्य विधान की कोई प्रक्रिया नहीं अपनायी जाती । इसकी तीसरी और उक्त दोनों से भी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि, यह आध्यात्मिक गति रूप स्वाभाविक प्राणापानवाह प्रक्रिया के चार पर ही आधृत होती है । यही आत्मज्ञान का माध्यम है । सुषुम्ना के मार्ग से इसे साधना पड़ता है ।

तत्र–

शिष्यात्मानं गृहीत्वा तमात्मप्राणे नियोजयेत् ।।५३।।
अभिमानं तथोच्चार्य कुर्याद्वै पूर्ववत्तदा ।

अभिमानम्–

'अहमेव परो हंसः............।' (४/३९५)

इत्युक्तरूपम् ।।५३।।

एतत्सर्वं पूर्वोक्तमनूद्य, विशेषमाह–

उद्घातैश्च ततोऽध्वानं शिष्यस्य तु विशोधयेत् ।।५४।।
ततः समुच्चरंस्तत्त्वं पृथिव्याद्यं तु सुव्रते ।

तत्त्वं निष्कलस्वरूपं पूर्वोक्तमुद्राबन्धयुक्त्या सम्यगुच्चरन् पृथिव्याद्यमध्वानं भावनया विन्यस्तं विशोधयेत् ।।५४।।

कथमित्याह–

भिन्नाभिन्नस्वरूपेण एकैकं तु यथाक्रमम् ।।५५।।

गुरुदेव का यह सर्वातिशायी उत्तरदायित्व होता है कि, वह शिष्य को इस मार्ग पर चलने के योग्य बनावें । इसके लिये शिष्य के स्वात्म का ग्रहण कर उसे अपने प्राण में समायोजित करलें ।।५३।।

शास्त्र में एक वाक्य है–जिसे अभिमान वाक्य कहते हैं । स्व को जानना मानना ही अभिमान है । जब हम कहते हैं–'अहमेव परो हंसः' अर्थात् में ही परमेश्वर रूप 'परम हंस' हूँ तथा हंसः सोहम्, सोहं हंसः परः शिवः अर्थात् मैं वही परमशिवरूप हंस' हूँ, सोहमस्मि इस प्रकार की अखण्ड वृत्ति का साक्षी स्वात्म को मानना ही अभिमान है । इसका प्राणसम उच्चार करते हुए प्राणापानवाह प्रक्रिया को पूरा करे । इसी के साथ उद्घात प्रक्रिया द्वारा शिष्य के अध्वावर्ग का शोधन कर दिया जाता है ।।५४।।

इसके बाद निष्कल भैरव मन्त्र रूप तत्त्व का उच्चार करना चाहिये । इसके साथ मुद्राबन्ध का प्रयोग अवश्य करते हैं । शिष्य के अध्वावर्ग के शोधन क्रम में सर्वप्रथम पृथिवी आदि अध्वा का विशोधन शुरू करना चाहिये । भगवान् पार्वती को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, सुव्रते देवि ! इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

यह सारी प्रक्रिया भावना से पूरी की जाती है । कैसे की जाती है ? इसका उत्तर दे रहे हैं–

सस्वरं ह्यक्षरोच्चारं देवताभिः समन्वितम् ।

मन्त्रकलाव्याप्त्याभिन्नेनाविकल्पविमर्शैक्याच्च अभिन्नेन स्वरूपेणोपलक्षितम्, तत एव देवताभिर्ब्राह्म्याद्याभिः सम्यगभेदव्याप्त्यान्वितम्, एकैकमकारोकारमकारादिरूपमक्षरम्, सस्वरमित्यान्तरोच्चारवत्पश्यन्तीविमर्शप्रधानम्, अत एव चाक्षरोच्चारमविचलितमन्त्रध्वनिरूपं कुर्वन्निति शेषः ॥५५॥

तदत्र–

'आब्रह्मरन्ध्रं भ्रूमध्यात्सन्ति पञ्च धरादयः ।

ग्रन्थयः कारणैः सार्धं तान्भित्त्वा प्राप्यते शिवः' ॥

१– भिन्न स्वरूप से और अभिन्न स्वरूप से उपलक्षित, २–देव शक्तिरूपा ब्राह्मी आदि शक्तियों की अभेदव्याप्ति से अन्वित, ३–एक एक अक्षर को, ४–सस्वर अर्थात् आन्तर उच्चार पूर्वक पश्यन्ती दशा के विमर्श की प्रधानता से युक्त, ५–अक्षर अर्थात् अविचल उच्चार रूप मन्त्रध्वनि करते हुए ही भावना के द्वारा विशोधित करना चाहिये ।

१– मन्त्र और कला की व्याप्ति के कारण यहाँ अभिन्नस्वरूपता की अनुभूति होती है ।

२– विकल्प रहित विमर्शमय ऐक्य की भावना के आधार पर पृथिव्यादितत्त्वों के ऐक्य की अनुभूति स्वाभाविक रूप से होती है ।

३– अध्वा के बीजाक्षरों की सत्ता में विद्यमान शक्तियों (जैसे ब्राह्मी आदि शक्तियों से समन्वित शिष्य की पृथिवी आदि तत्त्वमयी अवस्थाओं) को आत्मसात् करते हुए विशोधन करना चाहिये ।

४– प्रणव में आने वाले एक एक अक्षर को जैसे अकार, उकार, मकार आदि अक्षरों को

५– सस्वर अर्थात् आन्तर उच्चार के रूप में पश्यन्ती दशा के विमर्श प्रधान स्फुरण को मन्त्रात्मक सूक्ष्म ध्वनि रूप में उच्चारित करते हुए शिष्य के अध्वावर्ग का विशोधन करने से ही यह प्रक्रिया पूरी होती है । विशोधन में उक्त पाँच बिन्दुओं पर गुरु को विशेष बल देना पड़ता है । ज्ञानदीक्षा एक महत्त्वपूर्ण दीक्षा-प्रक्रिया है । विशोधन पृथिव्यादि अध्वा का ही होता है और उक्त बिन्दुओं के माध्यम से ही सम्पन्न होता है ॥५५॥

इस विषय में तन्त्रान्तर की एक उक्ति ध्यान देने योग्य है । इसके अनुसार कारणों के साथ जो ग्रन्थियाँ आज्ञाचक्र से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त विद्यमान हैं, उनका भेदन करना पड़ता है ।

इत्याम्नायान्तरोक्तस्थित्या भ्रूमध्यादिपदावस्थितसुसूक्ष्मपृथिव्यादिग्रन्थिपञ्चकभेद-मुद्घातयुक्त्या आदिशति देवः-

बिन्दुना शक्तिसंयोगादुद्घातः प्रथमः स्मृतः ।।५६।।
देवतात्रयनिर्मुक्तः

पूर्ववच्छिष्यचैतन्यं स्वप्राणे लीनं कृत्वा, पूर्वोक्तकरणबन्धपुरःसरं हृदयान्मध्यशक्तिप्रसरयुक्त्याकृतकविमर्शसारं मन्त्रमुच्चरन्, मान्त्रविमर्शप्रधानायास्तस्याः शक्तेर्बिन्दुना संयोगादिति भ्रूमध्ये वज्रलाञ्छितपीतवर्णचतुरस्रपार्थिवमण्डलमध्य-

---

"वहाँ कहा गया है कि, भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पाँचों धरा आदि तत्त्वों की विद्यमानता है । इन ग्रन्थियों को कारणों के साथ भेदन करने के उपरान्त ही शिव प्राप्ति होती है" ।

यह किसी दूसरे आम्नाय की उक्ति है । इसके अनुसार भ्रूमध्य के ऊपरी इन चक्रों में सूक्ष्म रूप से धरा आदि के कारणों का अस्तित्त्व भी विद्यमान है । इन्हें ग्रन्थि भी कहते हैं । इनकी संख्या पाँच है । इनका भेदन करना तन्त्र की ऊर्ध्व यात्रा के लिये आवश्यक माना जाता है । भेदन की इस युक्ति को 'उद्घात' कहते हैं । उद्घात युक्ति के विषय में श्लोक के माध्यम से चर्चाकर रहे हैं । इस प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है ।

सर्वप्रथम सद्गुरुदेव शिष्य के चैतन्य को अपने प्राण में लीन करते हैं । इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत करणबन्ध की क्रिया भी आती है । करण के विषय में ४/३६५-३६७ तथा ३५९ से ३६२ श्लोकों में पूर्ण रूप से समझाया गया है । इसके तीन भेद होते हैं । तीनों में दिव्य करण ही प्रधान और महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

करणबन्ध के द्वारा हृदय से मध्यशक्ति का प्रसर साधक को ज्ञात होता है । उसी समय विमर्श मूलक मन्त्र का उच्चार सम्भव है । बिन्दु से जब शक्ति का संयोग होता है । उस समय भ्रूमध्य में ही प्रथम उद्घात होता है । यह एक महत्त्व पूर्ण सिद्धि मानी जाती है ।

इसमें शक्ति का विमर्श प्रधान रूप और बिन्दु का उससे संयोग एक अभिनव उल्लास को जन्म देता है । एक अविर्वचनीय वैद्युतिक उद्घात दोनों को अर्थात् शक्ति को और बिन्दु को विस्फूर्जित कर देता है । बिन्दु में वज्र की पीत ऊर्जा भर जाती है । भ्रूमध्य में चौकोर पार्थिव तत्त्व जगमगा उठता है । उसी के बीच में बिन्दुरूप वज्र शाक्त तेज से जाज्वल्यमान वैश्वानर की तरह लपलप करता प्रकाश की रश्मियों को विकीर्ण करता है ।

ध्यातबिन्दुतेजसा सम्यगिति ऊर्ध्वोच्चारक्रमेण योगात् तदनुभवात् प्रथमोऽय-मुद्घातो ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यदेवतात्रयेण निर्मुक्त; ईश्वराख्यमन्त्रदेवतासमापत्त्यात्मा पञ्च-गुणपृथ्वीतत्त्वगतगन्धाख्यमुख्यगुणसंशोधनरूप इत्यर्थः ।

रसाख्यगुणशुद्धर्थं द्वितीयमाह–

चतुर्थान्तसमन्वितः ।

उद्घातः स तु देवेशि द्वितीयः परिकीर्तितः ।।५७।।

चतुर्थस्य बिन्दुस्थानस्यान्तोऽर्धचन्द्रस्तेन प्राग्वत्सम्यगन्वितः तदनुभवावेश-रूप इत्यर्थः ।

रूपगुणशुद्ध्यर्थं तृतीयमाह–

हंसाक्षरसमुच्चारः सुदीर्घो बिन्दुसंयुतः ।

अर्धचन्द्रान्निरोधिन्यामुद्घातस्तु तृतीयकः ।।५८।।

साधक की भ्रूमध्य की भूमि में सहस्र सूर्योदय की छटा बिखर रही होती है । उदान वायु उस आभाप्रभा का ऊर्ध्व उच्चार करता है । उस अनुभूति से उद्भूत भावानन्द में साधक आत्मविभोर हो जाता है । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों कारण देवता अ उ म में अधिष्ठित रहने के कारण उस भूमिका के निचले स्तर पर ही रह जाते हैं । वह ईश्वर की ऐश्वर्यमयी बैन्दवी भूमि होती है । ईश्वर की मान्त्रिक मेधा की महनीयता का साधक वहाँ महोत्सव मनाते हैं । पार्थिव गन्ध गुण का यहाँ स्वयमेव संशोधन हो जाता है ।।५६।।

इस भूमिका को पारकर द्वितीय उद्घात की यात्रा के लिये साधक साव-धान रहता है । ऊर्ध्व गतिशीलता में बिन्दु के आकर्षण क्षेत्र को अतिक्रान्त कर वह अर्धचन्द्र की चिद्भूमि में प्रवेश कर जाता है । यह चतुर्थान्त भूमि कहलाती है । ओङ्कार की ऊर्ध्ववर्त्तिनी यह पाँचवी भूमि मानी जाती है । इसमें चान्द्र सोम रस का अस्तित्व होता है । अतः इस 'रस' रूप गुण का यहाँ शोधन हो जाता है । इसे तन्त्र की भाषा में द्वितीय उद्घात की प्रक्रिया कहते हैं ।।५७।।

तृतीय उद्घात का अपना विशिष्ट महत्त्व है । ओम् रूप एकाक्षर ब्रह्म की पाँचवीं अर्धचन्द्र भूमि को भी अतिक्रान्त करने का यह महान् उपक्रम है । अर्धचन्द्र को अतिक्रमण करने के उपरान्त निरोधिनी भूमि का स्पर्श होता है । इसमें हंसाक्षर का समुच्चार करते हैं । हंसाक्षर 'हकार' को कहते हैं । बिन्दु के साथ यह 'हं हो जाता है । इसे निष्कल मन्त्र भी कहते हैं ।

हंसपथस्य हंसरूपस्य चाक्षरस्य निष्कलमन्त्रस्य सम्यगिति पूर्वोक्तयुक्त्या उच्चारः, सुदीर्घ–

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्मम्................।' (६/४)

इति भाविनीत्या मकारान्ते प्लुतः, ततोऽपि प्रथमोद्घाताविधिना बिन्दुना सूक्ष्मरूपेण सम्यग्युतस्तद्विश्रान्तः, तथार्धचन्द्राद् द्वितीयोद्घातविश्रान्त्यवधेर्निरोधिकास्थानान्तं प्रसरंस्तृतीय इति पार्थिवरूपगुणशुद्धिकृदित्यर्थः ॥५८॥

स्पर्शगुणशुद्ध्यर्थमाह–

भिन्नोद्घातो यदा देवि नादान्तस्तु तदा भवेत् ।
उद्घात स तु देवेशि चतुर्थः परिकीर्तितः ।।५९।।

यहाँ सुदीर्घ उच्चारण आवश्यक होता है । 'ह' रूपी प्राणाक्षर में छठां स्वर जो ऊर्ध्ववाह का आधार है, लगा देने से जो बीजाक्षर बनता है, उससे संयुक्त उच्चार तृतीय उद्घात माना जाता है । इसके विना अर्धचन्द्र से निरोधिनी का भेदन नहीं हो सकता । निरोधिनी के अन्त तक प्रसृत इस उद्घात से ही नाद–कला का स्पर्श प्राप्त होता है । वस्तुतः अर्धचन्द्र और निरोधिनी नादकला की ही अन्तःकलायें मानी जाती हैं । इन्हीं अन्तःकलाओं में द्वितीय और तृतीय उद्घात सम्पन्न होते हैं ।

इसी प्राणाक्षर बीज मन्त्र को 'हंसपथ' भी कहते हैं । यह 'हंसरूप' ही होता है । बिन्दुसंयुक्त होने पर यह निष्कल एकाक्षर बीज मन्त्र हो जाता है । जहाँ तक इसके साथ ओङ्कार के उच्चार का प्रश्न है, उसकी पाँच काल कलाओं का पृथक् पृथक् उच्चार करते हैं । जैसे–'अ' ह्रस्व, 'ऊ' दीर्घ, 'म' प्लुत, 'बिन्दु' सूक्ष्म और (ँ) अर्धचन्द्र अतिसूक्ष्म माने जाते हैं ।

इस क्रम में प्रथमोद्घात अ-उ-म को पारकर बिन्दु की सूक्ष्मता के साथ ही सम्पन्न होता है । द्वितीय उद्घात अर्धचन्द्र में विश्रान्त होता है और तृतीय उद्घात निरोधिनी के अन्त तक प्रसरित होता है । यहाँ तक पार्थिव जगत् के गन्ध, रस और रूप नामक गुण शुद्ध हो जाते हैं ॥५८॥

हंसाक्षर के समुच्चार के साथ प्रथम, द्वितीय और तृतीय उद्घातों के विषय में चर्चा की गयी है । वही मन्त्रोच्चार जब नादानुभव में विश्रान्त हो जाता है, उस समय 'स्पर्श' रूप चतुर्थ गुण को शुद्ध कर देने वाला चतुर्थ उद्घात पूर्ण हो जाता है । श्लोक में 'तदा' अव्यय द्वितीय अर्धाली के पहले अन्वित की जानी चाहिये । इस क्रम में गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणों की शुद्धि होने का एक

भिन्ना उद्घाता इति प्रोक्तानि त्रीण्युद्घातस्थानानि येन मन्त्रोच्चारेण स पुनर्यदा नादान्तो नादानुभवविश्रान्तो भवति, तदा स चतुर्थगुणशुद्ध्यर्थं उद्घात उक्तः । तदाशब्दो भवेच्छब्दानन्तरं योज्यते ॥५९॥

शब्दगुणशुद्ध्यर्थं पञ्चममाह–

स एव चाक्षरोच्चारो व्यापिन्यन्ते व्यवस्थितः ।

उद्घातः स तु देवेशि पञ्चमः परिकीर्तितः ॥६०॥

स चैवेति नैष्कलः । व्यापिन्यन्ते इति तद्विश्रान्तिरूढः । पञ्चम इति पञ्चमस्य शब्दगुणस्य शुद्ध्यर्थम् ॥६०॥

तदित्यम्–

पञ्चोद्घातांस्ततो दत्त्वा पृथिवीं शोधयेद्बुधः ।

अर्थ यह भी लगाना चाहिये कि, इनके मूल महाभूत भी शुद्ध हो जाते हैं । इस दृष्टि से इन उद्घातों के माध्यम से पृथ्वी, अप्, तेज और वायु ये चारों तत्त्व भी ऐसे साधक के शुद्ध हो गये होते हैं । साधना के इन सोपानों पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥५९॥

अब पञ्चम उद्घात का क्रम उपस्थित होता है । साधक प्रथम उद्घात में ही शक्ति के शाक्त प्रभाव का उपयोग कर् चुका है । शक्ति के शाक्त अन्तराल में ही उसने उक्त चार गुणों का शोधन कर लिया है । चतुर्थ नादान्त उद्घात के बाद आकाश तत्त्व के शब्द गुण का शोधन होता है । आकाश व्यापक तत्त्व है । अतः इसका प्राणाक्षर निष्कल बीजोच्चार व्यापिनी शक्ति के अन्ततक विश्रान्ति प्राप्त करता है । भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! इसे पाँचवाँ उद्घात कहते हैं । इसमें शब्द गुण शुद्ध होता है । उसी के साथ आकाश की भी शुद्धि हो जाती है ॥६०॥

यद्यपि ये पाँचों गुण पञ्चमहाभूतों के हैं किन्तु ये पञ्चमहाभूत पार्थिव मण्डल के ही अङ्ग हैं और इसके कारण पञ्चपिण्डनाथ के अधर अण्ड को पृथ्व्यण्ड कहते हैं । अतः इस आधार पर पृथिवी पञ्चगुणवती मानी जाती है । ज्ञानी पुरुष इस रहस्य से परिचित होता है । वह इन उक्त पाँचों उद्घातों में सर्वप्रथम बिन्दुस्थान से पार्थिवी धारणा को प्रत्येक में धारण करता हुआ, उद्घातों के अनुसार बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद और व्यापिन्यन्त में विश्रान्ति लाभ करता है । इसी के साथ वह शिष्य के पाँचों गुणों में भोग्यभोक्तृ भाव को शोधित कर लेता है ।

तत इति यत: पञ्चगुणा पृथ्वी, बुध इति ज्ञानी, अत्र पञ्चस्वपि उद्घातेषु बिन्दुस्थाने पार्थिवीं धारणां प्रत्येकं धृत्वा, उद्घातानुसारं बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिनाद-व्यापिन्यन्तेषु विश्रान्ती: कुर्वन्, शिष्यात्मनो गन्धादिशब्दान्ते गुणपञ्चके भोग्य-भोक्तृभावं शोधयेत् ।

इत्थं च व्यापिन्यन्ताश्रयणेऽपि सूक्ष्मव्याप्त्या पार्थिवतत्त्वभोगस्थानं बिन्दु-धामैव[1] शुद्धं भवतीत्याह–

अकारोकारमकारान्तमेवं शुद्ध्यति नान्यथा ।।६१।।

अकारोकारमकाराणामन्तं बिन्दुस्थानम्, एवमिति व्यापिन्यन्तनुप्रवेशा-त्मकोद्घातपञ्चकात् शब्दान्तगुणपञ्चकसंशुद्धियुक्त्या पृथ्वीतत्त्वशोधनादित्यर्थ: । नान्यथेति हुतिदीक्षायामेव तत्त्वशुद्धिर्भवतीति भेदवादिवन्नास्यां ज्ञानदीक्षायां संशयितव्यं हुतिदीक्षायामपि ज्ञानस्यैव प्राधान्यादिति निर्णीतत्वात् । उक्तं च श्रीमतङ्गपारमेश्वरेऽपि–

इस क्रम में भगवान् भैरव आचार्य गुरु और साधकों को सावधान करते हुए कह रहे हैं कि, आचार्य गुरुदेव ने शिष्यात्मभाव को बिन्दु से व्यापिनी के अन्तराल तक में भी प्रवेश करा दिया है । इन पाँचों उद्घातों के द्वारा पाँचों गुणों का शोधन भी कर दिया है । इस प्रकार शिष्य का पार्थिव तत्त्व शुद्ध हो गया है । गुरु अवसर के अनुसार यह पद्धति सदा अपनाये । यह भगवान् की आज्ञा है ।

यह बात हमेशा ध्यान रखनी चाहिये कि पाँचों उद्घातों के आधार पर पृथ्वी तत्त्व की सूक्ष्म व्याप्ति यद्यपि व्यापिनी पर्यन्त प्रतिपादित की गयी है फिर भी पृथ्वी तत्त्व का भोग स्थान बिन्दुधाम ही है । यह बिन्दुधाम स्पष्ट है कि, अकार (ब्रह्मा) उकार (विष्णु) मकार (रुद्र) का ऊपरी स्थान ही है । इनके अन्त में ही बिन्दु स्थान है । शब्द पर्यन्त पाँचों गुणों की शुद्धि की युक्ति से पृथ्वी तत्त्व भी शुद्ध हो गया है ।

इस विषय में अन्यथा बुद्धि नहीं अपनानी चाहिये । हवन प्रकरणात्मिका हुति दीक्षा के माध्यम से भी तत्त्व शुद्धि होती है । यह भेदवादियों की मान्यता है । ज्ञानदीक्षा में भी वैसे ही होती है, ऐसा संशय नहीं करना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, ज्ञान की प्राधानता हुति दीक्षा में भी प्रधान रूप से स्वीकार की जाती है । श्री मतङ्ग पारमेश्वर नामक शास्त्र में कहा गया है कि,

---

१. ख. पु. बिन्दुनामैवेति पाठ: ।

'यस्य ज्ञानान्न सम्प्राप्तिः क्रिया तस्य विधीयते' । इति ।।६१।।

तदित्थम्–

शुद्धेऽथ पार्थिवे तत्त्वे चिन्तितव्यं तु योगिभिः ।
जलीभूतं तदेवैतदात्मना सह योगतः ।।६२।।

अथशब्दः क्रमं सूचयति–स च शुद्धतत्त्वाच्छिष्यचैतन्यस्योद्धरणम्, ततस्तत्स्थीकरणम्, तत आत्मप्राणे योजनं मन्त्रप्राणशिष्यात्मस्वात्मनां सामरस्यभावनमित्यादिरूपः । तदेवेति पार्थिवं तत्त्वम्, जलीभूतमित्युक्त्या शुद्धाशुद्ध-

---

"जिस शिष्य को ज्ञान मार्ग से शिवत्त्व की उपलब्धि न हो, उसके लिये ही क्रिया विधि की आवश्यकता होती है । इस उक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि, ज्ञान के समक्ष क्रिया गौण है ।।६१।।

इतनी प्रक्रिया पूरी करने के बाद पार्थिव तत्त्व शुद्ध होता है । इसकी शुद्धि के बाद ही योगियों को यह सोचना चाहिये कि, यह पूरा पार्थिव तत्त्व भी वस्तुतः जलीभूत ही है । 'अद्भ्यः पृथ्वी' का सर्वमान्य सिद्धान्त इस बात का प्रमाण है कि, पार्थिव तत्त्व भी जलीभूत है ।

एतत् अर्थात् जलतत्त्व से भी आत्मना सह अर्थात् शिष्य की आत्मा को साथ लेकर ही पृथ्वी तत्त्व का योग होना चाहिये । गुरुदेव इस विद्या के पारङ्गत विद्वान् हैं । शिष्य की आत्मा को आत्मसात् कर उसके पार्थिव तत्त्व को उन्होंने शुद्ध किया ही है । अब अप् तत्त्व के योग भोग का अवसर उपस्थित है ।

श्लोक में अथ शब्द किसी क्रिया के अन्त के बाद दूसरी क्रिया के श्रीगणेश के अवसर पर ही प्रयुक्त होता है । यहाँ पर पहली क्रिया है–शुद्धतत्त्व से शिष्य के चैतन्य का उद्धार । फिर शुद्ध चैतन्य में उसकी अवस्थिति । तीसरी क्रिया थी, उसका गुरुदेव द्वारा स्वात्म प्राण में समायोजन । चौथी क्रिया थी–मन्त्र, प्राण, शिष्यात्म और गुरुदेव के स्वात्म का सामरस्य भावन ।

इन चारों क्रियाओं की समाप्ति पर पार्थिवतत्त्व भी चूँकि जलीभूत ही है । अतः समस्या यह उपस्थित होती है कि, पार्थिव तत्त्व तो शुद्ध हो गया है किन्तु जल तत्त्व तो अभी शुद्ध नहीं किया गया है । अतः इस शुद्धाशुद्ध संयोग से योग-मार्ग की प्रक्रिया में कोई विकृति न आ जाय, यह चिन्ता योगियों को होनी स्वाभाविक है । अथ अव्यय इसी बिन्दु पर सार्थक है । सद्गुरुदेव शिष्यात्म को जलतत्त्वात्म भाव से ऐकात्म्य अवस्थापित कर इस समस्या का सामधान करते हैं ।

तत्त्वानुसंधानमुक्तम्, योगिभिर्योगत इत्यनेनायोगिनोऽत्र नाधिकारो जातुचिदिति दर्शितम् । एतदात्मना सहेति शिष्यात्मानमपि जलतत्त्वभोगाय तदेकात्मतामिव प्राप्तं चिन्तयेत् । अत्र चावसरे अर्धचन्द्रस्थाने पद्मलाञ्छितसितवर्णार्धचन्द्रमण्डल-मध्यगतजलबिन्दुरूपां जलतत्त्वधारणां बध्नीयादित्याम्नायः ॥६२॥

अथ पार्थिवे तत्त्वे शिष्यात्मनि च यथोक्तभावनया–

जलीभूते पुनर्मन्त्री तदेव चतुरुच्चरेत् ।
बिन्द्वन्तं धारणायुक्तं

तदेवेति निष्कलस्वरूपम्, मन्त्रीति लब्धसामरस्यः, बिन्द्वन्तमर्धचन्द्रस्थानम्, धारणा व्याख्याता । चतुरिति पूर्वोक्तयुक्त्यार्धचन्द्रनिरोधिनादव्यापिनीपदेषु क्रमेण विश्रान्तिरूपांश्चतुरुद्घातान् दद्यादित्यर्थः । पुनरुच्चरेदिति पाठे चतुष्टयसंख्यार्था-द्योज्या ॥६३॥

तदित्थं जलतत्त्वं संशोध्य, पूर्वोक्तं सामरस्यान्तं क्रमं श्रित्वा, तज्जलत-त्त्वात्–

शिष्यादात्मनि चिन्तयेत् ॥६३॥

इस समाधान के लिये ही चिन्तयेत् की विधि क्रिया का प्रयोग किया गया है । इस सोच में डूबा आचार्य अर्धचन्द्र के स्थान पर एक कमल का प्रकल्पन करता है । उसी पृष्ठभूमि में श्वेतरश्मिरंजित अर्धचन्द्र मण्डल मण्डित प्रकाश का प्रकल्पन करता है । उसी प्रकाशमान चन्द्रमण्डल के बीच में जलतत्त्व के बीज रूप बिन्दु की धारणा का अवधारण करता है । यह इस आम्नाय की मान्यता है ॥६२॥

इस तरह जलतत्त्व के बीज के वैद्युतिक विस्फार में समा जाने का उपक्रम मन्त्री करता है । मन्त्री मन्त्र विद्या में लब्ध सामरस्य महापुरुष होता है । वह वही प्रक्रिया अपनाता है, जिसे पार्थिव तत्त्व के शोधन की प्रक्रिया में अपनाया था । उसके अनुसार अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद और व्यापिनी पदों पर विश्रान्ति प्रद चारों उद्घातों का प्रयोग करना चाहिये । अर्धचन्द्र से उद्घात देने का आदेश यह श्लोक ही प्रदान करता है । बिन्द्वन्त धारणा का अर्थ ही अर्धचन्द्र धारणा है । इस प्रक्रिया से जल तत्त्व का शोधन हो जाता है । गुरु के अनुग्रह से उसी की आत्मस्थिति में ताप्तदिव्य काञ्चन की तरह शुद्ध होता हुआ शिष्य दो तत्त्वों की शुद्धता को प्राप्त कर लेता है ॥६३॥

अतश्च–

शोधिते तोयसंघाते तेजोभूतं विचिन्तयेत् ।

अर्थात्तदेव तोयं शिष्यात्मना सहेत्यादि प्राग्वत् ।

अत्र च निरोधिकास्थाने शक्तिलाञ्छितरक्तवर्णत्रिकोणमण्डलादिरूपां तेजस्तत्त्वधारणां बद्ध्वा निरोधिनादव्यापिनीस्थानेषु मान्त्रविश्रान्तिरूपाः–

तेजोद्घातास्त्रयस्तेषु निरोध्यन्तमवस्थिताः ।।६४।।

तेजोद्घाता इत्यैशः पाठः । निरोध्यन्तं कृत्वा तत्र तेजोधारणां बद्ध्वा इत्यर्थः ।।६४।।

तदेवं त्रिभिरुद्घातैः त्रिगुणे तेजसि पूर्ववदन्तर्भूतेतराध्वपञ्चके शुद्धे–

नास्ति तेजस्ततो वायुरुद्घातद्वयशोधितः ।

पूर्ववत्तत्स्थात्मस्थत्वादि कृत्वा, तेजः शान्तं विभाव्य, नादस्थाने षट्कोणबिन्दुलाञ्छितनीलवर्णमण्डलादिरूपां वायुधारणां बद्ध्वा, नादव्यापिनीस्थानयोर्मान्त्रविश्रान्त्यात्मनोद्घातद्वयेन वायुतत्त्वं शिष्यात्मनो भोगस्थानं शोधयेत् ।

तोय तत्त्व का शोधन सम्पन्न हो गया है । गुरुदेव अब शिष्य के तेज तत्त्व के शोधन की बात सोचते हैं । शिष्य के आत्मतत्व के साथ उसके तोयतत्त्व का शोधन उक्त प्रक्रिया के अनुसार ही किया जाता है । इसकी विशेषता यह है कि, निरोधिका स्थान में शक्तितत्त्व से शोभित रक्तवर्ण के त्रिकोण मण्डल में तेजस्तत्त्व की धारणा की जाती है । इस तरह पहले निरोधिनी में मान्त्र विश्रान्ति, पुनः नाद में और इसी क्रम में व्यापिनी में मान्त्र विश्रान्ति की प्रक्रिया अपनानी चाहिये । ये सारे विश्रान्तियाँ उद्घात रूप ही होती हैं । इन्हें तैजस उद्घात कहते हैं । व्यापिनी पर्यन्त इसमें तीन उद्घात काम करते हैं ।।६४।।

इस प्रकार तीन उद्घातों के द्वारा तीसरे तेजतत्त्व के पूर्ववत् शुद्ध हो जाने पर अकार, उकार, बिन्दु और अर्धचन्द्र निरोधिनी के साथ ही साथ अध्वाशुद्धि भी स्वाभाविक रूप से हो जाती है । इस प्रक्रिया में तेजतत्त्व के शान्त हो जाने पर नाद स्थान में षट्कोण का प्रकल्पन करना चाहिये । उसके मध्य में बिन्दु से विद्योतमान नीलवर्ण के मण्डल का भी प्रकल्पन करते हैं । वहीं वायु की धारणा की अवधारणा भी करते हैं । साथ ही साथ नाद और व्यापिनी स्थानों में मान्त्र विश्रान्ति की प्रक्रिया भी अपनाते हैं । इस तरह दो उद्घात भी सम्पन्न हो जाते हैं । इस पूरी प्रक्रिया के फल स्वरूप वायुतत्त्व रूप शिष्य के भोग स्थान की शुद्धि हो जाती है ।

अथ–

आकाशे लीयमानं तमुद्घातेन तु चिन्तयेत् ।।६५।।

तं वायुम् ।।६५।।

एतद्व्यनक्ति–

नष्टे वायौ ततः शून्यमुद्घातैकेन योजयेत् ।

नष्ट इति आकाशशेषीभूतत्वात् शिष्यात्मनो बन्धकत्वाच्चलिते, तत इति सुसूक्ष्मतममाकाशतत्त्व**मन्तर्भूतेतराध्वपञ्चक**मुद्घातैकेनेति आकाशस्यैकगुणत्वात् ।

यच्चैतत्सुसूक्ष्मतमं शून्यम्–

व्यापिनी सा तु विज्ञेया पञ्चमान्ते व्यवस्थिता ।।६६।।

पञ्चमे व्योमतत्त्वात्मन्यन्ते व्यवस्थिता, तेनात्रान्तःशून्यसुसूक्ष्मशब्द[१]शक्तिलाञ्छितपरिवर्तुलमण्डलाकारां व्योमधारणां बद्ध्वा, मन्त्रोच्चारणाभिज्ञो गुरुः शिष्यात्मना सहात्रैव विश्राम्यन् परतेजोमयतामनुसन्दध्यात् ।।६६।।

अब इसके आगे केवल आकाश तत्त्व शेष रह जाता है । उद्घात के माध्यम से ही अन्य तत्त्वों की तरह वायु का भी शोधन हो जाता है । अतः आकाश की लीयमानता ही चिन्तन के लिये बच रहती है ।।६५।।

आकाश की लीयमानता कैसे सिद्ध की जा सकती है, इस विषय पर प्रकाश प्रक्षेप करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, वायु के नष्ट हो जाने पर अर्थात् शुद्ध होकर शान्त हो जाने पर एक उद्घात से आकाश तत्त्व शान्त और शुद्ध हो जाता है क्योंकि उसका एक गुण शब्द ही है । इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य प्रयोग आचार्य क्षेमराज ने किया है । उस पर विचार करना आवश्यक है । पञ्चमहाभूतों में आकाश, वायु और अग्नि अपेक्षा कृत सूक्ष्म तत्त्व हैं । इन दोनों के उद्घात-क्रम में प्रयुक्त **अन्तर्भूतेतराध्वपञ्चक** शब्द यह सिद्ध करता है कि, षडध्ववर्ग में से एक के शुद्धि क्रम में उसी तत्त्व में अन्तर्भूत होने के कारण अन्य अवशिष्ट अध्वपञ्चक भी शुद्ध हो जाते हैं । क्योंकि सिद्धान्ततः सभी अध्वाओं में सभी अध्वा समाये हुए ही माने जाते हैं । इसका सन्दर्भ श्लोक २/४९ के 'शोध्याध्वानं' शब्द में पहले आ चुका है ।

आकाश तत्त्व से भी सुसूक्ष्मतम शून्य का अवस्थान महाभूतों के पाँचवें सूक्ष्म आकाश तत्त्व के भी अन्त में (पञ्चमान्ते) है । उस तत्त्व को व्यापिनी तत्त्व मानते हैं । व्योम तत्त्वात्मक उक्त तत्त्व के अन्त में व्याप्त होने के कारण ही

---

१. क. पु. शब्दलाञ्छितेति पाठः ।

एवं चात्र ज्ञानदीक्षामाहात्म्येन चरितार्थतया पुनर्भोगप्रदत्वाभावेन अबन्धकत्वात्सर्वैव भोग्यभूः शिष्यस्य शोधिता भवति, यतः चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्तिपञ्चकसामरस्यसतत्त्वः श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः चिदादिशक्तिप्रधानशिवशक्तिसदाशिवेश्वरविद्याख्यतत्त्वपञ्चकात्मतामुट्टङ्कितामपि व्यापिन्यादिबिन्द्वन्तग्रन्थिपञ्चकस्वरूपगोपनात्मकमहामायाशक्त्याच्छादयन्, मायादिक्षित्यन्तां क्रमात्क्रममधिकाधिकसंकोचां तत्त्वत्रिंशतं षड्भिः पञ्चकप्रघट्टकैरन्योन्यं शक्तिव्यक्त्यात्मकव्याप्यव्यापकभावभाग्भिरासूत्रितवान् संकुचितप्रमातृभूमिकायामिति । तदनुग्रहप्राप्ततत्स्वरूपेण योगिना गुरुणा शिष्यात्मनैकीभूय यथोक्तोद्घातव्याप्तियुक्त्या शिष्यचैतन्यस्य समग्रां भोगभूमिं विलाप्य, ज्ञानदीक्षया चिदादिशक्तिपञ्चात्मकत्वमेवापादयितव्यम् । अत एव पञ्चत्रिंशत्तत्त्वव्याप्तिसारसुसूक्ष्मपृथिव्यादीनि इत्थं संशोध्यापि तत्संस्कारमयं समनापदमपि शोधयितुमाह–

व्यापिनी संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है । अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण शक्ति समन्वित गोलमण्डलाकार व्यापिनी मण्डल होता है । इसमें व्योम नामक धारणा बद्ध की जाती है । एतद्विषयक मन्त्रोच्चार में समर्थ और पारंगत गुरु शिष्य की आत्मा के साथ ही वहाँ विश्राम करता है । इस विश्रान्ति की अवस्था में उसमें परम तेजस्विता का उल्लास होता है । इसका उसे स्वयम् अनुसन्धान करना चाहिये ।।६६।।

यह सब सद्गुरुदेव द्वारा प्रदत्त ज्ञानदीक्षा का ही महत्त्व है । शिष्य में यह दीक्षा चरितार्थ हो जाती है । इस स्तर पर भोगप्रदता नहीं रह जाती । किसी प्रकार के बन्ध का प्रकल्पन भी इस स्तर पर नहीं किया जा सकता । शिष्य की वृत्तियों में भोग्य भाव का कभी उदय नहीं होता क्योंकि सारी भोग्य भूमिकायें समाप्त हो जाती है । समाप्ति का तात्पर्य भोग्य भूमिका की शुद्धता है । ज्ञान के प्रकाश से सबका शोधन हो जाता है ।

श्री स्वच्छन्द भट्टारक चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप पाँच शक्तियों की तात्त्विकता से सम्पन्न हैं, भैरव शास्त्रों में यह प्रसिद्ध है । इन शक्तियों की प्रधानता शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक पाँच शुद्ध तत्त्वों में शाश्वत स्फुरित है । ऐसी स्थिति में भी व्यापिनी, शक्ति, नादान्त, नाद और बिन्दु नामक पाँच ग्रन्थि रूप पाँच चक्रों को महामाया के द्वारा स्वरूपगोपन प्रक्रिया से स्वात्मगोपन करके भी वह शाश्वत स्फुरित है ।

यही नहीं असित सृष्टि विधायिनी माया से लेकर क्षिति पर्यन्त ३० तत्त्वों में पाँच पाँच के छः प्रघट्टकों द्वारा अभिव्यक्ति को आसूत्रित करता हैं । इस आसूत्रण में वह संकुचित प्रमाता की भूमिका का निर्वाह करता है ।

समनायां ततो ह्यात्मा

सुसूक्ष्मतमतत्त्वप्रपञ्चमननमात्ररूपायां समनाशक्तौ गुरुणा शिष्यात्मा तावन्मात्रभेदसंस्कारनिवृत्त्यर्थं योज्य इत्यर्थः । एवं च–

तत्त्वव्यापी स उच्यते ।

अशेषतत्त्वप्रथमासूत्रणरूपं यत्समनाख्यं तत्त्वं तद्व्यापक इत्यर्थः । इयति च संस्कारपर्यन्ते तत्त्वजाते संशुद्धे शुद्धात्मतामाप्नोतीत्याह–

यह उसी की लीला है कि, अपने संकुचित प्रमातृभाव पर अनुग्रह कर उसे स्वबोध में सिद्ध योगी बना देता है । वही ज्ञानवान् गुरु हो जाता है । आनन्द तो तब आता है, जब वही आरुरुक्षु शिष्य की आत्मस्थिति को स्वात्मैक्य में समाहित कर, ऊपर वर्णित उद्घात प्रक्रिया द्वारा शिष्य के चैतन्य में संस्कारतः अवस्थित भोगभाव को समाप्त कर देता है ।

ज्ञान दीक्षा की आरोह और अवरोह भूमियों का यही रहस्य है । इसी दीक्षा के द्वारा समग्र संकोच का निरास कर शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव भाव को अतिक्रान्त कर शैवमहाभाव के महासामरस्य का रस पान ही योगी का परम लक्ष्य माना जाता है ।

इसलिये श्लोक ६१ से आरम्भ कर पैंतिस तत्त्वों की व्याप्ति के सार रूप सूक्ष्मतम पृथिव्यादि तत्त्वों को भी संशोधित करने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । इस तरह सुसूक्ष्म का संशोधन करके भी योगी शान्त नहीं होता, वरन् मननात्मक सुसूक्ष्मता के संस्कार से प्रभावित इन तत्त्वों से युक्त समना को भी शोधित करने की प्रक्रिया अपनाता है । भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, समना में शिष्य की आत्मा को गुरु योजित करे । समना शक्ति सुसूक्ष्मतम तत्त्वप्रपञ्च की मात्र मननात्मिकावस्था ही है । इस मननात्मक भेद संस्कार की समाप्ति के लिये ही शिष्यात्म का इसमें योजन होता है ।

इस प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने पर अब वह 'तत्त्वव्यापी' संज्ञा से विभूषित हो जाता है । वास्तव में समना वह चक्र है, जहाँ से समस्त तत्त्वों का आसूत्रण होता है । ऐसे आदि, स्थान में स्वात्मशुद्धि का पर्याय बनने के बाद वह 'सर्वतत्वव्यापी' संज्ञा से संवलित होने का अधिकारी हो जाता है । इतने संस्कारों के बाद उसकी अशेष तत्त्व राशि परम शुचिता को प्राप्त कर लेती है । परिणामतः वह शुद्धात्म भाव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है । उसे शास्त्र भी शुद्धात्मा की संज्ञा से सम्मानित करता है ।

आत्मव्यापी ततश्चोर्ध्वे

भवतीति शेषः ।

एवमासादितपरशुद्धात्मस्वरूपोऽपि शिष्यात्मा ततोऽपि परां चिदादिशक्त्यभेदसारां परभैरवरूपतां समनन्तरवक्ष्यमाणयोजनिकाक्रमेणैतीत्याह–

सर्वव्यापी ततः पुनः ।।६७।।

भवतीति शेषः ।।६७।।

अत्र योजनिकामासूत्रयितुमेकोद्घातरूपां युक्तिमाह–

तत्त्वान्तसंस्थितो ह्यात्मा[१] उद्घातैकेन योगवित् ।
योजयेत्परमे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे ।।६८।।

इस स्तर पर वह केवल 'तत्त्वव्यापी' रहता है किन्तु इससे भी ऊपर आत्मिक दृष्टि से शुद्धता का उपमान बन जाता है । इसलिये आत्मभाव में शुचिता के कारण वह 'आत्मव्यापी' कहलाने का अधिकारी हो जाता है । इस शुद्धात्मभाव को वह गुरु के अनुग्रह से प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करता है ।

इससे भी ऊर्ध्व स्तर पर गुरुदेव उसे ले जाने में संलग्न रहते हैं । यह भी उनका अनुग्रह ही कहा जा सकता है । चिदानन्दादि शक्तियाँ जब तक भेदवाद की भूमि में उल्लसित रहती हैं, उनकी सिद्धि कठिन होती है किन्तु जब वे अभेद भाव से उल्लसित होकर सार रहस्य रूप से उल्लसित परभैरव भाव में उल्लसित होती हैं और गुरुदेव उसे उसमें योजित कर देते हैं तो, वह 'सर्वव्यापी' बन जाता है । साधना के सर्वोच्च सोपान पर वह विराजमान हो जाता है ।।६७।।

यह सोपान शरीर के अस्तित्व से सम्बन्धित है । समना चक्र सहस्त्रार की ही क्षेत्र सीमा में आता है । जहाँ तक उन्मना के स्तर का प्रश्न है, वह समना के ऊपर का त्रिशूलाब्ज क्षेत्र है । तीन शूलों पर बने तीन कमलों पर पहले कमल पर 'अपरा' शक्ति, मध्य कमल पर परा शक्ति और तीसरे दक्षकमल पर परापरा शक्ति का उल्लास अनुभव की सीमा में स्पर्शानुभूति का विषय है । ये तीनों उन्मना चक्र के उल्लास हैं । तीनों के तीन बीज मन्त्र हैं ।

शास्त्र यहाँ इन तीनों की अतीत अवस्था में छलांग लगाने की बात करता है । इसके अनुसार उन्मनातीत अवस्था में गुरुदेव ला बिठलाते हैं । वह कौन सी युक्ति है ? इस सम्बन्ध में भगवान् भैरव शास्त्र का प्रवर्त्तन कर रहे हैं–

---

१. ख. ग. पु. संस्थिते ह्यात्मेति पाठः ।

तत्त्वानामन्तः समनाया ऊर्ध्वं पदम् । उन्मनातीत इति तदनुभवानुप्रवेशेन शक्तिमत्स्वरूपासादनम् ॥६८॥

योजयेदित्युक्तिं स्फुटयति–

योजनां तु परे तत्त्वे शृणु देवि वदाम्यहम् ।

अनयोक्त्यास्यार्थस्यावधान[१]गम्यत्वं दर्शयति–

मन्त्रमुच्चारयेद्देवि ह्रस्वं प्लुतं परम् ॥६९॥

परापरविभागेन यावत्तत्त्वं परं गतम् ।

उनके अनुसार उक्त योजनिका क्रिया में एक 'उद्घात' की आवश्यकता होती है । इस उद्घात के प्रयोग से उन्मनातीत सर्वग अत्यन्त सूक्ष्मतम परमतत्त्व में योजित करते हैं ।

तत्त्व भाव समना पर्यन्त ही अपने सुसूक्ष्मतम स्फूर्त्ति में स्फुरित रह सकता है । इसीलिये तत्त्वान्त की स्थिति समना की ऊर्ध्वस्थिति ही मानी जाती है । अर्थात् समना के ऊपर तत्त्व की तात्त्विकता का संस्कार भी नहीं रहता । आत्म-व्यापी का आत्मा समना के ऊर्ध्व संस्थित रहता है । गुरु ही उस स्तर तक पहुँचाता है । भगवान् कह रहे हैं कि, इस स्तर पर आचार्य एक उद्घात का प्रयोग करे । आचार्य का यह कर्त्तव्य है, उत्तरदायित्व है कि, इसी एक उद्घात के माध्यम से वह उन्मनातीत सर्वग तत्त्व में शिष्य की आत्मा को योजित कर दे । उस परम परम अनुभूति में उसका अनुप्रवेश करा दे । 'योजयेत्' यह विधि क्रिया गुरुदेव को प्रेरित कर रही है कि, वह शिष्य को शक्तिमान् स्वरूप से आसादित करने में निरन्तर सावधानी पूर्वक संलग्न रहे ॥६८॥

सावधानी की इस प्रक्रिया में क्या किया जाय ? योजनिका कैसे की जाय ? इनका स्पष्टीकरण कर रहे हैं–भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! इसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो कि, इसे कैसे सम्पन्न किया जाय ?

सर्वप्रथम मन्त्रोच्चार पर ध्यान देना चाहिये । मन्त्रों के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है । ओङ्कार के पाँच स्तरीयप्रस्तार प्रसिद्ध हैं–१-ह्रस्व 'अकार', २-दीर्घ 'उकार', ३-प्लुत 'मकार', ४-सूक्ष्म बिन्दु और ५-अतिसूक्ष्म नाद । इन पाँचों के उच्चार में पूर्व कहे गये निष्कल का (उद्घात की तरह का) उच्चार करना चाहिये ।

---

१. क. पु. धाने गम्यत्वमिति व्यस्तः पाठः ।

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्ममिति समनन्तरमेव पञ्चप्रणवाधिकारे अकारोकारमकारबिन्दुनाद[1]मात्राणां प्रत्येकं प्रणवैकदेशभूतानामपि–

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः' ।

इति स्थित्या प्रणवत्वमिति वक्ष्यति, ततो ह्रस्वं मन्त्रमुच्चारयेदित्यादि सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । परापरविभागेनेति सूक्ष्मातिसूक्ष्मभेदेनेत्यर्थः । परमुन्मनातीतं गतं प्राप्तम् । तदेव–

त्रिदेवं बिन्दुसंयुक्तमर्धचन्द्रं निरोधिकाम् ।।७०।।
नादं च शक्तिसंयुक्तं व्यापिनीसमनोन्मनाः ।

जानीयादिति शेषः । त्रयाणां ब्रह्मादीनां देवानां समाहारो यत्र अकारोकारमकारात्मनि कलात्रये तत्तथा ।।७०।।

किञ्च–

उन्मनश्च परश्चैव सर्वव्यापी शिवोऽव्ययः ।।७१।।

प्रश्न यह होता है कि, ये पाँचों प्रणव के पृथक् पृथक् उच्चरित एक देश मात्र हैं । इनके पृथगुच्चार पर यह बल क्यों दिया जा रहा है ? उसका उत्तर यह है कि, 'ब्रह्म का एक देश मात्र भी सार्वरूप्य को अनतिक्रान्त कर अवस्थित रहता है' । इस दृष्टि से प्रत्येक का प्रणवत्व परिपूर्ण है ।

इसलिये पहले बीज के साथ ह्रस्व का पुनः इसी तरह दीर्घ का, पुनः प्लुत का, पुनः सूक्ष्म का और पुनः अतिसूक्ष्म मन्त्र का उच्चार क्रमिक रूप से करने की प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये । यहाँ परस्पर का अर्थ पराअपरा विद्या के अनुसार न लेकर उसी क्रम में सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म सोपान क्रम मानना चाहिये । इस क्रिया द्वारा आचार्य उस आत्मा को ऊपर से ऊपर अतिक्रान्त कराते हुए ऊपर से ऊपर पहुँचाते हैं । यह गुरुदेव की कृपा पर ही निर्भर है । इसमें त्रिदेव की तीन कलायें (ब्रह्मा 'अ') विष्णु (उ), रुद्र 'म', बिन्दु, आती हैं । पुनः क्रमशः अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना का क्रम भी आता है ।।७०।।

यहाँ ऊर्ध्व स्थित उच्चस्तरीय उन्मनातीत की सर्वव्यापी तन्त्रयात्रा शास्त्रकार को अभिप्रेत है । उन्मनातीत अवस्था ही परमशिव अव्यय और सर्वव्यापी अवस्था मानी जाती है । इस अवस्था में पहुँचने की, यहाँ की उच्चस्तरीय जानकारी की और उसके प्रभाव की जितनी स्थितियाँ होती हैं, वे सारी बातें पहले ही विस्तार पूर्वक बतायी गयी हैं । वे सारी शास्त्र द्वारा निर्णीत तथ्य के रूप में ही वर्णित हैं ।।७१।।

---

१. क. पु. नादमन्त्राणामिति पाठः ।

ज्ञातव्य इति शेषः । यथा चात्र ज्ञानं यादृशं च तत्सर्वं पूर्वमेव वितत्य निर्णीतम् । तदित्थम्–

ज्ञात्वा सर्वमशेषेण विधिमेषां यथाक्रमम् ।

तदा तु योजयेन्मन्त्री अन्यथा नैव योजयेत् ।।७२।।

सर्वमिति पूर्वोक्तचारप्रमाणादिपरिष्कृतमेषां मान्त्रप्रमेयानां विधिं सम्यगुच्चारणमशेषेण निश्चयनिरूढ्यनुभवैः, अत एव मन्त्री सम्यङ्मन्त्र-सतत्त्ववित् ॥७२॥

तमेव विधिं स्फुटयति–

बिन्दुस्थं त्रितयं शब्दे

मन्त्रप्रमेयानां यन्मकारान्तं त्रितयं तद्बिन्दुस्थं विद्वदनुभवात्मतामापादितं सत् शब्दे नादात्मनि कुर्यात् तन्मयत्वमापादयेत् ।

यस्मात्–

चतुर्थो बिन्दुरेव हि ।

तस्मात् तद्विश्रान्तिपुरःसरमेव नादविश्रान्तं मकारान्तं त्रयं कुर्यात् । तदेत-त्त्रयम्–

इस प्रकार सारी बातों को साङ्गोपाङ्ग विधिवत् जानने के बाद ही और उनकी क्रमवत्ता के विज्ञान के जान लेने के बाद ही मन्त्रवेत्ता आचार्य योजनिका पूरी करे । यदि ज्ञान की कमी हो, तो इसे कभी न करे । यह जीवन के महत्त्व-पूर्ण कार्य हैं । इस जानकारी के अन्तर्गत सारा प्राणापानवाह विज्ञान, प्रमाणों से परिष्कृत मान्त्र प्रमेय विज्ञापन, इनके प्रयोग की विधियाँ, इनके उच्चारण की सम्पूर्ण निश्चयात्मक निरूढ अनुभूतियाँ सभी आती हैं । इनका प्रायोगिक अनुभव जिसे होता है, वही आचार्य इनका प्रयोग करे अन्यथा न करे । मन्त्री शब्द का तात्पर्य सम्यक् रूप मन्त्र विज्ञानवेत्ता आचार्य ही है ॥७२॥

इस विधि के सम्बन्ध में स्फुट रूप से प्रकाश डाल रहे हैं–

१– ओम् के अ उ म इस त्रितय को बिन्दु में अवस्थित करने का विज्ञान प्राथमिक रूप से परमावश्यक माना जाता है ।

२– नाद के अन्तर्गत ही बिन्दु अर्धचन्द्र और निरोधिकात्र्य का अन्तर्भाव करने की क्रिया ही नाद विज्ञान का उत्तर क्रम है । नाद ही शब्दावस्थान का आदि आधार होता है । इसलिये बिन्दुस्थ तैजस उल्लास को शब्द में समाहित करने का विज्ञान और भी महत्त्वपूर्ण होता है । यह अनुभव की बात है । इस नादात्मक तन्मयता का सम्पादन वह आचार्य करे ।

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः

वाच्यभेदात् । एतच्च–

त्रिमात्रं वर्ण उच्यते ।।७३।।

मात्रात्रयमेतदुच्चारणक्रियात्मकतया, वर्ण इत्यक्षररूपतया स्थूलमित्यर्थः ।।७३।।

चतुर्थस्तु–

ईश्वरो बिन्दुदेवस्तु

तत्परामर्शमय इत्यर्थः । तदित्थं मन्त्रोच्चारं यः करोति–

कण्ठे शब्दः प्रवर्तते ।

तस्य हृदयादुच्चरन्नादकलात्मकमन्त्रसतत्त्वरूपः शब्दः कण्ठे प्रकर्षेण वर्तते, ततः प्रभृति पञ्चप्रणवाधिकारवक्ष्यमाणनीत्या उच्चार्यतामासादतीत्यर्थः ।

स च–

तत्र शब्दः क्रियान्तस्थः

उच्चारणक्रियान्तर्गतः पश्यन्त्यात्मकशब्दरूपो न तु मध्यमाबैखरीव्यङ्ग्य इत्यर्थः ।

इस कारिका में उक्त तथ्य को दुहरा रहे हैं । अ, उ और म का तो त्रितय होता ही है । यह पहले कह चुके हैं । इन्हें बिन्दुस्थ करने की बात भी आ चुकी है । अब पुनः कहते हैं कि, वह बिन्दु चौथी ग्रन्थि है । त्रितय को चतुर्थस्थ करने का ही क्रम है । त्रितय ब्रह्म, विष्णु और रुद्र रूप अक्षर हैं । इन्हें अर्थात् इस त्रितय को उच्चारण क्रिया के कारण स्थूल वर्ण भी कहते हैं ।।७३।।

त्रितय की विश्रान्ति चतुर्थ में होती है । इस क्रम के अनुसार बिन्दु रूप चतुर्थ ग्रन्थि में ही विश्रान्ति करनी चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, बिन्दु का देवता ईश्वर है । अतः ऐश्वरपरामर्श का प्राधान्य ही इस बिन्दु विश्रान्ति में होता है । इस अवस्था में किये हुए मन्त्रोच्चार से कण्ठ में शब्द का प्रवर्त्तन होता है । उच्चारित शब्दरूपमन्त्र हृदय से उच्चरित होकर अर्थात् स्फुरित होकर पहले कण्ठ में आता है । यह स्थिति स्फुरणात्मक नाद कला मानी जाती है । वह नादकला मन्त्र की तात्त्विकता से समन्वित होती है और शब्द रूप होती है । कण्ठ से पञ्च-प्रणवाधिकार को प्राप्त करने में योगी प्रवृत्त होता है । वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर की विश्रान्ति के आधार रूप वर्णों को अतिक्रान्त कर अन्त में सदाशिव रूप अर्धचन्द्र निरोधिनी को पारकर उच्चारमयी नाद कला में विश्रान्ति पा लेता है । इस अवस्था को क्रियान्तःस्थ शब्दावस्था कहते हैं ।

अत एवासौ–

क्रियाशक्तिरिति स्मृता ।।७४।।

तदित्थमुच्चारणप्रयत्नगतः–

स शब्दस्तालुके देवि ईरितः संप्रवर्तते ।

तस्य

ततोऽपि–

किञ्चिद्गतः शब्दो नासिकान्ते प्रवर्तते ।।७५।।

नासिकान्तो भ्रूमध्यम् । तदेतावत्पर्यन्ता मान्त्री क्रियाशक्तिव्याप्तिः ।।७५।।

अथ–

ज्ञानशक्तिस्तु विज्ञेया यत्नतः परमेश्वरि ।
मूर्धस्थानगतः शब्दो ललाटान्तमवस्थितः ।।७६।।

इस यात्रा क्रम के एक एक बिन्दु पर साधक का ध्यान सजग भाव से बना रहता है और वह क्रिया का साक्षी होता है । वह यह अनुभव करता है कि, इस अवस्था में शब्द का वह रूप पश्यन्ती की रश्मियों की प्रकाशमयता से ओत-प्रोत रहता है । वहाँ मध्यमा या बैखरी स्थूलवाक् का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता । शब्द को स्वान्तःस्थ करने वाली इस क्रिया को ही क्रियाशक्ति कहते हैं ।।७४।।

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! उच्चारण के प्रयत्न से स्फुरित वह शब्द तालु देश में अर्थात् कण्ठ के ऊपरी भाग रूप तालु में प्रवर्त्तित होता है । यहाँ ईरित अर्थात् प्रेरणा प्राप्त प्रयोग केवल क्रिया शक्ति की ओर ही संकेत करता हुआ प्रतीत हो रहा है । क्रिया शक्ति प्रेरिका शक्ति होती है । यह साधक का यत्न साध्य व्यापार होता है । इस व्यापार में भगवती क्रिया शक्ति का समवाय रूप से अवस्थान रहता है । इस तरह पुनः क्रिया शक्ति से उद्गत शब्द नासिकान्त अर्थात् भ्रूमध्य में सम्यक् रूप से प्रवृत्त होता है । मान्त्री क्रिया शक्ति की व्याप्ति भ्रूमध्य पर्यन्त ही मानी जाती है ।।७५।।

मान्त्री क्रिया शक्ति के उपरान्त ज्ञान शक्ति का क्रम आता है । ऊपर के वर्णन से यह ज्ञात हो गया है कि, शब्द भ्रूमध्य में अवस्थित हो गया है । भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र का बीजवर्ण ॐकार है । उसके दो दल भी प्रसिद्ध हैं ।

यदा स एव शब्दो योगिनः पूर्वोक्ताद् नासापुटादिप्रयोगरूपाद्यत्नान्मूर्ध-स्थानतोऽर्धचन्द्रादिस्थानान्युक्तोद्घातयुक्त्यारोहँल्ललाटान्तमवस्थितो भवति, तदा सूक्ष्मरूपतोपसंहारादनुभवप्रकर्षमापन्नो ज्ञानरूपतामेतीत्यर्थः ।

तदित्थं बिन्द्वादिरूपतामासाद्याकारोकारमकारात्मा–

वर्णः शब्दगतः

शब्दः नादात्मतां गतस्तद्रूपतामाप्तः । तथाभूतश्च–

तेषामुद्घातः स तु कीर्तितः ।

तेषामिति बिन्द्वन्तानाम्, स एव नादकलानुभवात्मा शब्दः पञ्चादिभेदेन भिन्न उद्घातः पूर्वमुक्तो न त्वन्यः कश्चित् । एवमियतीं भूमिं मान्त्रीमाश्रित्यापि–

वामदल 'ह' और दक्ष दल 'क्ष' । इसी समय उद्घात[1] की युक्ति अपनाता है । इस युक्ति के फलस्वरूप ॐकार बीज स्पन्दित हो उठता है । श्वास के नासापुट का पथ बन्द हो जाता है । उद्घात युक्ति एक प्रकार की यत्नसाध्यरूपा अवस्था होती है ।

इस समय वह शब्द मूर्धास्थान से ऊर्ध्व गतिशील हो जाता है । उस शब्द का प्रभाव यह होता है कि, ॐकार बीज में वर्त्तमान अक्षर क्रमशः अ, उ, म, बिन्दु अर्द्धचन्द्र का पथ अपना लेते हैं । यह क्रम ललाटान्त में रुक जाता है । इस क्रम में सूक्ष्मता का भी उपसंहार हो जाता है और अनुभव का प्रकर्ष काम करने लगता है । इसीलिये इस अवस्था को अनुभूति का विषय मानते हैं ॥७६॥

यह ध्यान देने की बात है कि, ॐकार में विद्यमान अकार, उकार और मकार रूप वर्ण बिन्दु रूप में और बिन्दु भी अर्धचन्द्र रूप में परिणत होने पर वर्ण नहीं रह जाते, अपितु सूक्ष्मशब्दरूपता प्राप्त कर लेते हैं । इसी तथ्य को शास्त्रकार 'वर्णः शब्दगतः' प्रयोग द्वारा व्यक्त करते हैं । शब्दभाव को वर्ण ही प्राप्त करता है । यह शब्द भाव क्या है ? वस्तुतः यही नाद है । वर्ण नादरूपता को प्राप्त कर निरोधिका को अतिक्रान्त कर लेते हैं । वे नादरूपता को प्राप्त कर लेते हैं । पहले वर्ण थे । वे ही अर्धचन्द्रादिरूप पाँच भेदों की भिन्नता का परि-त्याग कर नादकला में प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं । यह सब अनुभूति का ही विषय है ।

---

१. स्व० ५/५४ ई० ।

तत्रस्था विनिवर्तन्ते

ये ऊर्ध्वां शक्त्यादिसोपानमालिकामनारुह्य तत्रैव संतुष्यन्ति, ते–

शिवज्ञानविवर्जिताः ।।७७।।

नादतुष्टाः परमानन्दमयशिवज्ञप्तिसाधकतमां मान्त्रीमिच्छाशक्तिमेव नाविशन्ति कुतस्तु शिवम्, अत उत्तरोत्तरपदारोहे यत्नः कार्य इत्यर्थः ।।७७।।

अथात्रैव बिन्द्वादिपदेषु सूक्ष्मतमानुभवगम्यं भाविनमेवान्तरं प्रविभागं दर्शयितुमाह–

यह अनुभूति रूप ज्ञानशक्ति का चमत्कार साधक को चमत्कृत कर लेते हैं । यह उद्घात का ही परिणाम है । उद्घात युक्ति यद्यपि क्रिया शक्ति होती है । फिर भी इस अवस्था में आते आते इसमें मान्त्रिकता स्फुरित होने लगती है । इसमें ज्ञानशक्ति का भी समन्वय रहता है । इसीलिये इसे आचार्य क्षेमराज ने मान्त्री शक्ति कहा है ।

इस अवस्था में ही कुछ योगी रम जाते हैं । साधक मन्त्रभाव के महानन्द से मुग्ध हो जाता है । वह इसे ही साधना की अन्तिम सीमा मानकर इसी आनन्द भूमि में अवस्थित हो जाता है । जितने साधक इस अवस्था में रुकते हैं, वे ही तत्रस्थ कहलाते हैं । ये वहीं सन्तुष्ट हो जाते हैं और सोच लेते हैं कि, अब हमें शक्त्यादि सोपान परम्परा को पार करने की कोई आवश्यकता नहीं । यह उनका एक प्रकार का दुर्भाग्य ही माना जा सकता है । वे एक तरह से अपने सौभाग्य के सुभगोदय को ही खो देते हैं और ऊपर जाने की भावना का परित्याग कर ऊपर जाने को उद्यत होकर भी लौट पड़ते हैं । तथा इसी नाद के पड़ाव में साधना को सड़ा डालते हैं ।

ऐसे लोग शैवसद्भावात्मक तादात्म्य रूप शिवैक्य विज्ञान से वंचित रह जाते हैं । इन्हें नादतुष्ट साधक कहते हैं । ये परमानन्दमय चिदानन्दघन शिवत्व की ज्ञप्ति की साधिका मान्त्रीशक्ति में अनुप्रवेश नहीं कर पाते । शिवोपलब्धि की बात तो उनके लिये दूर की बात हो जाती है । इसीलिये शास्त्रकार उन्हें शिवज्ञान विवर्जित कहते हैं । भगवान् की इस वाणी में उनकी करुणा ही झलकती हैं । वे चाहते हैं कि, साधक सदैव उत्तरोत्तर आरोहण करता हुआ मुझमें ही आ मिले । इसके लिये सदा सचेष्ट रहना चाहिये ।।७७।।

'बिन्दु' प्रकाशतत्त्व है । अनुस्वार अवस्था को सर्वज्ञ ब्रह्म भी कहते हैं । सर्ववेत्तीति बिन्दुः इस विग्रह के अनुसार बिन्दु एक ऐसा पद है, जिसकी अनुभवगम्य सूक्ष्मता की आन्तरिकता शास्त्रों के स्वाध्याय से, गुरु मुखारविन्द से या स्वतः गहन परामर्श से जानी जा सकती है ।

पञ्चधावस्थितो बिन्दुरर्धचन्द्रो निरोधिका ।

भुवनाध्वनि बिन्द्वावरणस्य निरूपणावसरे वक्ष्यति–

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।

परिवारः स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥

तस्य वामदिशो भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता' । इति । (१०/१२१६)

केवल बिन्दु ही नहीं, अर्धचन्द्र और निरोधिका भी ऐसे सूक्ष्मावस्थान हैं, जिनके आन्तर प्रविभाग के पद हैं । आचार्य क्षेमराज ने इनकी पञ्चधा अवस्थिति को पटल १०/१२१६-१२१९ श्लोकों द्वारा प्रमाणित किया है । यह प्रकार भुवनाध्वा के सन्दर्भ में बिन्दु-आवरण के प्रकरण में प्रदर्शित है । उस प्रकरण के अनुसार उक्त बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका की पाँच अवस्थितियाँ इस प्रकार देखी जा सकती हैं–

१. बिन्दु–

भगवान् कह रहे हैं कि, सुव्रते देवि ! बिन्दु तत्त्व की व्याप्ति आवरण में अर्थात् बिन्दु के व्यापक आवरण में बिन्दु के मूर्धाभाग में एक महाप्रदीप्त पद्म है । उस पद्म में अत्यन्त द्युतिमन्त शान्त्यतीत नामक परमशक्तिमन्त परमेश्वर निवास करते हैं । इनके परिवार के सदस्य के रूप में सूक्ष्मतम रूप से निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति नामक शक्तियाँ विद्यमान हैं । इन चारों के अतिरिक्त शान्त्यतीत परमेश्वर के वाम भाग में शान्त्यतीता शक्ति उत्सङ्गगामिनी शक्ति के रूप में भी विराजमान है । उक्त चारों कलायें अपनी इस परमसूक्ष्मता में भी सम्पूर्ण षडध्ववर्ग को भी परशक्ति रूप से धारण करती हैं । इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि, बिन्दु पञ्चधावस्थित तत्त्व है ।

२. अर्धचन्द्र–

बिन्दु की व्याप्ति की ऊपरी स्तरीयता अर्धचन्द्र के क्षेत्र में आती है । अर्धचन्द्र तत्त्व भी महातत्त्वस्थान माना जाता है । यह प्रकाश में व्याप्त आह्लादिनी शक्ति के प्रकर्ष से परमोज्जल माना जाता है । यह जितना ज्वलन्त है, उतनी ही ऊर्जस्वल इसकी शक्तियों का परिकल्पन शास्त्र करता है । ये पाँच हैं । १–ज्योत्ना, २–ज्योत्स्नावती, ३–कान्ति, ४–सुप्रभा और ५–शिवारूपिणी विमला शक्ति । इस प्रकार यह अर्धचन्द्र तत्त्व भी पञ्चधावस्थित है, यह सिद्ध हो जाता है ।

तथा–

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ।
अर्धचन्द्रे स्मृता ह्येता निरोध्यंशे तु सुव्रते ॥
रुन्धती रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा' । इति । (१०/१२१९)

एवमेषां पञ्चधावस्थितत्वम् ।

अथ–

तस्यातीतो भवेन्नादः

तस्येति निरोध्यनुभवपर्यन्तव्याप्तिकबिन्दुदेवस्य, तं बिन्दुदेवमतीतः सन् स वर्णो नादो भवति नादामर्शरूपतामेति, तमिति वक्तव्ये तस्येत्युक्तिः बिन्दोरेवेयं

---

३. निरोधिनी तत्त्व पद–

यह शब्द निरोध अर्थ को व्यक्त करता है । अर्धचन्द्र तत्त्व को अतिक्रान्त कर जब साधक ऊपर की ओर गतिशील होता है, तो इस स्तर पर उसे रुकावट का सामना करना पड़ता है । माया यहाँ से अनन्तेश्वर के सहयोग से असित सृष्टि का सूत्रपात करती है । अतः यह तत्त्व निरोध का हेतु माना जाता है । पहले तो माया रोकती है किन्तु साधक की दृढता, आस्था और श्रद्धा से प्रसन्न होकर निरोधिनी के बन्द दरवाजे को खोलने का आदेश भी देती है । इन दो स्थितियों के अनुसार निरोधिनी में तीन रोधक शक्तियाँ और दो मोचक शक्तियाँ होती हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं–१-रुन्धनी, २-रोधिनी और ३-रौद्री । मोचिका रूपिणी,४-ज्ञानबोधा और ५-तमोपहा । चौथी और पाँचवीं दोनों शक्तियाँ साधक को नाद क्षेत्र में प्रवेश करा देती हैं । उस अवस्था के साधक को प्रबुद्ध साधक कहते हैं । इस तरह इस निरोधिनी तत्त्व का भी पञ्चधावस्थितत्त्व सिद्ध हो जाता है ।

साधक को यह ध्यान में होश पूर्वक रखना चाहिये कि, बिन्दु पद्म में महदीप्त शान्त्यतीत परमेश्वर विद्यमान हैं । उक्त बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका के पञ्चधावस्थित पद उपासना के वे सोपान हैं, जो बिन्दुपद के परमेश्वर से ही प्रेरित हैं । अतः वे इन्हीं के अधीन हैं । बिन्दुदेव की व्याप्ति के परिवेश में अर्चचन्द्र और निरोधिका के पद भी समाविष्ट हैं ।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र पद को अतिक्रान्त कर ऊर्ध्व गतिशील वर्ण बिन्दु देव के इस त्रैध सोपान परम्परा को पारकर नाद तत्त्व में अनुप्रविष्ट होकर 'नाद' ही हो जाता है । इसी रहस्य को भगवान् 'तस्यातीतो भवेन्नादः' शब्दों से व्यक्त

नादरूपतापत्तिरेवमुत्तरत्रापि पूर्वपूर्वावस्थैव उत्तरोत्तरं प्रकर्षमेतीत्याशयेन षष्ठी योज्या । एतदनुभवे युक्तिमाह–

अवच्छिन्नस्त्वसौ भवेत् ।।७८।।

ईषत्प्रसारिते वक्त्रे

पूर्वोक्तदिव्यकरणबन्धेनावच्छिन्नतामेतीत्यर्थः । एष च–

देवदेवः सदाशिवः ।

देवस्य द्योतनसतत्त्वस्य बिन्दोरपि, देवः सातिशयदीप्तः प्रभुश्च ।

एष च नादरूपः–

चतुर्विधो भवेच्छब्दो यः सुवेगवहः स्मृतः ।।७९।।

करते हैं । वर्ण नाद की आमर्शरूपता को प्राप्त कर लेता है । 'तस्यातीतः' प्रयोग में तस्य सम्बन्ध वाचक प्रत्यय का प्रयोग सम्बन्ध के आधार पर यह संकेतित करता है कि, बिन्दु की भी नादरूपता होती है । इससे यह भी अध्याहृत होता है कि, इसके ऊपर चलने पर भी पूर्व पूर्व को उत्तरोत्तर उत्कर्ष की अवस्था प्राप्त होती है ।

इस तरह परिणाम प्राप्त नाद दिव्यकरणबन्ध से अवच्छिन्न हो जाता है । अर्थात् अपने इस स्वरूपापन्न विशिष्ट गुणवत्ता के कारण दिव्यकरण बन्ध से पृथक् रूप से उपलक्षित होने लगता है । दिव्यकरणबन्ध की व्यवस्था से साधक परिचित होता है । इसी का सन्दर्भ आगे के श्लोक में दे रहे हैं ।।७८।।

मुख को थोड़ा सा खोलने पर तत्त्व का उच्चारण होता है । पर यह साधना का विषय है । वस्तुतः मन्त्र ज्ञानशक्ति रूप होता है । मुद्रा क्रियात्मिका, भाव मन (मन) रूप और मनन भी बुद्धिपूर्वक ही होते हैं । बुद्धि से निश्चय होता है । जब साधक किसी मन्त्रवेध का या किसी विषय में प्रवृत्त होने का निश्चय करता है, तो उस तत्त्व में व्याप्ति होती है । वह साधक का साध्य तत्त्व होता है । उसमें उसकी इच्छा शक्ति प्रबल होकर उस साध्यरूप पर तत्त्व में अधिष्ठित होती है । यह निश्चित है कि, जहाँ इच्छा शक्ति का उल्लास होता है, वहाँ ज्ञान शक्ति भी स्फुरित हो जाती है । इच्छा और ज्ञान शक्तियों का क्रिया शक्ति के साथ समवाय सम्बन्ध होता है । क्रिया के साथ करण का स्वाभाविक सम्बन्ध होता है । क्रिया शरीरस्थ व्यापार पूरक किसी अङ्ग से होती है । यह ज्ञानेन्द्रियाँ भी हो सकती हैं और कर्मेन्द्रियाँ भी हो सकती हैं । यह करणबन्ध क्रिया से होता है । जब साधना के उच्चस्तर पर परस्पर भाव में क्रिया करण सम्बन्ध होता है,

नादावरणे वक्ष्यति–

'इन्दिका दीपिका चैव रोधिका मोचिका तथा' । इति । (१०/१२२३)

एताभिः शक्तिभिरस्य चतुर्विधत्वम् ।

ननु च–

'ऊर्ध्वगा तु समाख्याता कला त्वासां तु पञ्चमी' । (१०/१२२४)

इति भविष्यति तत्कथमस्य चातुर्विध्यम्, सत्यं तस्यास्तु न शब्दव्याप्तिरित्याह–

पञ्चमो न वहेच्छब्दः

यः पञ्चमः प्रकारो नासौ शब्दरूपतया वहतीत्यर्थः ।

कथं तर्हि भवतीत्याह–

ऊर्ध्वगामिन्यसौ स्मृता ।

नादोर्ध्वगतेच्छाव्याप्त्यवस्थितो[1] यः शक्ते संस्पर्शस्तदभिन्नत एव नादान्तोऽव्यक्तध्वनिरिति चोच्यत इत्यर्थः । अथ–

तो वह दिव्यकरण का दृढबन्ध बन जाता है । उसी समय जिज्ञासित अर्थ का ज्ञान हो जाता है । इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों को आत्मसात् कर जब गुरुदेव शिवावेश में अविष्ट हो जाते हैं, तभी तत्त्व का अर्थात् वीर्यवरदानभरपूर मन्त्र का उच्चारण हो सकता है ।

इसी अवस्था में ईषत् प्रसारित वक्त्र भाव में आने पर गुरु का मन्त्रोंच्चार दिव्यकरणबन्ध से अवच्छिन्न हो जाता है । यह अनुभूति का विषय है[2] । वह एक उच्चस्तरीय अवस्था है । बिन्दु का क्षेत्र ईश्वर का क्षेत्र है । नाद क्षेत्र में प्रवेश होने पर देव (ईश्वर) के भी देव सदाशिव देव वहाँ अतिशय दिव्यता से विराजमान अनुभूत होते हैं ।

जैसे बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका पञ्चधावस्थित प्रतिपादित की गयी हैं, उसी तरह नाद चतुर्धावस्थित माना जाता है । नाद के शब्दात्मक स्वरूप को 'सुवेगवह' कहते हैं ॥७९॥

इसी ग्रन्थ के पटल १०/१२२३ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, १-इन्दिका, २-दीपिका, ३-रोधिका और ४-मोचिका नामक चार नादकला की शक्तियाँ होती हैं । इन्हीं के कारण इनका चतुर्विधत्व सिद्ध होता है । दसवें पटल के ही १२२४ वें श्लोक में एक ऊर्ध्वगा नामक पाँचवीं शक्ति का भी उल्लेख है ।

---

१. ख. ग. पु. व्याप्त्यवस्थितायाः शक्तेः संस्पर्शात्तदभिन्नत इति पाठः ।

२. स्व० ४/३५९ ।

तस्यातीता भवेच्छक्तिः

तमपि नादयतीत्यर्थः । सा च–

पञ्चधा तु व्यवस्थिता ।।८०।।

तद्वक्ष्यति–

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता शक्तिः सुषुप्तभुजगाकृतिः' ।

इत्युपक्रम्य–

सूक्ष्मा चैव सूसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ।
व्यापिनी......................।। (१०/१२३९)

इति ।।८०।।

यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि, पाँचवीं ऊर्ध्वगा शक्ति के रहते यहाँ नाद का चातुर्विध्य क्यों और कैसे कहा गया है ?

यह प्रश्न अपने स्तर पर सही है । वस्तुतः शब्द के प्रयोग में अच्छी तरह अर्थवहन करने की सक्रियता रहनी ही चाहिये । उसी अवस्था में सुवेगवह विशेषण चरितार्थ होता है । पाँचवीं कला में शब्द के संवहन की सम्भावना ही नहीं होती ।

उसमें शब्दव्याप्ति सम्भव ही नहीं है । वह ऊर्ध्वगा शक्ति है । 'नादान्त' शब्द से भी यही ध्वनित होता है कि, वहाँ नाद का अन्त हो जाता है । घंटा ध्वनि अनुसरण की समाप्ति पर शब्दव्याप्ति नहीं रहती । इस 'ऊर्ध्वग' नाद की वही अवस्था है, जहाँ नाद शब्द का वहन नहीं कर पाता । इसीलिये यह कहा गया है कि, पंचम प्रकार शब्दवह नहीं होता । ऐसी अवस्था में चतुर्विधो भवेच्छब्दः की बात स्वयं सिद्ध हो जाती है । क्योंकि वह ऊर्ध्वगामिनी अर्थात् शब्दव्याप्ति के स्तर से भी ऊपर चली जाती है ।

नाद का ऊर्ध्व ही नादान्त अर्थात् अव्यक्त ध्वनि का क्षेत्र होता है । यहाँ यदि गम्भीरता से सोचें, तो यह अनुभव होता है कि, इस ऊर्ध्व अवस्था में एक सूक्ष्म शक्ति का संस्पर्श होता है । नादान्त स्वयम् में अव्यक्त सूक्ष्मता का स्पर्श करता है । इस सूक्ष्मता के स्तर को पार कर योगयुक्त साधक शक्ति के क्षेत्र में प्रवेश पा लेता है और परानन्दस्पर्श की अनुभूति से भर जाता है । यह शाक्त-स्पर्श एक प्रकार का शाक्त अव्यक्त नदन के ही समान है । यह शक्ति भी पाँच प्रकार से ही अवस्थित है ।

इसी ग्रन्थ के पटल दश के श्लोक १२३९ में इसके स्वरूप और उसके पञ्चधावस्थान का वर्णन है । वहाँ कहा गया है कि, 'शक्ति' सोयी हुई सर्पिणी

अत्र शब्दव्याप्तेः क्षीणत्वात् कीदृगनुभव इत्याह–

स्पर्शस्तत्र भवेद्देवि

ह्लादात्मेति शेषः । किञ्च–

आत्मवित्तत्र पूर्ववत् ।

तत्र शक्तिपदे य आत्मवित् शक्त्यनुभवतुष्टः स पूर्ववदिति शिवपदं प्राप्नोतीति यावत् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।

अथातः–

व्यापिनी परतश्चैव पञ्चधा तु व्यवस्थिता ।।८१।।

सोऽपि स्पृशन्नूर्ध्वपदमारुरुक्षुर्योगिनो व्याप्तिमयान् व्यापिनीरूपो भवति । तत्र च–

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथाप्यनाश्रिता' । (१०/१२५०)

इति वक्ष्यमाणसूक्ष्मतमशक्तिपञ्चकानुभवोऽस्ति ।।८१।।

के समान शान्त भाव से अवस्थित है । इसकी रश्मिरूपा पाँच शक्तियाँ, जिन पर यह व्यवस्थित है, इस प्रकार हैं–१-सूक्ष्मा, २-सुसूक्ष्मा, ३-अमृता, ४-अमिता और ५-व्यापिनी । इसी तथ्य को 'पञ्चधा तु व्यवस्थिता' श्लोकांश के माध्यम से व्यक्त किया गया है ।।८०।।

यद्यपि आचार्य क्षेमराज ने उस स्तर की अनुभूति का संकेत पहले कर दिया है किन्तु स्वयं भगवान् भैरव भट्टारक देवी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, देवि ! उस शाक्त स्तर पर एक सूक्ष्म संस्पर्श का अनुभव होता है । उस स्पर्श में आह्लाद का आनन्द मिलता है । साथ ही भगवान् यह घोषणा भी करते हैं कि, स्वात्मबोध सम्पन्न साधक शक्ति के आह्लादात्मक स्पर्श से सन्तुष्ट होकर शिवत्व की उपलब्धि कर लेता है ।

इसके ऊपर व्यापिनी तत्त्व का क्रम आता है शक्ति के पाँचवें अवस्थान की भूमि को भी व्यापिनी ही कहते हैं । वही व्यापिनी स्तर इस उच्च व्यापिनी स्तर पर पहुँचा देता है । यह व्यापिनी भी पञ्चधावस्थित मानी जाती है । ऊर्ध्व आरोह में अग्रसर आरुरुक्षु साधक अभी तक वहाँ शाक्त परस्पर्श से आह्लादित था, अब इस व्यापिनी तत्त्व में प्रवेश प्राप्त कर परमव्याप्ति की अनुभूति से भर जाता है । वह १-व्यापिनी, २-व्योमरूपा, ३-अनन्ता, ४-अनाथा और ५-अनाश्रिता नामक व्यापिनी तत्त्व की आधारभूत व्यापिनी शाक्तरश्मियों से दीप्तिमन्त हो उठता है । इन सूक्ष्मतम पाँचों शक्तियों का अनुभव उसे हो जाता है ।।८१।।

अत्र च–

बालाग्रमाश्रितं स्पर्शं कदाचिद्वेति वा न वा ।

कदाचिदिति तत्पदारोहावसरे त्वशेषस्पर्शं वेत्ति, न वेति तदारोहप्रकर्षे व्याप्तिमात्रमेवानुभवति, न तु पृथक्स्पर्शमित्यर्थः ।

तदित्थम्–

व्यापिनी सा समुद्दिष्टा न ज्ञानं परमेश्वरि ।।८२।।

यदेतत्स्पर्शं वेत्ति न वेत्युक्तं सा व्यापिनीत्युपसंहृतं न ज्ञानमिति, नैषा ज्ञानशक्तिरपि तु इच्छाशक्तिरित्यर्थः ॥८२॥

अथ–

तस्यापि समनातीता

तदपि व्यापिनीज्ञानमतिक्रम्य स्थितेत्यर्थः ।

'समनं क्रमविज्ञानमुन्मनं युगपत्.........।'

इत्युक्तत्वादुन्मनानुभवं प्रविविक्षुः–

मनस्तत्र न कारयेत् ।

व्यापिनी सूक्ष्मतम स्थिति का तत्त्वपद है । इसमें बाल के अगले भाग की तरह का स्पर्श हो भी सकता या नहीं भी हो सकता है । कभी हो भी या न भी हो, कोई अन्तर उसके आनन्दानुभव में नहीं आता । व्याप्ति की अनुभूति तो उस स्तर पर होती रहती है । यहाँ ज्ञान की शक्ति का प्रभाव नहीं है । परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही यहाँ तक साधक को पहुँचाती है । आरोह की ओर उत्तरोत्तर उत्कर्ष परमेश्वर के अनुग्रह से होता है । साधक की इच्छा शक्ति का भी यह क्षेत्र माना जाता है ॥८२॥

यह ध्यान देने की बात है कि, व्यापिनी तो ज्ञान नहीं है किन्तु व्यापिनी का ज्ञान होता ही है । अतः इच्छाशक्ति वाली व्यापिनी का ज्ञान हो जाने पर इसको भी अतिक्रान्त करने की देशना शास्त्र देता है । व्यापिनी को अतिक्रान्त करने पर 'समना' क्षेत्र में प्रवेश मिलता है । विना 'व्यापिनी' को अतिक्रान्त किये 'समना' में प्रवेश नहीं हो सकता ।

समना के सन्दर्भ में शास्त्र कहता है कि, समनं क्रमविज्ञानम् । इसके बाद उन्मना की बात करते हैं कि, समना को अतिक्रान्त करके साथ साथ में मन का भी अतिक्रमण करना आवश्यक है । इससे यह सिद्ध होता है कि, उन्मना भूमि पर मन का अस्तित्व अप्रकल्प्य है । मन रहने पर उन्मना भूमि की अनुभूति नहीं हो सकती ।

न तत्रैव तुष्येदित्यर्थः । तदियतीयमिच्छाशक्तिव्याप्तिर्मान्त्रीत्यवसेयम् ।

समनायां भावाभावात्मनो विश्वस्य भेदस्यासूत्रणाद् हेयत्वमस्ति इति तामतिक्रम्य–

उन्मनापदमारोहन्

मध्ये केवलात्मतामनुभवतीत्याह–

शुद्धात्मा तु ततो भवेत् ।।८३।।

तदित्थं शुद्धचैतन्यस्वरूपसामरस्यापन्नम्–

शिष्यात्मानं गुरुवर उन्मन्यन्ते नियोजयेत् ।

उन्मन्यामन्ते चेति समासः, स्वातन्त्र्यशक्तिसामरस्यात्मनि स्वतन्त्रभट्टारकसंवेदने विश्रमयेत् तत्समावेशाभिज्ञ इत्यर्थः ।

एवं च–

तत्र युक्तः परे शान्ते महाशान्तिमवाप्नुयात् ।।८४।।

युक्त एकत्वं प्राप्तः । समस्तस्य भेदकलङ्कस्य गलनात् परं शान्तत्वम् ।

यह ध्यान देने की बात है कि, समना भूमि भावात्मक विश्व की भेदमयता का आसूत्रण करती है । अतएव हेय मानी जाती है । जब हेय का परित्याग और परमोपादेय की प्राप्ति करनी हो, तो योगयुक्त साधक को सजग सावधान रहने की आवश्यकता होती है । वहाँ स्वात्मबोध की एक मात्र अनुभूति अवशिष्ट रह जाती है । उसी स्वात्मानुभव की स्थिति में साधक 'शुद्धात्मा' विशेषण से विशिष्ट हो जाता है ।।८३।।

इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, उन्मना पद पाकर शुद्धात्मभावापन्न और शुद्धचैतन्य स्वरूप सामरस्य भाव को प्राप्त उस शिष्य रूप गुरुपदाधिकारी दीक्ष्य को 'उन्मना' के ही इस अन्त में अब नियोजित करे । इस स्थिति में परमेश्वर के स्वातन्त्र्य शक्ति के सामरस्य का उल्लास रहता है । इस ऊर्ध्वस्तर पर स्वतन्त्र स्वच्छन्द भैरव भट्टारक संवेदना-दीक्ष्य की संवित्ति को उत्प्रेरित करता है । याग सम्पादक दीक्षक आचार्य स्वयम् इस समावेशसामरस्य रहस्य के तत्त्व द्रष्टा हैं । उस शिष्य को भी उसी भाव में नियोजित कर देते हैं ।

उस उन्मना के पराभाव में नियोजित होकर गुरु और शिव दोनों का ऐक्य वह प्राप्त कर लेता है । परम शान्त भाव में अधिष्ठित शिष्य महाशान्ति को प्राप्त कर लेता है । वहाँ किसी प्रकार के भेदात्मक कलुष कलङ्क का नामोनिशान नहीं रहता । उनका विगलन हो जाता है । इसीलिये इस पद को महाशान्ति का पद माना गया है ।।८४।।

तदित्थम्–

गुरुपारम्परायातः सम्प्रदायः प्रकाशितः ।

परम्परैव पारम्परम्, गुरूणां शक्तिसदाशिवश्रीकण्ठादीनां पारम्परेणायातो रहस्यानुभवसंचारक्रमेण मया विदितः, सम्यक् दीक्षणादिपूर्वं शक्तिपातभाजां प्रदीयत इति सम्प्रदायः, प्रकाशितः, तवापि संक्रमणयुक्तिपूर्वं मया कथित इत्यर्थः । तदेवं गुरुतो लब्धोऽपि सम्प्रदायो यथारूढिमापन्नो गुर्वन्तरैः शिष्याणां सम्पाद्यते ।

यहाँ तक जितना वर्णन किया गया है, यह सब गुरुपरम्परा से आयातिक्रम से आया हुआ रहस्य–विज्ञान है । इसे ही संप्रदाय कहते हैं । भगवान् भैरव स्वयं परम गुरु हैं । स्वच्छन्द भैरव की दृष्टि से गुरु परम्परा क्या हो सकती है ? आदिबोध रूप परमेश्वर की बेधात्मिका शक्ति ही गुरु परम्परा मानी जा सकती है । मानुष्य की दृष्टि से शक्ति, सदाशिव, श्रीकण्ठ आदि गुरुरूप देवतात्मा ही इस परम्परा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं । उसी क्रम से प्राप्त रहस्य विज्ञान को अपने दीक्षागुरु भगवान् अभिनवगुप्त से आचार्य क्षेमराज ने प्राप्त किया था । उसी रहस्य बोध का संचार इनमें हुआ था । उसे इन्होंने आत्मसात् किया था । 'विवेक' व्याख्या के इस विवरण में उसे ही व्यक्त किया है । एक प्रकार से इसे आचार्य की आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं ।

जहाँ तक सम्प्रदाय शब्द का प्रश्न है, यह आज कल हेय अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है । दूषित राजनीति के बिषैले विचारों ने सम्प्रदाय और धर्म सदृश पावन शब्दों के अर्थ विकृत कर दिये हैं । वस्तुतः विधि विधान पूर्वक दीक्षा देकर गुरु शिष्य पर शक्तिपात करके उसे अपने परमेष्ठि और परम गुरुओं का ज्ञान देता है, वही सम्प्रदाय होता है ।

वही गुरुप्रदत्त क्रम आचार्य क्षेमराज द्वारा प्रकाशित किया गया है । मूलतः संक्रमण युक्ति के माध्यम से भगवान् भैरव ने भैरवी को यह ज्ञान प्रदान किया था । श्लोक उसी मूल भाव को व्यक्त कर रहा है । इसी क्रम में अपने अपने गुरुजनों से प्राप्त यह सम्प्रदाय अपने मूलरूप में ही किन्तु प्राप्त अनुभव के आधार पर गुर्वन्तरों के द्वारा शिष्यों को प्रदत्त किया जाता है ।

यह सम्प्रदाय क्रम एक प्रकार से परमतत्त्व में योजन का एक प्रकार मात्र है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! मैंने सम्प्रदाय के उपाय क्रम को तुम्हें सुनाया है । इसी ग्रन्थ के चतुर्थ पटल के श्लोक २३१ में योजन क्रिया पर प्रकाश डाला गया है । तदनुसार 'प्राणापानवाहरूप प्राण संचार और प्राण का प्रमाण जानना मौलिक रूप से आवश्यक है । उस समय एकत्र प्राण में सभी छः अध्वावर्ग की

तत्र–

योजने तु परे तत्त्वे उपायः कथितस्तव ।।८५।।

'ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसंचारमेव तु' । (२३१) इत्यादिना चतुर्थपटल एवेत्यर्थः ॥८५॥

तदित्थं सर्वोत्तममिमं सम्प्रदायम्–

एवं ज्ञात्वा वरारोहे सर्वकर्माणि कारयेत् ।

सर्वासु व्यवहारदशासु परिमाणमाहात्म्य[1] एव तिष्ठेदिति यावत् । आचार्यसाधकादींश्च स्वोचितेषु कर्मसु एतज्ज्ञानपूर्वकमेव प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । वरारोह इति प्राग्वत् ।

एवं तत्त्वदीक्षाप्रसङ्गोक्तेयं ज्ञानदीक्षा अन्याध्वदीक्षास्वपि कर्तव्या इति भङ्ग्या शिक्षां ददाति–

तत्त्वाध्वानं कलाध्वानं भुवनाध्वानमेव च ।।८६।।

जानकारी कर ली जाती है । प्राण के माध्यम से हंसोच्चार, वर्णविश्रान्त कारणों का त्याग, शून्य समरसता में अनुप्रवेश, त्याग संयोग विज्ञान, पदार्थभेद विज्ञान, भावोष्कर्षवशात् आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व की व्याप्ति का रहस्य जान कर ही परतत्त्व में योजन होता है' ।

उक्त सारे तथ्य एक एक कर ऊपर कहे गये हैं । रहस्य सम्प्रदाय की इसी विद्या का अनुगमन सम्प्रदायाचार्यों को करना चाहिये ॥८५॥

भैरवी को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इस सारी विज्ञानवादिता का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्तकर लेने के बाद ही सभी कर्मों का सम्पादन करना चाहिये । वस्तुतः व्यवहार मुख्य नहीं होता । उसका परिणाम महत्त्वपूर्ण होता है । इस दृष्टि से आचार्य और साधक सभी अपने अपने निर्धारित उचित कार्यों को उक्त प्राणचार की प्रक्रिया की जानकारी एवं व्यवहार, पूर्वापरतत्त्वसमायुक्ति रूप परिणाम को ध्यान में रखकर ही सम्पन्न करें । यही शास्त्र का मन्तव्य है ।

तत्त्व दीक्षा के सन्दर्भ में प्रकाशित तान्त्रिक ज्ञानदीक्षा का यह वास्तविक स्वरूप सभी अन्य दीक्षाओं में भी प्रयुक्त किया जाना चाहिये । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भगवान् इस अगली अर्धाली का प्रवर्त्तन कर रहे हैं । उनका कहना है कि, चाहे वह दीक्षा तत्त्वाध्वा की हो, कलाध्वा की हो, या भुवन नामक अध्वा की हो, सबमें ज्ञानदीक्षा का सुपरिणामी महत्त्व है ॥८६॥

---

१. ख. ग. पु. परिणाममाहात्म्य एवेति पाठः ।

वर्णमन्त्रपदाध्वानं कृत्वैवं शुध्यति प्रिये ।

यथान्तर्भावितापराध्वपञ्चकं तत्त्वाध्वानमेवं कृत्वा इत्युद्घातपूर्वं परे तत्त्वे योजयित्वा शुद्ध्यति परभैरवतामाप्नोति गुरुः शिष्यात्मना सह तथान्यमपि अध्वानमेवमेव कृत्वा शुद्ध्यतीत्यर्थः ।

उपसंहरति–

एषा वै धारणादीक्षा

विज्ञानदीक्षामित्युपक्रम्यापि प्रोक्तधारणाक्रमेण क्रियमाणत्वाद् धारणादीक्षा–इत्युपसंहारेऽपि न दोषः ।

नैषा सर्वेण गुरुणा कार्येत्यभिदधद्भाविपटलमपि अवतितारयिषुः पाटलिकीं संगतिं करोति–

कर्तव्या योगिनात्र तु ।।८७।।

मन्त्रसिद्धेन वा देवि

योगिना परसमावेशाभिज्ञेन, यदि वा अत्र तन्त्रे समनन्तरपटलवक्ष्यमाण-साधनक्रमेण यो मन्त्रसिद्धस्तेन कर्तव्या, द्वयोरपि अत्र सामर्थ्याविशेषात् तदन्यस्त त्वनधिकारात् ।

इत्थमियम्–

कृता वै सुकृता भवेत् ।

सम्यङ्निवृत्तिमासादयत्येव ।।८७।।

यही नहीं उक्त तीनों प्रकार की देशाध्वा दीक्षा हो या वर्ण, पद और मन्त्रात्मिका कालाध्वा दीक्षा हो, सभी दीक्षाओं को तत्त्वाध्वदीक्षा के अन्तर्गत मानकर तत्त्वाध्वा को मुख्य मानकर उद्घात पूर्वक परतत्त्व नियोजित करने से ही शिष्य शुद्धात्मा बनता है अर्थात् परभैरव सद्भावभावित हो जाता है ।

इस सन्दर्भ में गुरु अपने उत्तरदायित्व का सर्वदा ध्यान रखे । शिष्य भी शैवभाव में समायोजन रूप लक्ष्य प्राप्ति के लिये प्रस्तुत, प्रवृत्त और जागरूक रहे । षडध्वविज्ञान मर्मज्ञ गुरु पञ्चाध्व को तत्त्वाध्व के अन्तर्भूत मान कर शिष्य को मूलविज्ञानवेतृत्त्व से अलङ्कृत कर दे । इस प्रकिया द्वारा ही शिष्य शुद्धात्मा होकर चिदानन्दघनता में योजित हो जाता है ।

इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि, धारणा के क्रम से क्रियमाण होने के कारण इस तत्त्वविज्ञानदीक्षा को ही धारणा दीक्षा भी कहते हैं । नियोजन में एक तरह से शिष्य परमतत्त्व की धारणा में ही बद्ध होता है । योगविद्यादक्ष योगयुक्त पुरुष के द्वारा यह उक्त सारी प्रक्रिया अनवरत अपनायी जानी चाहिये ।।८७।।

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे पञ्चम पटले

दीक्षायाः शास्त्रान्तरदृष्ट्या समीक्षणम्

सौगतदृष्टिपरिशिष्टम्

१

तदेवं चतुर्थपटले कलादीक्षोक्ता अस्मद्दर्शितयुक्त्या एकतत्त्वदीक्षा च, इह तु त्रिपञ्चनवषट्त्रिंशद्भेदाश्चतस्रस्तत्त्वदीक्षाः, पददीक्षा च नवतत्त्व-दीक्षावत्, वर्णमन्त्रभुवनदीक्षाश्च तिस्रः कलादीक्षावत्, दशमे च वितता भुवनदीक्षा भविष्यतीत्येता एकादश अध्ववैचित्र्येण दीक्षाः ।

मन्त्र सिद्ध पुरुष के द्वारा उक्त तत्त्व विज्ञान प्रक्रिया सावधानी पूर्वक अपनायी जानी चाहिये । यहाँ दो प्रकार के पुरुषों को अधिकारी माना गया है ।

१–योगयुक्त योगी जो परसमावेश सिद्ध और तादात्म्य विधा का मर्मज्ञ होता है । और–

२–वह मन्त्रसिद्ध पुरुष जो साधना के क्रम से वर्ण, पद और मन्त्र-विज्ञान का पारदृश्वा बन गया है ।

इन दोनों के अतिरिक्त और लोग इसके अधिकारी नहीं माने जाते । ऐसे लोगों में उक्त प्रक्रिया को सम्पन्न करने का सामर्थ्य ही नहीं होता । इस पटल की यह अन्तिम भगवदुक्ति वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल से मनोज्ञ बनकर आगमिक विश्व के मर्मज्ञ साधकों और सिद्धों को प्रोत्साहित कर रही है कि, उक्त क्रिया 'कृता' होने पर सुकृता हो जाय ! इसके लिये मात्र क्रियाध्यवसाय ही शर्त हैं । सम्यक् रूप से निवृत्ति का सम्पादन करने पर यह प्रक्रिया कर्त्ता को पूर्णतया भैरवभाव सम्पन्न कर देती है ॥८७॥

परिशिष्टभाग–

इस स्तर पर पहुँच कर, दीक्षा के वैज्ञानिक सन्दर्भों को समझने के लिए साधक को आत्मदर्शन की आवश्यकता पड़ती है । अपने को आन्तरिक दृष्टि से समीक्षित करने की जरूरत होती है । साधक ने चतुर्थ पटल की कलादीक्षा को एक तत्त्वदीक्षा के रूप में देखा, समझा, गुना और आत्मसात् किया । साथ ही इस पटल की तीन, पाँच, नौ और ३६ भेदों की चार प्रकार की तत्त्वदीक्षाओं की जानकारी भी प्राप्त की । इससे उसे प्रसन्नता है ।

इन उक्त दीक्षाओं के अतिरिक्त दीक्षाओं एवम् अन्य प्रकारों से भी साधक को परिचित होना चाहिये । जैसे–

ज्ञानदीक्षा चोद्घातयुक्त्या द्वादशी इति । एताः सबीजनिर्बीजसद्योनिर्वाण-भेदात् पुत्रकविषये षट्त्रिंशद्भवन्ति । आचार्ये तु सबीजैव द्वादशभेदा । साधके शिवधर्मिलोकधर्मिभेदाद् द्विविधे पूर्ववच्चतुर्विंशतिभेदा । समयिनि तु अध्वन्यासस्यानुक्तत्वाद् ज्ञानक्रियाभ्यां हृदादिग्रन्थिभेदनतो द्विविधाइति चतुःसप्ततिरिह संक्षेपतो दीक्षाभेदाः । तत्रापि सकलनिष्कलाघोरेश्वर्या-

---

१–पददीक्षा–यह नवतत्त्व दीक्षा के समान ही होती है ।

२-३-४-वर्ण, मन्त्र और भुवन नामक तीन दीक्षायें कला दीक्षा के ही समान होती है ।

५– दशम पटल में विस्तार पूर्वक भुवन दीक्षा की चर्चा की गयी है । इस प्रकार चतुर्थ पटल की कला दीक्षा (१) आचार्य क्षेमराज संकेतित एकतत्त्व दीक्षा (+१), तीन, पाँच, नौ और छत्तिस प्रकार की (+४),पददीक्षा +(+१) वर्ण, मन्त्र और भुवन नामिका ये (+३) और दशम पटल में विस्तार पूर्वक वर्णित (+१) भुवनदीक्षायें कुल मिलाकर १+१+४+१+३+१=ग्यारह प्रकार की दीक्षायें होती है । ये सभी अध्ववैचित्र्यमयी दीक्षायें मानी जाती हैं ।

इनके अतिरिक्त उद्घात युक्ति से दी जाने वाली ज्ञानदीक्षा बारहवीं प्रकार की दीक्षा है । ये सभी १२ विधामयी दीक्षायें प्रत्येक सबीज, निर्बीज और सद्यो-निर्वाणप्रदा के तीन तीन भेद के कारण १२×३=३६ प्रकार की होती हैं । इनमें आचार्य को बारह प्रकार की सबीजा दीक्षा देने का ही विधान है ।

साधक को लोकधर्मिणी और शिवधर्मिणी भेद से दोनों प्रकार की दीक्षायें दी जाती हैं । ये १२-१२ प्रकार की होती हैं । अतः कुल मिलाकर ये चौबिस प्रकार की दीक्षायें होती हैं, जो साधक को दी जाती हैं ।

समयी शिष्य के प्रति अध्वन्यास का कथन नहीं किया गया है । अतः विना अध्वन्यास किये, ज्ञान और क्रिया शक्तियों द्वारा ही गुरुदेव उसके हृदय की ग्रन्थियों का भेदन करते हैं । परिणाम स्वरूप उसके सभी संशय छिन्न हो जाते हैं । ज्ञान और क्रिया शक्तियों के दो भेदों से भिन्न यह प्रक्रिया भी दीक्षा भेद के अन्तर्गत ही मान ली गयी है। इस तरह कुल मिलाकर ३६+१२+२४+२=७४ ये चौहत्तर भेद मुख्य रूप से दीक्षा के होते हैं । यही दीक्षायें स्वच्छन्द भैरव के प्रत्यभिज्ञामार्ग के गुरुजनों द्वारा दी जाती हैं । यही दीक्षाभेद के दक्ष के ७४ गुरुजनों की प्रक्रिया के दीक्षा भेद हैं ।

इन दीक्षा भेदों के अतिरिक्त भी सकल, निष्कल क्रम और अघोरेश्वरी शक्ति के शाक्त क्रमों के अनुष्ठान भी साधक करते हैं । इनकी दीक्षायें भी लोक प्रचलित

द्यनुष्ठानभेदात् लोकधर्मिसाधकस्य चावान्तरवैचित्र्याद् भौतिकनैष्ठिकाचार्यभेदाच्च बहुप्रकारा भवन्ति ।

तदत्र दीक्षायामेव प्रत्यवतिष्ठन्ते सौगता:-१- इह दीक्षया किमात्मन: संस्कार: क्रियते बुद्धेर्वा ? २- किमात्मग्रहादीनां मलानाम् ? ३- किं वा कर्मणाम् ? ४- आत्मन: आयातशक्तिपातस्य तदितरस्य वा ? ५- शक्ति-पातोऽक्षीणमलस्य अन्यस्य वा ? ६- कश्चात्मन: संस्कार: अ- कर्मनिवृत्ति:, आ-सुखदु:खसंविन्नि-वृत्ति: ? इ- प्रकृत्यादिविवेकदर्शनं ? ई- स्वस्वरूपज्ञान ? उ- मद्वैतदृष्टिर्वा ? ७- बुद्धेरपि क: संस्कार: अ- किमिन्द्रियप्रेरणासामर्थ्यम्, आ- रागादिहान्याधानम्, इ- उन्मूलनं वा ? ८- मलानामपि किं तदैव अ- कार्यप्रसवासामर्थ्यम्, आ- मरणापेक्षं वा संस्कार: ? ९- एवं च कर्मणाम् ? स च किमागमैक-प्रमाणको युक्तिसिद्धोऽपि वा ? तत्र शक्तिपातादात्मग्रहादिमलक्षय:, मलक्षयाच्च

हैं । लोकधर्मी साधकों की अवान्तर दीक्षायें भी इसी क्रम में आती हैं । इसमें भौतिक, नैष्ठिक तथा आचार्य सम्बन्धिनी दीक्षाओं का परिगणन भी होता है ।

इन दीक्षाओं में प्रत्यवस्थित सौगत धर्मकीर्त्ति के प्रश्न–

१– दीक्षा से आत्मा का संस्कार करते हैं या बुद्धि का ?

२– क्या आत्मा के आवारक–मलों को संस्कृत करते हैं ?

३– क्या कर्मों का संस्कार करते हैं ?

४– आत्मा के आयात शक्तिपात रूप का संस्कार करते हैं अथवा अनायात शक्तिपात आत्मा का ?

५– शक्तिपात क्षीणमल पर होता है अथवा अक्षीणमल का ?

६– आत्मसंस्कार का स्वरूप क्या है ? कर्म निवृत्ति, सुख दु:ख संवि-न्निवृत्ति, प्रकृत्यादि विवेक दर्शन, स्वरूपज्ञान या अद्वैत दृष्टि ? अ– बुद्धि का संस्कार कैसा ? इस संस्कार का लक्षण क्या है ? क्या इन्द्रियों की प्रेरणाओं से अप्रभावित रहना बुद्धिका संस्कार है या आ–रागादि से उपराग की धारणा ? अथवा इ–रागादि का मूलत: उन्मूलन ?

८– अ–संस्कार सम्पन्न होने पर ही क्या मलों के कलुष से कलुषित कार्यों का प्रसव असम्भव हो जाता है ? या आ–क्या संस्कार मरणापेक्ष होता है ?

९– इसी तरह कर्म संस्कार की क्या इयत्ता है । क्या अ–कर्म संस्कार मात्र आगम प्रामाण्य से सिद्ध माने जाते हैं या आ–युक्तिसिद्ध प्रामाणिकता ही पर्याप्त है ?

शक्तिपात इत्यन्योन्याश्रयः । अक्षीणमलस्य शक्तिपाते सर्वस्यासौ स्यात्, मलक्षयोऽन्यतः कुतश्चिद् यदि तत एव तर्ह्यात्मनः संस्कारो भविष्यतीति किं शक्तिपातहेतुकेन दीक्षाविधानेन ? १०- आत्मनश्च नित्यैकस्वभावस्य कर्मतद्भोगनिवृत्त्यनिवृत्त्योरविशिष्टस्य कः संस्कारः ? वैशिष्ट्ये नित्यताहानिः । कर्मभोगयोः व्यतिरिक्तयोर्नाशे तस्य किं वृत्तम् ?

११- तत्समवायोऽस्य निवृत्त इति चेत् सोऽपि कर्मादिवत् स्वात्मन्येव–इति आत्मनो न भोक्तृत्वकर्तृत्वे नापि तदुपशमात्मा मुक्तिः स्यात् ।

यहाँ एक प्रश्न और भी विचारणीय है । शक्तिपात से आत्मा के आवारक-मलों का क्षय होता है । दूसरी तरफ मलक्षय हो जाने पर ही शक्तिपात होता है । अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दोनों में है । ऐसी अवस्था में अक्षीणमल साधक पर, शक्तिपात यदि उचित माना जाय, तब तो यह सबके ऊपर किया जा सकता है । यह मल का क्षय किसी अन्य प्रकार से यदि सम्भव हो, तो उसी उपाय से स्वात्म संस्कार भी हो सकता है । इस शक्तिपात हेतुक दीक्षा विधान से क्या लाभ ? शक्तिपात की चाह रखने वाले लोग दीक्षा लेते हैं । शक्तिपात से नहीं अपितु अन्य किसी उपाय से ही मल क्षय होना निश्चित है और स्वात्म संस्कार भी । ऐसी दशा में शक्तिपात के लिये दीक्षा विधान अनावश्यक हो जाता है ।

१०– आत्मा तो नित्य एक रस, एक स्वभाववान् तत्त्व है । उसमें कर्म-भोग की निवृत्ति या अनिवृत्ति इन दोनों का कोई वैशिष्ट्य या महत्त्व नहीं । इन दोनों से आत्मा निर्विशेष रूप से असम्पृक्त है । इस स्थिति में संस्कार का सवाल ही कहाँ उठता है ? इन दोनों के वैशिष्ट्य पक्ष में आत्मा की नित्यता पर ही प्रश्नचिह्न लग जायेगा । कर्म और भोग दोनों आत्मा में नहीं हैं । पृथक् हैं । इनके नाश से आत्मा को क्या ?

११– कहने के लिये यह कहा जा सकता है कि, नैयायिकमतानुसार आत्मा के १४ गुण समवायों की निवृत्ति होती है पर यह कहना भी बेकार है । जैसे कोई कर्म करता है । उस कर्म का सम्बन्ध उसी से होता है । आत्मा तो तटस्थ है । उसमें कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों का अभाव है । इनके उपशम का कोई प्रश्न ही नहीं । न ही उपशम के स्वरूप रूप युक्ति का कोई प्रश्न है । यह अत्यन्त विचारणीय विषय है ।

१२- प्रकृत्यादिविवेकस्वरूपदर्शनपक्षौ प्रागतत्स्वभावतयास्य भेदमानयत: । आत्मदर्शनमात्मीयादिदर्शनस्य तन्मूलानां रागादीनां च हेतुरिति ततोऽस्य बन्ध एव । अद्वैतदृष्टौ अपरस्य कस्यापि अभावात् क्रियाभोगा (बोधा) नुपपत्तौ कर्तृत्वज्ञातृत्वतत्त्वैश्वर्यप्रविलोपो मुक्तात्मनां स्यात् ।

१३- बुद्धेरक्षप्रेरणासामर्थ्याधाने दीक्षितस्य करणवैकल्यं स्यात् । रागादिदोषाश्च सवासनाका दीक्षितस्य न निवर्तन्ते । बुद्धेरुन्मूलने दीक्षानन्तरं देहपातप्राप्ति: । मलानां तदैवासामर्थ्यसाधने प्रवृत्तिस्त्रुट्येत् ।

१२– प्रकृति पुरुष आदि का विवेक और स्वरूप साक्षात्कार ये दो बातें दो पक्ष के रूप में विचारणीय हैं । साधना उपासना के बल पर प्रकृति पुरुषादि विवेक होता है । पहले यह विवेक नहीं रहता । बाद में होता है । यह विवेक भी आत्मा का स्वभाव नहीं माना जा सकता । आत्म साक्षात्कार भी आत्मा का स्वभाव नहीं । ये दोनों पक्ष आत्मा के स्वभाव भेदभाव के सर्वदा विपरीत हैं ।

आत्म दर्शन रूप स्वात्म साक्षात्कार को क्या मानें ? सभी लोक आत्मीयों का दर्शन करते हैं । उनसे स्नेह पूर्वक मिलते हैं । इस कार्य में रागरूपी कञ्चुक ही कारण होता है । क्या आत्मदर्शन भी राग युक्त ही है । इससे तो आत्मा भी रागादि बन्धनों से बद्ध है, यही बात सिद्ध होती है । यदि आत्मा के संस्कार का अर्थ अद्वैत दृष्टि लें, तो किसी अपर अन्य तत्त्व का अभाव ही सिद्ध होता है । ऐसी दशा में क्रिया और भोग दोनों अनुपपन्न सिद्ध हो जाते हैं । अत: मुक्तात्माओं में कर्त्तृत्व, ज्ञातृत्व और इच्छा शक्ति जन्य ऐश्वर्य आदि पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो कर्त्तापन कहाँ से आयेगा ? कर्म करने पर भोग होता है । यह पक्ष भी विचारणीय है । सबके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा ।

१३– रही बात बुद्धि की । बुद्धि से ज्ञातृत्व का भी सम्बन्ध है । बुद्धिसे ही जाना जाता है । इन्द्रियाँ इसी से प्रेरित होकर काम करती हैं । अद्वैत दृष्टि में ज्ञातृत्व और बोध दोनों के अनुपपन्न हो जाने पर जिनको दीक्षा दी गयी है, उनमें अन्त: करण और करणेश्वरी रूप इन्द्रियों में एक अप्रत्याशित अक्षमता की, एक अनस्तित्वमय अधूरेपन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी । ऐसी स्थिति में दीक्षा के बावजूद राग आदि दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि, वासना के बने रहने के कारण उनकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

१४- मरणापेक्षमसामर्थ्याधानमिति पलायनमार्गः । मृत्यवसरे च दीक्षितस्यात्मादिग्रहः प्राग्वदेवोपलभ्यते ।

१५- एवं कर्मस्वपि वाच्यम्, आरब्धकार्यसंशोधने दीक्षाया न सामर्थ्यमिति चेत्, अन्यत्रापि क आश्वासः । आगमप्रमाणकमेतदिति चेत्, आगमस्य तदर्थं कः प्रतिबन्धः ? मन्त्रप्रतिबन्धाद् बीजमङ्कुरं न सूते, तद्वत् कर्मबीजान्यपि न संसारं सुवते इति ।

बुद्धि के संस्कारों के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठाये गये थे । १–इन्द्रिय प्रेरणा के सामर्थ्य का संस्कार, या २–रागादि दोषों की हानि का आधान या उन्मूलन ? ऊपर दोनों पर विचार किया गया । उन्मूलन रूप संस्कार तो और भी भयङ्कर है । दीक्षा में यदि बुद्धि का ही उन्मूलन हुआ, तो यह तो जीते जी मृत्यु के ही समान होगा ?

१४– जहाँ तक मलों का प्रश्न है, दीक्षा के उपरान्त संस्कार सम्पन्न होने पर यदि तत्काल कार्य प्रसव में असामर्थ्य मान लिया जाये, तो सारी प्रवृत्तियों के मर जाने का खतरा पैदा हो जायेगा । मरणापेक्ष संस्कार की तो बात ही व्यर्थ और विचार से परे है । जीवन में जो घटित नहीं हुआ, मरणोपरान्त घटित होने में क्या प्रमाण ? मृत्यु के अवसर पर भी दीक्षित लोगों में वही सामान्य प्रकार का आत्मग्रह दीख पड़ता है ।

१५– जहाँ तक कर्मों का प्रश्न है । आरब्ध जितने करणीय कर्म हैं, उनके संशोधन में अर्थात् उन्हें शुद्ध करने की क्षमता दीक्षा में नहीं है, यदि यह मानें तो अथवा अन्यत्र अर्थात् आरब्ध कार्यों के अतिरिक्त अन्य कर्मों के संशोधन का भी क्या विश्वास ? यदि इसे आगम प्रमाण से ही सिद्ध माना जाय, तो यहाँ भी यह पूछा जा सकता है कि, आगम का इस संशोधन के लिये क्या 'रोक' है ? असामर्थ्य में कोई प्रतिबन्ध तो होना ही चाहिये ?

एक बात इस प्रश्न सन्दर्भ में सामने आती है । इसे प्रतिबन्ध भी माना जा सकता है । बात यह है कि, आगमिक योगसिद्ध योगी अपने मन्त्र के प्रभाव से बीजों की अङ्कुरण शक्ति को अवरुद्ध कर देते हैं । वह मन्त्र ही प्रतिबन्ध बन जाता है । बीज जमते ही नहीं । इसी तरह कर्मबीज भी मन्त्रों के प्रतिबन्ध से प्रतिरुद्ध होकर संसार के अङ्कुर के कारण नहीं बन सकते । यह प्रारब्ध का प्रतिबन्ध माना जा सकता है । बीज की इस सिद्ध युक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, बीजों की निर्बीजता की तरह दीक्षित के प्रारब्ध कर्म बीज भी प्रतिबन्धित हो सकते हैं ।

१६- बीजादिसंसिद्धयुक्त्या बीजादिवद् दीक्षितस्य तैलाभ्यङ्गदाहादयोऽपि असामर्थ्याधानहेतवः क्रियन्ताम् । अमूर्तत्वात् कर्मणामभ्यङ्गादयो न सन्तीति तानि दीक्षैव क्षपयति, तथा च घटदीक्षादीक्षितस्य लाघवमपि [1]उपलभ्यत इति चेत्, नामूर्तस्य पापादेर्गुरुत्वाभावात् । तस्मात् क्षणिकत्वादिभावनापूर्विका नैरात्म्य-दृष्टिरेव मोक्ष इति ।

१६- बीजों की तरह दीक्षित को तेल से मलने पर और अग्निदाह करने में असामर्थ्य का भी अर्थ लगाया जाता है । ये दो काम १-तैलाभ्यङ्ग और २-अग्निदाह हैं । ये दोनों असामर्थ्य के ही आधायक हैं । क्या यह माना जा सकता है ?

यह युक्ति लोक प्रचलित है । होली के पहले घर के सदस्यों को मन्त्र पवित्रित उबटन लगाते हैं । उबटन की मैल को होली की जलती आग में जला देते हैं । यह तैलाभ्यङ्गदाह कर्म कहलाता है । इसका मन्त्र भी कुछ अश्लीलता लिये होता है, जिसे बुदबुदाते हुए लोग तैलाभ्यंगदाह कर्म करते हैं । वहाँ ही प्रार्थना होती है कि, सबके कर्म संशुद्ध हो जाँय । ये तैलाभ्यंग आदि कर्मशुद्धि के असामर्थ्य का ही आधान करते हैं । अर्थात् इनमें आरब्ध कर्म-बीज-क्षपण की शक्ति नहीं होती, यही कहते हैं । कर्म तो अमूर्त्त होते हैं । उनको नष्ट करने में ये अभ्यङ्ग आदि समर्थ नहीं हो सकते ।

ऐसी दशा में यदि यह कहा जाय कि, दीक्षा ही उनको शुद्ध करने में समर्थ है । जैसे एक प्रकार की दीक्षा को 'घट दीक्षा' कहते हैं । प्रसिद्धि यह है कि, इस दीक्षा के परिणाम स्वरूप जैसे भीतर भरे पानी में लाघव होता ही है, उसी तरह दीक्षित में भी लाघव होता है । इन बातों पर सौगत सम्प्रदाय ध्यान नहीं देता । वह कहता है कि, पाप का जब कोई आकार ही नहीं, तो उसमें गुरुत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती । अतः ये दीक्षायें व्यर्थ हैं । वास्तविकता यह है कि, क्षणवाद के सन्दर्भ में नैरात्म्य की सोच ही मुक्ति मानी जा सकती है । दीक्षा मुक्ति की कारण नहीं मानी जा सकती ।

यहाँ तक सौगत दृष्टि से गहरायी के साथ विचार किया गया है । ये सारे तर्क दीक्षा के विरोधी हैं और यह सिद्ध करते हैं कि, मुक्ति तो निर्वाण रूप होती है । क्षणिकवाद की दृष्टि और नैरात्म्य दृष्टि इसके मूल आधार हैं ।

अब आचार्य क्षेमराज इस पर स्वच्छन्द प्रक्रिया के अनुसार समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं । सौगत के एक एक बिन्दु पर करारा प्रहार करते हुए अपने निकष पर कसे गये विचारों को यहाँ प्रस्तुत करने का समर्थ प्रयास कर रहे हैं-

---

१. क. ग. पु. उपलक्ष्यते इति पाठः ।

१. अत्रोच्यते–इहात्मसंस्कार एव दीक्षा । तथा हि अयमात्मा संकोचाभासतत्त्वापूर्णम्मन्यतात्मनेहाभिलाषशब्दोक्तेनाणवेन मलेन; शुभाशुभवासनात्मना विविधजन्मायुर्भोगदेन कार्मेण, तत्प्रभवेन च कञ्चुकपुर्यष्टकस्थूलभूतात्मनानाजातिकत्रिविधदेहतदाश्रयविचित्रभुवनभोक्तव्यार्थसार्थप्रतीतिभाजा मायाख्येन मलेन च वलितः । यतः सर्वस्यैव संकुचितोऽभिष्वङ्गादिमयोऽन्तरुल्लेखशताकीर्णः कृशगौरादिरूपोऽमुत्रेदं जानामीत्यादिप्रतीतिसिद्ध एवायमर्थः । तदीदृशस्यास्यानन्तजन्मसहस्राभ्यस्तेदृगवसानस्यापि ।

१– प्रथम प्रश्न था कि, दीक्षा आत्मा की करते हैं या बुद्धि की ? इसका निर्णायक उत्तर यह तन्त्र देता है । इसके अनुसार दीक्षा आत्मा की ही होती है । एव अव्यय निश्चय अर्थ में ही प्रयुक्त है । विचार करने से असम्भव भी सम्भव रूप से अनुभूत होता है । आत्मा यद्यपि विकल्पों से असंकुचित संवित्प्रकाश रूप माना जाता है और शिवस्वभाववान् है फिर भी अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपने को संकुचित अवभासित करने लग जाता है । उस समय यह अणु कहलाने लगता है । उसी को तन्त्र इस रूप से स्वीकार करता है कि, अपने रूप को आच्छादित कर पुनः अपनी पूर्णता का प्रथन चाहता है और आणव, कार्म और मायीय संकोचों का क्रम, अक्रम और क्रमाक्रम रूप से अपसारण करता है ।

उसका यह चाहना ही यियासा कहलाती है । उसी समय गुरु का सम्पर्क होता है । गुरु इन्हीं त्रिदोषों को दूर करने के लिये दीक्षा देता है । दीक्षा से तीनों मल मिट जाते हैं । इसी को आत्मा का संस्कार कहते हैं । इसी अर्थ को 'आत्म संस्कार एव दीक्षा' इस प्रयोग के द्वारा व्यक्त करते हैं । इन तीनों मलों की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है–

अ–आणवमल– संकोच का आभास आणव मल में होता है । कञ्चुक से अंचित होने का नाम संकोच है । आणव मल यही करता है । इसका दूसरा काम पूर्ण को अपूर्ण बनाना है । इसके प्रभाव से आत्मा अपने को अपूर्ण मानने लगता है । इस कमी को अपूर्णमन्यता कहते हैं । अपूर्ण अवस्था के 'अभिलाष' आणवमल के ही लक्षण हैं ।

आ–कार्ममल– अपूर्ण अवस्था में वासना की बास आने लगती है । इन शुभ और अशुभ वासनाओं से आत्मा अनन्तानन्त जन्म, आयु और भोग की भीषिका का शिकार हो जाता है । वासना मूलक शुभाशुभ कामों के फल ही जन्म आयु और भोग माने जाते हैं । यह कार्ममल कहलाता है । उक्त तीनों फल कार्ममल के ही परिणाम माने जाते हैं ।

इ–मायीय मल– माया की तीन पुत्रियाँ और दो पुत्र माने जाते हैं । कला, विद्या और नियति ये तीनों पुत्रियाँ, निर्ममतामयी कर्कशता से आत्मा को अभिशप्त कर देती हैं । किञ्चित्कर्त्तृत्वमयी कला उसे खण्डित करती है । विद्या उसे दुनिया की जानकारी देती है और नियति उस को देहों में बाँध देती है ।

राग और काल माया के दो पुत्र हैं । राग से आत्मा मोहममता से आच्छादित होता है और काल इस अकाल पुरुष को भी कालकवलितता का अभिशाप देता है । यह माया का कुप्रभाव है ! यह स्वातन्त्र्य का दुश्चक्र है, जो अनिवार्य सा लगता है ।

बुद्धि, प्राण और देह[१] को तीन पुर कहते हैं । मन, बुद्धि और अहङ्कार तथा ५ ज्ञानेन्द्रियों (रूप, रस आदि पाँचों को) मिलाकर पुर्यष्टक[२] होता है । इनका विशोधन कर सांन्यासिकी दीक्षा दी जाती है ।

ये पुर्यष्टक आत्मा के एक प्रकार के स्थूल रूप ही हैं । इन स्थूल रूपों में नाना जातियों में, जन्मों में और देहों में विचरण करने का वैवश्य सामने आता है । नाना भुवनों और लोकों की ललामता में लीलामयी लीनता मिलती है । भोक्तव्य भावों की कतार खड़ी हो जाती है । इन्हीं अर्थों की सार्थकता में परमार्थ विस्मृत हो जाता है । यह मायीयमल का अभव्य होते हुए भव्य रूप है । जागतिक दुर्गतिमयी गतिशीलता की यह परम्परा आदिकाल से चल पड़ती है ।

आत्मा इन तीनों मलों से संचलित हो जाता है । यह तथ्य विश्व जीवन का अंग बन गया है । सबकी यही गति है । संकोच से संकुचित, आसक्ति और अनुराग, ऊहापोहों की व्यथामयी व्यर्थता की लाखों लाख शृङ्खलायें आत्मा को उद्वेलित करती हैं । उसी में यह मदहोश रहता है । कभी कृश होता है कभी मल्लों की मांसपेशियों का प्रदर्शक, कभी काला कलूटा और कभी नेत्रोत्सव के आकर्षण का केन्द्र । यह प्रतीतिसिद्ध अर्थ सबमें सर्वत्र सर्वथा चरितार्थ हो रहा है ।

यह आत्मा के स्थौल्य का एक चित्र है । जो माया के फलक पर नियति की तूलिका से उल्लिखित है । इसमें जन्मजन्मान्तरों के रंग की रंगोली है । आवागमन की अभ्यस्त वासनाओं की व्यस्तता है । जीने की सामग्रियों का सामग्रीवाद उसमें तरङ्गित है । इसको सभी भोग रहे हैं । पाठकवर्ग जानता है कि,

---

१. तन्त्रालोक ५/१६, ९/२०५, २३/१९ ।

२. अजडप्रमातृ सिद्धि श्लोक ८० तन्त्रालोक भाग २ पृ० २२६ ।

आकस्मिकगुरुयियासाभक्त्यादिवशोन्नीतशक्तिपातानुसारनिर्वर्त्यमानया दीक्षया–

२. 'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता' ॥

३. इत्याम्नायनिरूपितस्थित्या आणवादिपाशप्रशमनशिवत्वाभिव्यक्तियोग्यतात्मा[1] संस्कारः क्रियते । पाशानां च प्रशमनमचिन्त्यमन्त्रशक्तिवशाद् बीजानामिव पुनः-प्ररोहाधानासामर्थ्यम् ।

यत्तु–

'नालं बीजादिसंसिद्धौ विधिः पुंसामजन्मने ।
तैलाभ्यङ्गाग्निदाहादावपि मुक्तिप्रसङ्गतः' ॥

यह स्वात्म की विडम्बना है पर इसके आडम्बर से जीव मात्र डाकिनी के डिण्डिम सुनते सुनते डवित्थ हो रहा है ।

२– संयोगवश या कि, करुणाकलित, अप्रकल्प्यकृपालु की दृष्टि पड़ जाती है । जीव में सत्तर्क का उदय होता है । उसमें अपने पहचान की चाह की चिनगारियाँ फूटने लगती हैं । उनसे गुरु के द्वार जाने का रास्ता दिखायी पड़ जाता है । उसे गुरु गृह गमन का मार्ग मिल जाता है । गुरु मिल जाता है । कहीं से भक्ति सुधा के विप्रुष् उस पर आ पड़ते हैं । वह आत्मविभोर हो गुरु शरणागत होता है । एक प्रकार की अदृश्य शक्ति का उस पर शक्तिपात होता है । गुरु उसका अनुभव करता है । परमेश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर गुरुदेव उसके स्तर के अनुसार उसे दीक्षा देते हैं । "दीक्षा से ज्ञानसद्भाव उसे प्राप्त कराया जाता है । ज्ञान सद्भाव से उसकी पशुवासना क्षीण हो जाती है । इसी आधार पर दीक्षा के ही अक्षर से दान और 'क्षा' से क्षपण का भावार्थ सिद्ध होता है" ।

३– इस दीक्षा को तन्त्राम्नाय में महत्त्वपूर्ण मोक्ष साधन के रूप में मान्यता प्राप्त है । कहा गया है कि, 'आम्नायवचनं सत्यम्' अर्थात् 'आम्नाय' के वचन सत्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं । १– इसी दीक्षा के तेजप्रताप द्वारा पाशराशि को राख बना देते हैं, अर्थात् पाश का दीक्षा से प्रशमन हो जाता है । २–शिष्य में शिवत्त्व की अभिव्यक्ति हो जाती है । ३–उसमें तादात्म्य समापत्ति की योग्यता आ जाती है । यही आत्मा का संस्कार है । ज्ञान दीक्षा का ही यह सुपरिणाम है । पाश के प्रशमन का तात्पर्य भी यही है कि, अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न, अप्रकल्प्य, वैद्युतिक ऊर्जा से ओतप्रोत मन्त्रों की आँच से बीजों में जमने की क्षमता जाती रहती है । बीज निर्बीज बन जाते हैं । उनमें पुनः प्ररोह का सामर्थ्य नहीं रह जाता । दीक्षा की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

---

१. क. पु. योग्यतात्मनः संस्कार इति पाठः ।

४. इत्युक्तं तैः, तत्तेषामेव उपहास्यतामाविष्करोति–यतः स्थावरजङ्गमकृत्रिमाद्यात्मनो विषस्य स्वकार्यकरणशक्तिप्रशमनं बीजवद्यन्मन्त्रैः क्रियते तत्रापि एतद्वक्तुं प्राप्तम्। अथ तैलाभ्यङ्गादेः बीज एव शक्तिनिरोधकृत्त्वं न तु विशेषकृत्त्वम्, मन्त्राणां तु तत्रापीत्युच्यते, तर्हि अचिन्त्यप्रभावत्वात् तेषां पाशप्रशमनेऽपि सामर्थ्यं किं न सह्यते।

५. अथ दोषाः सबीजसन्ताना दीक्षितेऽपि अनिवारिता दृश्यन्त इति किमस्य मन्त्रैः कृतमित्युच्यते। तदत्रापि उच्यते प्रोक्तपाशशक्तिप्रतिबन्धनं मन्त्रैः क्रियते, अस्य न तु रागद्वेषादिप्रशमनम्। यथा हि

कुछ विचारक निर्बीजता की खिल्ली उड़ाते हैं। वे कहते है कि,

'पुरुष को आवागमन से मुक्त करने के लिये अर्थात् मुक्ति के लिये बीजों की निर्बीजता सिद्धि की बात पर्याप्त नहीं है क्योंकि, इसे मानने पर तैलाभ्यङ्ग और अग्निदाह प्रक्रिया से भी मुक्ति होती है–यह बात माननी पड़ेगी'।

४– आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, ऐसे विचारक स्वयं हँसी के पात्र हैं। वे जानते हैं कि, किसी प्रकार का जहर क्यों न हो, उसके जहरीले प्रभाव का प्रशमन मन्त्रों से हो जाता है। मन्त्रों के प्रभाव से जहर उतर जाता है। इसी तरह बीजों की अङ्कुरण शक्ति का प्रशमन हो जाता है। इसमें आश्चर्य क्या है ?

तैलाभ्यङ्ग आदि से तो मात्र बीज की ही प्ररोहशक्ति का प्रशम होता है। यह कोई उसका विशिष्ट कर्त्तृत्त्व नहीं माना जाता। वहीं मन्त्रों की अचिन्त्य शक्ति बीज प्ररोहप्रशम में भी काम करती है। ऐसी प्रभाववत्ता को पाशों के प्रशमन में प्रभावशाली मानने में ऐसे कुछ विचारकों को क्यों सिर दर्द होने लगता है ?

५– कहने के लिये यह कहा करते हैं कि, दोषों की बीजवत् प्ररोह की परम्परा होती है। ये भी रक्तबीज की तरह बढ़ते हैं। दीक्षित शिष्यों में भी ये बढ़ते हुए पाये जाते हैं। इनका निवारण नहीं हो पाता। यहाँ मन्त्र अपना प्रभाव क्यों नहीं प्रदर्शित कर पाते ? इस पर यह सोचना चाहिये कि, मन्त्र पाशशक्ति का प्रतिरोध करते हैं। वे दोषों का भी प्रशमन करते हैं। जहाँ तक कञ्चुकों का प्रश्न है, राग आदि कञ्चुकों को माया भी हवा देती है। अतः कभी ऐसा घटित होने पर अर्थात् माया भावित कञ्चुकों का प्रशमन होने पर मन्त्रों की अचिन्त्य शक्ति पर प्रश्नचिह्न लगाने की कोई आवश्यकता नहीं।

६. विरूपस्य वैरूप्यमनिवर्त्यापि लोकोत्तररमणीवशीकरणं मन्त्रैः क्रियते, तद्वद्देहारम्भिकर्माशोधनाद् वर्तमानदेहे रागाद्यनिवृत्तावपि भाविप्ररोहप्रतिरोधनं पाशानां कुर्वतां मन्त्राणां किमायातम् । तीव्रतमशक्तिपातपूतानां च दीक्षानन्तरं रागद्वेषादिप्रशमः शतशोऽपि दृश्यते ।

७. सद्योनिर्वाणदीक्षायां च त्रैकालिकपाशशोधनात् तदैव देहादिविगलनं शिवत्वाभिव्यक्तिश्च भवत्येव । शिवत्वाभिव्यक्तावत्र किं प्रमाणमिति चेत्, मन्त्रप्रभावसम्पादिततात्कालिकदेहदर्शनप्रशमनोद्भूतमनुमानं यथा च ।

८. [1]शान्त्याप्यायवशीकारदाहोच्चाटनशोषणमारणादि मन्त्रसामर्थ्याद्भवत्येव तथा दीक्षाफलमपि भवत्येव इति चेतसि निवेश्यताम् । तत्कालमेव दीक्षातः

६– एक आदमी कुरूप है । उसकी कुरूपता को दूर करने के लिये मन्त्र शक्ति का प्रयोग मूर्खता ही है । वहीं अनिन्द्य सौदर्य से समन्वित, आकर्षण शील रमणियों का वशीकरण मन्त्र द्वारा अनायास ही हो जाता है । उसी तरह दोषों का प्रशमन भी होता है । कुछ दोष ऐसे होते हैं, जिनकी परम्परा उनके देहारम्भ के पहले से ही होती है । वे दोष नितान्त अशोधित होते हैं । फलतः अत्यन्त अशुद्ध होते हैं । उनका मन्त्रों से प्रशमन कठिन होता है । मन्त्रों से ऐसे दोषों की निवृत्ति न होने पर भी पाशों का प्रशमन वे करते ही हैं ।

७– ऐसे शिष्य जो तीव्रतम शक्तिपात से पवित्रित हैं, उनके रागद्वेषादि दोषों का प्रशमन आनुपातिक दृष्टि से शतप्रतिशत होता है । सद्योनिर्वाण दीक्षा में तो त्रैकालिक पाशों का शोधन, उसी समय देह का त्याग और शिवत्त्व की अभिव्यक्ति तात्कालिक रूप से प्रत्यक्ष दीख पड़ती है । यह पूछा जा सकता है कि, शिवत्व की अभिव्यक्ति में क्या प्रमाण है ? किन्तु यह प्रश्न दुराग्रहमात्र ही लगता है । क्योंकि, मन्त्र के प्रभाव से तात्कालिक आकृतिसौम्यभाव का दर्शन लोगों को होता है । इसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती । इससे यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि, यह दीक्षा का ही त्वरित प्रभाव है ।

८– मन्त्रों से शान्ति होती है । आप्यायन रूपा तुष्टि होती है । वशीकरण के प्रयोग सफल होते हैं । दाह, उच्चाटन, मारण, मोहन आदि सभी कार्य मन्त्रों की अचिन्त्य अप्रकल्प्य शक्ति के प्रमाण हैं । उसी तरह मान्त्री दीक्षा सर्वदा सफल

---

१. ख. पु. मन्त्राध्यायेति, ग. पु. शान्त्याध्यायेति पाठः ।

शिवत्वाभिव्यक्तिः किं न भवतीति चेत्, प्रकृष्टज्ञानशालिभिः क्रियमाणायां सहस्रशो भवन्ती[1] असावपि दृश्यत एव ।

९. अथोच्यते–नित्यस्यात्मनो दीक्षातः संस्कारोत्पत्तौ संस्कृतत्वासंस्कृतत्वभेदाद् भेदः स्यादिति चेत्, न, तत्तत्प्रतिभासभेदेऽपि अस्याकृतकाहंविमर्शैक्येन एकत्वसिद्धिः दूरासन्नादौ देवकुलादेरिव तद्विमर्शैक्यात् । विमर्शनवशादेव च सर्वव्यवस्था इति प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतम् । एतेन भोक्तृत्वकर्तृत्वाद्यपि अस्य समर्थितमेव, तत्तद्विषयभेदेऽपि आत्माव्यतिरेकेणास्य स्फुरणात् ।

होती है, यह मानने में विरोधी की वैचारिकता व्याकुल क्यों होने लगती है ? उन्हें यह दृढ़ धारणा बना लेनी चाहिये कि, दीक्षा आध्यात्मिक शक्ति से समर्थ एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका जीवन को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है ।

यह पूछना भी बचकाना ही लगता है कि, दीक्षा से सबको तत्काल शिवाभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ? प्रातिभ प्रकर्ष के प्रामाणिक पुरुषों द्वारा तथा प्रज्ञा परिवृढ महान् आचार्यों द्वारा दी गयी दीक्षाओं के इतिहास का स्वाध्याय करना चाहिये, जिन्होंने हजारों हजार शिष्यों को भगवत्तादात्म्य के सामरस्यानन्द से तत्काल अभिषिक्त कर उनको जीवन्मुक्त कर दिया । शङ्कराचार्य और तोटक की कथा तो वर्त्तमान युग का प्रमुख दृष्टान्त ही है ।

९– नित्य आत्मा की दीक्षा उसी अत्मा का संस्कार करती है । संस्कार हो जाने पर संस्कृत आत्माओं का अलग तथा असंस्कृत आत्माओं का एक अलग वर्गीकरण स्वाभाविक प्रतीत हो रहा है । पर ऐसी प्रतीति अबोधतामात्र है । वास्तविकता यह है कि, पारमार्थिक अहंविमर्श उभयत्र विद्यमान है । अतः ऐक्य सिद्धि में कोई अन्तराय नहीं है । जैसे चाहे दूर हों या आसन्न, देव मन्दिर में और उनके ऐक्य विमर्श में कोई अन्तर नहीं होता ।

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में विमर्श की विमृष्टिशक्ति से ही विश्व व्यवस्था आमूल चूल संचालित होती है । अतः विमर्श का ही प्राधान्य इस शास्त्र में स्वीकृत है । इस आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि, समस्त भोक्तृत्व और कर्त्तृत्व आदि उसी पर निर्भर हैं, उसी से समर्थित हैं । विभिन्न विभिन्न विषयगत भेदवादिता में भी आत्मैक्यभाव से विमर्श अनवरत स्फुरित रहता है ।

---

१. क. पु. भवत्यसाविति पाठः ।

१०. यत्तु उक्तमात्मदर्शनं न मुक्तिरपि तु बन्ध इति तच्छरीरप्राणपुर्यष्टक-शून्येष्वनात्मस्वेवमेव । यत्तु सत्यरूपे चिदात्मन्यहंविमर्शपरमार्थतया स्वीकृताशेषज्ञानक्रियापरमार्थे [1]तत्रात्मदर्शनं सैव सत्यतो मुक्तिः । न च केवलमनात्मन्यात्मदर्शनं मिथ्याज्ञानरूपो बन्धो यावदात्मनि अपि पूर्णप्रकाशाहंविमर्शपरमार्थाशेष-विश्वमये विश्वत्रापि च चिदात्मैक्यपरमार्थे यदनात्मतया ज्ञानं तदपि बन्ध एवेति सर्वथा विगलितसंकोचचिदेकघनविश्वैकात्म्यमयशिवत्वाभिव्यक्तिरेव मुक्तिः ।

११. तत्र चाभेदसारं सर्वं ज्ञात्वा समाप्तमेवेति तत्प्राप्त्यर्थमेव दीक्षा-प्रवृत्तिः । तदेवमुक्तनीत्या मलानां भेदेन प्रतिपादितत्वात् पृथग् न तत्संस्कारपक्षः कश्चित्–इत्यात्मन एवोक्तरूपः संस्कारो दीक्षया क्रियते ।

१०– आत्मदर्शन को आत्म साक्षात्कार कहते हैं । अपनी पहचान हो जाये, तो संसार विगलित हो जाये । यही तो वास्तविक मुक्ति है । इसे मुक्ति न मानने वाले अधूरेपन में जीते हैं । बन्ध उनकी घुट्टी में रच पच गया है । शरीर को ही, पुर्यष्टक को ही शून्य और अनात्म को ही वे पहचानते हैं । अतः निर्बन्ध आत्मभाव को वे पहचान नहीं पाते ।

सत्-चित्-रूप आत्मतत्त्व में अहंता का सामरस्य परमार्थतः विमर्श के महारास का ही उल्लास है । सारी ज्ञानशक्ति और सारी क्रियाशक्ति की महा-स्फुरत्ता में 'मदभिन्नमिदं सर्वं' के सन्दर्भ ही प्रतिफलित हैं । यही सच्चा दर्शन है । यही आत्मदर्शन है । यही सच्चे अर्थ में मुक्ति है ।

साधक स्वात्मदर्शन-पारदृश्वा बन जाते हैं । उसके अगल बगल बन्ध का भी बन्दरनाच चलता रहता है पर वह सजग रहता है । अनात्म में आत्मदर्शन और मिथ्या ज्ञान की विजृम्भा बन्ध के ये दो पहलू हैं । इसके साथ ही जब कोई स्वात्म में पूर्ण प्रकाशमय अहंविमर्श की परमार्थसत्ता में अशेष विश्वात्म चिदैक्य परामर्श के विपरीत अनात्मभाव भरी अज्ञानता को ही ज्ञान मानता है, यह उसका दुर्भाग्य ही है । यही बन्ध का भालूभाव है, जो लीला पूर्वक अस्तित्व को ही लील डालता है ।

११– इसलिये साधक को 'सम्बन्धे सावधानता' का आदेश शास्त्र देता है । वह यह जानता है कि, समस्त संकोचों के विगलित हो जाने पर, चिदेक-घन परमेश्वर की साक्षात्कृति और ऐकात्म्यभाव भरित शिवत्व की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है । इस अभेदभाव की भव्यता में सारा विश्व विस्तार स्वात्म में समा जाता है । यही अद्वय परामर्श का पारमार्थिक बोध है । यही मुक्ति है ।

---

१. ख. ग. पु. तत्र तथेति पाठः ।

१२. अद्वयमेवास्य स्वरूपमिति स्वरूपदर्शनाद्वयदर्शनपक्षयोर्नास्ति भेदः । सद्योनिर्वाणदीक्षायां तु अस्य कर्मसुखादिसंविन्निवृत्तिरपि क्रियत इति प्रतिपादितम् । असद्योनिर्वाणदीक्षासु देहारम्भिकर्मशुद्धिर्भगवदाज्ञातो न क्रियते, न तु असामर्थ्यात् । अतोऽत्रापि यदुक्तम्–

'गतिप्रतीत्योः कारणान्याश्रयस्तान्यदृष्टतोऽदृष्टनाशान्न गतिर्दिक्षितस्य' । इति तदपि अदूषणमेव । प्रकृत्यादिविवेकदृष्टिबुद्धिसंस्कारपक्षौ अनभ्युपगमपराहतौ । ततो यदुक्तम्–

इसी मुक्ति की चाहत 'यियासा' कहलाती है । इसी को उपलब्ध होने की लालसामयी प्रवृत्ति ही दीक्षा की प्रवृत्ति है । यही प्रत्यभिज्ञा की नीति है । इसी के अनुसार भेदभाव भिन्न विभिन्न मलों के संस्कार का कोई पक्ष, शास्त्र प्रस्तुत नहीं करता । वह केवल आत्म-संस्कार की बात करता है । आत्मा का ही संस्कार दीक्षा से होता है ।

१२– आत्मा अद्वय स्वरूपवान् है । इसलिये स्वरूप दर्शन में और अद्वय दर्शन में कोई अन्तर नहीं है । सद्योनिर्वाण दीक्षा में इसके कर्मों, सुख दुःखादि भोगों और इनसे सने 'ज्ञान' रूपी अज्ञान की निवृत्ति की जाती है । यह पहले ही कहा गया है । इस दीक्षा के अतिरिक्त सभी दीक्षाओं में देहारम्भि कार्यों को शुद्ध करने की शक्ति रहते हुए भी भगवदाज्ञा के कारण, उनका शोधन नहीं किया जाता ।

असामर्थ्य की बात यहाँ नहीं आती । भगवत् आज्ञा का ही सर्वोपरि महत्त्व है । देहारम्भि कार्यों के कारण तो होते ही हैं । कारणों के अनुसार ही कार्य होते हैं । कभी कभी इसमें भी अन्तर की बात पूर्व पक्ष करता है । जैसे

गति (ज्ञप्ति और प्रसरण) ७/२७ और प्रतीति की बात करें । हमें घट की प्रतीति होती है । प्रतीति का कारण घट की आकृति है । आकृति ही घट की प्रतीति का आश्रय है । वेदान्त तो यहाँ प्रमेय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य की बात कहकर कारण और आश्रय में दिव्यता का आधान कर लेता है, पर बौद्ध बुद्धि का संस्कार नहीं करते । प्रकृति के स्वरूप में विवेक दृष्टि या बुद्धिवाद का प्रयोग उन्हें अमान्य है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कारण रूप देहारम्भिकर्म अदृष्ट हैं । सद्योनिर्वाण दीक्षा के अतिरिक्त दीक्षा की स्थिति में दीक्षित की गति नहीं हो सकती क्योंकि प्रतीति सम्बन्धी एक अदृष्ट से दूसरे अदृष्ट का भी नाश अवश्यम्भावी हो जाता है । इसलिये असद्योनिर्वाण दीक्षा से दीक्षित की गति नहीं हो सकती । सद्योनिर्वाण दीक्षा से दीक्षित की गति तो निश्चित है ।

'धारणप्रेरणक्षोभनिरोधाश्च तेनावशाः ।
न स्युस्तेषामसामर्थ्ये तस्या दीक्षाद्यनन्तरम्' ॥

१३. इति, तददूषणमेव । यदुक्तं पापस्य गुरुत्वाभावात् प्रत्ययवती तुलादीक्षा[१] नोपपद्यत इति, तदविदिताभिप्रायतया न सम्यक्, यतस्तमोमयपापावृत्तिहेतुकं देहे गुरुत्वं तुलादीक्षया घटशुद्धिवत् कारणनिवृत्तिद्वारेण निवर्त्यते । तथा च स्मृतिकारः–

'अधर्मात्तमसो देहे गुरुत्वं यत्क्षयोऽस्य तु ।
धर्मतो लघुतोत्पादाद्घटतः संप्रतीयते[२]' ॥ इति ।

इस कथन में वास्तविकता है । इसमें कोई दूषण प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः प्रकृति की संरचना में बुद्धि संस्कार और विवेक दृष्टि के पक्ष अभ्युपगम रहित अतएव अमान्य हैं । जहाँ तक धारण, प्रेरण, क्षोभ और विरोध की बात है, इन स्वाभाविक क्रियाओं से सभी अवश होते हैं अर्थात् परतन्त्र होते हैं । देहारम्भि कार्यों में भी सभी अवश होते हैं । पर उनके असामर्थ्य में दीक्षा के द्वारा उनकी गति हो जाती है । यह बात भी मान्य ही है ।

१३– इसमें भी कोई दूषण नहीं है । क्योंकि दीक्षित के लिये शुद्ध संवित्तत्त्व ही कारण भी होता है आश्रय भी होता है । अतः अद्वय दर्शन का ही समर्थन इससे हो जाता है । एक बात और, पाप भारी नहीं होता । गुरुत्वाभाव के कारण प्रत्ययवती तुला दीक्षा बेकार है । यह बौद्ध मान्यता है । लगता है बौद्ध इसके अभिप्राय नहीं समझ सके । वस्तुतः देह में गुरुत्व तमोमय पाप के आवरण के कारण होता है । तुला दीक्षा से घट शुद्धि की तरह कारण निवृत्ति से गुरुत्वमय पाप भार की निवृत्ति हो जाती है । धर्मशास्त्रकार कहते हैं कि,

'अधर्म रूप तामस भाव से शरीर भी तामस प्रभाव से भरा रहता है । यह तामसिकता ही बोझ है । गुरुत्व है । भारीपना है । इसका क्षय आवश्यक है । यह धर्मशास्त्र कहता है । इसका उपाय धर्म है । धर्म से यह हल्का हो जाता है । इसका बोझ समाप्त हो जाता है । भारवत्ता धर्माचरण से उत्पन्न ही नहीं होती विनाश अधर्म से ही होता है । तुला दीक्षा तन्त्रस्वीकृत धर्म ही है ।

---

१. क. पु. तु कलादीक्षेति पाठः ।
२. क. पु. संप्रजायते इति पाठः ।

१४. तथैवैतत् । यत्पुनरुक्तमनायातशक्तिपातस्य दीक्ष्यत्वाभावात् शक्तिपातवत एव दीक्षा, शक्तिपातो मलक्षयात्, स च शक्तिपातादितीतरेतराश्रयः, अक्षीणमलस्य शक्तिपाते सर्वस्यासौ स्यात्, अथ मलक्षयस्य शक्तिपातादन्यो हेतुः कश्चित् स एव तर्हि शक्तिपाते हेतुरस्तु किं मलक्षयेणेति । सत्यमेतत्, किन्तु निरर्गलपारमेशविचित्रशक्तिपातवतो दीक्ष्यत्वमस्माभिरिष्यते, न तु मलपरिपाकादियुक्तस्येति न कश्चिदुक्तचोद्यावस्करसंस्पर्श इत्युपपन्नमेव दीक्षयात्मसंस्करणम् ।

१५. अपि च सकलव्यवहारप्राणितभूतसर्वाभ्युपगमाविगीतप्रसिद्धिसिद्धसर्वज्ञमहेश्वरप्रणीतत्वप्रतीतप्रामाण्ये प्रेक्षापूर्वकार्याचार्यपरम्परानुष्ठीयमानानुष्ठानप्रकटिततत्तत्सर्वनिर्वाणाद्याप्यायनादिनानाफललब्धसंवादे पारमेश्वरे शास्त्रे यद्यथाभिधीयते तत्तथैव । ततश्च यदुक्तम्–

१४– सदा छोटी छोटी विप्रतिपत्तियाँ प्रतिपक्षी उठाते ही रहते हैं । एक ऐसी ही बाल बुद्धि की बात एक व्यक्ति कहने लगा । जो व्यक्ति अनायात शक्तिपात होता है, वह दीक्ष्य नहीं हो सकता । शक्तिपात पवित्रित शिष्य को ही दीक्षा देनी चाहिये । मलक्षयोपरान्त ही शक्तिपात करते हैं । इसमें इतरेतराश्रय दोष होता है । शक्तिपात से मलक्षय एवं मलक्षय से शक्तिपात । इस दोष का निवारण नहीं किया जा सकता । अक्षीणमल पर शक्तिपात करने पर यह सबको सुलभ हो जायेगा ।

मलक्षय के अतिरिक्त शक्तिपात का कोई दूसरा कारण मिल सके तो शक्तिपात का वही हेतु मान लेना उचित है । मलक्षय न हो तो मत हो, शक्तिपात तो हो जाय । इस बात का क्या जवाब दिया जाय ? वास्तविकता यह है कि, निर्बन्ध रूप से फलित, अच्छी तरह शक्तिपात से पवित्रित दीक्ष्य ही दीक्षा के योग्य माना जाता है । मल आदि कालुष्य से कदर्थित शिष्य दीक्षा योग्य नहीं माना जाता । इस प्रकार के शिष्य जिनमें मायीय अवस्कर (गर्द गुब्बार या मल) के संस्पर्श के दोष होते हैं, उनकी दीक्षा नहीं होती । इससे यही निष्कर्ष निकालना चाहिये कि, आत्म संस्कार करने वाली पद्धति दीक्षा ही है । आत्म संस्कार होने पर शक्तिपात के मार्ग प्रशस्त हो जाते हैं । एक प्रकार से इसे लक्ष्य का नवलनूतन मार्ग ही मान लेना चाहिये । इस तरह प्रतिपक्ष भी पूरी तरह सन्तुष्ट होता है । यह भी एक अच्छी बात है ।

१५– इस तरह प्रत्येक दृष्टिकोण से यह सिद्ध हो जाता है कि, पारमेश्वर शास्त्र में जो बात जिस तरह कही जाती है, वही उसकी कसौटी बन जाती है और सारी बात प्रामाणिक कसौटी पर कसी सिद्ध हो जाती है । यह शास्त्र विश्व के व्यवहारवाद में प्राणिमात्र की कल्याण कामना करता है । वही बात कहता है,

'आगमस्य तथाभावनिबन्धनमपश्यताम् ।
मुक्तिरागममार्गेण वदनपरितोषकृत्' ॥

१६. इति, तदसदेव । यत्पुनः-

'तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम् ।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः' ॥

इत्युक्त्या आत्मदृष्टेरहन्ताविकल्पवासनामूलत्वमुक्तम्, तत्प्रतारणमात्रमेव, यतः शिरोनिर्देशप्रख्याकृतकाहंविमर्शमयत्वमात्मन्यङ्गुलिनिर्देशप्रख्यासांकेतिकेदंविमृश्यत्वमिव विषयेषु स्वसंवेदनेन प्रतीयत एव, अन्यथा प्रथमसंकेतग्रहणमेव न कस्यापि घटेत ।

जो सबको अभ्युपगत हो, अविगीत हो, प्रसिद्धि से सिद्ध हो, सर्वज्ञ महेश्वर के मुखारविन्द का मकरन्द हो और ईश्वरवाक् से उसका प्रामाण्य प्रतीत हो ।

सूक्ष्म स्वात्मनिरीक्षण के उपरान्त पूर्वाचार्यों द्वारा आचरित हो, परम्परा से अनुष्ठीयमान हो, अनुष्ठान रूप से अनुष्ठित होती हो, पद पद पर उससे यह प्रकटित हो रहा हो कि, यह निर्वाणप्रद मार्ग है । यह विश्व का आप्यायन करने में सर्वथा समर्थ हो, नाना प्रकार के सुपरिणामों का प्रतीक हो और उसका इतिहास साक्षी हो । ऐसे इस परम पावन पारमेश्वर मार्ग में सारी जिज्ञासाओं का अनायास ही समाधान हो जाता है ।

जो कहा गया है कि, 'आगम में निहित अप्रकल्य रूप से सत्य और तथ्य के निबन्धन को जो लोग पहचान नहीं पाते, उनकी मुक्ति भी आगम के मार्ग पर चलने से हो सकती है । यह बात केवल उनके परितोष मात्र के लिये ही हो सकती है'' । यह बात सही नहीं है । आगममार्ग के अहं विमर्शरूप स्वात्म संवेदन से ही उनकी मुक्ति सम्भव है । यह निश्चित है ।

१६- कुछ लोग ऐसे ही कुछ का कुछ कहते रहते हैं । यह उनका स्वभाव सा हो जाता है । एक ऐसे ही पुरुष ने यह कहने का साहस किया कि, 'ऐ मुमुक्षुओं, अनादि परम्परा से आने वाली तुल्य पारम्परिक जातीय मूल बीजों से भरी हुई, जिसे कुछ सीमित लोग सत्त्व दृष्टि मानते हैं, उसे उखाड़ फेंको' ।

इस कथन के मूल में उसकी अपनी स्वयं की दृष्टि है । उसकी अपनी अहन्ता में वासना का विकल्प है । एक तरह वह अपनी ही प्रतारणा पर उतर आया है । इन बातों पर कत्तई ध्यान नहीं देना चाहिये । स्वाभाविक अहमात्मक विमर्श की ओर स्वयम् अङ्गुलि उठा कर यह कहना कि, यह असांकेतिक

१७. नन्वहंप्रतीतेर्विकल्पवासनामूलत्वमुक्तं तत् कथम् ? यतो यो विकल्पो ज्ञानसंतानमहन्तयाभिमन्यते स किं स्वात्मनो भेदेन तं तथाध्यवस्यति स्वात्माभेदेन वा । भेदपक्षे इदमिति ज्ञानसंतानस्याध्यवसाय: स्यात्, न तु अहमिति । अभेदपक्षे तु विकल्पस्य स्वात्मापि विकल्प: प्रोक्त: न च तद्युक्तं स्वात्मन्यविकल्पकत्वाद्विकल्पानाम् । अथ विकल्प: स्वात्मनो ज्ञानान्तरै: सह भेदं नाध्यवस्यति, न त्वभेदमध्यवस्यतीत्युच्यते, तर्हि अध्यवसाये प्रतिषेध: पतित इत्यनध्यवसायव्यापार एष स्यात् ।

इदमात्मक विमर्श है, यह नितान्त अव्यावहारिक है । सब दृष्टि को नकारने की तरह की यह बात है । अत: नितान्त अमान्य है ।

समस्त विषयों में अहं विमर्श की विषयता स्वत: उल्लसित रहती है । इसकी प्रतीति स्वसंवेदन से ही होती है । अन्यथा प्राथमिक संकेत ग्रहण क्रिया किसी को घटित ही न हो ।

१७– अहं प्रतीति विषयक वैमत्य की चर्चा पूर्वोत्तर पक्ष के रूप में कर रहे हैं । अहं प्रतीति क्या विकल्प वासना मूलक है ? यदि है, तो कैसे ? विकल्प स्फुरित हुआ । उसने ज्ञान की धारा को अपने में पाया । अपना माना । इस मानने की अवस्था में वह ज्ञानसंतान को स्वात्म से भेद पूर्वक देखता है या अपने से अभेद भाव से ? भेद और अभेद भाव विकल्प के ही विमर्श हैं ।

भेदपक्ष में ज्ञान संतान 'इदं रूप में अध्यवसित होगा । अभेद पक्ष में विकल्प का स्वात्म भी विकल्प रूप ही होगा किन्तु विकल्प जब स्वात्म का प्रकल्पन करेगा, तो अविकल्प रूप से करेगा ? यह सोचने की बात है ।

विकल्प स्वयं विकल्पात्मक है । जब वह किसी ज्ञान से रूबरू होता है, तो स्वात्म से भेद का अध्यवसाय नहीं करता अथवा अभेद का भी अध्यवसाय नहीं करता । इस अनिश्चय में स्वाभाविक रूप से अध्यवसाय में प्रतिषेध आपतित होता है । इसे क्या कहा जाय ? विकल्प में यहाँ मानवीकरण है । विकल्प वस्तुत: कुछ नहीं करता । विचारक की बुद्धि की उठापटक को विकल्प कहते हैं । विकल्प के विषय में इस तरह अध्यवसाय अनध्यवसाय की बात करने से आत्मा के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता । यह विकल्प विलास मात्र है ।

विकल्प आत्म ज्ञान और ज्ञानान्तर इन दोनों के भेद का अध्यवसाय न करते हुए भी अवान्तर ज्ञानों से अभेदाध्यवसाय करता है । ऐसी अवस्था में जिस आत्मा के साथ जिन ज्ञानों के भेद का निश्चय नहीं किया गया, उनके अभेदाध्यवसाय में उसकी आत्मा का अभेदाध्यवसाय भी प्राप्त हो जाता है ।

१८. अथात्मनो ज्ञानान्तरैः सह भेदमनध्यवस्यन्नवान्तराणि अभेदेनाध्यवस्यति, तर्हि येनात्मना सह येषां ज्ञानानां भेदो नाध्यवसितः, तेषामभेदाध्यवसाये तस्यात्मनोऽपि अभेदाध्यवसायः प्राप्तः, आत्मवद्वा तेषामपि अप्राप्तः, अन्यथात्मना सह कस्तेषां भेदः ? न अध्यवसायः, भेदाध्यवसाय एव हि अयमित्थं स्यात् । किञ्च, अनुभवसंस्कारो[1]त्थमात्मनो रूपवैचित्र्यमनुभवतापि विकल्पेन निवृत्तपूर्वाणि अनुभवान्तराणि अवसातुं शक्यन्ते, तत्रास्य नारिकेलद्वीपनिवासितुल्यत्वात् ।

१९. न चास्य प्रकाशातिरिक्तोऽध्यवसायसमारोपाभिमाननिश्चयादिपदवाच्याभिप्रायेणाभेदवाच्यः कश्चिदन्यो व्यापारो व्यवस्थापकः परदर्शने संगच्छत इत्यास्तामतिगहनमेतत्प्रत्यभिज्ञायां विततमस्तीह तु प्रतन्यमानं सुकुमारहृदयानायासयेत् । तत्स्थितमेतत् [2]तत्तदाभासभेदेऽपि अकृतकाहंविमर्शसिद्धैक्यपरमार्थोऽयमात्मा इति ।

इसी तरह आत्मवत् अवान्तरों के साथ अभेद नहीं भी प्राप्त होता है । अन्यथा आत्मा के साथ उनके भेद की बात ही नहीं उठ सकती और यह अध्यवसाय भी भेदाध्यवसाय के अतिरिक्त कुछ नहीं होता । यह सारा उक्त प्रकल्प भेदाध्यवसाय का ही उल्लास है ।

१८– इसके अतिरिक्त भी अनुभवों के अनन्त संस्कारों से उत्पन्न आत्मा सम्बन्धी अनन्त रूप वैचित्र्यों के अनुभव कर्त्ता के द्वारा विकल्पों के माध्यम से पूर्व निवृत्त अनुभवान्तर अवसित किये जा सकते हैं । ये अनुभवान्तर भेदाध्यवसाय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं । इनके विषय में इस प्रकार वाद नारिकेल द्वीप निवासियों की तरह होती है, जो नारिकेल के अवान्तर अध्यवसायों में ही सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं ।

१९– धर्म कीर्त्ति के मत की सारी विप्रपत्तिमयी विचिकित्साओं की प्रात्यभिज्ञयुक्तियों से चिकित्सा करने के बाद आचार्य क्षेमराज षडध्व–दर्शन की मान्यताओं को संक्षेप में आसूत्रित करते हुए कह रहे हैं कि, इस दर्शन की दृष्टि के अनुसार आत्मतत्त्व प्रकाश के अतिरिक्त विमृष्ट नहीं होता । किसी अन्य अध्यवसाय के समारोप के अभिमान का निश्चय यहाँ नहीं किया जा सकता । अथवा अध्यवसाय, आरोप या अभिमान आदि पदों के वाच्यार्थ के अनुसार किसी अभिप्राय से अभेदार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता । प्रकाश-विमर्श के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार इस परात्पर दर्शन का व्यवस्थापक नहीं बन सकता ।

---

१. ख. पु. संस्कारोद्गमादिति पाठः । २. ख. ग. तत्तदसदाभासभेदेति पाठः ।

२०. ननु च श्रीमत्खेटपालाचार्येण मलपरिपाकहेतुकः शक्तिपातोऽभ्युपगतः स्वन्त्रशक्तिपातपक्षश्च दूषितः, तत्कथं स्वतन्त्रशक्तिपातपक्षाश्रयणेनैतत्प्रति-समाहितम् ।

अत्रोच्यते– अत्रार्थे यदि विविदिषास्ति तदेतदपि निर्णीयते । श्रूयताम्–

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।

तुषकम्बुकवज्ज्ञेयं मायाजमङ्कुरस्य तु' ॥

१. इति श्रीस्वायंभुवसूत्रे मल इति पुंसामिति चोक्तिपर्यालोचनया एकोऽप्यसौ बहुशक्तिकः, अन्यथा बह्वावारकत्वमस्य न घटते, एकमुक्तौ च सर्वे मुच्येरन्,

---

आचार्य कह रहे हैं कि, यह विषय अतिरहस्यमय है । अत एव बड़ा गहन है । स्वात्म प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही विस्तार पूर्वक समझने योग्य है । मैंने धर्मकीर्त्ति की अस्वीकरणीय मतवादिता के विरुद्ध यहाँ तन्त्र को कुछ तन्यमान किया है । मुझे सुकुमारमति सहृदयहृदय प्रियजनों का ध्यान है । उन्हें आयास न पहुँचे, इस भावना से इसे यहीं समाप्त कर यह कहना चाहता हूँ कि, यह विश्व ही विभिन्न अवभासों की आकर्षणमयी लीला का भेदात्मक विभव है । इसके इस द्वैत को अद्वैत के अमृत से सींचते हैं । अकृत्रिम अहंविमर्श सिद्ध चिदैक्य रूप में चरितार्थ होने वाला यह आत्मतत्त्व ही परमार्थतत्त्व है ।

२०– शक्तिपात सम्बन्धी यहाँ एक अलग मतवाद की चर्चा कर रहे हैं । आचार्य क्षेमराज के समय आचार्य श्री खेटपाल नामक विद्वान् प्रसिद्धि के शिखर पर विद्यमान प्रज्ञापुरुष थे । शक्तिपात के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये थे । आचार्य क्षेमराज उनसे सहमत नहीं हैं । विवाद के इस विषय की अवतारणा यहाँ की जा रही है–

प्रश्न उपस्थित होता है कि, शक्तिपात क्यों ? किस उद्देश्य से शक्तिपात किया जाता है । आचार्य खेटपाल का मत है कि, 'मलपरिपाक हेतुकः शक्ति-पातः' । इसके साथ ही उन्होंने 'स्वतन्त्रः शक्तिपातः' इस पक्ष को दोषपूर्ण कहा है । आचार्य क्षेमराज स्वतन्त्र शक्तिपात के पक्षधर हैं । अतः इन्होंने 'मलपरि-पाकहेतुकः पक्षपातः का खण्डन किया है । विवाद के इस विषय को स्वाध्याय शील अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१– स्वायंभुव सूत्र में 'मल' के विषय में एक उक्ति इस प्रकार है–

"मल अनादि होता है । यही पुरुषों का पशुत्व है, यह कहा जाता है । इसे तुषकम्बुक के समान जानना चाहिये । अङ्कुर की मायाजन्य महिमा के समान ही यह है" ।

कर्मभिश्च सह परिणमति अमिश्रस्य परिणामायोगात् । परिणमंश्च कालविशेषात् कश्चित्प्रति कथञ्चित् तीव्रमध्यादिभेदाद् यदा परिपच्यते तदा पुंसां कर्मपरिपाकमिवापेक्ष्य शक्तिपातं करोति महेश्वरः, यावच्च मलस्य परिपाको न जातः, तावत् तत्पुंबन्धकत्वेनैव तं परिणमयति, यदा तु कृतकार्यत्वादात्मनि पक्वं पश्यति स्वशक्तिपातान्मलशक्तिं निरुणद्धि असौ । यथा च स्वतन्त्रशक्तिपातवादिपक्षे प्रतिपुरुषं किञ्चिदेव कर्म कदाचिदेव देवः परिपाच्य भोगयोग्यं करोति, न तु सर्वान्प्रति सर्वं युगपत्, तत्त्वानि च नियतकार्यकारणभावभाञ्जि दर्शयति, मायाप्रकृत्यादि च स्वापप्रबोधयोरौचित्येन परिणमयतीति नास्य सर्वत्राविशेषेण कर्तृत्वम्, तथा मल-

---

इस श्लोक के मल और पुरुष ये शब्द विचारणीय हैं । मल एक ही है किन्तु अनन्त पुरुषों को प्रभावित करता है । इससे यह प्रतीत होता है कि, अ–यह अत्यन्त शक्तिमन्त तत्त्व है । यदि ऐसा न होता तो, बहुतों को अपना शिकार केसे बना पाता ?

आ– एक की मुक्ति में उसके द्वारा सभी मुक्त हो जाते ।

इ– मल कर्मों के साथ परिणत होता है । यह बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि, अमिश्र पदार्थ की दूसरे के साथ परिणति असम्भव है ।

ई– यह समय विशेष से प्रभावित जानकर उसका परिपाक माना भी जाय, तो यह तीन तरह से समाप्त होगा । १-तीव्ररूप से, २-मध्य रूप से और ३-मन्द रूप से । उस समय मनुष्य के कर्म परिपाक की दशा के समान भगवान् महेश्वर उस पर शक्तिपात करते हैं ।

उ– जब तक मल का परिपाक नहीं हो पाता, तब तक वह पुरुष का आवारक बना रहता है । बन्धक दशा में ही उसका परिपाक पुरुष करता रहता है ।

ऊ– जब इस परिपाक में पुरुष कृतकार्य हो जाता है और अपने में मल के परिपाक होने का अनुभव कर लेता है, उस समय अपने ऊपर शक्तिपात का अनुभव कर मल की शक्ति को अवरुद्ध कर लेता है ।

ऋ– स्वतन्त्र शक्तिपात सिद्धान्त मतवाद के अनुसार प्रति पुरुष कदाचित् देव महेश्वर कुछ कुछ कर्मों को पक्व कर भोगयोग्य करते हैं । सबके प्रति युगपत् यह संभव नहीं होता । इसी तरह नियत कार्यकरण भाव के अनुसार ही तत्त्वदर्शन के योग्य बनाता है ।

परिपाकपक्षेऽपीति कर्मणो मलस्य च विचित्रं परिपाकमपेक्ष्यनिग्रहानुग्रहौ पुंसां करोति परमेश्वरः, न त्वेवमेव तस्याप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गादिति तावच्छ्रीमत्खेटपालाचार्यमतम् ।

यदाह भोगकारिकासु–

२. 'अनाद्यनादिसंबद्धो[१] मलः साधारणोऽक्षयः ।
प्रतिपुंनियतस्वस्वकालव्यापृतशक्तिकः' ।। इति ।

तथा–

'मुक्त्वा निरोधिकाः शक्तीर्नान्यो धर्मोऽस्य विद्यते ।
कर्माशयसमेतस्य हेतुत्वं च भवार्णवे' ।। इति ।

ऋ– माया और प्रकृति को सुषुप्ति और जागृति के औचित्य के अनुसार परिगणित करता है । इससे यह पता चलता है कि, उसका कर्तृत्व सर्वत्र समान रूप से काम नहीं करता ।

ऌ– मल परिपाक पक्ष में भी कर्म और मल के विचित्र परिपाक को दृष्टि में रखकर ही परमेश्वर पुरुषों का निग्रह या उन पर अनुग्रह करता है । यों ही निरपेक्ष भाव से नहीं करता रहता । अन्यथा उस पर अपेक्षा पूर्वक करने का दोष लग सकता है ।

२–ये आचार्य खेटपाल के मन्तव्य हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थ भोगकारिका में लिखा है–

'अनादि और अनादि से सम्बन्ध मल सामान्य भले लगे पर यह अक्षय वस्तु है । यह प्रतिपुरुष नियत है और समय समय पर अपनी व्यापक व्यापृत शक्ति का प्रभाव प्रदर्शित करता है' ।

इसी तरह एक दूसरी कारिका में कहते हैं–

'समस्त निरोधिका शक्तियों का त्याग करने के अतिरिक्त इसका कोई और धर्म ही नहीं । भवार्णव अर्थात् संसार समुद्र में डूबने उतराने में इसकी और कर्माशय की कारणता नहीं मानी जा सकती' ।

इस तरह मल स्वकालव्यापृतशक्तिक रूप से मान्य है । अतः स्वतन्त्र है । स्वतन्त्रतापूर्व बन्धनप्रद है । इस मान्यता के अनुसार मल शिवरूप मुक्ताणु पुरुषों के प्रति भी बन्धप्रदत्व का अधिकारी मान्य हो जाता है ।

---

१. क. पु. संबन्ध इति पाठः ।

तदत्र यदि स्वातन्त्र्यान्मलो बन्धकः शिवमुक्ताणून् प्रत्यपि स्यात् । अथ शिवेच्छा(तः) तच्छिवस्य वीतरागद्वेषत्वाद् मुक्ताणून् प्रत्यपि मलशक्तिप्रेरकत्वं स्यात् । तेषां स्वस्वरूपाभिव्यक्तेर्न तथा इति चेत्, नेतरेषामपि स्वस्वरूपस्य तथात्वात् । अनादिमलनिरोधान्न तथात्वमित्ययुक्तं तन्निरोधस्यैव विचारयितुं प्रकान्तत्वात् ।

३. यदि चानादिर्निरोधः, कृतं शिवशक्त्यधिष्ठानेन[१] । तदपि अनादि चेत्, किमुभाभ्याम् ? मलशक्तिकृतनिरोधस्यानादित्वमात्रेणैव सुलभेनोत्तरेण नियतपुंविषयत्वमुच्यताम् । एवमस्तु इति चेन्न, शिवस्य सर्वत्राधिष्ठातृत्वं स्यात्, ततश्च–

'मलसंसर्गात्तद्वत्तेषामकृतो हि शिववशीकारः ।
पत्युस्त्वेते रोध्या..........................' ॥ (त०त्र०नि०का० ९)

स्वतन्त्रता शिव का गुण है । मल भी स्वतन्त्र है–यह आप कह रहे हैं । शिव वीतरागद्वेष परमतत्त्व रूप है । तो क्या स्वातन्त्र्य रूपी इच्छा से ही मुक्ताणुओं के प्रति मलशक्ति का प्रेरकत्व माना जाय ?

किन्तु मुक्ताणु पुरुषों को स्वात्म स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है । अतः उनमें मलशक्ति प्रेरित नहीं की जा सकती । मुक्ताणुओं के अतिरिक्त भी बहुत से लोगों को स्वरूप की अभिव्यक्ति होती ही है ।

अनादिमल के निरोध के कारण ऐसा नहीं हो सकता । यदि यह कहें, तंब तो बात अपनी तह तक ही पहुँच गयी । वस्तुतः अनादि मल का निरोध ही तो यहा प्रकान्त विषय है । इसी का तो विचार करना है !

३– यदि अनादि निरोध है, तो शिवशक्ति के अधिष्ठान पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है । यदि यह कहें कि, यह अधिष्ठान भी अनादि है तो और भी गड़बड़ी बन आती है । इन दोनों की मान्यता स्वयं विवाद का विषय बन जायेगी । मलशक्ति कृत निरोध के अनादित्व मात्र से उसकी नियत पुंविषयता सिद्ध हो जाती है । वास्तविकता क्या है ? यह सोचने पर उक्त सभी ऊहापोह व्यर्थ लगते हैं । सबसे मौलिक बात शिव के सार्वत्रिक अधिष्ठान की है । वही अधिष्ठाता है ।

ऐसी स्थिति में यह क्यों कहा गया है कि, 'मल के संसर्ग से उनका शिव वशीकार अकृत अर्थात् अधूरा ही समझा जाना चाहिये । वस्तुतः ये सर्वदा

---

१. क. पु. शक्त्यनिरोधस्याधिष्ठानेति पाठः ।

इति किमर्थुक्तम्। अत एव शिवस्य मलशक्त्यधिष्ठातृत्वमपीष्यत इति चेत्सत्यम्, इष्यते, न तु सिद्ध्यति, द्वयोरनादित्वेनान्वयव्यतिरेकाभावातद्व प्रयोजन-मात्रवशेन च भावव्यवस्थानुपपत्तेः । अस्तु, नैवं तथापि यान् प्रति निरोधाय शिवो मलं प्रयुङ्क्ते, ते शिवतुल्यत्वाद् बहुत्वाच्च प्रत्युत शिवमेव प्रति तं प्रयुञ्जीरन् भूयसामेकापेक्षया सामर्थ्यातिशयात्। किञ्च, मलशक्तिर्यादि सन्निधिमात्रेण निरोधिका तच्छिवमुक्ताणून् प्रत्यपि स्यात् ।

४. अथ ज्ञातृत्वकर्तृत्वात्मकस्वरूपावारकत्वेन, तर्हि आत्मनां विकारिता प्राप्ता स्वरूपनाशो वा तेषां तदतिरिक्तस्य धर्मिरूपस्य वैशेषिक इव शैवेऽनभ्युपगमात्। न च मूर्तेन मलेनात्मनाममूर्तचित्स्वरूपाणामावरणं घटते। चक्षुःसूर्यादि-रश्मीनां तु भौतिकत्वात् पटलादिभिस्तद्युज्यत एव। यदपि मद्यविषादेर्जीवं प्रत्यावारकत्वं तत्सिद्धसंकोचं प्राणादिमयं प्रति न शुद्धचिदात्मानम्।

रोध्य अर्थात् निराकरण के ही योग्य हैं। कभी भी इनका संसर्ग नहीं होना चाहिये'।

यदि शिव ही सबके अधिष्ठाता हैं, तब तो शिव मलशक्ति के भी अधिष्ठाता हैं, यह भी सिद्ध हो जायेगा। यह कहना उचित नहीं। इस उक्ति के बदले यही कहना सच है कि, वह सबका अधिष्ठाता है, तो सबके अन्तर्गत मल भी अन्तर्भूत है ही। यहाँ भी एक जिज्ञासा बनी ही रहती है। वस्तुतः मल भी अनादि और शिव भी अनादि। इन दोनों में अन्वय व्यतिरेक दृष्टि लागू नहीं होती। किसी प्रयोजन मात्र से किसी भाव की व्यवस्था नहीं की जा सकती।

जो कुछ भी हो, शिव जिसके प्रति मल को निरोध करने के लिये प्रयुक्त करते हैं, वे तो स्वयं शिवतुल्य होते हैं। साथ ही अनन्त भी होते हैं। एक तरह से शिव के प्रति ही मल प्रयुक्त होते हैं। एक की अपेक्षा बहुत शक्तिमन्त होते ही हैं, इस सम्बन्ध में नयी जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है कि, मलशक्ति यदि सन्निधि मात्र से निरोधिका है, तो यह मुक्ताणु पुरुषों पर भी अपना प्रभाव अनायास डाल सकती है।

४- यह प्रश्न यहीं समाप्त नहीं होता। ज्ञातृत्व और कर्त्तृत्व ये दोनों ही आवृत्त हो जाते हैं। मल दोनों का आवारक है। अतः आत्माओं की विकारिता स्वाभाविक हो जाती है। इससे आत्मस्वरूप का भी नाश होता है। आत्मा के धर्मिरूप का वैशेषिक दृष्टि से ज्ञातृत्व और कर्त्तृत्व के अतिरिक्त शैव धर्मिरूप का अभ्युपगम नहीं होता।

मलसंकोच एव तु अयं प्राथमिको विचार्यो वर्तते इति स कथं शुद्धचिदात्मन आवारकः स्यात् । प्रत्युत वरा-(रणा)यायातो मलोऽस्य वेद्यः स्यादिति सर्वः सर्वज्ञो भवेत् । मलश्च यद्यव्यापाकस्तदस्य व्यापकात्मावारकता न स्यात् । व्यापकत्वे तु शिवमुक्ताणूनपि आवृणुयात्तेषां जीवानां च सर्वदेशाक्रान्त्यात्मनो व्यापकत्वस्याविशेषात्तस्य च प्रत्यंशं व्यापकेन मलेनाच्छादनात् ।

५. आत्ममलयोश्च न संयोगः सम्बन्धस्तस्य व्याप्यवृत्तित्वात् तयोश्च व्यापकत्वात्, न समवायो नित्यद्रव्ययोस्त[१]दयोगात् । अत एव न कार्यकारण-भावः । नापि तादात्म्यं भिन्नत्वात् । आवार्यावारकतापि घटपटादौ न संयोगाद्

मल वस्तुतः अपेक्षाकृत स्थूल सृष्टि है । यह अमूर्तचित्स्वरूप का आवारक कैसे हो सकता है ।

चक्षु और सूर्यादि की रश्मियाँ भी भौतिक ही होती हैं । इसीलिये नेत्र पटल से आवारकत्व सरल है और युक्तियुक्त भी है । यद्यपि विष और मद्य जीव के आवारक हैं । फिर भी संकोचों को अतिक्रान्त करने वाले सिद्ध साधकों पर, प्राण आदि मय शुद्ध चिदात्म पर इनका आवारकत्व असिद्ध है ।

वस्तुतः इस उलझे हुए विषय को समझने की बहुत जरूरत है । इस तरह के निकृष्ट वस्तु द्वारा शुद्धचिदात्मक आत्मत्व को आवृत कर आवारक बन जाना कैसे सम्भव है ? इसे तो इनका वेद्य है, यही कहना चाहिये । वेद्य का ज्ञान सबको होगा तो सभी सर्वज्ञ भी कहे जा सकते हैं ।

मल यदि अव्यापक है, तो यह व्यापक आत्मा का आवारक नहीं हो सकता । इसे व्यापक मानने पर यह शिव और मुक्ताणु पुरुषों को आवृत करने वाला है, यह मानना पड़ेगा । ऐसे मुक्त जीवों की सार्वत्रिक आक्रान्ति स्वाभाविक होती है । आत्मतत्त्व तो व्यापक होता ही है । यह सामान्य सिद्धान्त है ।

मल के व्यापक मानने का यह सबसे बड़ा दोष यह है कि, यह मुक्ताणु जीवों के प्रत्यंश का आवारक हो जायेगा ।

५– आत्मतत्त्व और मल का परस्पर संयोग सम्बन्ध नहीं होता । संयोग व्याप्य वृत्ति विषयक होता है । और ये दोनों व्यापक हैं । इनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं है । नित्य द्रव्य रूप इन दोनों में समवायत्व का अभाव है । इसी तरह इनमें कार्य कारण भाव सम्बन्ध भी नहीं बनता । भिन्न होने के कारण तादात्म्य भी सिद्ध नहीं हो सकता । आवार्य और आवरकता भी नहीं होती । घट और पट में संयोग से होती है, वही यहाँ व्यतिरिक्त होती है ।

---

१. क. पु. तथायोगादिति पाठः ।

व्यतिरिक्ता भवितुमर्हति । किञ्च, मलस्य नित्यत्वं व्यापकत्वमेकत्वमनेकशक्तित्वं शिवस्वभावात्मदृक्क्रियानिरोधनेनैतन्निरोधपरिपचने च स्वातन्त्र्यम्, शिवस्य च मुक्तशिवेभ्योऽणुभ्यश्च भिन्नत्वमत एवातद्व्यापकत्वमविश्वशक्तित्वं च कर्ममलपरिपाकादिमुखप्रेक्षितया च पारतन्त्र्यमित्यादि भेदवादिकृतं शिवमलयोः विपर्यस्तस्वरूपप्रतिपादनमतिसुभाषितम् । यच्च मलस्य परिणामित्वमुच्यते तैस्तदमिश्रस्यास्य कथं स्यात् ? कर्मभिः सहितस्य भविष्यतीति चेन्न, तानि मलस्यान्तर्विशन्तीति कास्य तैः सह मिश्रता । यद्यपि–

६. 'मायाविकारयोगे कर्मयुतः कारणं मलो भविनाम्' ।

(त०त्र०नि०का०११)

इत्युक्तं भवद्भिः, तथापि विज्ञानकेवलिनां मलस्य कर्मसाहित्याभावात् परिणामायोगे मुक्त्यभावः स्यात् । मन्त्रमन्त्रेश्वरादीनां च योऽयमधिकारबन्धः, नासौ सहजमलकृतस्तस्य मायोर्ध्वेऽभावादिति [1]तदर्थं मलान्तरमभ्युपगन्तव्यम् ।

मल की नित्यता, व्यापकता, एकता, अनेक शक्तित्व, शिवस्वभावात्म दृक् और क्रिया की निरोधिका होने के कारण इसके निरोध और परिपाक में स्वातन्त्र्य है । जहाँ तक शिव का प्रश्न है–इसकी मुक्तशिवों और मुक्ताणुओं से भिन्नता होती है । इसलिये इसकी व्यापकता और अविश्वशक्तिमत्ता ये दोनों कर्म मलपरिपाक पर आश्रित होने के कारण शिव के पारतन्त्र्य से प्रभावित है । यह इन दोनों में भेद है । इस तरह यह भेदमय विपर्यस्त स्वरूप प्रतिपादन बौद्धिक चमत्कार सदृश ही है ।

मल को परिणामी भी कहा गया है । ऐसा कहने वाले यह नहीं बताते कि, विना कर्म के मिश्रण के यह कैसे सम्भव है ? कर्मों के मिश्रण से इसका परिपाक वस्तुतः सम्भव है क्या ? इसका उत्तर है कि, यह नहीं हो सकता क्योंकि कर्म, मल के अन्तर्भूत होते हैं । इनकी मिश्रता का प्रश्न ही नहीं उठता ।

६– यद्यपि 'माया और माया के विकार के योग के अवसर पर कर्म युक्त मल भावी कार्यों के कारण बन जाते हैं' यह बात (त०त्रि०नि० कारिका११) में कही गयी है । फिर भी विज्ञानकेवल स्तरीय मुक्ताणु पुरुष में मल का और कर्म का सहितभाव अमान्य है, अतः परिपाक भी असम्भव ही माना जायेगा । जब परिणाम ही सम्भव नहीं है, तो मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? जहाँ मन्त्र, मन्त्रेश्वर सम्बन्धी अधिकार शास्त्र द्वारा प्रतिपादित हैं । ये अधिकारबन्ध सहज मल से सम्भव नहीं हैं क्योंकि, मलों की सीमा माया तक ही मानी जाती है ।

---

१. क. पु. तदित्थमिति पाठः ।

तेषां माहेश्या महामायाशक्त्यैव तावतांशेन बन्धत्वम्, न तु व्यतिरिक्तेनान्येन मलेनेति चेत्, अणूनामपि मायाशक्त्या संकुचितत्वाभासनं बन्धनमस्तु, किमनुपपन्नव्यतिरिक्तमलाभ्युपगमेन । अननुबन्धे मन्त्रादीनामपि तादृशो व्यतिरिक्तो मलोऽभ्युपगम्यताम् ।

७. किञ्च, अयं मलोऽध्वनि न क्वापि अनुप्रविष्ट इति कथमस्य षडध्व-दीक्षायामन्तर्भाव्य शुद्धिः क्रियते । कर्मवत्पुंस्तत्त्वान्तर्भावोऽस्येति चेत्, न, कर्त्रात्मनः पुंसः कर्माणि संस्कारात्मतयान्तर्भवन्तीति युक्तं कर्तृनिष्ठत्वात् क्रियाणाम्, मलस्य तु व्यतिरिक्तस्य कथं तदन्तर्भावः ।

किञ्च, नावारकेण पटादिना घटादेः स्वरूपं विशिष्यते; अपि तु तद्विषये ज्ञातुर्ज्ञानं विहन्यते, तथा शिवमुक्ताणूनामेव स मलः स्यात्, तेषां मलेन पुंविषय-ज्ञानावरणादिति मलस्यावारकत्वं तावदयुक्तम् ।

माया के ऊर्ध्व स्तर पर मल नहीं रह जाते । अर्थात् वहाँ मलों का अभाव हो जाता है । इसके लिये मलान्तर का अभ्युपगम करना पड़ेगा । मन्त्रों और मन्त्रेश्वर के ये अधिकार माहेश्वरी महेशानी और महामाया शब्दों से विख्यात पारमेश्वरी शक्ति के द्वारा ही उनके स्तरीय अंशानुरूप निर्धारित हैं । इसके अतिरिक्त किसी मल शक्ति से वे बँधे हुए नहीं होते ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, मन्त्रों और मन्त्रेश्वरों आदि के बन्ध यदि माहेश्वरी माहामाया से निर्धारित माने जायेंगे, तो यह भी मानना ही होगा कि, अणु पुरुषों के बन्ध माया शक्ति द्वारा ही कृत हैं । किसी अनुपपन्न व्यक्ति-रिक्त मल की मान्यता नितान्त व्यर्थ ही है । अनुबन्ध के अभाव की स्थिति में किसी प्रकार का मल कोई माने, इसके विषय में कुछ कहने की कोई आवश्यकता नहीं ।

७– उक्त विचारों के अतिरिक्त यह भी विचारणीय विषय है कि, मलों का अनुप्रवेश षडध्व दीक्षा में नहीं होता । ऐसी स्थिति में षडध्व दीक्षा में इसका अन्तर्भावन कर इसकी शुद्धि का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

यदि यह कहा जाय कि, कर्म की तरह पुंस्तत्त्व में इसका अन्तर्भाव करके शुद्धि की जाय, तो यह भी ठीक नहीं है । पुरुष कर्त्ता होता है । इसके काम संस्कार सम्पन्न होने पर अन्तर्भावित किये जाते हैं । इसलिये चूँकि क्रियायें कर्त्तृनिष्ठ होती हैं । अतः क्रियादि के अतिरिक्त होने के कारण मलों का अन्त-र्भाव पुंस्तत्त्व में नहीं किया जा सकता ।

और यह भी सोचने की बात है कि, कपड़ों से घड़ों को या अन्य किन्हीं वस्तुओं को ढक देने पर किसी घटादि पदार्थ में कोई विशेषता नहीं आ

८. [1]यश्च मलस्य परिपाकोऽभिधीयते स किं [2]तस्य तच्छक्तेर्वा विनाशः, उत निरोधप्रतिबन्धः ? आद्ये पक्षे एकत्र तत्परिपाके सर्वे शुद्धाः स्युः, तच्छक्तेरनेकत्वाभ्युपगमेऽपि सदृशत्वाच्छक्तिमदव्यतिरेकाच्चैष एव प्रसंगः । **फलभेदादारोपितभेदो हि पदार्थात्मैव शक्तिरिति सूरयः** । न च अनादेर्वस्तुभूतस्य मलशक्तिनिरोधस्य नाशो युक्तः, प्रागभावस्य त्ववस्तुत्वात् स भवतु नाम ।

शक्तिनिरोधप्रतिबन्धोऽपि विषवह्निशक्तिप्रतिबन्धवत् सर्वानेव प्रति स्यात् । तद्वदेव च प्रतिबन्धकनिवृत्तौ तन्निरोधः पुनरुन्मज्जेत् । परिपाकश्चास्य यद्यहेतुकः, प्रथममेव स्यात्, यदि कालहेतुकः तत्कस्तदवधिः सर्वेषां च मलानादित्वस्य तुल्यत्वात् । वृक्षफलानामिवर्तौ मलशक्तीनां सममेव वा सामनन्तर्येण वा परिपाकः स्याद् नात्यन्तदूरकालव्यवधानेन । अथ–

जाती । हाँ इतना अवश्य होता है कि, ज्ञाता के ज्ञान में कुछ बाधा आ जाती है । आवरण के कारण आवृत वस्तु की जानकारी नहीं हो पाती । इसी तरह शिव और मुक्ताणुओं को मल यदि आवृत भी करले, तो शिव का कुछ भी नहीं बिगड़ता अपितु पुंविषयक ज्ञान का आवरण होता है । ज्ञान बाधित होता है । इस दृष्टि से मल के आवरण का कोई महत्त्व नहीं रह जाता ।

८– यहाँ एक नयी समस्या पर विचार कर रहे हैं । कहा यह जाता है कि, मलों का परिपाक होता है । इस परिपाक का क्या अर्थ है ? १-क्या मल का विनाश अर्थ है ? या २-मल शक्ति का विनाश अर्थ है ? ३-या उसने जो निरोध उपस्थित किया था, उस निरोध के प्रतिबन्ध को परिपाक माना जाय ? इन तीनों विकल्पों पर विचार करने की आवश्यकता है ।

अ– प्रथम पक्ष सर्वथा अमान्य है क्योंकि परिपाक का अर्थ विनाश मानने पर एक स्थानगत परिपाक से सभी के शुद्ध हो जाने की सम्भावना होती है, जो असम्भव है । उस मलशक्ति के अनेकत्व के प्रकल्पन पक्ष में भी शक्ति सादृश्य के कारण और शक्तिमान् से अव्यतिरिक्त होने के कारण भी सबकी शुद्धता का यह प्रसङ्ग ज्यों का त्यों उपस्थित हो जाता है ।

विद्वद्वर्ग की यह मान्यता है कि, फल भेद से आरोपित भेद को मान्यता दी जाती है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि, शक्ति भी पदार्थात्मक ही होती है । मल के विनाश से सर्वशुद्धि का फल इसी सन्दर्भ की ओर संकेत करता है । यदि मल वस्तु अनादि है, तो मल शक्ति की निरोधात्मकता का नाश कैसे उचित माना जा सकता है । यहाँ यह सोचना चाहिये कि, न्याय दर्शन के

---

१. क. पु. यस्य मलस्येति पाठः । २. क. पु. तस्य शक्वेयेदीति पाठः ।

'पुंबलरोधं कुर्वन्पश्यति [१]हि स शक्तिसाफल्यम् ।
दृष्ट्वा च तन्निवृत्त्यै योग्यं युङ्क्ते [२]नृमुक्तये करणम्' ।।

(त०त्र०नि०का० २१)

९. इत्युक्तनीत्या मलः स्वकार्यं कृत्वा पच्यते, तत् पुन्निरोधानन्तरमेव पच्यते । अथ यदर्थं पुन्निरोधः तस्मिन् कलादिक्षित्यन्ततत्त्वोदये भोगे भुक्ते सति पच्यते, तदत्र भोगो यदि सामान्येन, तदेकत्र शरीरे कलादिक्षित्यन्तमये तत्कार्यस्य भोगस्य सम्पन्नत्वात् तदनन्तरमेव मलपरिपाकः स्यात् । अथ विशेषेण, तत्र कदाचिदपि, भाविकलात्मनो विशेषस्य कर्मजभोगवैचित्र्यस्य तदुत्थत्वात् ।

अनुसार प्रागभाव कोई वस्तु नहीं होता । अतः प्रागभाव का अभाव हो, इसमें किसी को क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है ?

आ– शक्ति निरोध का प्रतिबन्ध द्वितीय पक्ष है । परिपाक का अर्थ निरोध-प्रतिबन्ध करने पर भी उसी तरह की समस्या शेष रहती है । जहर, शक्ति और अग्नि के निरोध के प्रतिबन्ध का परिणाम भी सबके प्रति समान रूप से ‌ उपतित होता है । उसी तरह प्रतिबन्ध की निवृत्ति के उपरान्त भी उसके निरोध के अप्रतिरुद्ध भाव से आरोहण की सम्भावना बनी रहती है । यदि यह अहेतुक परिपाक है, तब तो सर्वप्रथम इसे ही होना चाहिये । यदि काल के कारण परिपाक माना जाय, तो इसकी काल सीमा की नियामकता कैसे निर्धारित की जा सकती है ? क्योंकि सभी मलों की अनादिता समान है । जैसे ऋतु जन्य काल प्रभाव से आम में बौर लगते हैं । उसी तरह यदि मल शक्ति साथ ही या समानान्तर रूप से ही परिपाक सम्भव होगा । किसी दूर कालिक व्यवधान की यहाँ भी कोई सम्भावना नहीं है ।

इस विषय में विचार करने पर तत्त्वत्रयनिरूपण कारिका २१ पर ध्यान जाता है । वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि,

९– 'मल पुरुष के बल का रोध करते हुए वह स्वात्मशक्ति की सफलता का अनुदर्शन करता है । पुरुष के निरोध का एक लक्ष्य है । उसी के अनुसार उसके योग्य फल की उत्पत्ति होती है । जहाँ तक नृमुक्ति का प्रश्न है, उस अवस्था में योग्यकरण योजना आवश्यक होती है' ।

इसके अनुसार मल अपना कार्य करने के उपरान्त परिपाक को प्राप्त कर लेता है । इस तरह एक ओर पुंनिरोध और दूसरी ओर मल परिपाक ये दो कर्म सम्पन्न होते हैं । मल ने पुंबल निरोध किया और इधर कलादिक्षित्यन्त भोग उसके

---

१. ख. पु. हिमशक्तीति पाठः । २. ख. ग. पु. न्यमुक्तये इति पाठः ।

अथेश्वरेच्छातो मलस्य परिपाकः, तदीयेच्छा यद्यनियन्त्रिता अत्र हेतुः सर्वाणूनां स्यादित्युक्तमेव । अथ भोगपर्यायतः कदाचिद्विरुद्धे समबले कर्मणी परिपक्वे अपि विरोधादुदासाते, कर्मान्तराणि चापरिपक्वत्वाद्भोगाय नोन्मुखीभवन्ति–इति तं कालमपेक्ष्य भगवान्मलं रुणद्धि, स च कालो दुःखसुखरहितः स्वयमुपलभ्येतापि कैश्चिदिति पक्षः ।

१०. तदत्रापि ब्रूमहे–कर्मणां क्रमानुष्ठितानां क्रमिकफलानां कथं तावद्युगपत्फलदानौन्मुख्यम्, कथं वा तन्निरोधावसरे ततोऽन्यत् कर्म फलं न दद्यात् । तस्य स्वकाल एव फलदानोन्मुखत्वं न तु तत्काल इति चेत्, तयोरपि तर्हि न तदेककालं युक्तम् । ईश्वरेच्छात एवेति चेत्, सा यदि स्वतन्त्रा, तद्युगपत्सर्वस्य सर्वकर्मपरिपाकात् तद्भोगं दत्त्वा मुक्तिं वितरतु, कर्मानपेक्षया वा सर्वस्य मलं रुणद्धु । अथास्वतन्त्रा, तदत्रापि तस्य हेत्वन्तरं वक्तव्यम् । यस्य च च तुल्यबले

लिये प्रस्तुत होने की भूमिका पूरी हो गयी । भोग भुक्त हो गये और मल परिपाक भी पूरा हुआ । मल का कार्य भोग है । भोग सम्पन्न हुआ । यह एक शरीर में सामान्यतया भोगवाद की परिकल्पना है ।

क्या विशेष रूप से मल परिपाक और कर्मयोग की बात की जाये ? नहीं । यह बात भी अमान्य है । वस्तुतः कलादिक्षित्यन्त भोग तो भविष्य में आते हैं । कर्मज भोग वैचित्र्य विशेष भी तदुत्थ हैं अर्थात् कलादिक कर्म पर निर्भर हैं । ये असम्भव हैं । यदि यह कहें कि, ईश्वर की इच्छा से मल का परिपाक होता है । ईश्वर की इच्छा पर तो किसी का नियन्त्रण नहीं होता । वह सभी अणुओं के प्रति समान ही होना चाहिये ।

यह भी कहा जा सकता है कि, कभी ऐसे समान बलशाली कर्म आ जाँय और पहले हमारा पहले हमारा भोग का कलह उत्पन्न हो और दोनों शान्त हो जाँय । इस अवस्था में अपरिपक्व कर्मान्तर भी भोगार्थ नहीं आ सकते । उसी अवस्था में ईश्वर अपना कार्य करेगा और मल में अवरोध उत्पन्न करेगा । यह ध्यान देने की बात है कि, मलावरोध का वह समय सुख दुःख से रहित समय होगा । क्या किन्हीं विज्ञों ने ऐसा समय अनुभूत किया गया है या नहीं ? यह एक वैचारिक पक्ष है ।

१०– यह विचारणीय पक्ष है । यहाँ कहना यह है कि, कर्म क्रमशः अनुष्ठित होते हैं । क्रमशः उनके फल मिलते हैं । इनमें युगपत्फलदानौन्मुख्य की बात सोची भी नहीं जा सकती । यह भी सोचना है कि, एक के निरोध के अवसर पर दूसरा कर्म फल देने से विमुख क्यों रहेगा ? वह अपना फल देगा ही । क्यों नहीं देगा ?

कर्मणी भोगोन्मुखे रुद्धे तस्य तत्कालं देहपातः स्यात् । अथ न जात्यायुष्प्रदयोः कर्मणोर्निरोधोऽपि तु भोगप्रदयोरेव ।

१०अ–ननु जात्यायुष्प्रदकर्मानिरोधेऽपि यदीशो मलं रुन्धे, तद्भोगप्रदात् किमिति बिभेति यत्तन्निरोधमवश्यमपेक्षते । यदि च [1]रुद्धशक्तिकर्मदशायामेव फलं रुन्ध्यात् तत्स प्रलयावस्थायां सर्वेषां तथा कुर्यात् । तत्रापि च तेषां तादृग्भोगप्रदकर्मसङ्गोऽस्तीति चेत्, विरुद्धकर्मद्वयप्रसङ्गे तादृग्भोगदं कर्मास्तीति किं वक्तुं न शक्यते ।

इस पर यह कहना कि, वह अपने समय पर ही फल देगा, उस समय तो नहीं देगा ? यह भी ठीक नहीं । क्योंकि ऐसे कामों की एक कालता हो ही नहीं सकती । कर्म तो क्रमिक सम्पादित होते और क्रमिक फल भी प्रदान करते हैं । इसी अवस्था में यदि ईश्वरेच्छा का समाधान दिया जाय इस पर यह कहा जा सकता है कि, यदि वह इच्छा स्वतन्त्र है, तब तो बड़ी अच्छी बात है । वह एक साथ ही सभी कर्मों का परिपाक कर दे । उसके भोग भी तत्काल उपस्थित कर दें और सबको एक साथ ही मुक्ति बाँट दे । या उसे कर्मों की क्या अपेक्षा ? वह एक साथ ही सबके मल को अवरुद्ध कर दे । हम तो यह अवश्य चाहेंगे ।

यदि ईश्वरेच्छा स्वतन्त्र नहीं है । तो यहाँ इसका कोई हेत्वन्तर तो होना ही चाहिये । जिस पुरुष के तुल्य बल कर्म फलदानोन्मुख होकर भी फल देने में असमर्थ हैं, उसकी तत्काल मृत्यु अपेक्षित है ।

१०अ– यहाँ एक बात और भी विचारणीय है । जाति और आयुष्य प्रदान करने वाले कर्मों का अनिरोध है क्या ? कर्म तो वे दोनों भोगप्रद ही हैं । मान लीजिये कि, जाति और आयुष्प्रद कर्मों के अनिरोध में भी ईश्वर ही कर्म रोध कर दें तब तो भोगप्रद कर्म से भय कैसे ?

यदि रुद्धशक्ति कर्म की दशा में ही फल रुके, तब तो प्रलयावस्था में सबके कर्म रुक ही जायेंगे । प्रलयावस्था में भी सबके कर्म फलों का आतङ्क बना रहता है यदि कहें, तो विरुद्ध फलप्रदकर्मद्वय के सन्दर्भ में भी वैसे भोगप्रद कर्म रहते ही हैं । ऐसा क्यों नहीं कह सकते ?

---

१. क. ग. रुद्रशक्तीति पाठः ।

१०ब–किञ्च, विज्ञानाकलानां कार्ममलशून्यानामीश्वरो युगपन्मलं रुन्ध्यादिति अष्टौ बोधितवानिति शास्त्रेषु संख्यानियमानुपपत्तिः । अथ सत्यपि कर्मसाम्ये परिपक्वमेव मलमीशेच्छा रुणद्धीति कैरणव्याख्यातृमतमाश्रीयते, तर्हि उक्तदूषणावृत्तिरनुपपन्नव्यर्थकर्मसाम्याभ्युपगमदोषश्चापतति । एतेन तदपि प्रत्युक्तं यदाहुः केचित्–

'वैराग्यं भोगवैरस्यं धर्मः कोऽपि विवेकिता ।
सत्सङ्गः परमेशानपूजाद्यभ्यासनित्यता ॥
आपत्प्राप्तिस्तन्निरीक्षा देहे किञ्चिच्च लक्षणम् ।
शास्त्रसेवा भोगसङ्घपूर्णता ज्ञानमैश्वरम् ॥
इत्यादिहेतुके चेच्छा मलं रुन्धे हठादिति' ।

११– यत एतदुदयेऽपि यदीशेच्छैव कारणं तदन्योन्याश्रयः । कारणान्तरं च वक्तुमशक्यं तस्यापि नियमायोगात् । न चैते सर्वे हेतव ईशेच्छाया आयात-

---

१०ब–यहाँ एक और बात सामने आती है । विज्ञानाकल पुरुष कार्ममल से शून्य होते हैं । ईश्वर एक साथ ही इनके मलों का अवरोध करता है । ऐसी दशा में 'अष्टौबोधितवान' इस उक्ति में संख्या के नियम करने के कारण एक प्रकार की अनुपपत्ति का दोष भी उपस्थित होता है ।

मानलीजिये कर्म साम्य ही उपस्थित हो जाये, तो ईश्वरेच्छा तो परिपक्व मल का ही रोधन करती है–यदि किरण शास्त्र के किसी व्याख्याता की यही बात मान ली जाय तो उक्त दूषण की पुनः आवृत्ति और अनुपपन्न व्यर्थ कर्म-साम्य के अभ्युपगम का दोष भी ज्यों का त्यों बना ही रह जाता है ।

इस प्रसङ्ग में किसी के वचन विचारणीय हैं–

वैराग्य क्या है ? उत्तर है भोग में विरसता । धर्म क्या है ? कोई विवेक पूर्ण बात ही धर्म है । सत्सङ्ग क्या है ? परमेश्वर की पूजा आदि के अभ्यास की नित्यता ही सत्सङ्ग है ।

आपत्प्राप्ति–शरीर में उसकी मौजूदगी का लक्षण है ।शास्त्र सेवा, भोगसंघ की पूर्णता ईश्वरीय ज्ञान आदि कारणों के उपस्थित होने पर उक्त प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है । इसी प्रकार की यह इच्छा ही मल का अवरोध कर देती है ।

११– मनुष्य में वैराग्य आदि की इच्छायें मलावरोध के कारण के रूप में परिगणित हैं । इसका तात्पर्य यह है कि, इच्छाओं पर ही मल आश्रित है । मलरोध भी ईश्वरेच्छा पर ही आश्रित है । यह अन्योन्याश्रय यहाँ स्पष्ट है । किसी अन्य कारण की बात भी नहीं की जा सकती क्योंकि किसी नियम की योजना यहाँ है ही नहीं ।

शक्तिपातानां तथारूपत्वादृष्टेः, नापि एकैकस्येशेत्छाहेतुत्वं वैराग्यादेः शतशो व्यभिचारदर्शनात्, परमेशपूजाज्ञानादेश्च मलपरिपाकपूर्वकत्वात्, न त्वीशेच्छाप्रचोदकत्वं युक्तम् । यत्पुनरन्यदुक्तं पुंसां मुक्तेः क्रमिकत्वं दृष्ट्वा ईशेच्छाया अपि मलपरिपाकहेतुत्वं क्रमिकमनुमीयते–यथा भोगस्य क्रमात्तद्धेतुकर्मपरिपाकहेतुत्वं क्रमिकमिति, तदसन्मुक्तेः क्रमो मलपरिपाकक्रमात्, सोऽपि ईशशक्तिकृतपरिपचनक्रमादिति । सत्यं ईशशक्तेस्तु मलपरिपाचनक्रमे हेतुर्न लभ्यते, स्वातन्त्र्ये तु अलं मलपरिपाकापेक्षया । तस्मान्न कथञ्चिदपि भेदवादिभिर्मलपृथक्त्वं तच्छक्तिनिरोधतत्परिणामतत्परिपाकशक्तिपातादयः प्रतिपादयितुं शक्यन्ते–इति यथोक्तमेव साधु । यद्यपि चतुर्थपटले–

'............अभिलाषो मलोऽत्र तु' । (स्व० ४/१०५)

ये सभी उक्त हेतु इशेच्छा से आयात शक्ति पुरुषों पर लागू नहीं होते । क्योंकि ऐसा देखने में नहीं आता ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि, एक एक वैराग्य आदि धर्मों की हेतु ईश्वरेच्छा ही है क्योंकि इसकी कोई प्रामाणिकता नहीं है । इसमें व्यभिचार दोष मिलते हैं । परमेश्वर की पूजा और ज्ञान आदि भी मल परिपाक पर ही निर्भर हैं । केवल इश्वरेच्छा ही इसमें कारण है, यह भी दृढ़ता पूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

इसी सन्दर्भ में किसी की यह बात भी विचारणीय है कि, पुरुषों की मुक्ति भी क्रमिक रूप से होती है । यह देखकर ईश्वरेच्छा में भी मल परिपाक की प्रेरणा आती हो और ईश्वरेच्छा में भी क्रमिकता आती हो । भोग में भी यही क्रमिकता दृष्टिगोचर होती है । भोग कर्म परिपाक पर ही निर्भर हैं । इस पर यह घोषित किया जा सकता है कि, यह तथ्य सत्य पर आश्रित नहीं है । मुक्ति का क्रम मल परिपाक के क्रम पर निर्भर है । मल परिपाक भी ईश्वरीय शक्ति से प्राप्त परिपाक क्रम से सम्भव है । यह सही है । ईश्वर की शक्ति का मलपरिपाक के क्रम में कोई हेतु उपलब्ध नहीं है । यदि इसे स्वतन्त्र प्रक्रिया मानी जाय, तो मल परिपाक की अपेक्षा ही क्यों की जाय ?

इन सब बातों के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि, भेद-वादियों की दृष्टि हमेशा उलझनो में लगी रहती हैं । उन्हें मल अलग ही दीख पड़ते हैं । उसकी शक्ति का भी इन्हें भान होता है । उसके निरोध को भी ये पहचानते हैं । उसके परिणाम भी ये भोगते हैं । उसका परिपाक भी चखते हैं और इसी आस्वाद को ये शक्तिपात मानते हैं । वस्तुतः ये सारी बातें अतथ्य हैं ।

वस्तुतः 'मलमज्ञानमिच्छन्ति' और 'अभिलाषो मलोऽत्र तु' इन उक्तियों से यह प्रमाणित है कि, मल कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । यह सुविचारित तथ्य है । कई परिच्छेदों में इस पर विचार भी किया गया है । इस दीक्षा-तन्त्र की रहस्यवादिता के मर्म को जानने के लिये उद्यत साधकों और विचारकों के मन में कोई व्यामोह उत्पन्न न हो, हमारा यही अभिमत है ।

इत्यत्र मलस्वरूपविचारस्यावसरोऽभूत्, तथापीह एकप्रघट्टकेन पश्चात्तद्विचारितम्, माभूत्तत्र दीक्षातन्त्रनिभालनोद्यतानां सुकुमारहृदयानां व्यामोह इति । किञ्च, जीवानामानन्त्येऽपि पुनरन्येषामुदयाभावत ईश्वरेणेयत्तया परिच्छेद्यमानत्वाच्च नैयत्यं संसारस्य चानादित्वमतो यदि प्रतियुगमेकैकोऽणुर्मुच्यते, तदुच्छेद एव संसारस्य प्रसक्तः । अथ जीवानां तादृगानन्त्यमस्ति यदीशेनापि न परिच्छिद्यते, तर्हि ईशस्यासर्वज्ञता स्यात् । तदुक्तं शारीरके मुनिना–

'अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा' । इति । (२/२/४१)

१२– आस्तामेतत् । यत्तु तैः स्वतन्त्रशक्तिपातवादिपक्षे चोदितमीश्वरस्य निर्निमित्ते निग्रहादिकारित्वे अप्रेक्षापूर्वकारित्वं युगपत्सर्वतत्त्वस्रष्टृता सर्वं प्रति च युगपत्सर्वकर्मफलप्रदता जीवानां च मुक्तौ स्वरूपनाशः पुनर्भवाविर्भावश्च स्यादागमेषु च मलस्य वस्तुत्वाभिधानानुपपत्तिरिति, तदेषामपर्यालोचिततन्मतसतत्त्वमभिधानम्– यतस्तन्मते पारमेशचित्प्रकाशव्यतिरेकेण न किञ्चिदपि उपपन्नमिति स एव स्वातन्त्र्यात् शिवादिक्षित्यन्तानन्तविश्वात्मना स्वरूपमवबिभासयिषुस्तथा तथा भातीति न कश्चिदनुग्रहनिग्रहादिभाजनं जनोऽशुद्धिपरीतो वा अस्ति ।

भेदभाव की दृष्टि से जीवों का आनन्त्य मान्य है । साथ ही यह मान्यता भी है कि, जितने जीव हैं, उनके अतिरिक्त अन्य जीवों का उदय नहीं होता । ईश्वर से इसकी एक सीमा निर्धारित है । उसी में ये परिच्छिन्न हैं । अतः इनकी नियति और संसार का अनादित्व सभी निश्चित है ।

यह सोचने के बात है कि, प्रतियुग में यदि एक भी अणु मुक्त किया गया तो संसार का ही उच्छेद हो जाय । जीवों का आनन्त्य ईश द्वारा भी परिच्छिन्न नहीं होता । यह तो आश्चर्य जनक है । क्या आप का ईश्वर असर्वज्ञ है । यह कहकर कोई हँस ले और आदि शङ्कर (२/२/४१) के अन्तवत्व को असर्वज्ञता मान ले पर यह ऐसी बात नहीं है । वस्तुतः पारमेश्वर दर्शन में परमेश्वर के चित्प्रकाश के व्यतिरिक्त कोई कुछ भी उपपन्न नहीं है । अपने स्वातन्त्र्य के बल पर वही अपने स्वरूप के प्रवितान की आकाङ्क्षा से विश्व अवविभासित करता है । वही सभी रूपों में प्रविभासित है ।

परमेश्वर की अवविभासयिषा का ही यह चमत्कार है । यहाँ न कोई अनुग्रह निग्रह भाजन-जन है और न ही कोई अशुद्धि आदि से आवृत अशुद्ध जन ।

१२– स्वतन्त्र शक्तिपात के मानने वाले यह कहते हैं कि, ईश्वर अकारण अनुग्रह निग्रह कारिता का हेतु है । उसका यह कार्य अपेक्षा पूर्वक किया हुआ है । एक साथ ही सर्व तत्त्वों की सृष्टि । सबके प्रति एक साथ ही सभी कर्मों के

१३- अथ च निगृहीतानुगृहीततत्तत्प्रमातृंस्तत्तत्प्रमेयजातं च स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् स एवोट्टङ्कयन् पञ्चकृत्यकारितां निर्भासयन्नपि न मनागपि अतिरिच्यते, अतिरिच्यते वा दर्पणवदेवेति स एव परं नियतपौर्वापर्यक्रममपि यत्र यत्र प्रथयति तत्र तत्र कार्यकारणभावनैयत्यात्मना कर्मफलादिवैचित्र्येण निमीलित-रूपतया तदुपसंहारेण चोन्मीलितरूपतयेति तावत्यंशे बद्धमुक्तरूपतया वस्तुतस्तु स एव तावद्विश्वात्मना स्फुरतीति न कश्चिदन्यो बद्धो प्रेक्षापूर्वकारी यश्चित्रचमत्कार-मयत्वात्, यथा च विश्वमाभासयति तथा तन्मध्ये मुक्तो वास्ति ।

१४- न चैवं स्वरूपापत्त्यात्मनि मोक्षे स्वरूपनाशोऽस्ति । संकोचना-शस्त्विष्ट एव । न च प्राप्तशिवाभेदस्य सर्वसर्वात्मतया सर्वत्र सर्वदा स्फुरतः पुनर्भवोऽस्ति । परमशिवस्यैव सतत्त्वस्य शिवादिसकलान्तेनापि महता स्वस्वरूपेण [1]सरतस्तावतांशेन तत्तद्रूपतोच्यताम् । तत्त्वतस्तु परिपूर्णविश्वस्फारः परमेश्वर एवासौ । अतश्च पुनर्भवप्रसङ्गः स्यादिति यदुक्तं तदयुक्तमेवेति–

फलों का देना, जीवों की मुक्ति में उनके स्वरूप का नाश आविर्भाव और पुनर्भव के क्रम आदि बातें अपर्यालोचित रूप से ही स्वीकार हैं । वस्तुतः आगमों में मल को वस्तुतत्त्व के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया है । आगम एक स्वर से अभेद अद्वय तादात्म्य की ही बात करते हैं ।

१३- इस विषय में शङ्का और सन्देह करने वाले तो ऐसा करते ही रहेंगे । किन्तु वास्तविकता यही है कि, निगृहीत, अनुगृहीत, इनके प्रमाता, इनके प्रमेय सब कुछ को स्वात्मभिति में ही दर्पण नगर की तरह वह उट्टङ्कित कर लेता है । वह पञ्चकृत्य कर्त्तृत्व को अवभासित करता हुआ भी तनिक भी स्वात्म को अतिक्रान्त नहीं करता । अतिरेक भी मात्र दर्पणनगर की तरह ही होता है । वही परमार्थतः प्रेक्षाकारी है क्योंकि चित्रों में चमत्कार की चारुता की रचना का वही रचनाकार है ।

जैसे विश्व का वह अवभासन करता है, उसमें वह नियत पौर्वापर्य की व्यवस्था भी करता है । व्यवस्था की जिस प्रथा को वह प्रथित करता है, उसमें कार्यकारणभावनैयत्य, कर्म फल वैचित्र्य, उसके उपसंहार में निमीलन, सृष्टि में उन्मीलन रूपता का उल्लास भी उल्लसित रखता है । इसी अंश में वह बद्ध मुक्त भाव भी भावित करता है । वस्तुतः सभी रूपों में वही स्फुरित होता है । इसके अतिरिक्त कोई न बद्ध है और न मुक्त होता है ।

१४- इसकी स्वरूपापत्ति रूपी मोक्ष में स्वरूप का नाश नहीं होता । संकोच का निराकरण तो अभीष्ट ही होता है । वह सर्वदा सर्वत्र स्फुरित है । अतः

---

१. क. पु. सर्वत इति पाठः ।

१५– 'अनाद्यशुद्धिशून्यत्वात् प्राप्नोति न भवान्तरम्' । इत्यादौ आगमोक्तौ न काचिद्विमतिः । न चास्येयद्विमर्शात्मताप्तौ परिणतिब्रह्म-वादिपक्षोक्तदूषणावकाशः कश्चिद्विश्वात्मकस्वस्वरूपविजृम्भामयत्वेन विवर्तपरिणाम-पक्षयोरनभ्युपगमात् । तदित्थम्–

संकोचविकासवता तदुभययुक्तेन तद्विमुक्तेन ।
सर्वात्मना च सततं स्वच्छन्दश्चिद्घनः स्फुरति ॥१॥
यद्यत्स्फुरति च तत्तद्वस्तु धरण्यादि तद्वदेवं च ।
पौर्वापर्यनियत्या तत्त्वानां क्रमिकतापि युक्तैव ॥२॥

शिवाभेद प्राप्त करने पर भी उसका पुनर्भव नहीं होता । परमशिव के ही सतत्त्व रूप शिव से सकल पर्यन्त अपने स्वात्म रूप में ही वह उल्लसित रहता है । उस स्फुटितांश रूप में उसकी उस रूपता के भाव को आप किसी अन्य रूप में देखें, यह आप की समझ का ही फेर माना जा सकता है । तत्त्वतः परिपूर्ण विश्व स्फार में परमेश्वर ही स्वयं सर्वत्र रूपायित है । इसलिये पुनर्भवादि शङ्कायें उसके सम्बन्ध में नितान्त अतथ्य हैं ।

१५– वह अनादि अशुद्धि से शून्य है । अतः भवान्तर की प्राप्ति की बात अनर्गल ही है । इस तरह आगमिक उक्तियों में विमति के लिये कोई अवकाश नहीं ।

न तो इस प्रकार की विमर्श रूपता की सत्ता में ब्रह्म के परिणामवादी की किसी दूषणता का इसमें कोई प्रभाव ही है । न तो यहाँ विवर्त्तवाद का दूषण है न परिणामवादी की परिणति का प्रश्न है । प्रकाश के समक्ष किसी अन्धकार का अस्तित्व हो ही नहीं सकता । इसलिये उसके विषय में शास्त्र कहता है कि,

संकोच और विकासवान् परमेश्वर इन दोनों से युक्त भी है और मुक्त भी है । यह स्वच्छन्द चिद्घन चिन्मयतत्त्व सर्वात्मना सतत स्वयं स्फुरित है ॥१॥

जिस जिस रूप में स्फुरित होता है, ततद् वस्तु भी तद्वान् ही हैं । इसमें पौर्वापर्य का नैयत्य भी है । तत्त्वों की क्रमिकता भी है और सब कुछ युक्ति संगत भी है ॥२॥

संकुचितजीवरूपं तत्तत्कर्माभिमानतत्फलभुक् ।
भासयति क्रमशोऽसौ दीक्षादावक्रमेणापि ।।३।।
इत्थं संकोचात्माप्यभिलाषो लोलिकेति गदितो यः ।
सोऽपि तथात्वस्फुरणाद्वस्त्वेव मलोऽस्तु शास्त्रेषु ।।४।।
दीक्षायोगज्ञानैर्ध्वंसेऽपि मलस्य नात्मनाशोऽस्ति ।
स्वच्छस्वच्छन्दात्मकचिद्घनताव्यक्तिरेव यन्मोक्षः ।।५।।
जलमिव जले विनिहितं पयसि पयो यद्वदर्पितं तद्वत् ।
यान्त्येकत्वं दीक्षया दीक्षाक्रमेण[1] दीक्षिता इति हि ।।६।।
रौरवशास्त्रेऽप्युक्तं प्रायस्तं वृथैव वृत्तिकृता ।
येनार्थव्याख्याभिस्तस्मिन्देवस्तथा तथा प्रथितः ।।७।।
तदलं भेदविकल्पैरनर्गलेशानशक्तिपातोत्था ।
स्वच्छन्दशिवैक्यमयी मुक्तिर्दीक्षादितो घटते ।।८।।

संकुचित जीव रूप वही है । उन उन कृत कर्मों का अभिमान भी और फल भोग का अनुसन्धान भी उसी में स्फुरित है । सबमें वही भासित है । दीक्षा आदि में वह अक्रम रूप से भी भासित हो जाता है ।।३।।

इस प्रकार संकोच रूप अभिलाष भी जिसे हम लौकिक कहते हैं, वह भी उसी के रूप में स्फुरित है । शास्त्र उसे मल कहता है, तो कहता रहे । कोई अन्तर नहीं आता ।।४।।

दीक्षा के और योग के ज्ञानों से मल के ध्वंस में भी आत्मनाश नहीं होता । उस स्वच्छ परम निर्मल स्वच्छन्द परचिद्घन की शक्ति ही मोक्ष है ।।५।।

जल जल में मिलकर उसमें निहित हो जाता है । दूध में दूध की भी वही गति है । जैसा अर्पित है, वह वैसा ही है । दीक्षा के क्रम में दीक्षा से उसी ऐक्य रूप तादात्म्य की उपलब्धि होती है ।।६।।

रौरव शास्त्र भी कहता है । वृत्तिकार ने वृथा आयास किया है । उस व्याख्या में भी परमेश्वर उसी रूप से प्रथित हैं । पर वे वस्तुतः एक ही हैं ।।७।।

इसलिये भेद प्रभेद की वैकल्पिक बिडम्बना से बस ! ईशान के शक्तिपात से समुत्थित स्वच्छन्द शिवमयी मुक्ति, दीक्षा से अवश्य घटित होती है ।।८।।

---

१. घ. पु. दीक्षामन्त्रेणेति पाठः ।

इत्थं दीक्षोपायो यो यो यैर्यैर्यथा यथा विहितः ।
सोऽपीत्थमेव सर्वः समर्थ्यतां शक्तिपातेद्धैः ॥९॥
युक्त्यस्त्रैर्धर्मकीर्तं दलितमिह मतं दूषणोद्गारि सम्यग्
विध्वस्तं खेटपालैः कथितमपि मलं भेदसन्धानदक्षम् ।
प्रोक्तं दीक्षासतत्त्वं प्रविगलितमलप्रोन्मिषच्चिन्मयैक्य-
स्वच्छस्वच्छन्दधामप्रथनवशभवत्सर्वसर्वात्मरूपम् ॥१०॥ इति भद्रम् ॥

इस प्रकार का यह दीक्षोपाय जैसे जैसे जिस रूप में विहित है, वह सब वैसा ही है । शक्तिपात से समुत्थित सब वही है ॥९॥

आचार्य क्षेमराज इस समीक्षा का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, युक्तियों के अस्त्रों से धर्मकीर्त्ति के कुतर्कों का यहाँ पूरी तरह खण्डन किया गया है । साथ ही खेटपालाचार्य ने भेद सन्धानात्मक जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, मैंने उनका भी उत्तर दे दिया है ।

मैंने इस सन्दर्भ में दीक्षा की विवेचना की है । इसका प्रतिपादन किया है । मैंने विगलित होते मल में चिन्मयता के प्रकाश को प्रकाशमान होते देखा है । स्वच्छ स्वच्छन्द धाम के प्रथन से यह सिद्ध कर दिखाया है कि, सब कुछ सर्वात्मक शिवात्मक ही है ।

श्री स्वच्छन्द तन्त्र के पंचम पटल के अन्त में दीक्षा का शास्त्रान्तर दृष्टि से समीक्षात्मक अनुशीलन है । यह धर्मकीर्त्ति तथा खेटपालाचार्य के कुतर्कों के समाधान का परिशिष्ट रूप है ।

विशेष-वस्तुतः यह ग्रन्थ भाग नहीं है । यह उद्योतकार रचित एक समीक्षात्मक लेख है । इसे पंचम पटल के परिशिष्ट के रूप में दिया गया है ।

दीक्षा के व्यापक सन्दर्भों की समीक्षा शास्त्रार्थविमर्श की दृष्टि से आवश्यक है । दीक्ष्य और दीक्षक की विभिन्न स्तरों की वैचरिकता के परिवेश में केवल श्रद्धा और आस्था का ही आश्रय नहीं लिया जा सकता । यहाँ गहन बौद्धिकता भी अपेक्षित है । सत्तर्क द्वारा स्वात्मविषयक विमर्श के स्फुरित होने पर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने के लिये सूक्ष्मेक्षिका द्वारा यह सोचना पड़ता है कि, स्वबोध सिद्धि के लिये योग्यतम गुरु की शरण में जाना चाहिये । गुरु से जिस उपाय प्रक्रिया द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रक्रिया ही दीक्षा है ।

॥ इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते श्रीक्षेमराजविरचिते
तत्त्वादिदीक्षाप्रकाशनं नाम
पञ्चमः पटलः ॥५॥

दीक्षा देने वाले सभी तत्त्वज्ञ किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध होते हैं । अतः स्वात्मज्ञान के सम्बन्ध में इन मर्मज्ञ तत्त्ववेत्ताओं की सिद्धान्तवादिता पर भी दृष्टिपात आवश्यक होता है । प्राथमिक स्तर पर इन गहराइयों में प्रवेश नहीं मिलता । अतः विज्ञ जनों, विचारकों और शास्त्रार्थवेत्ताओं ने इस विषय में जो वादविवाद पद्धति, खण्डन मण्डन पद्धति या प्रश्नोत्तर पद्धति से पक्ष विपक्ष में जो तर्क उपस्थित किये हैं, उनका स्वाध्याय आवश्यक है । ऐसी ही एक समीक्षा स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में आचार्य क्षेमराज ने इस पञ्चम पटल के अन्त में दी है । यह ग्रन्थ का भाग नहीं है । अतः इसे परिशिष्ट के रूप में यहाँ प्रकाशित किया गया है ।

महामाहेश्वर आचार्य क्षेमराज कृत उद्योत व्याख्या सहित
डॉ० परमहंसमिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा-भाष्य समन्वित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र
का
तत्त्वादि-दीक्षा-प्रकाशन नामक पञ्चम पटल परिपूर्ण ॥५॥
॥ शुभं भूयात् ॥

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

।। अथ षष्ठः पटलः ।।

ह्रस्वाकारविरिञ्चिजागरधरित्र्याद्या हि ये पञ्चकाः
शक्त्याद्याश्च तथैव शङ्करनुतेः पूर्णाविमर्शात्मनः ।
ये प्राप्तप्रणवाभिधाः कुलकवल्लेशेऽपि विश्वप्रथा-
स्तं पञ्चप्रणवं स्मरामि सततं स्वच्छन्दधामाप्तये ।।

प्रश्नग्रन्थे कालस्य साधनानां च स्वरूपं निर्णेतुमवशिष्टम् । तत्र समनन्तर-पटलेन कालो निर्णेष्यते, स च बाहुल्येन सिद्धयङ्गम्, सिद्धयो मन्त्रसाधनपूर्विकाः- इति साधनानां स्वरूपनिर्णयाय पञ्चमपटलान्ते 'मन्त्रसिद्धेन वा' इति यदासूत्रितं तद्विभक्तुमाह-

---

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

षष्ठः पटलः

ह्रस्व 'अ'कार आदि (दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि, जागरण आदि अवस्थायें और अधिष्ठानभूत पृथ्वी आदि पाँच तत्त्व रूपों में पाँच पाँच की पंचक दृष्टि से विज्ञात, शक्ति आदि पंचक में सम्मिलित सभी तत्त्व, भगवान् भैरव के पूर्ण परामर्शक पाँच प्रणव बीज, शास्त्र इन सबों को प्रणव संज्ञा से विभूषित करते हैं ।

ये सभी यद्यपि विशिष्टोक्ति रूप से भैरव सद्भाव के कुलकवल्लेशगन्ध रूप ही हैं फिर भी ये विश्व की विराट् प्रथा को ही प्रथित करते हैं । आचार्य क्षेमराज इस छठें पटल के प्रारम्भ में माङ्गलिक दृष्टि से उक्त पञ्चप्रणव का स्मरण कर रहे हैं । उनका यह विश्वास है कि, इस पञ्चप्रणवात्मक भैरव के विराट् रूप का स्मरण अनवरत स्वच्छन्द भैरव के धाम की उपलब्धि के लक्ष्य को पूर्ण करता है । उसी धाम की उपलब्धि के लिये आचार्य सतत नमस्कार कर रहे हैं । इस पञ्चपञ्चक प्रणव का उल्लेख इसी पटल के श्लोक १३ में उपलब्ध है ।

प्रथम पटल के श्लोक तीन के 'प्रणतार्त्ति विनाशन' शब्द प्रयोग के सन्दर्भ को सिद्धियों के फल के माध्यम से यह पटल भी निर्णीत करता है । प्रथम पटल

समयाचारयुक्तस्य साधकस्य वरानने ।
जायते विविधा सिद्धिः

समयाः पूर्वोक्ताः । आचारो वक्ष्यमाणो मन्त्राराधनप्रकारः । वरमुत्कृष्टं शाक्तस्फारमयमाननं भोगापवर्गप्रदपरपदप्रवेशो यस्याः ।

आचारं क्रमेण स्फुटयति–

गिरिगह्वरमाश्रिते ।।१।।

के श्लो नौ (९) में 'काल' विषयक प्रश्न है । अतएव उसे क्षेमराज ने 'प्रश्न ग्रन्थ' कहा है । श्लोक दश तक इसके साधनों की भी चर्चा है । सप्तम पटल में उन्हीं अवशिष्ट विषयों का उल्लेख किया गया है । काल का विशेष रूप से वर्णन वहाँ उपलब्ध है । काल को समस्त सिद्धियों का प्रमुख अङ्ग मानते हैं । यह भी स्पष्ट है कि, सिद्धियाँ मन्त्र साधन के माध्यम से ही मिलती हैं । साधनों के स्वरूपनिर्णय का सूत्रपात पञ्चम पटल की अन्तिम अर्धाली 'मन्त्रसिद्धेन वा देवि ! कृता वै सुकृता भवेत्' में मन्त्रसिद्ध शब्द द्वारा किया भी गया है । इस पटल के इस प्रथम श्लोक में उन्हीं विविध सिद्धियों की उपलब्धि के विधानों का भी उल्लेख है । आचारों के क्रमिक वर्णन भी स्वच्छन्द भैरव की वरदायिनी वाग्धारा में अनुस्यूत हैं । भगवान् कहते हैं–

सुमुखि ! शिवे ! समयाचार पालन में सतत संलग्न साधकों को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं । मन्त्रों के आराधन की पद्धतियाँ ही आचार मानी जाती हैं । भैरवोत्सङ्गगामिनी भैरवी शक्ति का 'वरानने' ! सम्बोधन भी अभिप्रायगर्भ प्रयोग है ।

वर शब्द उत्कृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह उत्कृष्टता उनके मुख के शाक्त स्फार के उत्कर्ष में समाहित है । उससे जितने प्रश्न निकले हैं, उनसे भोग और अपवर्ग रूप मोक्ष प्रदान करने में दक्ष परम पद में प्रवेश होता है । ऐसी प्रश्नकर्त्री शक्ति को वरानने कहकर सम्बोधित किया गया है । निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि, देवि ! आप का अधिष्ठान भोगमोक्षप्रद परमपद है । आप से ही यह समस्त शाक्त स्फार स्फुरित है । आपने काल और साधनों के सम्बन्ध में जो प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, वे भोगापवर्ग सिद्धि में सहायक हैं । वस्तुतः समयाचार पालन में संलग्न साधकों को ही अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । जिन स्थानों पर साधना से ये सिद्धियाँ शीघ्र मिलती हैं, उनमें पर्वतीय गुफाओं का प्रथमतः उल्लेखनीय स्थान है ॥१॥

गिरिगह्वर के अतिरिक्त अत्यन्त शुद्ध भूमि भाग भी साधना के योग्य होता है । इस भूभाग से शल्योद्धार प्रक्रिया से सभी प्रकार के शल्यों को निकाल लेना

सुशुद्धे भूप्रदेशे तु सर्वशल्यविवर्जिते ।
प्रच्छन्ने विजने रम्ये भैरवं तत्र पूजयेत् ।।२।।

सर्वशल्यविवर्जितत्वमहिकण्टकपरुषवातोपद्रवप्रस्रवादिहीनत्वम् । प्रच्छन्ने-ऽदृश्ये । पूजयेदिति कामनोचितेन सम्भारेण ।।१।।

अथ–

जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य सुव्रते ।
पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः सिद्ध्यते ध्रुवम् ।।३।।

बहुरूपस्य पूर्वनिर्णीतपरमार्थस्य अक्षराणां द्वात्रिंशतः परिमाणेन, लक्षमिति द्वात्रिंशल्लक्षाणि, पूर्वसेवार्थं जपित्वा, ध्रुवं निश्चितम् सिद्ध्यति यथेष्टां सिद्धिमेति साधकः । कथं जपित्वेत्याह पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः । प्रकर्षेण नूयते स्तूयते

चाहिये । शल्ययुक्त भूमि सिद्धिप्रदा नहीं होती, उल्टे विघ्नों का भय बना रहता है । 'सर्वशल्य विवर्जित' शब्द से साँपिल, कण्टाकित, कठिन वातोपद्रवप्रद स्थान भी ग्राह्य हैं । अर्थात् सब तरह निरुपद्रवा भूमि होनी चाहिये ।

इसके अतिरिक्त वह भूभाग जो प्रच्छन हो अर्थात् अदृश्य रूप से छिपा हो, वहाँ निर्जनता का वातावरण हो साथ ही रम्य भूमि हो, जो मन को भा जाये । ऐसी निरुपद्रव, एकान्त, निर्जन और मन का रमा लेने वाली भूमि में ही भैरव देव की उपासना करनी चाहिये । पूजयेत् इस प्रयोग से यह सूचित हो रहा है कि, कामनापूरक पूजोपकरणों से समन्वित होकर ही आराधना करनी चाहिये ।।२।।

मन्त्र में प्रयुक्त जितने अक्षर होते हैं, उतने लाख मन्त्र-जप करना चाहिये । जैसे भैरव के अघोर मन्त्र में ३२ अक्षर हैं । अतः अघोर मन्त्र का बत्तिस लाख जप होना ही चाहिये । बत्तिस लाख जप करने के उपरान्त मन्त्र अवश्य सिद्ध होते हैं । ये मन्त्र बहुरूप अर्थात् अनन्त अर्थों से ओत प्रोत होते हैं । इनका पारमार्थिक रूप अचिन्त्य और अनिर्वचनीय होता है । भगवान् कहते हैं कि, व्रतों को सम्यक् रूप से सम्पन्न करने में कुशल देवि ! मन्त्र के साथ पञ्च प्रणव का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिये । इस विधि से मन्त्र जप अवश्य और निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है ।।३।।

साधक जैसी सिद्धि चाहता है, वैसी यथेष्ट सिद्धि उसे प्राप्त होती है । सिद्धि के लिये पञ्च प्रणव का संयोग अनिवार्य है । प्रणव का विग्रह वाक्य है–प्र=प्रकर्षेण

अभेदपरमार्थतया विमृश्यते अशेषविश्वनिर्भरं पारमेश्वरं स्वरूपं येन स प्रणवो निष्कलनाथः, तदभिन्नव्याप्तिकः ओंकारोऽपि । तस्य च मृगमदकुलकैकदेशलेशवद्विश्लेष्यमाणाकारादिकलाः, तद्वाच्या ब्रह्मादिदेवताः, तदधिष्ठातृणि धराप्रकृतिमायादितत्त्वानि, वर्णोच्चारकला ह्रस्वादिरूपाः, तदुच्चारयित्रवस्थाश्च जाग्रदाद्याः प्रत्येकं पञ्चसंख्याः, स्थूलाः शक्तिव्यापिन्यादिकलास्तद्वाच्यतदुच्चारणकलादिरूपाश्च सूक्ष्मदशाः, ।

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च' ।

इति स्थित्या परिपूर्णचमत्कारपूर्णत्वात्प्रणवशब्दवाच्याः । अत एवैतन्मन्त्रशरीरनिविष्टत्वादेतेऽकारादयो ब्रह्मविष्णुरुद्रशक्तिशिवप्रणवाभिधेयपिण्डबीजविशेषा भिन्न-

---

नूयते=स्तूयते इति प्रणवः । प्रकर्ष का तात्पर्य है–अभेद अद्वय परमार्थ भाव में अधिष्ठित होकर स्तुति करना अर्थात् तादात्म्य भाव के विमर्श रस से सराबोर होकर, अशेष विश्वात्मक प्रसर रूप पारमेश्वर भाव से भावित होकर उस रस में रमते हुए उसका परामर्श करना । यहीं प्रणव की प्रणवता में प्रवेश हो जाता है । परिणामतः निष्कल भैरवरूप का निश्चय हो जाता है । निष्कल नाथ की व्याप्ति से प्रणव पूर्णतया पूरित रहता है ।

जैसे मृगमदकुलकवत् कस्तूरी की गन्ध हवा में भर गयी होती है । उसके एक एक अंश का विश्लेषण ग्राहक करता है, उसी तरह प्रणव रूप मृगमद के आंशिक गन्ध के रूप में ही अकार कलाओं की गणना की जाती है और उनका अनुभव साधक करता है । इन्हीं अकारादि कलाओं के वाच्य ब्रह्मा विष्णु आदि देव भी हैं । उन्हीं देवताओं की अधिष्ठात्री पृथ्वी और प्रकृति आदि शक्तियाँ भी मानी जाती हैं । वर्णों के उच्चारण की काल कलाओं को ही ह्रस्व आदि की संज्ञा दी जाती है । इनके उच्चारण की अवस्थाओं को जागृति, सुषुप्ति आदि अवस्था के रूप में जाना जाता है । इनकी प्रत्येक की पाँच पाँच संख्यायें होती हैं । इनकी स्थूल शक्तियाँ व्यापिनी आदि कलाओं में व्यक्त हैं । इनके उच्चार की सूक्ष्म कलाओं में इनकी सूक्ष्मता भी अनुभूत होती है । इसी सूक्ष्मता का ख्यापन इस उक्ति से भी होता है–

''सर्वव्यापक 'ब्रह्म' का एक अंश रूप एक प्रदेश भाग भी उसकी सर्वरूपता को ही सिद्ध करता है और निर्विकल्पता की ही पुष्टि करता है'' ।

यही निष्कलनाथ की सार्वरूप्य स्थिति है । यही प्रणव की पूर्ण चमत्कारमयी परिपूर्ण स्फुणात्मता है । यही मन्त्रात्मक पारमार्थिक रहस्यमयता का स्फूर्त्त रूप है ।

स्फारा इति कृत्वा, एते पूर्वोक्ताः सर्व एव पञ्च प्रणवा विद्यन्ते यत्र स पञ्चप्रणवो निष्कलस्तदभिन्नव्याप्तिरोङ्कारश्च । तस्मिन् पञ्चप्रणवे सम्यग्योगा[१]दुच्चारोन्मीलित-हंसपदानुलग्नतात्मकत्वात् पूर्वनिर्णीतनिष्कलव्याप्त्यभिन्नसतत्त्वसकलमन्त्ररहस्यार्थ-भावनारूपश्च यो जपस्तस्माज्जपतो न त्वक्षरपाठमात्रादित्यर्थः ॥३॥

न केवलमित्थं जपात्सिद्ध्यति यावत्–

मुच्यते न तु सन्देहो भेदनात्प्रणवस्य तु ।

पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपत इति यदुक्तं तद्वक्ष्यमाणवर्णकलादिविश्लेषेण व्याप्ति-रूपं भेदनं विना न भवति । भेदनं परतत्त्वावेशप्रदमिति मुक्तेर्निःसंशयत्व-मुक्तम् ।

मन्त्र में निविष्ट अकारादि कलाओं की कमनीयता से, ब्रह्मादि देववर्ग की दिव्यता से, पार्थिवादि और प्राकृतिक तत्त्वात्मवादिता से विभूषित वाङ्मयपिण्डात्मिका मन्त्रमयता से और सब में व्याप्त भैरवभाव की भव्यता से विभूषित विश्वात्मक विस्फार में साधक अपनी इष्टसिद्धि में संलग्न रहते हुए स्वात्म भैरवभाव का साक्षात्कार कर लेता है ।

उक्त पञ्चप्रणवों से युक्त निष्कलनाथ हैं और इन्हीं निष्कलनाथ की व्यापकता से ओतप्रोत ये पञ्च प्रणव हैं । इन्हीं के योग से निष्कलनाथ का जप होता है । इस जप में वर्ण पद मन्त्रात्मक वागात्मक नाद का परामर्शात्मक निनदन होता है । उस उच्चार में 'हंस' पद का उन्मीलन अनुभूति का विषय बनता है । इस उन्मीलन की दशा में निष्कलता की अनुलग्नता का आकलन होता रहता है । निष्कलता की व्याप्ति की अनुभूति बनी रहती है । अद्वय भैरव भाव की अभेदतादात्म्यमयी तात्त्विकता का उल्लास मन्त्रार्थ के रहस्य को उद्घाटित करता है । इसी सामग्रीवाद की सर्वमयतामयी भावना के साथ 'अघोर' मन्त्र का जप साधक करता है और यथेष्ट सिद्धि प्राप्त कर जीवन को धन्य बना लेता है । यह ध्यान देने की बात है कि, अक्षर पाठ रूप जप और उक्त विधि के साथ जप करने में कितना अन्तर है । ऐसे जप से ही ध्रुव सिद्धि की उपलब्धि होती है ॥३॥

भोग और अपवर्ग दोनों की चर्चा पहले की जा चुकी है । यहाँ उसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि, केवल सिद्धि का भोगात्मक लाभ ही नहीं मिलता वरन् निःसन्देह प्रणव के भेदन से साधक मुक्ति को भी उपलब्ध हो जाता है ।

---

१. ख. ग. घ. पु. तदुच्चारेति पाठः ।

तत्र मन्त्रोच्चाराङ्गभूतकालकलाज्ञानपूर्वककालातीतपदप्रवेशार्थं[1] तावद्भेदनमादिशति देवः–

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम् ।।४।।

प्रणवं पञ्चधा ज्ञात्वा भित्त्वा मोक्षो न संशयः ।

प्रणवमकारोकारमकारबिन्दुनादकलोच्चारेषु क्रमेण ह्रस्वाद्यतिसूक्ष्मान्तोच्चारणकालकलाप्रपञ्चरूपं भित्त्वा तत्तद्दशानुभवानुप्रवेशक्रमेणाध्यास्य परं भावमुन्मनापदासादनेन ज्ञात्वा मोक्षमाप्नोत्येवेत्यर्थः । अत्र च ह्रस्वादिनादान्ताः परस्परानुषक्त-

---

इस प्रसङ्ग में प्रणव के भेदन के सूक्ष्म सन्दर्भ पर ध्यान देना चाहिये । जब साधक मन्त्र के वर्णों, उसकी कलाओं, उसकी तात्त्विकता और उसमें व्याप्त दिव्यता के प्रतीकों का विमर्शात्मक विश्लेषण करता है, तभी परतत्त्वावेशप्रद प्रणव का भेदन सम्भव होता है । ऐसी स्थिति में मुक्ति की उपलब्धि में किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता ।

साधक मन्त्रोच्चार करता है । उसमें समय लगता है । इस समय को काल कला कहते हैं । पहले कालकलाओं का ज्ञान होता है । उसके बाद कालातीत पद में प्रवेश होता है । कालकला से कालातीत दशा में प्रवेश ही भेदन माना जाता हैं । इसी भेदन की बात इस श्लोक द्वारा व्यक्त की जा रही है–

१-ह्रस्व, २-दीर्घ, ३-प्लुत, ४-सूक्ष्म और ५-अति सूक्ष्म ये पाँच काल कालायें हैं । इनमें अतिसूक्ष्म दशा को शिव की पर-दशा कह सकते हैं । इस प्रकार प्रणव पाँच प्रकार का हो जाता है । साधक इसे जानता है । इसी को अतिक्रान्त कर पर-शिव में प्रेवश करना भेदन व्यापार माना जाता है । इसी भेदन क्रिया को सम्पन्न करने से निःसंशय मुक्ति मिलती है ।।४।।

प्रणव के उच्चार की पाँच कलाओं को 'अ' 'उ' 'म' बिन्दु' और नाद कहते हैं । यहाँ 'नाद' कहने में एक रहस्य छिपा हुआ है । आगमिक मान्यता के अनुसार 'बिन्दु' के बाद 'अर्धचन्द्र' (̆) और निरोधिका दो कलायें और आती हैं । भैरवमतानुसार अर्धचन्द्र और निरोधिका इन दोनों काल कलाओं का अन्तर्भाव नाद में कर दिया जाता हैं । क्रम के अनुसार नाद रूपी अतिसूक्ष्म कला सातवीं है फिर भी यहाँ पाँचवीं के रूप में लिखा गया है । इस प्रकार ह्रस्व से अतिसूक्ष्मान्त उच्चारण काल की कलाओं के प्रपञ्च का भेदन करना पड़ता है ।

---

१. ख. घ. पु. प्रवेशनार्थमिति पाठः ।

तयोच्चार्याः **सूक्ष्मातिसूक्ष्मयोर्बिन्दुनादयोरुपरि** अर्धचन्द्रादिनादनादान्तादि दशास्तार-तम्यभाजोऽप्यनुसर्तव्याः । यथोक्तं प्राक्-

सूक्ष्मसूक्ष्मतरैर्भावैरेवमेवं त्यजेत्प्रिये । (४/२६७)

इति । ह्रस्वादीनां यथा प्रणवत्वं तथा **निर्णीतम्**–इति सामानाधिकरण्यं युक्त-मेव । न संशय इत्युक्त्या स्वानुभवसिद्धतामस्य दर्शयति ॥४॥

इस क्रम में यह ध्यान देना आवश्यक है कि, उन उन ह्रस्वादि दशाओं की अनुभूतियाँ अनुप्रवेशक्रम से साधक को होती रहें । उन पर अध्यासन पूर्वक अपर अपर भावों की अधिकृत करते हुए पर और पर भाव पर प्रतिष्ठित होते हुए उन्मना पद पर अधिष्ठित हो जाये । इस प्रकार साधक इस प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञानवान् बन जाता है । इस तरह वह सफलता पूर्वक मोक्ष स्थिति में पहुँच जाता है ।

आचार्य क्षेमराज अपनी स्वीकृत साधना विधि को खोलते हुए यह निर्देश दे रहे हैं कि, ह्रस्व से उन्मनान्त यात्रा क्रम में ह्रस्व से नाद पर्यन्त परस्पर अनुषक्त रूप से इनका उच्चार होना चाहिये । सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दु और नाद पदों के ऊपर अर्धचन्द्र का उल्लेख प्रचलित प्रक्रिया के अनुसार गलत है । वस्तुतः बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र की गणना की जानी चाहिये । अर्धचन्द्र के ऊपर निरोधिका पद है[१] । इसके ऊपर नाद दशा आती है । नाद पद में अर्धचन्द और निरोधिका को अन्तर्भूत करने की प्रथा है । इस प्रकार नाद के ऊपर नादान्त, शक्ति और व्यापिनी पद आते हैं । इनमें तारतम्य क्रम से प्रवेश, भेदन और ऊर्ध्वानुप्रवेश करते हुए समना को अध्यासित करते हुए उन्मना में प्रवेश करते हैं । ४/२७६ में कहा भी गया है कि,

'सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भावों में अनुप्रवेश, भेदन और त्याग करते हुए ऊपर से ऊपर पहुँचना चाहिये' ।

यहाँ एक विशिष्ट तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं कि, जैसे ह्रस्व आदि को प्रणव माना जाता है, उसी तरह उन्मनान्त पदों में भी प्रणवत्व का प्रकल्पन होना चाहिये । इसीलिये इनमें सामानाधिकण्य का भी औचित्य है । न संशय पद से यह सिद्ध होता है कि, यह स्वानुभूत तथ्य है ॥४॥

---

१. स्व० त० ४/२५५ ।

तदित्थं ह्रस्वादिकालकलाक्रमेण वक्ष्यमाणवाचकादिक्रमेण चैकोऽप्ययं महा-मन्त्रात्मा–

प्रणवः पञ्चधास्थः

पूर्वम्–

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः' ।

इति स्थित्या ह्रस्वादयः पञ्च प्रणवा इत्यभिहितमधुना त्वेक एव महाविमर्शात्मा मन्त्र इत्थं पञ्चधावतिष्ठत इत्येवमभिहितम्–इत्युक्तिभेदमात्रमेतद् निर्णीतदृशा वस्तुतत्त्वैक्यात् ।

किमित्थं पञ्चधावस्थितिमात्रात्मैवायम् ? नेत्याह–

हंसेन सह संयुतः ।।५।।

पूर्वम्–

................हंसोच्चारस्त्वथोच्यते ।

हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः' ।। (४/२५७)

उपर्युक्त ह्रस्व आदि कालकलाओं के क्रम से और आगे कहे गये वाचकों के क्रम से एक रूप यह महा मन्त्रात्मा प्रणव पाँच अवस्थाओं में रूपायित है । ब्रह्म के सार्वरूप्य के सिद्धान्त की तरह उसका एक अवयव भी ब्रह्ममय ही माना जाता है । इसी तरह ह्रस्वादि एक देश भी प्रणव रूप ही हैं । इसीलिये इन्हें पाँच प्रकार का माना जाता है । यद्यपि महाविमर्श रूप यह प्रणव मन्त्र पाँच प्रकार से अवस्थित है फिर भी वह एक ही है । भेद कथन तो कथन मात्र है और साधना प्रक्रिया की समझ के लिये है । वास्तविकता में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, क्या यह पाँच प्रकार के रूपों वाला मात्र है या इसका कोई और अनुवर्त्ती वर्ण इसके साथ है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं कि, यह हंस के साथ संयुत रहता है ।।५।।

पहले चतुर्थ पटल के श्लोक २५७ में भी 'हंस' का वर्णन किया गया है । हंसोच्चार के क्रम में यह जानना आवश्यक है कि, 'ह' अक्षर प्राण का ही प्रतीक है । यह पूरी हलाकृति कुण्डलिनी के माध्यम से सारे शरीर में प्रवृत्त है । उसी क्रम में इसे अनाहत ध्वनि माना गया है । इसलिये स्वतः प्रवृत्त इस

इति ग्रन्थेन हंसोऽनाहतध्वनिरिति निर्णीतम् । अतस्तेन स्वप्रवृत्तत्वादेवाकृतक-मध्यमप्राणस्फुरत्तारूपेण समनन्तरवक्ष्यमाणनीत्याशेषविश्ववाङ्मयस्फारमयेन सह संयुतस्तद्विमर्शविश्रान्तिपरमार्थोऽयमत्रत्यो महामन्त्ररूपः प्रणवः ॥५॥

तथा च–

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके शिवज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।

शिवज्ञानं च तत्रस्थं

यत्किञ्चित् षडध्वनो मध्याल्लोकेऽस्ति तत्सर्वं शिवज्ञानं च शिवो ज्ञायते-ऽनेनेति शिवज्ञानं ज्ञानस्फारमये पारमेशोक्तव्याप्तिसारे प्रणवे, प्रोक्तवक्ष्यामाणदृशा प्रतिष्ठितमभेदेनान्तःस्थितं यतस्तद्वाङ्मयं परावाक्प्रसररूपम् । यथोक्तं श्रीसारस्वते स्तोत्रे–

'ह'कार वर्ण के प्रभाव से मध्यम प्राण का स्फुरण होता है । इसके कारण और समस्त विश्व वाङ्मय के विस्फार की शक्ति के प्रभाव के कारण यह हंस 'ओ'ङ्कार के साथ सदा संयुत रहता है । हकारात्मक विश्व विमर्श की विश्रान्ति का भी प्राण ही आधार है । इस दृष्टि से 'प्रणव' 'महामन्त्र' है–यह सभी आगम स्वीकार करते हैं ॥५॥

रहस्य की यह बात विचारणीय है कि, जिस रूप में जो भी वाङ्मय का स्वरूप लोक में प्रचलित है, वह सारा शिव ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है और समस्व शैव-ज्ञान-विज्ञान भी उस वाङ्मय में ही प्रतिष्ठित है । जगत् षडध्वविज्ञान से ओतप्रोत है । लोक में जो कुछ है, वह षडध्व के मध्य में उल्लसित है । दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि, लोक में जो कुछ षडध्व रूप से व्यक्त है, यह सब शिवज्ञानमय ही है ।

शिवज्ञान का विग्रह वाक्य है–'शिवो ज्ञायते अनेन इति शिवज्ञानम्' । इसके अनुसार प्रणव का पर्याय 'शिवज्ञान' शब्द हो जाता है । प्रणव से शिव का ज्ञान होता है । इस शिवज्ञान में अर्थात् ज्ञानस्फारमय शैव सद्भाव विज्ञान में यह परमेश्वर की व्याप्ति का सार सर्वस्व प्रणव भी व्याप्त है । इस दृष्टि से 'प्रणव' 'शिवज्ञान' और षडध्वव्याप्तिसार लोक सब एक रूप, एक रस और ऐक्यमय शैवसद्भाव से भरा हुआ चमत्कार सा लगता है ।

इस प्रणव में अभेद अद्वय भाव से समस्त वाङ्मय प्रतिष्ठित है । उसी में अन्तःस्थित परावाक् स्वरूप यह सारा प्रपञ्चात्मक प्रसर भी स्फुरित है । सारस्वत स्तोत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि,

'त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथ त्रीनपि स्वरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरनुरुन्धानमणुभिः
समस्तव्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्' ॥ इति ।
(म० स्तो० २७)

प्रणव इति वक्तव्ये शिवज्ञान इत्युक्तेरयं भावः–यद् वेदगारुडवैष्णवादिषु रूपसाम्येऽपि प्रणवस्य पारमेश्वरे प्रोक्तवक्ष्यमाणज्ञानव्याप्तिसारताकृत उत्कर्षः । अत एव एतद्व्याप्तिज्ञानानुसारेण सर्वत्राप्यसौ पूर्णस्फारमयत्वेन परसिद्धिप्रदः । यथोक्तम्–

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम्' । इति । (स्व० ५/४५)

तत्तत्परिमितव्याप्त्यनुसारेण तु स एव मितसिद्धिप्रदः । यदभिप्रायेण वक्ष्यति–

हे शरण्य परमेश्वर ! त्रयी (वेदत्रयी अथवा वृहत्त्रयी), तीन वृत्तियों, तीनों भुवनों और तीनों स्वरों को, तीन अकारादि वर्णों से व्यक्त, समस्त विकारों को अतिक्रान्त कर अत्यन्त शुद्ध भाव से प्रकाशमान तुम्हारा तुरीय धाम है । अणु ध्वनियों से भी तुम्हारा अनुसन्धान सम्भव है । समस्त और व्यस्त रूपों में तुम्हें मात्र 'ओम्' यह पद ही पूर्ण रूप से वाग्व्यवहार का विषय बना लेता है ।

श्लोक ५ में 'प्रणव' और श्लोक ६ मे 'शिवज्ञान' इस विशेष्य विशेषण रूप प्रयोग का तात्पर्य ही यह है कि, वेदों में गरुडप्रोक्त शास्त्रों में और वैष्णव शास्त्रों में विज्ञान दृष्टि से प्रणव का रूपतः अर्थसाम्य दृष्टिगत होता है फिर भी पारमेश्वर शास्त्र में ज्ञान व्याप्ति की दृष्टि से अर्थतः उत्कर्ष है । अतः इस व्यापक विज्ञान के अनुसार प्रणव सर्वत्र पूर्णस्फारमय होने के कारण 'पर' भाव की सिद्धि में समर्थ है ।

इसी स्वच्छन्दतन्त्र के पटल ५/४५ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, 'चूँकि यह सारा का सारा वर्णोदय विज्ञान और ये सारे शास्त्र शिव से ही उद्भूत हैं । अतः शिवधाम रूप महाफल प्रदान करने में समर्थ हैं अथवा अपवर्ग रूपी फल प्रदान करते हैं' ।

इनकी सार्वत्रिक व्याप्ति के साथ परिमित व्याप्ति स्वाभाविक मानी जाती है । इसीलिये अमित और मित सबकी सिद्धि का प्रदाता यही माना जाता है । इसी तन्त्र के १०/११३९ श्लोक में मित-सिद्ध की दृष्टि से ही यह कहा गया है कि,

'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया' । इति । (१/११३१)
आस्तां तावदेतदिह । यच्चैतदेवंविधप्रणवात्मकं शिवज्ञानं तदपि । तत्रेति निरूपित-सतत्त्वे हंसे, तिष्ठति ।

तदित्थमस्मिन्निष्कलनाथे पञ्चप्रणवे नित्योच्चरन्नादावमर्शरूपः-

हंसः प्रणवसंयुतः ।।६।।

प्रणवे प्रोक्तसतत्त्वे सम्यग्युतः प्राणरूपतया स्थितः, अत एवाशेषविश्व-क्रोडीकारिहंससम्बन्धादेव शास्त्रान्तरोक्तब्रह्मविष्णुरुद्रशक्तिशिवप्रणवाभेदव्याप्तिरयं महामन्त्र इत्युक्तमेव । अतश्च यदुक्तम्-

'पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः सिद्ध्यति ध्रुवम्' । इति ।
तत्रानाहतविश्रान्तिसतत्त्वो निष्कलोच्चारप्रगुणीकृतमध्यधामसंलीनतया जपः कार्यः इति परमार्थः पर्यवसितः ।।६।।

'अमोक्ष में ही मोक्ष की लिप्सा से लगे लोगों को यह माया आवागमन के चक्र में डालती रहती है' ।

इस विषय का उपसंहार करते हुए आचार्य कह रहे हैं कि, यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि, यह २५ विधाओं में व्याप्त प्रणवात्मक विज्ञान शिव ज्ञान ही है । यह 'हंस' में ही प्रतिष्ठित है ।

इसी आधार पर अन्तिम अर्धपदी में कहते हैं कि, 'हंस' प्रणव से समन्वित है अर्थात् जैसे शरीर में प्राण विद्यमान है, उसी तरह प्रणव में प्राण रूप से हंस अवस्थित है । इसीलिये इस समग्र विश्व विस्फार को आत्मसात् करने में समर्थ 'हंस' के सम्बन्ध के आधार पर ही अन्य शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शक्ति और शिव से जिनका कथन किया गया है, वे सभी प्रणव से अभेद रूप से सम्बद्ध हैं । इसीलिये प्रणव को 'महामन्त्र' की संज्ञा से विभूषित करते हैं । इसीलिये श्लोक तीन में यह घोषणा जानबूझ कर की गयी है कि, 'पाँच प्रणव रूप निष्कलनाथ के प्रतीक इस महामन्त्र रूप ओङ्कार की साधना से या जप से निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है । यह ध्रुव सत्य है' ।

पारमार्थिक रूप से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, अनाहत विश्रान्ति सद्भाव सम्पन्न निष्कल महामन्त्र के उच्चार को पाँच प्रकार के प्रकर्ष से प्रगुणित करते हुए और मध्य धाम में संलीन रहते हुए जप करना चाहिये । तभी सिद्धि प्राप्त होती है ।।६।।

अथ प्रणवसंयोगं विना कीदृगयम् ? इत्याशङ्क्याह–

विना प्रणवसंयोगाज्जीव एको व्यवस्थितः ।

जीवो विश्वस्य प्राणभूतो हलाकृतिरेव, यथोक्तम्–

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः । इति । (४/२५७)

अत्र प्राण इत्यकारादिकलात्मकप्रणवसंयोगं विना । एक इति अद्वितीयः । सर्वमन्त्रवीर्यान्तर्व्यवस्थित इत्यविचलद्रूपतयानुच्चार्यः, अथ चाव्यवस्थितो न केनचित्प्रतिनियतेन रूपेण स्थितोऽनियन्त्रितस्फार इत्यर्थः । जीवशब्देन व्यवहरन्नयमेव महास्फुरत्तारूप आत्मा मन्तव्य इति ध्वनति । कश्चित्तु मन्त्रस्वरूपनिरूपणपरे ग्रन्थेऽस्मिन्मुख्यं च शब्दार्थमुत्सृज्य हंसशब्देन हंसपथः प्राणशब्देन च स एव, यदि वा प्रणवप्राणयोरैक्यात्प्राणयोगं विना जीवः पुरुषः, एक इत्यनभिव्यक्तज्ञानक्रियास्वभावः, इति व्याचष्टे । तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसो जानन्ति ।

प्रणव के संयोग के विना प्रणव-संयोग रहित एक मात्र जीव ही व्यवस्थित रह जाता है । जीव भी विश्व का प्राण रूप ही माना जाता है । इसकी आकृति हल के समान होती है । कहा गया है कि, 'ह'कार प्राण रूप में स्मरण किया जाता है । यह स्वयं सु प्रवृत्त होता है । इसकी आकृति हल के समान होती है ।

प्राण अकारादि कलात्मक प्रणव के विना एकाकी व्यवस्थित रहता है । यह अद्वितीय वर्ण माना जाता है । यह सभी मन्त्रों का वीर्यरूप होता है और उनमें आन्तरिक रूप से व्यवस्थित रह कर उन्हें अविचलद्भाव से अनुच्चार्य रहते हुए भी उच्चारित करने में सहायक होता है ।

जब यह व्यवस्थित नहीं रहता है, तो एक प्रकार के प्रतिनियत रूप से इस तरह स्फुरित होता है मानो इस पर किसी का कोई नियन्त्रण ही नहीं हो । जीव शब्द से व्यवहार में रहते हुए यह महास्फुरत्ता रूप 'आत्मा' के भाव में ही ध्वन्यमान होता है ।

इस सम्बन्ध में किसी ने मन्त्रस्वरूपनिरूपक ग्रन्थं में इसके मुख्य शब्दार्थ को छोड़कर 'हंस' शब्द से हंस पथ अर्थ का उल्लेख किया है । साथ ही प्राण शब्द से हंस अर्थ को ही गृहीत किया है । यदि प्रणव और प्राण की एकार्थता स्वीकार की जाय तो प्राण योग के विना जीव को पुरुष मानना पड़ेगा और एक शब्द से अनभिव्यक्त ज्ञान और क्रिया स्वभाववान् परमेश्वर मानना पड़ेगा । इस अर्थ की प्रामाणिकता बोध सिद्ध विज्ञानवान् व्यक्ति के ही ऊपर निर्भर है ।

यतोऽयं प्रणवसंयोगं विना स्वरूपमात्रावस्थितो जीवस्ततः–

यथाप्रकृति संयुक्तो न च तिष्ठति चैकतः ।।७।।
तथा षष्ठेन संभिन्नो देहे जीवः प्रवर्तते ।

जीवो हंसः प्रकृत्यनतिक्रमेण स्वभावानुल्लङ्घनेन संयुक्तः, स्वभावानुल्लङ्घनेन चास्य 'विभक्तिर्नानयोरस्ति'

इत्युक्तनीत्या अकारसंगत एव भवतीत्यकारेण संयुक्तोऽसौ । एकत इत्येकस्मिन्नद्वितीये सामान्यस्पन्दात्मनि रूपे न तिष्ठति; अपि तु किञ्चित्स्पन्दाधिक्यमिव भजते यथा, तथा षष्ठेन ऊकारेण संभिन्नो मिश्रितो देहे प्रवर्तते सर्वेण स्वाभाविकेन प्राणवाहेन वहँल्लक्ष्यत एव । तथाशब्दापेक्षया यथाशब्दोऽप्यत्राध्याहार्यः ।

पूर्वोक्तकरणबन्धानुसारिणा–

चोदितस्तु यदा तेन तदा चोर्ध्वं प्रवर्तते ।।८।।

तेनेति षष्ठेन ऊकारेणार्थाद्बिन्द्वादियुक्तेन । तदा चेति तदैवेत्यर्थः । ऊर्ध्वमिति ताल्वादिस्थानम् । एतच्चोदनां विना त्वस्याकारयुक्तस्यापि नोर्ध्वप्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ।।८।।

यहाँ भी क्षेमराज ने उस विद्वान् टीकाकार का नाम नहीं लिखा है । इससे इतिहास संकुचित होता है ।

जीव 'हंस' जब प्रणव संयोग से रहित होता है, उस समय वह स्वरूप मात्र में अवस्थित होता है । प्रकृति को अतिक्रान्त न करने के कारण यथा-प्रकृति रूप में ही स्थित रहता है । स्वभाव के अनुल्लङ्घन के कारण अ से संयुक्त 'ह' रूप में रहने के कारण इनमें किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता । इस दशा में भी वह एक सामान्य स्पन्द रूप में भी नहीं रह पाता अपितु छठे स्वर 'ऊ'कार से संभिन्न अर्थात् मिश्रित होकर 'हूँ' रूप से जीव भाव से देह में प्रवर्त्तित रहता है । स्वाभाविक रूप से अयत्नसिद्ध प्राणचार में वहन करता हुआ परिलक्षित होता है । 'तथा' शब्द के साथ यथा का प्रयोग भी श्लोक में अध्याहृत करना यहाँ अपेक्षित है ।

इसी ह्+ऊं के योग के प्रभाव से प्रेरित होकर प्राण ऊर्ध्व की ओर स्फुरित होता है और प्राणवाह की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है । इस बिन्दु युक्त स्वर के छठें स्वर के अभाव की स्थिति में प्राणापानवाह की प्रक्रिया भी असम्भव हो जाती है और जीवन के समाप्त होने का भय उपस्थित हो जाता है ।।८।।

तदित्थम्–

प्रत्यक्षमपि तत्तत्त्वं महामायाविमोहिताः ।
कथितं नाभिजानन्ति विना शास्त्रेण चोदनाम् ।।९।।

तदेतन्नादावमर्शसारं मन्त्रतत्त्वम्, सर्वस्य प्रमातृरूपं सदोच्चरद्रूपत्वात्स्वप्रकाशमपि, तथा शास्त्रेणेत्यागमवाक्यैः कथितमपि, महामायया सदाशिवेशादीनपि मोहयन्त्या अपूर्णताख्यातिपरमार्थया विशेषेण चिद्रूपत्वादात्मस्वरूपे विश्वत्रानन्त्यात्मतावभासनपुरःसरमनात्मनि देहादावात्मतामवभासयन्त्या मोहिताः सङ्कुचत्तां ग्राहिताः । चोदनामिति महामायातिरस्कारिपरमेशानुग्रहकारिशक्त्युद्बोधनं विना न अभीति आभिमुख्येनाश्वासरूढ्या जानन्ति । अतः सर्वथैतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव परमोपादेयमिति तात्पर्यम् । उक्तं च ज्ञानगर्भे–

इस प्रकार इस अत्यन्त जीवन प्रद प्रत्यक्ष तत्त्व का जिसके द्वारा प्राणवत्ता का नदन हो रहा है और जो निष्कल मन्त्र से शाश्वत स्फुरित तत्त्व है, सभी प्रमातृ वर्ग में सदा उच्चरित हो रहा है, एवं प्रकाशमान भी है, शास्त्रों (आगमों) द्वारा जिसका सर्वदा उद्धोष भी रहा है, ऐसे प्रकाशमान तत्त्व रूप का भी प्रत्यक्षीकरण महामाया से विमोहित लोग नहीं कर पाते ।

सामान्य लोगों की तो बात ही क्या ? उच्च देव पदवी पर आसीन ईश और सदाशिव तक भी उसका अनुभव नहीं कर पाते । यह महामाया अपूर्णाख्याति रूपा शक्ति मानी जाती है । यह विशेष रूप से चिद्रूप होने के कारण विश्वानन्त्य में आत्मभाव भासित करती है और अनात्म देहादि में भी आत्मभाव के अवभास के कारण भेदवाद का अवभासन करती है । फलतः इस भेद के मायाजाल से सभी मोहित हो जाते हैं और संकोच का ग्रहण करते हैं ।

इस स्थिति में महामाया की उपेक्षा पूर्वक परमेश्वर के अनुग्रह को प्रदान करने वाली किसी प्रेरक और अवबोधक शक्ति की आवश्यकता होती है । अनुग्रह के कारण निश्चयात्मक आश्वासन होता है और परमेश्वर का आभिमुख्य मिल जाता है । उसी समय माया की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है और साधक या विशिष्ट शाक्त पदाधिकारी चेत जाता है । इस तरह उसके कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

'ज्ञानगर्भ' नामक शास्त्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि,

हे अम्बे ! तुम्हारी परमाक्षरी मूर्त्ति ही इस बाह्य उल्लास में व्याप्त है । साथ ही यह उसमें प्रवेशकर प्रणव रूप से उसमें प्राणता का अनुप्राणन भी करती है और हृदय पद्म कोश में निवास करती है । ऐसे लोग जो अकृतात्मा हैं अर्थात्

'तवाम्ब परमाक्षरी भवति रूपमेतद्बहिर्विशप्रणवरूपतां समुपयाति हृत्कोटरे। अवेद्यमकृतात्मभिर्जननि बिन्दुनादात्म यद्विदन्ति तदहेलया त्वदनुसंस्मृते-र्योगिनः' ॥ इति ॥९॥

तज्ज्ञप्त्यर्थमाह–

षष्ठश्चोर्ध्ववहो ज्ञेयः स्वभावमुखसंस्थितः ।

षष्ठ ऊकारः, 'चोदितस्तु यदा तेन' इत्यत्र य ऊर्ध्ववह ऊर्ध्वप्रवर्तक उक्तः, स्वभावो विश्वानुप्राणको मध्यमार्गः स एव मुखं शिवपदप्राप्त्युपायस्तत्र सम्यक्-पूर्वोक्तकरणबन्धक्रमेणोच्चरन् ज्ञातव्यः ।

अतश्च–

अप्रकाशः स्वदेहस्थो गुणभूतः प्रवर्तते ।।१०।।

योऽयं स्वप्रवृत्तत्वात्प्रकाशयितुमशक्यो रहस्यरूपश्चानाहतनाथः, स्वे आत्मीये उपचितरूपे मध्यधामात्मनि देहे तिष्ठति नित्यावस्थितः, स गुणप्रकारं भूतः प्राप्त-स्तेन युक्तः सन् प्रवर्तते ऊर्ध्वमारोहतीत्यर्थः ॥१०॥

आत्मज्ञान की उपलब्धि से कृत कार्य नहीं हो सके हैं ऐसे लोगों द्वारा यह तुम्हारा परमाक्षरी रूप अज्ञेय ही रह जाता है । जननि ! तुम्हारा यह रूप बिन्दु नादमय ही माना जाता है । तुम्हारा नित्य स्मरण करने वाले नित्य युक्त योगी लोग उसे सावधानी पूर्वक लगकर जान लेते हैं और उसी में रम जाते हैं ।

यही तात्त्विक तत्त्वपरिज्ञान माना जाता है और यही परम उपादेय है ॥९॥

उसकी ज्ञप्ति के लिये स्वभावोन्मुख रूप से संस्थित छठाँ ऊर्ध्ववह मध्यमार्ग ही जानने योग्य है । षष्ठ स्वर वर्ण 'ऊ'कार है । इसी से प्रेरित होकर ऊर्ध्व की ओर गतिशील होने की सक्रियता प्राण में आती है । इसे ही ऊर्ध्ववह स्वभाव कहते हैं । प्राणवाहरूप से विश्व में यही अनुप्राणित है । शिवत्व की उपलब्धि का मुख उपाय होने के कारण इसे मुख कहते हैं । उसी मध्य मार्ग में संस्थित योगी अपनी सत्ता को महासत्ता से समन्वित कर लेता है । इसमें रहने की प्रक्रिया का नाम करणबन्ध है ।

वह अपने ही शरीर में अवस्थित है । रहस्य रूप होने के कारण अप्रकाश है । स्वयं प्रवृत्त है । अयत्नसाध्य रूप से स्वयं संस्फुरित होने के कारण सामान्य जन को वह प्रकाशित नहीं हो पाता । इसी कारण वह रहस्य रूप अनाहतनाथ मध्यधाम में रहते हुए भी अपरिचित ही रह जाते हैं । नित्यावस्थित अनाहतनाथ गुणित होकर ही ऊर्ध्व की ओर प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥

अन्यथा–

निर्गुणस्तु यदा देव एकाकी कालवर्जितः ।

विज्ञातव्यं न किञ्चित्स्यात्केवलो निष्कलस्तु सः ।।११।।

स्वतन्त्रचित्स्फारमयत्वाद्देवः, तदतिरिक्तस्याभावादेकाकी, नित्यत्वात्कालवर्जितः, ईदृग्योऽनाहतनाथो न च तद्विज्ञातव्यं किञ्चिद् नासौ केनापि प्रकारेण ज्ञेयो भवति ज्ञात्रेकरूपत्वादत एव केवल इत्यद्वितीयः । कलाभ्योऽकारादिवर्णेभ्यो ह्रस्वादिकालकलाभ्यो मेयत्वरूपपरिच्छेदेभ्यश्च निष्क्रान्तः, ताश्च कला यस्मान्निष्क्रान्ताः स एव चिद्घनपरमार्थ इति यावत् । एतत्सारत्वादेव च चतुष्कलनाथोऽपि निष्कल इत्युच्यते ॥११॥

अतश्च–

तस्य रूपं शरीरं च नास्ति वर्णः क्रिया तथा ।

गुणभूत न होकर जब यह निर्गुण भाव में स्पन्दित रहता है, उस समय यह एकाकी परमेश्वर अकाल पुरुष के रूप में उल्लसित रहता है और काल वर्जित निष्कल अवस्था में योग युक्त भाग्यशाली पुरुषों को भी प्रायः अज्ञात ही रह जाता है । इसके उस रहस्य रूप का परिज्ञान किसी रूप में होना बड़ा कठिन है ॥११॥

उस निष्कल नाथ को 'दिव्' धातु के धात्वर्थ में निहित चिद्रूपता के रहस्य विस्फार के कारण 'देव' कहते हैं । वह अनुत्तर तत्त्व है । उसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नितान्त अमान्य है । इसलिये उसे एकाकी कहते हैं । वह शाश्वत है, नित्य है । अतः कालकलाओं रहित है । ऐसा यह अनाहतनाथ किसी से कैसे किसी रूप में भी किञ्चित्त्व की सीमा में समाकर जाना जा सकता है ? इसीलिये उसे अज्ञेय माना जाता है । किसी तरह वह ज्ञेय नहीं हो सकता । ऐसा वह परमात्मा अद्वितीय होने के कारण केवल एक रूप ही शास्त्र में प्रतिपादित है । आकरादि वर्णों की एक एक कलायें मेय मानी जा सकती हैं । अतएव परिच्छेद मयी होती हैं । इनको भी अतिक्रान्त कर वह अवस्थित है अर्थात् महास्फुरत्ता रूप से स्फुरित रहते हुए भी वह अज्ञेय ही रहता है । केवल चिद्घनपरमार्थ चतुष्कल नाथ रहते हुए भी निष्कलनाथ की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है ॥११॥

उसका कोई रूप नहीं है । उसे शुद्ध स्फुटिक आदि की आभाओं से अतिशायी माना जाता है । उसका कोई शरीर नहीं है । पञ्चवक्त्र आदि उसके विशेषण उपलक्षण मात्र हैं । ये अकारादि वर्ण भी उसके वाचक नहीं हो

रूपं शुद्धस्फटिकाभत्वादि । शरीरं पञ्चवक्त्रादि वाच्यगतम् । वर्णः अकारादिर्वाचकरूपः । क्रिया उच्चारादिरूपा । कश्चित्तु वर्णो ब्राह्मणादिः, क्रिया तदुचिता चेष्टेति । तदित्थं ज्ञेयपक्षादुत्तीर्णः–

स कथं गृह्यते सूक्ष्म अग्राह्यो नित्यमव्ययः ।।१२।।

सूक्ष्मो विश्वकारणम् । अग्राह्य इन्द्रियागोचरः । अव्ययोऽपरिणतिधर्मा ॥१२॥

यतोऽयमीदृक्–

एतस्मात्कारणाद्देवि षष्ठं बीजं नियोजितम् ।

अस्य परमेशेन मन्त्रराजरूपताप्राप्त्या । पुंसामनुग्रहायेति शेषः । तन्नियोजनाच्च–

पञ्चपञ्चकसंयुक्तो देहे सकलनिष्कलः ।।१३।।

सकते । उसमें उच्चार आदि की क्रिया का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता । वर्ण रूप ब्राह्मण क्षत्रियादि और उनकी वर्णोवित क्रियायें भी उसमें नहीं प्रकल्पित की जा सकती ।

ऐसा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म को भी अतिक्रान्त कर समुल्लसित सर्व व्यापक प्रमाता परमेश्वर नित्य रूप से सबसे अग्राह्य है । अव्यय है और शाश्वत तत्त्व है । विश्व का वही कारण है । इन्द्रिय से भी वह गोचर नहीं होता । अपरिणति ही उसका धर्म है ॥१२॥

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! भैरवि ! इन ऊपर कहे गये परमेश्वर स्वरूप की अनिर्वचनीयता के कारण उसके बीज वर्ण को मन्त्रराज कहते हैं । युक्त पुरुषों पर अनुग्रह की दृष्टि से ही उसमें छठे स्वर बीज का उसके साथ नियोजन किया गया है । इसके नियोजन से पञ्च पञ्चक संयुक्त 'हूँ' बीज रूप वह अप्रकल्प्य परमेश्वर इस शरीर में सकल निष्कल भाव से देह में अवस्थित होता है । पाँच पञ्चकों का स्वरूप इस प्रकार मानना चाहिये–

१–प्रथम पञ्चक– ह्रस्व आदि रूप प्रसिद्ध उच्चारण काल कलायें, जैसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म ।

२–द्वितीय पञ्चक– अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद रूप वाचक पाँच कलायें ।

३–तृतीय पञ्चक– इसके वाच्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश और सदाशिव ।

ह्रस्वादिरूपमुच्चारणकालकलानां पञ्चकमेकम्, अकारोकारमकारबिन्दुनादाख्यवाचककलानां द्वितीयम्, तद्वाच्यब्रह्मविष्णुरुद्रेशसदाशिवानां तृतीयम्, तदधिष्ठेयधराप्रकृतिमायेश्वरसदाशिवतत्त्वादीनां चतुर्थम्, वर्णोच्चारयित्रवस्थानां जागरस्वप्नसुषुप्ततुर्यतुर्यातीतानां पञ्चममिति पञ्चभिरुक्तवक्ष्यमाणैः पञ्चकैः परापररूपतया स्थितैर्यदा देहे हृत्कण्ठादिक्षेत्रे संयुक्तस्तदानाहतभट्टारको निष्कलोऽपि विचित्रेदृक्कलायोगात्सकलनिष्कल उच्यत इत्यर्थः ।।१३।।

तेनैतदुच्चारणेऽपि निष्कलतत्त्वविश्रान्तावेवावधातव्यमित्याह–

ग्रहणं तु यदा तस्य योगी योगविचिन्तकः ।
योगेनावाहितस्यापि भावमात्रं तु भावयेत् ।।१४।।

अत्र श्लोक इच्छतीत्यध्याहार्यम् । तेनोक्तरूपपञ्चपञ्चकव्याप्तिरूपं योगं यो विकल्पपूर्वकाविकल्पविमर्शात्मकं चिन्तयति स योगी यदा तस्य ग्रहणमुच्चारणमिच्छति तदा, योगेन पूर्वोक्तदिव्यकरणबन्धाद्यात्मना, आ समन्ताद्वाहितस्य मध्यधाम्नाभीष्टं पदं प्रापितस्यापि, भावमात्रमिति–

४–उनकी अधिष्ठेय– धरा, प्रकृति, माया, ईश्वर, और सदाशिव तत्त्व ।

५–वर्णोच्चार की पाँच अवस्थायें– जागर, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुरीयातीत । सकल निष्कल भाव से शरीर में हृदय, कण्ठ आदि क्षेत्रों में अनाहत भट्टारक निष्कल होते हुए भी उक्त पञ्च पञ्चक कलाओं से योग के कारण सकल निष्कल रूप से देह में अवस्थित है ।।१३।।

उसके उच्चार में लगे कला–साकल्य की विश्रान्ति उसी निष्कल भाव में होती है; यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये । यही कह रहे हैं–

इस पञ्चपञ्चक व्याप्ति सतत्त्व भाव योग से युक्त योगी योग विचिन्तक माना जाता है । वह विकल्प परामर्श पूर्वक अविकल्प विमर्श का ही अनुचिन्तन करता है । उसी समय उसका ग्रहण होता है अर्थात् भावात्मक अनुभूति में विश्रान्ति होती है । इस अनुचिन्तन के क्रम में वह दिव्य करणबन्ध की प्रक्रिया अपनाता है और उसका आवाहन करता है । इस प्रक्रिया में वह मध्यधाम में ही अनुप्रविष्ट रहता है और भावना के प्राबल्य से भावित रहता है । इसी भावित अवस्था में उसी भावमात्र अवस्था में उसका भावन योगी करे, यह शास्त्र का निर्देश है ।

उस परमेश्वर के विषय में इसी शास्त्र के पटल ४/२९३ द्वारा कहा गया है कि, ''वह परमशान्त परमेश्वर सत्तामात्र से स्फुरित और उल्लसित है'' ।

'सत्तामात्रं परं शान्तम्' (४/२९३)

इति योजनिकाग्रन्थनिर्णीतमनाहतध्वनिपरमार्थपूर्णस्फुरत्तां भावयेदुक्तव्याप्तिकमन्त्रोच्चिचारयिषाविमर्शपुरःसरं तद्ग्रहणेनैव मन्त्रभूमिमारुह्य, तदपरकोटौ विश्राम्यन्मन्त्रवीर्यमनुशीलयेदित्यर्थः । तदुक्तं शिवसूत्रेषु–

'विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्' । इति । (२/३)

तथा–

'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुप्रवेशः' । इति । (१/२२)

महाह्रदस्य विद्याशरीरस्य परसंवित्स्फारस्य सत्ता स्फुरत्ता मन्त्राणां रहस्यं वीर्यम्, तत्र चानुप्रवेशो महाह्रदस्य मध्यमार्गस्यानुगततया मन्त्रव्याप्त्यनुसरणपूर्वकतदुच्चिचारयिषाविमर्शानुप्रवेशात्मनः–

सन्धानान्मन्त्रविश्रान्त्यारोहादित्यर्थः ॥१४॥

यह तथ्य 'योजनिका' क्रिया के सन्दर्भ में निर्णीत है । वह स्फुरण अनाहत ध्वनि का ही पारमार्थिक स्वरूप है । वस्तुतः योगी को इसी महास्फुरत्तात्मक व्याप्ति से ओतप्रोत मन्त्र के उच्चारात्मक विमर्श भूमि पर उस परम तत्त्व को आत्मसात् करना चाहिये । मन्त्र की मान्त्रिकता की भावभूमि पर आरोहण कर पारमेश्वर पराकोटि में समाकर मन्त्र के महाप्रभाव का स्मरण करना चाहिये ।

शिव सूत्र २/३ के अनुसार विद्या शरीर की सत्ता में मन्त्र रहस्य प्रकाशित होता है । वस्तुतः मन्त्र चैतन्य होने पर जिस मन्त्रात्मक शाक्त-चेतना का बोध होता है, उसे ही विद्या कहते हैं । कुण्डलिनी की जागृति का रहस्य श्रीविद्या में प्रसिद्ध है । मन्त्रों के अक्षर मन्त्र शरीर हैं । मन्त्र के अधिष्ठाता देवता उसी में रहते हैं । जागृत विद्या के साक्षात्कार में ही मन्त्र का रहस्य चरितार्थ होता है ।

इसी प्रकार शाम्भवोपाय के २२ वें मन्त्र में मन्त्र के वीर्य में अनुप्रवेश का कारण बतलाया गया है । यहाँ कहा गया है कि, महाह्रद का अनुसन्धान करने से ऐसा होता है । वहाँ महाह्रद उसी पारमेश्वर परा व्याप्ति की अमृतमयता को ही कहा गया है । वही विद्या का शरीर है । उसी परासंवित्स्फार को विद्या कहते है । उसी के स्फुरण में मन्त्रों का रहस्य छिपा हुआ है ।

जिस मध्य मार्ग का अनुसरण कर मन्त्रव्याप्ति का सन्धान करते हुए साधक मन्त्र का परमर्श करता है, उसी समय महासत्ता में अनुप्रवेश स्वाभाविक है । उसी के सन्धान में मन्त्रविश्रान्ति में आरोह का रहस्य व्यक्त हो जाता है ॥१४॥

एवं मन्त्रवीर्यानुप्रवेशयुक्तिमुक्त्वा साधकोचितं तदनुप्रवेशक्रममाह–

यदा करोति सृष्टिं च ऊर्ध्वे बिन्दुः प्रवर्तते ।

आराधको यदा सिद्धिकामो भवति, तदास्योक्तयुक्त्यैव कृतोर्ध्वपदविश्रान्तेराराधकसंविदनुसारेणोन्मिषितशाक्तबलो मन्त्र ऊर्ध्वे सर्वाध्वमूर्धनि समस्तभावाभावरूपशिवादिकालाग्न्यन्तजगदासूत्रणात्मकाविभागप्रकाशरूपः प्रवर्तते, ततः प्रभृति सृष्टिक्रमेण हृदन्तमस्यापूरयति अभिलषितपदापूरणेनेत्यर्थः ।

मुमुक्षोस्तु न प्रोक्तसतत्त्वबिन्द्ववष्टम्भप्राधान्येन मन्त्रोच्चारणम्; अपि तु–

बिन्दूपरि च यच्छान्तः शिवः परमकारणम् ।।१५।।

तत्र बिन्दुर्लयं याति

परमकारणत्वेन परमशिवाद्वैशिष्ट्यमुक्तं स्यादिति ।।१५।।

यस्मादेवं तस्मात्–

तत्स्थानं दुर्लभ सुरैः ।

उस अवस्था में अनुप्रवेश युक्ति की चर्चा करने के उपरान्त साधकों के लिये श्रेयस्कर अनुप्रवेश क्रम की चर्चा कर रहे हैं–

जिस समय साधक अपने प्रयत्न में लग जाता है, और उसकी यह प्रबल इच्छा होती है कि, हमें इस मन्त्र की सिद्धि हो जाये, उसी समय ऊर्ध्व पद में विश्रान्ति के कारण उसके मन्त्र की शक्ति का शाक्त बल उन्मिषित होने लगता है अर्थात् मन्त्र की विद्या में ऊर्ध्व गतिशीलता मयी सक्रियता प्रारम्भ हो जाती है । यह मन्त्र स्वयं सर्वाध्व शिरोमणि का रूप धारण कर लेता है । सारे भाव और अभाव रूप शिव से कालाग्नि पर्यन्त एक अविभाग प्रकाश प्रसर अनुभूति का विषय बन जाता है । उस समय मूलाधार से ॐकार पर्यन्त बिन्दु का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होने लगता है ।

बिन्दु की सीमा का वहाँ कोई आकलन नहीं होता । मात्र यह अनुभूत होता है कि, बिन्दु भी लीन हो रहा है । शास्त्र कहता है कि, बिन्दु जहाँ लीन होने लगता है, वही अवस्था परम कारण रूप शिव की परमकारणमयी अनिर्वचनीय अवस्था है । बिन्दु उसी में विश्रान्त हो जाता है । शिव को ही यहाँ परम कारण कहा गया है । कुछ अनुभवी साधक परम शिव की विशिष्टता में विश्रान्ति कर जाते हैं ।।१५।।

बिन्दु वहीं विश्रान्त हो जाता है । वह स्थान देव दुर्लभ है । सुर शब्द से इन्द्रिय अर्थ भी ग्रहण करते हैं । इस अर्थ की दृष्टि से सभी इन्द्रियों से अतीत अर्थ लेना चाहिये । भाव यह कि, वह स्थान मनन मात्र प्रधान है । कहना यह

सुरैर्देवैः सर्वेन्द्रियैश्च, मननमात्रप्रधानसूक्ष्ममनोव्यापारं विषयसामरस्यपदाति-क्रान्तत्वात् । स्थानमिति तिष्ठत्यस्मिन्नभेदेन विश्वमिति व्युत्पत्त्या ।

एवंविधमप्येतत्–

षष्ठस्वरसमायोगादभ्यासादचिराल्लभेत् ।।१६।।

समवधानोद्यत इत्यनुषङ्गः । षष्ठः स्वरो बिन्द्वाद्युपलक्षणपर इत्युक्त-मेव ।।१६।।

अत एव–

षष्ठश्च पञ्चमश्चैव तस्य देवि गुणाः स्मृताः ।

तस्येति महाविमर्शात्मनः परतत्त्वस्य, षष्ठ ऊकारः, पञ्चमस्तु तदन्तर्भूत एव उकारः, तावेवाध ऊर्ध्वं बहिःशक्त्यात्मकावस्येति पूर्वोक्तमेयार्थं चशब्दादेव काराच्च प्रोक्तरूपा नियता मकारबिन्द्वादिप्रमेयपरिपाटी गुणा ऊर्ध्वाधःप्रसरणहेतवो धर्माः शक्तिरूपा इत्यर्थः । स्मृता इति अविच्छिन्नेन शिवादिश्रीकण्ठान्तेन गुरु-

---

चाहिये कि, वह सूक्ष्म मनोव्यापार ग्राह्य है । वहाँ सभी विषयों का सामरस्य भी नहीं रहता है । विषय में पार्थक्यगत भेद नहीं होता । अतः इन्द्रियातीत अवस्था होती है । विषय-समरसता को अतिक्रान्त कर योगी उस स्थान पर पहुँचता है । वह स्थान है क्योंकि सारा विश्व उसमें अभेद भाव से अवस्थित होता है ।

इन विशेषताओं से विशिष्ट यह स्थान छठें स्वर 'ऊ'कार के संयोग समायोग और अभ्यास के साथ साधना में लगे रहने पर अचिरकाल के अर्थात् तुरन्त ही उपलब्ध हो जाता है । बिन्दु के साथ ही स्वरोपयोग की आज्ञा शास्त्र देता है ।।१६।।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि, महाविमर्श रूप उस परतत्त्व रूप 'ह'कार के गुण रूप पाँचवें या छठे स्वर हैं । षष्ठ स्वर 'ऊ'कार की चर्चा की जा चुकी है । यहाँ पाँचवें अर्थात् ह्रस्व 'उ'कार की चर्चा भी की गयी है । यह ध्यान देने की बात है कि, पाँचवाँ 'उ'कार स्वर तो छठे स्वर के ही अन्तर्गत आता है । ये दोनों ही इस परात्मक हंस-स्थान के नीचे, ऊपर या बाहर भी शक्तिरूप माने जाते हैं ।

उक्त श्लोक में च और एव अव्ययों का साथ साथ प्रयोग किया गया है । इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि, उक्त स्वरों के साथ लगे हुए मकार रूप, या बिन्दु रूप जो स्फुरण हैं, वे सभी इसके गुण हैं । ऊर्ध्व और अधः प्रसरण के वे कारण हैं । अतएव इन्हें इनका शाक्तधर्म कह सकते हैं ।

पारम्पर्येणेत्यर्थः । कश्चित्तु चकारमेवशब्दं च अचेतित्वा गुणा इति बहुवचनं जपा-वृत्त्यपेक्षयेति व्याख्यातवान् ।

सगुणः सकलो ज्ञेयो निर्गुणो निष्कलः शिवः ।।१७।।

इत्थमुक्तनीत्या निष्कलननाथोऽपि सकलः सम्पन्नः । यस्तु पूर्वम्–

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तः' (४/२५७)

इत्यनाहतनाथो निर्दिष्टः, स एव निर्गुणत्वात्तत्त्वतो निष्कलः ॥१७॥

अत एव–

सकलो ग्रहसंयुक्तो निष्कलो भावमाश्रितः ।

ग्रह उच्चारः । भावः सुप्रवृत्ता महास्फुरत्तात्मा स्फुरत्ता ।

यतश्च पूर्वोक्तदृशा तात्त्विकनिष्कलामर्शसार एवायं सकलनिष्कलशब्देन पूर्वं व्यहृतश्चतुष्कलनाथः, ततोऽस्मिन्–

यह कोई नयी विचार सरणी नहीं है अपितु अविच्छिन्न रूप से श्रीकण्ठादि शिव रूप से लेकर आज तक परम्परा रूप से प्राप्त स्मृतितत्त्व में पलने वाला तथ्य है । 'च' अव्यय के सम्बन्ध में एक अज्ञात नाम टीकाकार के मन्तव्य को आचार्य क्षेमराज ने यहाँ व्यक्त किया है । चाहे छठे दीर्घ स्वर 'ऊ'कार के साथ जप किया जाय या पाँचवें ह्रस्व के साथ जप किया जाय, दोनों के जप में जप की आवृत्ति के ही आधार पर इनके गुणों का प्रभाव बढ़ता है ।

इस दृष्टि से जो सगुण रूप है, उसे सकल भैरव का प्रतीक मानते हैं और जो निर्गुण होता है, उसे निष्कलनाथ की संज्ञा से विभूषित करते हैं । शिव के सकल और निष्कल यही दो रूप प्रसिद्ध हैं । इस दृष्टि निष्कलनाथ भी 'सकल' हो जाते हैं । पटल ४ के श्लोक २५७ में यह कहा गया है कि, 'ह'कार प्राण रूप वर्ण है और अनाहतनाथ रूप में सम्यक् रूप से निर्दिष्ट है । वही निर्गुण है और तत्त्वतः वही निष्कल भी है ॥१७॥

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, ग्रह अर्थात् उच्चार रूप में प्रयुक्त रूप ही सकल है, और भाव रूप से निष्कल से विभूषित रूप ही निष्कल है । भाव महास्फुरत्तात्मक स्पन्द माना जाता है । यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि, वही चतुष्कलनाथ सकल और निष्कल शब्दों के द्वारा व्यवहृत होता है । वस्तुतः ये सकल और निष्कल दोनों रूप तात्त्विक रूप निष्कलत्व के ही परामर्शक हैं । इसके जिस रूप का जप किया जाय, उससे निष्कलनाथ का ही जप होता है, यही कह रहे हैं–

सकले जप्यमाने तु जप्तो भवति निष्कलः ।।१८।।

यद्येवम्, अयमेव चतुष्कलभट्टारकरूपः सूक्ष्मः सकलपारमार्थिकनिष्कल-तत्त्वविश्रान्त्यर्थं जपाद्युपासाभिराश्रीयताम्, किमिति द्वात्रिंशदक्षरात्मा स्थूलः सकलः–

'जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य' (६/३)

इत्याद्युक्त्योपास्य उक्त इत्याशङ्क्याह–

सुरासुराणां देवेन यजनोपायहेतुना ।
रूपं तु सकलं तस्य द्विधावस्थं प्रकाशितम् ।।१९।।

सकल के जप करने या कराने पर अर्थात् इसके जप्यमान होने पर निष्कलनाथ ही जप्त होते हैं। यदि ऐसी बात है और यही सत्यतथ्य है, तो यह सिद्ध है कि, चतुष्कल भैरव भट्टारक सूक्ष्मतत्त्व है। सकल के पारमार्थिक रूप निष्कल तत्त्व में विश्रान्ति के लिये स्थूल अक्षरात्मा सकल के जप और उपासना का आश्रय लेना चाहिये क्या ? इस पर कह रहे है कि,

बत्तीस अक्षर वाले स्थूल सकल रूप का जप करना चाहिये। इसी ६/३ में स्पष्ट उल्लेख है कि, 'अक्षरलक्ष' जप ही इस पूर्व निरूपित परमार्थ तत्त्वमय मन्त्र का होना चाहिये। ऊपर के इन विचारों को ध्यान में रखकर ही इस मन्त्र की उपासना करनी चाहिये ।।१८।।

सुर और असुर दोनों के यजन के उपाय रूप सकल के उक्त दोनों रूपों का कथन देवेश्वर भैरव ने किया है। अर्थात् सकल ही द्विधावस्थ रूप से प्रकाशित है।

आदिवाक्य रूप से निर्णीत, स्वरूपवान् चिदानन्द परमार्थ स्वच्छन्द भट्टारक देवरूप से यहाँ उक्त हैं। श्लोक में 'सुर' शब्द से ज्ञानमार्ग द्वारा आश्वस्तहृदय उपासक ही गृहीत होते हैं। इसी तरह असुर शब्द उन लोगों के लिये प्रयुक्त है, जो ज्ञान के अयोग्य हैं और अज्ञान मार्ग में ही आश्वस्त रहते हैं। इन दोनों का परम श्रेय कैसे सिद्ध हो ? उन्हें मोक्ष की सिद्धि कैसे हो ? इसकी चिन्ता शास्त्रकार को है। इसी दृष्टि से उन्होंने स्वस्वरूप में अनाहत रूप से समुल्लसित उस परमेश्वर के सकल रूप को दो भागों में द्विधावस्थ रूप से प्रकाशित किया है।

सकल जब कलाओं से युक्त होता है, तो बहुरूपात्मक हो जाता है। यह स्वाभाविक है। इसका चतुष्कल रूप भी बहुरूपात्मक ही माना जाता है।

आदिवाक्यनिर्णीतस्वरूपेण देवेन चिदानन्दपरमार्थेन स्वच्छन्दभट्टारकेण । सुराणामिति ज्ञानमार्गाश्वस्तहृदयानाम्, असुराणां च ज्ञानायोग्यत्वेनाज्ञानमार्गाश्वस्तानां मोक्षाद्यर्थं यागोपायत्वेन । तस्येति स्वस्वरूपस्यानाहतात्मनो रूपं द्विधावस्थम् । सकलमिति चतुष्कलबहुरूपात्मकं [1]तत्तदनुग्राह्यानुग्रहोचितं प्रकाशितम् । एतदुक्तं भवति–एकमेवेदं पारमेश्वरं तत्त्वं स्थितमनुग्राह्यानुग्रहानुसारं स्फुरितम्, न त्वत्र वास्तवः कोऽपि भेद इति । यथोक्तम्–

'पुंसामनुग्रहार्थाय परोऽप्यपरतां गतः' । इति ।

अत एव योग्यजनाभिप्रायेण केवलचतुष्कलनाथभट्टारकाश्रयः साधनविधिरग्रे भविष्यति । यस्तु तात्त्विको निष्कलनाथो नासौ जातुचिद्ध्येयजप्यादिरूपो भवति तस्याशेषविश्वात्मपरमातृस्फुरत्तैकघनत्वादित्युक्तम् । यत्तु द्विधावस्थं सकलमिति

इसी रूप में ज्ञान और अज्ञान मार्ग में आश्वस्त लोगों के लिये जो उन्हीं रूपों में अनुग्राह्य है, उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रकाशित है । इस स्तर पर यह कहा जा सकता है कि, परमेश्वर तत्त्व अनुग्राह्यों पर अनुग्रह करने के लिये ही उक्त रूपों में स्फुरित होता है । वस्तुतः पारमेश्वर रूपों में कोई भेद नहीं होता । कहा गया है कि,

'साधक पुरुषों के ऊपर कृपा करने के लिये ही 'पर' अर्थात् सर्वातिशायी परमेश्वर ही अपर रूप भी ग्रहण करता है' ।

इसीलिये योग्य भक्त साधकों के लिये शास्त्र में चतुष्कल भट्टारक का आश्रय सर्वोत्कृष्ट माना जाता है । उसकी साधना विधि भी इसी शास्त्र में आगे निर्दिष्ट है । तत्त्व के परात्मक स्तर पर आराध्य निष्कलनाथ कभी भी, किसी अवस्था में भी कदाचित् भी न तो ध्येय ही होता है और न जप के योग्य होता है । वह अशेष विश्वमय परप्रमाता महास्फुरत्ता रूप और चिद्घन स्वरूप है । यह ध्यान और जप का विषय नहीं बनाया जा सकता ।

इसलिये ध्येय और जप्य उसके रूप को ही द्विधावस्थ कहा गया है । यह सकल का ही रूप है । सकल और सकल निष्कल रूप देवों और दैत्यों सबके लिये समान रूप से प्रकाशित है ।

यहाँ एक जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है । वह यह कि, देवों की तरह दैत्यों के लिये भी वे समान रूप से कृपालु लिखे गये हैं । दैत्य तामस में जीते हैं । उनके ऊपर अनुग्रह क्या उचित है ? यह परमेश्वर का प्रकाशन अनुचित ही

---

१. ग. पु. तत्तत्पदानुग्राह्यानुग्रहोचितमिति पाठः ।

सकलनिष्कलं देवानां दैत्यानां च प्रकाशितमिति व्याख्याय दैत्यानां तामसत्वादनुचितमेतत्प्रकाशनम्, आयातशक्तित्वेनासुराणामिति पूर्वजात्युदीरणं विरुद्धमिति केनचिच्छङ्कित्वा पूर्वावस्थामात्रकथनमेतदिति परिहृतम्, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसः प्रमाणमित्यलं पूर्वैः सह पदे पदे निर्बन्धनेन ॥१९॥

तदेतस्य मूलमन्त्रस्य–

प्रथमं प्राकृतं रूपं विकृतं च द्वितीयकम् ।

प्रथममिति विश्वोच्चारभित्तिभूतत्वात्प्रधानं प्रकृतेः स्वभावादायातं स्वयमुच्चरद्रूपम् । विकृतं तु तत्प्रथमप्रसररूपमकारात्कं न तु विपर्ययेण व्याख्येयम्–

कहा जा सकता है । दूसरी आशङ्का यहाँ यह भी की गयी है कि, इस शास्त्र में पूर्व जाति की चर्चा भी अनुचित और समय विरुद्ध मानी जाती है । यहाँ दैत्य आयात शक्ति के प्रतीक के रूप में चित्रित हैं और उन्हें दैत्य संज्ञा दी गयी है । इसका समाधान क्या है ?

आचार्य क्षेमराज ने पूरी तरह इस समस्या को सचेतस विपश्चितों के ऊपर छोड़ दिया है और उन्हीं को इस विषय में प्रमाण माना है । फिर भी परमेश्वर यदि तामसिकता में जीने वालों के लिये अनुग्रह करने के लिये कुछ भी करें, यह उचित ही कहा जाना चाहिये । तामसिक लोग विशेषतः अनुग्राह्य हैं, जिनके उद्धार के लिये भगवान् विविध रूप धारण करते हैं ॥१९॥

मूल मन्त्र को द्विधावस्थ कहा गया है । वही द्विधावस्थता यहाँ स्पष्ट की जा रही है । उसका पहला रूप 'प्राकृत' कहलाता है । और उसका दूसरा रूप 'विकृत' कहलाता है । 'प्राकृत' कहने का कारण यह है कि, वह विश्वात्मक उच्चार की भित्ति है–आधार है । अतएव प्रधान रूप है । प्रकृति से अर्थात् स्वभावतः समुद्भूत होता है । स्वयम् उच्चरद्रूप स्वाभाविक स्पन्द रूप है ।

'विकृत' मानने का भी पर्याप्त कारण है । उक्त स्वयम् उच्चरद्रूप का प्रथम प्रसर मात्र है । पहले रूप में प्रसर अभी नहीं हुआ था । अब वह प्रसर हो चुका है । और कोई भी प्रसर मूल रूप का विकार ही माना जाता है । 'अ'कार ही उस विकार का पहला रूप है । इसमें रौद्री, वामा, जोष्ठा और अम्बिका शक्तियों का उल्लास होता है । यद्यपि यह विकृत रूप है पर प्रधान का विपर्यय नहीं किया जा सकता ।

पटल ७ के पद्य ५८ में यह स्पष्ट किया गया है कि,

'हंस' स्वयम् उच्चरित है' ।

'स्वयमुच्चरते हंसः' । इति । (७/५८)

'....................तस्माद्वर्णास्तु प्राणतः ।

उत्पद्यन्ते लयं यान्ति......................'॥ इति । (४/२४८)

इत्यादिवाक्यव्याघातापत्तेः । तदित्थमेकत्रापि मन्त्रे युगपत्–

प्रकृतिर्विकृतिश्चैव उभे षष्ठेन संयुते ।।२०।।

दर्शितमेवैतद्यथा मन्त्रे हलाकृतेः प्रकृतिभूतस्य शिरोरेखारूपा विकृतिशब्दवाच्या अकारकलास्तीति युगपदेव प्रकृतिविकृती षष्ठकलायुक्ते ॥२०॥

अत एव–

ये पदार्थाः पुरा प्रोक्तास्तत्रासावुच्छ्वसन्मुहुः ।
प्रवर्तते च एतेन पुनस्तेन निवर्तते ।।२१।।

इसके पहले ही पटल ४ के श्लोक ३४१ में स्पष्ट उल्लेख है कि, इसलिये जितने वर्ण उच्चरित होते हैं, वे प्राण से ही उच्चरित होते हैं । उत्पन्न भी होते हैं और लीन भी होते हैं अर्थात् लय को भी प्राप्त होते हैं ।

इसी चतुर्थ पटल के श्लोक ३४१ वें में स्पष्ट ही यह उल्लेख है कि, 'सभी शास्त्र शब्दात्म होते हैं । वही 'शब्द' हंस कहलाते हैं ।

इत्यादि वाक्यों में व्याघात न उपस्थित हो । अतः प्रथम प्रसर रूप 'विकृत' को विपर्यय नहीं कहना चाहिये । इस तरह एक मन्त्र में भी यह द्विधावस्थता विद्यमान रहती है । भगवान् कह रहे हैं कि, प्रकृति और विकृति दोनों रूप षष्ठ स्वर 'ऊ'कार से संयुत होते हैं ।

यह तथ्य मन्त्र में देखा जा रहा है । हल की ही आकृति का 'ह'कारात्मक रूप, शिरोरेखारूपा 'विकृति' शब्द से उक्त है । वह शिरोरेखा जो हकार के ऊपर लगायी जाती है, वह वस्तुतः अकार कला की शाक्त छाया है । साथ ही ये दोनों प्रकृति विकृतियाँ छठे स्वर से 'ऊ'कार संयुक्त होकर ऊर्मिबीज के रूप में लहरा उठती हैं ॥२०॥

उक्त रूप में उच्चरित यह निष्कलनाथ का बीज मन्त्र उदान वायु के द्वारा आज्ञा चक्र के प्रणव में प्रेवश कर जाता है । वहाँ से भी साधना के प्रभाव से अकार, ऊकार, मकार, बिन्दु और अर्धचन्द्र कलाओं का सम्भेदन करते हुए नाद नादान्त, शक्ति और समना के क्रम से ऊर्ध्व प्रसर के माध्यम से उन्मनान्त के द्वादशान्त धाम में विश्रान्ति लाभ करता है । ये उक्त चक्र ही पदार्थ हैं । उन्हीं में ऊर्ध्व प्रसरित होता है और द्वादशान्त में आरोहण कर जाता है ।

यः समनन्तरमेव–

'निर्गुणस्तु यदा देवः' (६/११)

इत्युक्त्या निष्कलनाथ उक्तोऽसौ, उच्छ्वसन्नित्याकारोकारकलासम्भेदेनोर्ध्वं प्रस-रन्, तत्रैति पूर्वोक्तेषून्मनान्तेषु पदार्थेषु, तेनैव पूर्वोक्तेन क्रमेण प्रवर्तते द्वादशान्त-मारोहति । पुनश्च तेनेति प्रातिलोम्येन निवर्तते हृदयान्ते वर्णव्यक्तिमेति अनाहत-ध्वनिमेवाविशति । मुहुरिति जपावसरे भूयो भूय इत्यर्थः ॥२१॥

तदित्थमयं पदार्थेष्वारोहावरोहौ कुर्वन्–

प्रणवः पञ्चधावस्थः

पञ्चधात्वमस्य वाचककलाक्रमेण वाच्यक्रमेण च प्रथयति–

त्रिवर्णश्च त्रिदैवतः ।

बिन्दुनादसमायुक्तः प्रणवः परिपठ्यते ।।२२।।

वहाँ की विश्रान्ति के बाद प्रातिलोम्य भाव से निवर्त्तित होता है । यह प्रवर्त्तन–निवर्त्तन व्यापार क्रमिक रूप से चलता रहता है । उस ऊर्ध्व द्वादशान्त पद से निवर्त्तन करते हुए अनाहत में प्रवेश प्राप्त करता है । द्वादशान्त की ओर जाने में तो यह निर्गुण रहता है किन्तु अधःद्वादशान्त की ओर आते समय यह सगुण हो जाता है । इसी को आचार्य कहते हैं कि, वर्णव्यक्तिमेति । अर्थात् वर्णोच्चारण योग्य हो जाता है । जप के अवसर पर यह प्रक्रिया बार बार अपनायी जाती है । यहाँ एक बात की ओर ध्यान देना चाहिये । अनाहत ध्वनि में प्रवेश अनाहत चक्र में होता है कि, मातृ केन्द्र रूप नाभिचक्र में ? मेरी दृष्टि में इसे नाभि केन्द्र ही मानना चाहिये । वही पूर्णिमा केन्द्र है । वर्णोत्पत्ति वहीं से होती है ॥२१॥

इस प्रकार उक्त केन्द्र रूप पदार्थों में आरोह और अवरोह का क्रम निरन्तर चल रहा है । इसी क्रम में प्रणव की पाँचों प्रकार की स्थिति का आकलन वाचक कला और वाच्य क्रम से साधक को करना चाहिये । इसी क्रम का प्रथन इस श्लोक के माध्यम से कर रहे हैं–

सामान्यतः ओङ्कार की तीन वर्णात्मक स्थिति को ही पहले कह रहे हैं । यह वह स्थिति होती है, जिस समय उसमें बिन्दु अर्धचन्द्र निरोधिका का भेद नहीं किया गया होता है । केवल वर्ण सङ्घट्टन की स्थिति रहती है । प्रणव की स्थिति नहीं रहती । क्योंकि, प्रणव विशेष रूप में प्रकर्ष पूर्वक परतत्त्व में प्रवेश करा देने में समर्थ विशिष्ट तत्त्व माना जाता है ।

बिन्दुनादसम्भेदं विना वर्णसङ्घट्टनामात्ररूपता भवति, न तु प्रकर्षेण नूयतेऽनेन परं तत्त्वमित्येदृक्प्रणवत्वमित्यर्थः । एवं चाकारोकारमकारबिन्दुनादभेदात्प्राग्वद्वाचकरूपाः पञ्च प्रणवाः, ब्रह्मविष्णुरुद्रा वक्ष्यमाणेश्वरसदाशिवसहिता वाच्यरूपाः पञ्च च ॥२२॥

तदाह–

अकारश्च उकारश्च मकारश्च तृतीयकः ।
वर्णत्रयमिदं प्रोक्तं ब्रह्माद्या देवतास्त्रयः ।।२३।।
बिन्दुनादसमायोगादीश्वरश्च सदाशिवः ।
एते वै प्रणवाः पञ्च

ब्रह्माद्या ये त्रयो देवता इति सम्बन्धः । वाच्यवाचकरूपा इत्यर्थात् ।

ते चैते–

हंसः प्राणयुतः सदा ।।२४।।

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः' (४/२५७)
इति यः पूर्वं हंसप्राणोऽनाहतध्वनिरुक्तस्तेन सदा युतस्तदनुलग्नस्तां महाविमर्शभित्तिं विना कस्याप्यस्फुरणादित्यर्थः ॥२४॥

प्रणव तब होता है, जब उसमें बिन्दुनाद रूपी दो और कलाओं का उल्लास हो जाये । तभी उनमें वाचक रूपता भी आती है । बिन्दु और नाद के संभेद के विना वर्ण संघट्टन मात्र रूपता में 'अ', 'ऊ' और 'म' की स्थिति रहती है । यही त्रिदैव स्थिति और त्रिवर्ण स्थिति मानी जाती है । जब इसमें बिन्दु और नाद (अर्धचन्द्र और निरोधिका को अन्तर्भूत मानकर) की स्थिति आ जाती है उस समय वाचकत्व का गुण प्रस्फुटित होता है । अर्थात् वाचक रूप पञ्च प्रणवता स्फुरित होने लगता है । इसी के वाचक रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच देवता होते हैं । उसी सीमा में वाचकता और वाच्यता की अनुभूति प्रणव से होती है ॥२२॥

'अ'कार, 'ऊ'कार और 'म'कार इन तीनों को मिलाने से वर्णत्रयरूपता आती है । इन्हीं के त्रिदैवत होते हैं अर्थात् 'अ' के ब्रह्मा, 'ऊ' के विष्णु और 'म' के रुद्र देवता होते हैं । इन्हीं के आगे बिन्दु का वैभव ईश्वर के ऐश्वर्य से आविर्भूत है और विश्व को भावित करता है । इसके आगे ऊर्ध्ववाह क्रम में सदाशिव भाव का उल्लास तब होता है, जब साधक नादानुसन्धान में सम्यक् रूप से समाहित हो जाता है । मूलभूत त्रिवर्णता और त्रिदैवत भाव का ही वह भावी सद्भाव होता है, जब वह पञ्च प्रणवत्व की स्थिति प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार साधना की

अत एवात्र–

परमात्मा शिवो हंसस्त्वपरेण समन्वितः ।

यो हंसः स्वयमुच्चरद्रूपो वाचकवृत्त्या, वाच्यवृत्या तु परमात्मा सर्वेषां ब्रह्मादीनामनुप्राणकः, परनिर्वाणात्मकश्रेयःप्रदत्वाच्छिवो वाच्यवाचकयोरत्राविभागेन प्रकाशानन्दघनत्वेन स्फुरणात्, सोऽयमीदृशो हंसः अपरेणेति प्रोक्तरूपवाच्य-वाचकरूपेण प्रणवपञ्चकेन समन्वितः सम्बद्धः । अत्र चाकारादिरूपेषु प्रणवेषु ह्रस्वाद्युच्चारकलाः जाग्रदादयोऽवस्थाभेदाः, पृथिवीप्रकृतिमायेश्वरसदाशिवान्तानि च ब्रह्माद्यधिष्ठितानि तत्त्वानि इति पञ्चकान्तराण्येतानि अन्तर्भूतानि निर्णीतदृशा प्रणवरूपाण्यनुसर्तव्यानि ।

उच्च भूमि पर 'हंस' रूप 'ह'कार के हास का साक्षात्कार होता है । प्राणापानवाह प्रक्रिया की यही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । महाविमर्श भूमि पर बैठकर ही यह स्फुरण होता है । अनाहतध्वनि का अनहद नाद वहीं सुन पड़ता है ॥२३-२४॥

इसलिये यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि, जिसे हम परमात्मा, शिव और हंस की संज्ञा से विभूषित करते हैं, वह अपर रूप से अर्थात् वाच्य वाचक रूप प्रणव पञ्चक से भी समन्वित है । इस तथ्य को इस प्रकार समझें । जिसे हम 'हंस' कहते हैं, वह स्वयम् उच्चरद्रूप है । वह वाचक वृत्ति से विशिष्ट है । वाच्यवृत्ति से उसे परमात्मा कहते हैं । वही सभी ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि रूपों का अनुप्राणक है । उसे ही शास्त्र शिव संज्ञा से भी विभूषित करता है, क्योंकि, यह विश्व कल्याणकारी है । परनिर्वाण रूप 'श्रेय' का साधक है । इस अवस्था में वाच्य भाव और वाचक भाव की अविभागता की अनुभूति साधक को होती है । वह अविभागमय अद्वय भाव प्रकाश और आनन्द की घनता का विमर्श माना जाता है ।

ऐसा यह 'हंस' अपर से समन्वित होता है । यह अपर भाव क्या है ? वस्तुतः इसे जानने के लिये वाच्यवाचक रूप प्रणव पञ्चक को जानना अनि-वार्यतः आवश्यक है । पहले ही इसका प्रतिपादन किया जा चुका है । संकेत रूप से यह समझना चाहिये कि, १–अकार, उकार, मकारादि रूप प्रणवों में ह्रस्व दीर्घ प्लुत सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म उच्चार की कलायें, २–जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत अवस्थायें, ३–ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदा-शिव रूप देव वर्ग, ४–पृथ्वी, प्रकृति, माया, ईश्वर और सदाशिव रूप ब्रह्मादि से अधिष्ठित तत्त्व वर्ग एवं ५ 'अ'कार, 'उ'कार, 'म'कार, बिन्दु और नाद (अर्धचन्द्र निरोधिका दोनों का नाद में ही अन्तर्भाव) ये पाँच वाचक तत्त्व ।

न केवलमित्थमपररूपाः पञ्च प्रणवा मन्त्रेऽस्मिन्स्थिता इति, यावत्–

परतः प्रणवान् पञ्च पुनरेव वदाम्यहम् ।।२५।।

अन्यतन्त्रसिद्धान्तवैलक्षण्येनेत्यर्थः ।।२५।।

तानाह–

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनात्मा च निष्कलः ।

उन्मना च तथा देवि प्रणवाः पञ्च कीर्तिताः ।।२६।।

अत्रापि वाचककलानाम्, वाच्यानां तद्गर्भीकृतसुसूक्ष्मतमोच्चारकलोच्चारयित्रवस्थाशक्तितत्त्वाद्यावरणानां च पूर्वोक्तयुक्त्या प्रणवत्वम् ।।२६।।

तदेतावतो विश्वस्य भित्तिभूतः–

परतः परमो हंसः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ।

यो निर्णीतचरः परमो हंसः, स परतः प्रकृष्टतया परापरभेदभिन्नं प्रणवपञ्चकम् तद्द्वारेण च विश्वं व्याप्य स्थित इति स एव परमोपादेयः । तदभेदविमर्शमयत्वेन निष्कलभट्टारकोऽपि ।

ये सभी मिलकर प्रणव पञ्चक कहलाते हैं । यही अपर भाव है । यहाँ मन्त्र के रहस्य को सुगोपित रखते हुए आचार्य क्षेमराज ने महाविमर्श भित्ति की ओर संकेत किया है । मैं उसे उसी स्वच्छन्द भैरव की अनुज्ञा से थोड़ा और खोल रहा हूँ कि, वह हलाकृति हंस अक्षर ही 'ह'कार है । उसी पर रूप में अपर के योग से निष्कल स्वच्छन्द बीज का उद्धार होता है । पर में ही परापर रूप अन्तर्भूत होते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, इस मन्त्र में इस प्रकार न केवल अपर रूप प्रणव पञ्चक ही अन्तर्भूत है, वरन् पर रूप पाँच प्रणवाधार 'हंस' भी अन्तर्भूत हैं । इसमें अन्य तन्त्रों की विलक्षणता और उनकी मान्यता भी गृहीत है । उनका भी कथन भगवान् भैरव यहाँ कर रहे हैं ।।२५।।

वे परात्मक पञ्च प्रणव और भी हैं, उनका उल्लेख कर रहे हैं–१–शक्ति, २–व्यापिनी, ३–समना, ४–निष्कल आत्मा और ५–उन्मना ये पाँचों प्रणव भी इस निष्कल मन्त्र में पर भाव से ही समाहित हैं । इसमें वाचक कलाओं को, वाच्य कलाओं को, तद्गगर्भीकृत सूसूक्ष्मतम उच्चार कलाओं को, उच्चारकों की अवस्थाओं को तथा शक्तितत्त्वादि आवरणों को भी प्रणव रूप से स्वीकृत कर इनकी पञ्चप्रणवता का प्रतिपादन किया गया है ।।२६।।

इस प्रकार इन अनन्तानन्त प्रमेय प्रमाणात्मक रूपों में विस्तृत विश्व की मूलभित्ति रूप यह 'परम हंस' भैरव बीज सबको व्याप्त कर ही अवस्थित है । इसकी परम रूपता और हंस रूपता का निर्णय पहले किया जा चुका है । यह प्रकृष्ट

तदत्र–

एते वै प्रणवाः पञ्च परापरविभागशः ।।२७।।

परापरेण हंसेन नित्यमेव प्रणामिताः ।

हंसो हलाकृतिः स्वशक्त्याद्यकारादिपरापरप्रणवयोगाच्चतुष्कलतां प्राप्तः परापर उच्यते । तेनोभ्यरूपेण प्रणामिताः प्रह्वीभावमापादिताः स्वप्रत्यवमर्शप्रवणाः कृताः । प्रणामिता इत्यैशः पाठः । अत एव प्रकर्षेण नूयते परं तत्त्वं यैस्ते प्रणवा इति प्रारम्भ एवोक्तमस्माभिः ॥२७॥

अतश्चैते–

प्रवर्तन्ते हि सर्वत्र भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ।।२८।।

सर्वत्रेति साधकपुत्रकादिविषये ॥२८॥

तस्मादयं मूलमन्त्रः–

पञ्चभिस्तु युतस्त्वेभिः स पञ्चप्रणवात्मकः ।

रूप से पर और अपर भेद भिन्न रूप से मान्य है । प्रणव पञ्चक का यहाँ छठा रूप भी दिग्दर्शित है । इस प्रकार इसकी सार्वत्रिक व्याप्ति असंदिग्ध रूप से स्वीकार्य है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, यही प्रकृष्ट रूप से उपादेय अर्थात् परमोपादेय है । सर्वाभेद-विमर्शमयता के कारण ही यह निष्कल भट्टारक भी है ।

यह हलाकृति हंस अक्षर अपनी शक्तिरूप अकारादि कलाओं से कलित है । पर और अपर प्रणव योग के कारण 'चतुष्कल' है । इस तरह यह 'परापर' संज्ञा से भी विभूषित है । यह अपने इस उभय रूप में यह सबके लिये प्रणम्य है, प्रह्वीभाव का आस्पद है । अपनी विनम्र समर्पण भावना से सबके द्वारा किये गये स्वात्म समर्पण को ग्रहण कर कृतार्थ करता है । अपने प्रत्यवमर्श से सभी इसे विमृष्ट करते हैं । प्रणामित यह ऐश पाठ है ॥२७॥

चाहे साधक का विषय हो, या पुत्रक का विषय हो, यह महामन्त्र अपने पाँच प्रणव रूपों के द्वारा सर्वत्र प्रवर्त्तित होता है । यह भुक्ति और मुक्ति के समान फल देने वाला कल्पवृक्ष है ॥२८॥

पाँच शक्तियों से, विमर्शात्मक संभूतियों से और अपनी रश्मिप्रकर्षमयी प्रकाशमयता से युक्त होने के कारण ही यह पञ्चप्रणवात्मक माना जाता है । स्वयं निःस्वभाव है किन्तु परापर पञ्चप्रणवता के भेद प्रथनात्मक विमर्श के कारण यह विश्वव्याप्त है, विश्व का कारण है । अतएव चतुष्कलनाथ रूप से आगम में प्रसिद्ध है ।

यो निःस्वभावः परापरप्रणवभेदप्रथनद्वारेणैव विश्वत्र कारणं चतुष्कलनाथ इति निर्णीतमेवैतत् । किञ्च–

तत्रस्थ एकरूपस्तु निष्कलस्तत्त्वतः स्मृतः ।।२९।।

तत्रेति पूर्वोक्तप्रणवविश्रान्तिधाम्नि चतुष्कलनाथे यस्तिष्ठति । एकरूप इति प्रोक्तप्रकृतिरूपः अनाहतभट्टारकः । स एव तत्त्वतो निष्कल इत्यर्थः ॥२९॥

न केवलमसौ, यावत्–

तद्योगादपि तद्बीजं

प्रोक्तनिष्कलसम्बन्धाद्बीजमपीति चतुष्कलनाथोऽपि निष्कल उच्यत इत्यर्थः ।

किञ्च–

सर्वबीजप्ररोहकम् ।

सर्वेषां बीजानां ब्रह्मादिकारणानामङ्गब्रह्मादिमन्त्राणां च प्ररोहकं सामर्थ्यप्रदं तद्योगादेव । अत्र हेतुः–

प्रवर्ततेऽयतो यस्माद्देवासुरनिकेतनम् ।।३०।।

यह बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि, कोई साधक अपनी साधना के प्रकर्ष के बल और आधार पर उस चतुष्कल धाम नामक पञ्चप्रणव विश्रान्ति के परम धाम में आसीन हो जाये । यह आगम यह घोषित करता है कि, वह सौभाग्यशाली साधक एकरूप हो जाता है क्योंकि, वह तत्रस्थ हो गया है । तात्त्विक भाव से वह स्वयम् अनाहत भट्टारक भाव को उपलब्ध हो गया है । अतः वह निष्कलनाथ हो चुका है । तत्त्व चूँकि प्रकृति के रूप हैं । अतः प्रकृति रूप में ही वह परम प्रकर्षमयी पदवी प्राप्तकर चुका है । इसमें सन्देह नहीं ॥२९॥

केवल यही नहीं, उक्त निष्कल के संयोग के कारण उक्त बीज भी निष्कल कहलाता है । यही सभी बीजों का प्ररोहक अर्थात् प्राण रूप होने के कारण, प्राणों का अनुप्रेरक है । सामर्थ्यप्रद है । बीज रूप ब्रह्मा आदि कारणों और अङ्गभूत ब्रह्मादि मन्त्रों का भी प्राणदाता है अर्थात् सबमें प्राणवत्ता का संचार करता है ।

इसमें मुख्य कारण है–इसका चित्प्रकाश रूप से शाश्वत स्फुरण । प्राण का उच्चार, प्राणापानवाह की महास्फुरत्ता का इसका प्रतीक होना । यह अयन करता है । 'अय' धातु है । इसका अर्थ गमन है । गमन अर्थात् स्फुरण या उच्चार ।

अयते गच्छति स्वयमुच्चरति चित्प्रकाशाभेदेन स्फुरतीत्ययो हलाकृतिस्ततो यस्माद्देवासुराणां प्राङ्निरूपितनीत्या निकेतनम् उपासास्थानं चतुष्कलबहुरूपात्म मन्त्रद्वयं प्रवर्ततेऽनुग्रहादौ प्रसरति, ततो युक्तमुक्तम्–

'तद्योगादपि तद्बीजं सर्वबीजप्ररोहकम्' । इति । (६/३०)

देवासुरा इन्द्रियाणि तन्निकेतनं प्राण इति केचित् ॥३०॥

अतश्च प्रथमपटलनिर्णीतव्याप्त्यनुसारं चतुष्कलबहुरूपाभ्यां विश्वस्य स्वीकारात्तयोश्च परस्फुरत्तासारानाहतध्वनिविश्रान्तत्वात्–

तत्र मन्त्राश्च वर्णाश्च प्रतिष्ठां यान्ति नान्यथा ।

यह चित्प्रकाश रूप से स्फुरित होता है । अत: 'अय' है । इसमें तसिल् (तस्) प्रत्यय लगकर अयत: बनता है । अयत: अर्थात् 'अय' रूप स्वयमुच्चरद्रूप निष्कल हंसाक्षर से । यह 'अय' रूप 'ह' से प्रवर्त्तित होता है । अर्थात् स्वात्म स्फुरण से देव और असुर दोनों के उपासना की विश्रान्ति के स्थान में अनुग्रह करने के लिये प्रसरित होता है ।

६/३० में इसी आधार पर यह ठीक ही कहा गया है कि, 'तद्योग से अर्थात् उसके संयोग से उसका बीज सबका प्ररोहक अर्थात् सामर्थ्यप्रद माना जाता है' ।

यहाँ देव और असुर इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त शब्द हैं । उन सभी इन्द्रियों का निकेतन प्राण ही होता है । अत: यह प्राणों का प्राण है, यह सिद्ध हो जाता है ॥३०॥

प्रथम पटल में भी भैरवाष्टकों के सन्दर्भ में हंस की चतुष्कल व्याप्ति और इस बहुरूपता से पूरित विश्व का क्रोड़ीकार वर्णित है । चतुष्कल, सकल, सकल निष्कल और इसके अनन्त रूपों में मात्र पर और अपर इन्हीं दोनों रूपों का विश्लेषण हैं । ये पर और अपर रूप परात्मक स्फुरत्ता के रहस्य रूप ही हैं । ये सभी अनाहत ध्वनि में विश्रान्त हैं ।

उसी परनादगर्भ अवस्था में सभी मन्त्र और सभी वर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं । अन्यथा इनकी प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती । वास्तव में मन्त्र है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर हैं, ये पिण्ड बीज हैं । जहाँ तक वर्णों का प्रश्न है, ये या तो माला मन्त्रों में सम्बन्धित हैं या मातृकावर्त्ती माने जाते हैं । ये सभी अनाहत में ही प्रतिष्ठित हैं । वस्तुत: परा स्फुरत्ता के विना किसी का स्फुरण नहीं हो सकता है ।

मन्त्राः पिण्डबीजानि । वर्णा मालामन्त्रसम्बन्धिनो मातृकावर्तिनश्च सर्वेऽनाहत एव प्रतिष्ठिताः । नहि परां स्फुरत्तां विना कस्यापि स्फुरणं घटते । उक्तं च श्रीस्पन्दे–

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः' । इत्यादि । (२/१०)

अतश्च–

तस्य बोधाद्विमुच्यन्ते अहिकञ्चुकवत्प्रिये ।।३१।।

दीक्षिता इति शेषः ॥३१॥

एतत्स्फुटयति–

तावद् भ्रमति संसारे यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे न भूयो जायते क्वचित् ।।३२।।

श्री स्पन्दशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि,

मन्त्र अपनी मान्त्रिकता का स्वयं प्रवर्त्तन नहीं करते । वरन् सर्वत्र बलशाली साधक के मन्त्र ही अपने अधिकार के लिये प्रवर्त्तित होते हैं । उनमें बलवत्ता तभी आती है, जब वे साधक निर्विकल्प भूमि को अतिक्रान्त कर उनका प्रयोग करते हैं ।

यह स्पन्द शास्त्रीय उक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि, समान स्फुरत्ता को अतिक्रान्त कर पर स्फुरत्ता में प्रवेश और विश्रान्ति के बाद ही मन्त्र में बलवत्ता आती है । अन्यथा उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती[१] ।

इसलिये यह घोषित कर रहे हैं कि, उसी परा स्फुरत्ता का बोध हो जाने पर कोई भी स्वबोध बुद्ध पुरुष विमुक्त हो जाता है । इसको दृष्टान्त से समर्थित करते हैं । जैसे कञ्चुक रूप आवरण के निराकरण के उपरान्त सर्प उस आवरण से विमुक्त हो जाता है । उसी तरह इस परमबोध के उदय होने से षट्कञ्चुक अपने आप प्रकाश के समक्ष अन्धकार के सदृश स्वतः समाप्त हो जाते हैं, और भैरवदीक्षा से दीक्षित व्यक्ति मुक्ति को उपलब्ध हो जाता है ॥३१॥

इसे और स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर रहे हैं–

संसार में प्राणी तब तक आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है, जब तक उसे तत्त्वबोध नहीं होता है । जब वह परमतत्त्व को जान लेता है, कहीं और कभी इस विश्व में जन्म नहीं लेता । जिस प्रकार से सर्प अपने कञ्चुक को छोड़ देने पर

---

१. श्रीतन्त्रालोक भाग पाँच १५/११३ ।

यथाहिस्त्यक्तेन कञ्चुकेन न पुनः श्लिष्यति, तथा समनान्तेन बन्धेन त्यक्तेन तत्त्वज्ञो न भूयः स्पृश्यते ।।३२।।

तत्त्वं हंसरूपमेवेति दर्शयन्नेतदेव भूयः स्फुटयति–

अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विन्दति ।

विन्दति लभते स्वत्वेन प्रत्यभिजानाति ।

एतत्सोपायं वैधर्म्यदर्शनेन प्रकृते योजयति–

प्रणवेन समायुक्तं कृतार्थ इति निर्दिशेत् ।।३३।।

प्रणवेन चतुष्कलेन सम्यगायुक्तमिति निर्णीतवक्ष्यमाणतदुच्चारज्ञानतदुच्चरणौपयिकमेव परनिष्कलस्वरूपविश्रान्तत्वान्नरः कृतार्थो भवतीत्यर्थः ।।३३।।

अतश्च–

उच्चारं च ततो ज्ञात्वा उच्चरेत्तं वरानने ।

उच्चरेदुच्चारयेत् । तमिति परविश्रान्त्युपायभूतं चतुष्कलम् ।

पुनः उससे श्लिष्ट नहीं होता । तथैव समनान्त यह विश्वबन्ध जब त्यक्त हो जाता है, तब फिर तत्त्वज्ञ उसका संस्पर्श प्राप्त नहीं कर सकता । अथवा बन्ध से तत्त्वज्ञ स्पृष्ट नहीं होता है ।।३२।।

तत्त्व वस्तुतः हंस रूप ही होता है । इस तथ्य को और भी स्पष्टीकृत कर रहे हैं कि, मनुष्य तब तक कृतकृत्य नहीं माना जा सकता है, जब तक वह 'हंस' के रहस्य से अवगत नहीं होता । अवगत होने का तात्पर्य ज्ञान के उपलब्ध होने से है । स्वात्मभाव से उसका प्रत्यभिज्ञान आवश्यक है । 'हंस' को न जानना दुर्भाग्य है । उपाय से जाना जा सकता है । कैसे जाना जा सकता है ? इस प्रश्न मे वह उपाय बता रहे हैं कि, प्रणव से जोड़कर 'हंस' को जानकर कृतार्थ हो सकते हैं । अकृतार्थता का वैधर्म्य कृतार्थता में दिखलाकर इस रहस्य को खोलने का उपक्रम यहाँ किया गया है ।

प्रणव का उक्त चतुष्कल रूप पहले संकेतित है । अभी उस विषय में बहुत कुछ कहना शेष भी है । इसलिये उसका पूर्ण ज्ञान करना आवश्यक है । यह उसके 'उच्चार' सम्बन्धी ज्ञान से और उसके सभी पक्षों के माध्यम से उसी पर निष्कल स्वरूप में विश्रान्ति होने पर ही प्रतिफलित है । तभी कोई भी साधक नर कृतार्थ हो सकता है ।।३३।।

भगवान् भूत भावन भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि देवि ! उच्चार ज्ञान कर लेने पर ही उसे उच्चरित करना चाहिये । क्योंकि वह परम विश्रान्ति का परमोपाय माना जाता है । यह उच्चार तीन प्रकार का होता है । पहले कहा गया

तत्र–

उच्चारस्त्रिविधो देवि हंसस्य समुदाहृतः ।।३४।।

उक्तरूपपरापरप्रणवाधिष्ठानाद्धंसस्यापि परापरः स्वरूपनिष्ठत्वेन तु परात्पर इति त्रिविधो य उच्चारः, स उदाहृतः–

'एते वै प्रणवाः पञ्च परापरविभागशः ।

परापरेण हंसेन.....................' ।। इति । (६/२७)

तथा–

'परतः परमो हंसः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः' । (६/२७)

इत्याद्युक्त्या समनन्तरमेवोक्तः ।।३४।।

तमेवोच्चारं स्फुटयति–

हकारोकारसंयुक्तबिन्द्वन्ते तु तृतीयकः ।

सृष्टिन्यासेन तूच्चारः संहारयोग उच्यते ।।३५।।

ह् इति लुप्तविभक्तिकोऽनाहतस्वरूपदर्शनाय । तेन ह् इति यः स्वयमुच्चरद्रूपो हंसः स अकारेण उकारेण च वर्णेन संयुक्तस्तदुपरि च बिन्दोरन्ते समीपे तृतीयक इत्यनुस्वाररूपो मकारोऽस्य सम्बद्ध एवमेतदन्तो य उच्चारः । सृष्टेरिति

है कि, उसके दो रूप (पर और अपर) होते हैं । पञ्च पञ्चक प्रकरण में उस प्रणवाधिष्ठान का प्रतिपादन किया गया है । उसे 'हंस' की संज्ञा से भी विभूषित किया गया है । जब वह स्वरूपनिष्ठ होता है, तो पर और अपर इसके साथ परात्पर भाव में आ जाने पर उसे पर, अपर और परात्पर रूप से उच्चरित किया जा सकता है । विगत ६/२७ वें श्लोक में परापर विभाग से पञ्च प्रणव का उल्लेख परापर विभाग के माध्यम से करने के पहले ही 'परम हंस' की चर्चा भी वहाँ कर दी गयी है तथा उसकी सर्वव्यापकता की भी बात स्पष्ट कर दी गयी है ।।३४।।

'संहार योग' नामक उच्चार का वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, 'ह्' इस लुप्तविभक्तिक अनच्क, अनाहत रूप स्वयं शाश्वत स्वभावतः उच्चरित 'हंस' वर्ण है । यह 'अ'कार, 'उ'कार वर्ण द्वय से समन्वित किया जाता है । इन दोनों वर्णों के ऊपर बिन्दु रूपी ब्रह्म स्वयं विराजमान हो जाता है । बिन्दु के प्रभाव से उसके समीप तृतीय वर्ण रूप अनुस्वार उच्छलित हो जाता है । यह अनुस्वार रूपी मकार उक्त ऊकारान्त वर्णद्वय से समन्वित हो जाता है । एतदन्त यह मान्त्रिक रूप अपने वास्तविक आकार में व्यक्त होता है । इसी का उच्चार किया जाता है । किन्तु इसमें भेदमयता का विमर्श स्फुरित रहता है ।

जागराद्यवस्थात्रयाधिष्ठातृसृष्टिस्थितिसंहारकारिभेदमयब्रह्मविष्णुरुद्रसर्गस्य यो न्यासः पृथक्पृथग्वाचकत्वेन विमर्शस्तेन न त्वभेदेनेत्यर्थः । एतेषां तु त्रयाणामपि भेदमयानां संहारयोग इति तुर्यदशाप्रथमकोटिसंस्पर्शात्मकबिन्दुपदैक्ययोजनारूप उच्यते, न त्वत्र वर्णोच्चारव्याप्तिरस्ति ॥३५॥

यथा विभक्तः प्राक् तेन–

एवमादिक्रमेणैव मन्त्रमुच्चारयेद्बुधः ।

बुधो ज्ञानी, एवमित्युक्तरूपेण, आदीत्यकारादिक्रमेण, मन्त्रमित्येतत्सम्बन्धादेव मन्त्ररूपतां प्राप्तं हंसमुच्चारयेत् ।

एतदनुवदन्नत ऊर्ध्वं मन्त्रोच्चारे इतिकर्तव्यतान्तरमाह–

बिन्दुस्थं त्रितयं कृत्वा वक्त्रमुद्घाटयेत्ततः ॥३६॥

त्रितयं मकारान्तम्, बिन्दुस्थं कृत्वेति तदभेदव्याप्तिसारं सम्पाद्य, नादोच्चारणार्थं वक्त्रमास्यमुद्घाटयेदित्येतदुच्चारावसरे दिव्यं करणं बध्नीयादित्यर्थः ॥३६॥

इसकी भेदमयता में सृष्टि, स्थिति और संहार, जागर, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थायें तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप देववर्ग की अधिष्ठितियाँ भी न्यस्त रहती हैं । इनका पृथक् पृथक् विमर्श होता रहता है । अभेदात्मक विमर्श नहीं हो पाता । इन तीनों की पार्थक्य प्रथा का संहारयोग तुर्यदशा में विश्रान्ति करने पर हो जाता है । यह योग तुर्य दशा की प्रथम कोटि के संस्पर्श में प्रतिफलित होता है । बिन्दु रूप सर्वविद् ब्रह्मा का एक तरह का यह ऐक्य योग माना जाता है । इसमें किसी प्रकार के वर्णोच्चार की व्याप्ति नहीं होती । इस योजनात्मक ऐक्य विमर्श को ही 'संहारयोग' कहते हैं ॥३५॥

बुद्ध अर्थात् बोधयुक्त योगी साधक इसी आदि क्रम से अर्थात् अकारादि क्रम से ही मन्त्र का उच्चारण करे । यही मन्त्र वस्तुतः हंसरूपता को प्राप्त निष्कल मन्त्र हो जाता है । इस अवस्था में वहाँ तुर्य योग घटित रहता है । इस मकारान्त त्रितय को हम बिन्दु में समाहित कर चुके हैं । बिन्दुस्थ करने के बाद अर्थात् बिन्दु की रहस्यमयी व्याप्ति में विश्रान्ति के बाद अब नाद और नादान्त की अनुभूति की ओर साधक अग्रसर होता है । उस अवसर पर दो काम करना पड़ता है । १–दिव्य 'करणबन्ध' की प्रक्रिया अपना ले और २–यह कि, साधक कुछ कुछ मुंह खोलकर उच्चार का आनन्द ले और मन्त्रवीर्य की ऊर्जा को आत्मसात् करता रहे ॥३६॥

ततश्च–

ईषदुद्घाटिते वक्त्रे तदा नादं विजानत ।

अनयेतिकर्तव्यतया मन्त्रोच्चारावहितस्य नादनादान्ताभिव्यक्तिर्भवतीत्यर्थः ।

किञ्च–

नादस्थं पञ्चधा चैव शक्तिस्थं पञ्चधा पुनः ।।३७।।

व्यापिन्यां पञ्चधा चैव

मन्त्ररूपं विजानतेति सम्बन्धः । पञ्चधात्वं च–

'ब्रह्मादिपञ्चकं यच्च.................' । (६/४१)

इत्युपक्रम्य–

'परापरविभागेन ते सर्वत्र व्यवस्थिताः' । (६:४१)

इति समनन्तरवक्ष्यमाणस्थित्या मन्तव्यम् । तेन योजनिकाग्रन्थे नादस्य यदष्टकलत्वमुक्तं तद्वाचकस्वरूपविमर्शयुक्त्या । इदं तु पञ्चधात्वं तत्पदाधिरूढवाच्यरूपकारणविमर्शयुक्त्येति न पूर्वापरवैषम्यं किञ्चित् ।।३७।।

किञ्च–

समनानिष्कलात्मनोः ।

यह अनुभूति की उच्चस्तरीय पदवी है । साधक जिस समय मुँह को कुछ थोड़े रूप में ही खोलता है, तभी वह नादात्मक विश्रान्ति को उपलब्ध हो जाता है । यह मन्त्रोच्चार की इतिकर्त्तव्यता समाहित साधक को नाद और नादान्त की परानुभूति से भर देती है । साधक नादस्थ रहता है । यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि, नादस्थ साधक पाँच प्रकार की मन्त्र रूपता पर अपनी ज्ञानधारा का प्रक्षेप करता रहे । यह पञ्चधात्व पहले भी व्याख्यायित है । इसी तरह जब वह नादनादान्त का परित्याग कर शक्ति धाम में प्रवेश करे तो उसकी पञ्च प्रकारता का ध्यान रखे । यह आवश्यक है ।।३७।।

शक्ति से आगे व्यापिनी स्तर पर भी साधक जब विश्रान्ति लाभ करे तो वहाँ भी मन्त्र की पञ्च प्रकारता को अपने संज्ञान में रखे । इस पञ्चधात्व को श्लोक ६/४१ में व्यक्त कर दिया गया है । तथा ६/४१ में ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, पर और अपर इस द्विधा विभाग में व्यवस्थित है । इस सम्बन्ध में कुछ और प्रतिपादन आगे किया जाना शेष है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, योजनिका के प्रकरण में नाद की अष्टकलात्मकता का उल्लेख है,

ऊर्ध्वोर्ध्वमवस्थितयोः । पूर्वनिर्णीतं रूपं विजानतेत्यनुषङ्गः ।

अथैतदुपरि–

उन्मना च परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ।।३८।।

पूर्वनिर्णीतं रूपं जानीतेत्यर्थः ॥३८॥

उपसंहरति–

एवं ज्ञात्वा विमुच्यन्ते शिवतत्त्वविदो जनाः ।

एवमुक्तक्रमेण, ज्ञात्वा उन्मनान्तानि पदान्यनुभूय, ये शिवतत्त्वमिति परम-शिवमात्मानम्, विदन्ति प्रतिजानन्ति, ते विशेषेण सिद्धान्तवैलक्षण्येन मुच्यन्ते । तत्र हि–

'अवर्णोवर्णमकारबिन्दुनादाश्च तस्य सन्मन्त्राः' ।

इत्येवं मन्त्रव्याप्तिस्तद्गुरुभिर्दर्शिता ।

वह वाचक स्वरूप के विमर्श की दृष्टि से कहा गया है । यहाँ पञ्चधा कहने में इस पद में अधिरूढ वाच्य रूप कारण के विमर्श की दशा ही मुख्य आधार है । इस तरह पूर्वापर वैषम्य की उपस्थिति यहाँ नहीं मानी जा सकती ।

व्यापिनी से भी ऊर्ध्व की ओर की योगयात्रा के क्रम में हम समना और निष्कलता की दशाओं में पहुँचते हैं, वहाँ भी इस पञ्चधात्व की स्मृत्यात्मक अनुभूति रहनी चाहिये । उनके ऊपर उन्मना अवस्था आती है । उन्मना में यह परम रहस्यमय तत्त्व अपनी पूरी व्याप्ति के स्वरूप में ही उल्लसित है । इन तथ्यों पर साधक को सदा अवहित रहना चाहिये ॥३८॥

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं–

इस प्रकार के पञ्चप्रणव के सन्दर्भों का पूर्ण ज्ञानवान् पुरुष विमुक्त हो जाता है क्योंकि वे शिवतत्त्वात्मक रहस्य के वेत्ता होते हैं । इस प्रकार के ज्ञान को उन्मनान्त ज्ञान मानना चाहिये । आज्ञा से एक एक पदों पर विश्रान्ति के बाद उनको पद-क्रम से अतिक्रान्त करते हुए उन्मना नामक तत्त्व में प्रवेश करना इस प्रक्रिया का अन्तिम पड़ाव है ।

जहाँ तक शिवतत्त्ववेत्ता का प्रश्न है, यह सम्पूर्ण विश्व ही शिवरूप है और विशेष कर स्वात्म का 'स्व'रूप भी शिव है और शुद्ध अहन्ता में उल्लसित मैं भी परम शिव के अतिरिक्त नहीं हूँ, इस प्रकार का ज्ञानी ही शिवतत्त्ववेत्ता माना जाता है । वह यह मानता है कि,

अत्र वैधर्म्यमाह–

अन्यथा नैव मुच्यन्ते बिन्द्वन्ते ये व्यवस्थिताः ।।३९।।

बिन्दौ तदन्ते च नादादिपदे ये व्यवस्थिता विश्रान्तास्ते नैव मुच्यन्ते; अपि तु तत्तत्पदोचितविभूतिमेव भजन्ते ।।३९।।

यतः–

ज्योतीरूपं तु बिन्दुस्थं नादस्थं शब्दरूपकम् ।
शक्तिस्थं स्पर्शगं चैव तदूर्ध्वं शून्यरूपकम् ।।४०।।

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रविलीयते ।
मदभिन्नमिदं सर्वं......................।।

ऐसे लोग इस सिद्धान्तवादिता का अनुसरण करते हुए निश्चित रूप से मुक्त हो जाते हैं। गुरुजनों ने मन्त्र की व्याप्ति के स्वरूप क्रम के सम्बन्ध में कहा है कि,

'अ' 'उ' 'म' बिन्दु और नाद उसी सन्मत्र के क्रमिक वर्ण और पद हैं, वैधर्म्य की विधि से बोल रहे हैं कि,

अन्यथा अर्थात् उन्मना से नीचे के पदों में ही रहकर उपासना करने वाले लोग कभी भी मुक्ति को उपलब्ध नहीं हो पाते क्योंकि वे बिन्दु पदवी पर ही व्यवस्थित रह जाते हैं। ऊर्ध्व पदों की आनन्दवादिता से वे वंचित रह जाते हैं। हाँ उन पदों की स्तरीयता के अनुसार उचित विभूति भाव का आनन्द वे प्राप्तकर पाते हैं ।।३९।।

बिन्दुस्थ योगयुक्त पुरुष ज्योति रूप होता है। ज्योति का साक्षात्कार करता है और ज्योतिर्मय हो जाता है। इसके विषय में लिखा है कि,

स्थूल ध्यानाच्छतगुणं ज्योतिर्ध्यानं विशिष्यते ।
ततोऽपि बिन्दुध्यानस्य फलं शतगुणं स्मृतम् ।।

....।
परात्मदर्शनं बिन्दुध्याने शश्वत्प्रजायते ।।

नादपदवी पर प्रतिष्ठित योगी शब्दरूपता में खो जाता है। इसका शब्द रूप ध्यान होता ही है। शक्तिस्थ स्पर्श का सूक्ष्म अनुभवकर आनन्द का अनुभव करता है।

यदेतद्बिन्दुस्थं त्रितयमिति नादस्थं पञ्चकमित्याद्युक्तं तद्बिन्दुस्थं ज्योतिरूपमिति वेद्याविभागप्रकाशरूपम् । नादस्थं तु शक्तिरूपमिति विसर्गशक्तिमयम् । शक्तिपदावस्थितं तु स्पर्शगमानन्दस्पर्शसतत्त्वम्, तदूर्ध्वं व्यापिन्यां तु शून्यताभासरूपम् ॥४०॥

यतो व्यापिनीधाम–

ब्रह्मादिपञ्चकं यच्च तेषां शून्यं च तत्पदम् ।

चकाराद् ब्रह्माद्यधिष्ठेयानां तत्त्वानामपि । तैः शून्यमिति वक्तव्ये तेषां शून्यमिति षष्ठ्या ते सर्वे तत्र तदुचितप्रकृष्टसंविद्रूपतया स्थिताः, न तु क्वापि गताः–इति दर्शयति । अत एव पूर्वशून्यं शून्यमित्याद्युक्तम् ।

ननु ब्रह्मादयो हृदयादिललाटान्तपदावस्थितास्ते कथमियतीं भूमिमायाता इत्याह–

परापरविभागेन ते सर्वत्र व्यवस्थिताः ॥४१॥

इसके ऊपर शून्य की व्यापकता का आकलन होता है । जहाँ तक बिन्दुस्थ की बात है, उसमें अ उ म त्रितय की स्थिति बरकरार रहती है । नाद में अ उ म बिन्दु अर्धचन्द्र और निरोधिका रूप पञ्चक अन्तर्भूत होता है । ज्योति का तात्पर्य वेद्यविषयक अविभाग प्रकाश माना जाता है । नाद में विसर्ग शक्ति का आधान होता है । शक्ति पदवी पर अवस्थित साधक आनन्दमय स्पर्श की अनुभूति करता है । व्यापिनी में शून्यता का अनुभव होता है ॥४०॥

शून्य का यह पद बड़ा अचरजमय होता है । इसमें ब्रह्मा आदि वाच्य देववर्ग इनके अधिष्ठेय तत्त्व वर्ग और सारी अवस्थायें आदि अपने प्रकृष्ट संविद् स्वरूप से वहाँ विद्यमान रहते हैं । शून्य का अर्थ ही होता है–सूक्ष्मरूप से अवस्थिति । ये सभी शून्य में ही स्थित रहते हैं । पहले ये अशून्य स्थिति में थे । अब शून्य रूप से उसी में स्फुरित हैं ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, ब्रह्मा इत्यादि तो आज्ञा के ओङ्कार बीज में अ उ म बिन्दु नाद आदि को आधारीकृत्य ललाट में रहते हैं । इसके भी पहले ये मूलाधार से विशुद्ध पर्यन्त अवस्थित माने जाते हैं, ये इतनी उच्चभूमि पर किस प्रकार अवस्थित हो जाते हैं ? इसी जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि,

परमेश्वरस्य हि चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयस्तत्पदोचितप्रपञ्चव्याप्तिभाजो ब्रह्मादिपर्यन्तमाभासितवत्य इति तद्व्याप्तिसारा ब्रह्माद्याः स्थूलसूक्ष्मादिव्याप्त्या सर्वत्र स्थिताः । एतच्च एकादशे व्यक्तीभविष्यति । अथवैते तत्तत्पदौचित्येन तास्ताः सिद्धीर्ददति ॥४१॥

अथ–

शून्यातीता तु समना शुद्धात्मा तून्मना तथा ।

क्रमेण स्वोचितसंविद्रूपेत्यर्थः ।

अथ–

सर्वातीतं परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥४२॥

सर्वातीतत्वेऽपि सर्वव्यापकत्वमस्य स्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दरत्वात् ॥४२॥

यतश्च परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितमत एवाकारोकारमकारवाच्या अतिस्थूला अपि–

मन्त्ररूपाश्च विज्ञेया बिन्दुधर्मात्तु देवताः ।

पर और अपर विभाग से ये सर्वत्र व्यवस्थित रहते हैं । परापर विभाग की चर्चा पञ्च प्रणव प्रकरण में की जा चुकी है । विशेष रूप से यह ध्यान देने की बात है कि, परमेश्वर की चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ अपने अपने पद के अनुसार प्रपञ्च व्याप्ति से समन्वित होती हैं । ये ब्रह्मादि पर्यन्त शक्ति तत्त्व के आभासन में समर्थ होती हैं । इनकी व्याप्ति के मूल में ही ब्रह्मादि स्थूल सूक्ष्मादि की व्याप्ति भी स्वाभाविक है । एकादश पटल में इसका स्पष्ट प्रतिपादन है । अपने अपने पदों के औचित्य के अनुसार अपने साधकों को उसी प्रकार की सिद्धियाँ भी ये प्रदान करते हैं ॥४१॥

व्यापिनी के शून्य भाव को अतिक्रान्त कर 'समना' की अवस्थिति मानी जाती है । इसीलिये समना को शून्यातीता कहते हैं । तथा उन्मना शुद्ध संविद्रूप ही मानी गयी है । इन सभी पदों को अतिक्रान्त कर विराजमान सर्वातीत परमतत्त्व सर्व व्यापक तत्त्व है । यह सर्वातीत होते हुए सर्वव्यापक इसलिये कहा जाता है कि, अत्यन्त निर्मल स्वच्छात्म स्वच्छन्द भैरव की चिदानन्दघनतामयी एक सूक्ष्मतम अनिर्वचनीय अप्रकल्य स्थिति है ॥४२॥

चूँकि परमतत्त्व सबको व्याप्त कर अवस्थित है । इसलिये 'अ'कार 'उ'कार और 'म'कार आदि से वाच्य अत्यन्त स्थूल ये मन्त्ररूप से और अभेद व्याप्ति

चकार एवार्थः । मन्त्ररूपा एव तदभेदव्याप्तिसारेणाविश्लेषेण ज्ञातव्याः । एवं हि–

तत्रस्थाः सर्वकर्माणि साधयन्ति न संशयः ।।४३।।

तत्रेति व्याख्यातव्याप्तिसतत्त्वे मन्त्रे स्थिता उपारूढाः ॥४३॥

एवमुल्लासक्रमेण हृदयाद्द्वादशान्तं मुक्त्यङ्गमन्त्रोच्चारमुक्त्वा सिद्ध्यङ्गं तं प्रातिलोम्येनादिशति–

तत्त्वं च उन्मनात्मा तु समना शून्यमेव च ।
स्पर्शश्चैव तथा शब्दो रूपं च तदनन्तरम् ।।४४।।
मन्त्रात्मनि स्थिताः सर्वे ज्ञातव्या दैशिकेन तु ।

रूपमिति बिन्दुतेजः । तदनन्तरमिति मकारोकारात्मवर्णस्वरूपम् । त एते सर्व एव प्रमेया मन्त्रात्मनिष्कलस्वरूपेऽवस्थिता उल्लासप्रवेशक्रममविमृश्य मन्त्रा-वसर एव मुक्तिसिद्ध्यङ्गरूपेणोपलभ्यन्त इत्यर्थः । दैशिकेनेति प्राधान्यात्, तदुप-देशात्त्वन्येनापि ॥४४॥

रूप से उसमें अवस्थित हैं । बिन्दु रूप ज्योतिर्मयता के कारण इन्हें देवता कहते हैं । इसी आधार पर देवताओं को मन्त्ररूप में ही सभी स्वीकार करते हैं । वहाँ रहते हुए ही ये देवता सारे कार्यों को सिद्ध करते हैं ॥४३॥

इस योगयात्रा के दो क्रम होते हैं–१–अनुलोम या उल्लास या आरोह क्रम और २–प्रतिलोम या अवरोह क्रम । ऊपर उल्लास के अनुसार आज्ञाचक्र से उन्मना तक की क्रमिकता का वर्णन किया गया है । यहाँ प्रतिलोम क्रम से उन्मना से नीचे की ओर चलने का क्रम निर्दिष्ट कर रहे हैं–

१–सर्वातीत परमतत्त्व, २–उन्मना, ३–समना, ४–शून्य (व्यापिनी), ५–स्पर्श स्थान शक्ति, ६–नाद और नादान्त (शब्द), ७–रूप अर्थात् बिन्दु, ८–'म'कार, 'उ'कार और अकार रूप वर्णव्यवस्थिति । ये सभी मन्त्ररूप भैरव के निष्कल शरीर में अवस्थित रहते हैं । ये दैशिक गुरु द्वारा ज्ञातव्य हैं । यह ज्ञान उल्लास और अनुप्रवेश अर्थात् अवारोह क्रम दोनों स्थितियों का होना चाहिये । वस्तुतः मन्त्र के जपादि या साधना के अन्तरङ्ग अवसरों पर इनकी अनुभूति बनी रहनी चाहिये । ये मुक्ति रूप सिद्धि के अङ्ग है । ये एक एक पद हैं । ऊपर उठते समय एक एक में विश्रान्ति करते है । पुनः उनको अतिक्रान्त कर ऊर्ध्व आरोहण करते हैं । पुनः प्रतिलोम क्रम से उसी सोपान परम्परा से उतर आते हैं । साधक को इनका ज्ञान होता है । वही दैशिक होता है । वह स्वयं इस तथ्य से परिचित होता है । इसके उपदेश से शिष्य परम्परा भी सब कुछ जान पाती है ॥४४॥

न केवलमेते मन्त्रस्थाः सर्वकर्माणि साधयन्ति, यावत्–

तत्रस्था ज्ञानयोगं च प्रयच्छन्ति वरानने ।।४५।।

ज्ञानं तत्तज्ज्ञेयतत्त्वानुभवम्, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम् ।।४५।।

सर्वकर्मणि साधयन्तीति यदुक्तं तत्र कर्मानुरूपं मन्त्रदेवतानां ध्यानमाह–

कर्मकाले तु सकलाञ्छिरःपाण्यादिभिर्युतान् ।

कर्म अर्चाहोमादि । क्रमेण–

जपेत्तु सकलान्देवि निष्कलेन समन्वितान् ।।४६।।

ध्यायेदित्यनन्तरस्थमनुषज्यते । निष्कलेन चिद्घनतापरमार्थेन, सम्यगन्वितांस्ताद्विश्रान्तिसारान् ।।४६।।

यदा तु सर्वज्ञत्वादिरूपां सिद्धिमिच्छति, तदा बिन्दुविश्रान्तिसतत्त्वान्–

ध्यायेज्ज्योतिर्मयान्सर्वान्

उक्त साधक मन्त्रस्थ होते हैं । ये मन्त्रस्थ मन्त्र के जागृत कर अपने सारे कार्यों को सिद्ध कर लेते हैं । यही नहीं, ये उसमें अवस्थित रहते हुए उक्त ज्ञेय तत्त्वों का अनुभव भी कर लेते हैं और ज्ञानवान् हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त इस समय जानने योग्य तत्त्वों से तादात्म्य स्थापित कर योग युक्त योगिराज स्तर को भी प्राप्त कर लेते हैं ।।४५।।

सभी कर्मों के साधन के लिये कर्म के अनुसार मन्त्रों के देवताओं का ध्यान भी करना अनिवार्यतः आवश्यक होता है । जिस समय अपने कार्यों की सिद्धि में कोई लगे, उस समय सभी देवताओं में मानवीकरण करना चाहिये । जैसे अपना शरीर है । इसमें शिरोभाग, मध्यभाग और अधोभाग के तीन खण्ड हैं, उसी तरह उनका भी ध्यान करना चाहिये । अर्चा और होम आदि के लिये तो यह अत्यन्त आवश्यक है । ध्यान के लिये भी यह जरूरी है ।

क्रम पूर्वक इन देवों का जप करना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि, ये सभी निष्कल चिद्घनपरमार्थ परमेश्वर से सम्यक् रूप से अन्वित हैं । इन सभी देवों की विश्रान्ति उसी निष्कल में होती है । अतः जप के समय भी इसमें अवधान पूर्ण होना चाहिये ।।४६।।

जब साधक सर्वज्ञ होना चाहे और सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये तत्पर हो, उस समय बिन्दु में विश्रान्ति कर ज्योतिर्मय दिव्य देववर्ग का ध्यान करना होता है । क्योंकि ज्योति रूप उनका वर्णन ६/४० में किया गया है । यहाँ पुनः कथन पुनरुक्ति नहीं है । यहाँ प्रकरण के आधार पर कहना आवश्यक ही है ।

उक्तं हि–

'ज्योतीरूपं तु बिन्दुस्थम्' । इति । (६/४०)

इह तु एतत्फलनिरूपणपरत्वेनोक्तमिति प्रकरणतो ज्ञायत इति न पुनरुक्तम् ।

अथ बिन्दुविश्रान्त्यूर्ध्वनादपदे–

शब्दसिद्धिप्रदायकान् ।

नादविश्रान्तिमयत्वेन ध्यातास्तत्सिद्धिमेव वितरन्तीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि तदुचितरूपध्यानात्तत्तसिद्धिप्रदत्वमेषाम् ।

यदाह–

शक्तिस्थाः शक्तिदाः प्रोक्ताः शून्यस्था व्यापकाः स्मृताः ।।४७।।

क्रमाज्ज्ञानप्रदास्ते वै समनास्था वरानने ।

कैवल्यदास्ततश्चोर्ध्वे सर्वज्ञाश्चोन्मने पदे ।।४८।।

शक्तिः सर्वकरणसामर्थ्यम् । शून्यं व्यापिनी । व्यापका इत्याराधकस्य व्याप्तिप्रदाः । क्रमाज्ज्ञानं शिवादिक्षित्यन्ताशेषविषयम् । कैवल्यं शुद्धविज्ञान-केवलित्वम्, यद्भेदवादिशैवानां परं प्राप्यम् । ऊर्ध्व इति शुद्धात्मपदे । सर्वज्ञा इत्यक्रमाशेषविश्वाभेदप्रथाप्रदाः । यथोक्तं प्राक्–

'समना क्रमविज्ञानमुन्मना त्वक्रममिति' । इति ।

इसके ऊर्ध्व भाग की प्रक्रिया शब्द सिद्धि के लिये अपनायी जाती है । शब्द नाद और नादान्त का विषय है । नाद में जिन देवों की विश्रान्ति है, उनका शाब्द शरीर है और उसी से वे वर प्रदान करते हैं । उत्तरोत्तर उनका इसी प्रकार का ध्यान करना चाहिये । शक्ति में स्थित देवशक्ति प्रदान करते हैं । शून्य अर्थात् व्यापिनी में स्थित रहकर वे परव्याप्ति का सामर्थ्य प्रदान करते हैं ।।४७।।

इसी क्रम से वे ज्ञानात्मक वर देते हैं । समना में विश्रान्त देव भी सांम्मनस्य प्रदान करते हैं । इसके ऊर्ध्व स्थिति में पहुँचने पर कैवल्य और उन्मना में अवस्थित देव सर्वज्ञता प्रदान करने में समर्थ हैं । इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना चाहिये कि, शक्ति का अर्थ सब कुछ करने का सामर्थ्य माना जाता है । क्रमशः ज्ञान का तात्पर्य शिवादि क्षित्यन्त समग्रज्ञान है । कैवल्य शुद्ध विज्ञानकेवली को बताता है । यह भेदवादी शैवों का परमोच्चपद माना जाता है । सर्वज्ञ का तात्पर्य अशेष विश्व में अभेद अद्वय भाव का दर्शन है । यह अक्रम रूप से होता है । समना में सक्रमता बनी रहती है ।।४८।।

एते च मन्त्रावयवानु[1]भवा:-

तत्त्वेन वेधिताः सर्वे ये मया परिकीर्तिताः ।

तत्त्वेन परशिवेन[2] वेधिता[3] सर्वात्मना व्याप्ताः । [4]वेधिता इत्यैशः पाठः, विधि-विधान इत्यस्यैवायं प्रयोगः । अत एव-

तज्ज्ञात्वा सिद्धिदाः सर्वे मुक्तिदाश्च न संशयः ।।४९।।

तदिति तत्त्वम्, साधकानामपि ह्येतन्मन्त्रक्रमेण सिद्धिमुक्तिपर्यवसानेनैवेति योजनिकाग्रन्थे निर्णीतम् । भिन्नकर्तृत्वेऽपि क्त्वेश्वरप्रामाण्यात् ।।४९।।

उपसंहरति-

पञ्चप्रणवसंयुक्तं तत्त्वं ते कथितं मया ।

पञ्चप्रणवोच्चारोपायप्राप्तं तत्त्वं परमशिवात्मकपरमहंसस्वरूपम्, ते तवैव योग्यायाः शक्तेर्मया कथितम्, नान्यस्य कस्यचित् ।

तदेतज्ज्ञात्वा-

पञ्चप्रणवपूर्वेण ओंकाराद्ययुतेन तु ।।५०।।

नमस्कारावसानेन बहुरूपेण सुव्रते ।

जपतः सिद्धिमाप्नोति लक्षेणाक्षरसंख्यया ।।५१।।

उक्त ये सारे अनुभव निष्कल मन्त्र के अवयवों के अनुभव हैं । ये सभी तत्त्व रूप परमेश्वर से व्याप्त हैं, वेधित हैं अर्थात् इनके अन्तराल में वही सर्व-समर्थ काम करता है । सर्वात्मना उससे ही व्याप्त हैं । ये सभी रहस्य भैरव भट्टारक के मुखारविन्द के ही मकरन्द रूप हैं । इसलिये इसका ज्ञान प्राप्त करने से सभी सिद्धिप्रद हो जाते हैं । इसमें कोई संशय नहीं कि, ये सभी मुक्ति प्रदान करने में भी समर्थ हैं । ज्ञात्वा में क्त्वा ईश्वर प्रामाण्य का प्रतीक है ।।४९।।

भगवान् भैरव भट्टारक इस विषय का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! मेरे द्वारा तुम्हारे समक्ष पञ्च प्रणव का सारा तात्त्विक स्वरूप व्यक्त किया गया है । उसके उच्चार में निहित रहस्य का, परम शिव के 'परमहंस' स्वरूप का और निष्कल चतुष्कल रूप का तात्त्विक उद्घाटन मैंने किया है । तुम इसकी योग्यता से सम्पन्न हो और तुम्हें ही मैंने सुनाया, इसका मुझे सन्तोष है । तुमसे और भी यह बता देना चाहता हूँ कि, पञ्चप्रणव पूर्वक अर्थात् भैरव के चतुष्कल प्रयोग पूर्वक इसका जप करना चाहिये । यह जप बहुरूपात्मक हो सकता है ।

---

१. ख. घ. पु. नुभावा इति पाठः । २. घ. पु. परमशिवेनेति पाठः ।

३. ख. पु. बोधिता इति पाठः । ४. ख. पु. बोधितव्या इति पाठः ।

साधक इति शेषः । पञ्चप्रणवः चतुष्कलः पूर्वो यस्य तेन । व्याख्यात-भिन्नतद्व्याप्त्यतद्व्याप्त्य[1]नुसन्धानपूर्वं तदुच्चारोद्घटितमध्यमार्गाश्रयत्वात्तल्लीनेन बहु-रूपेण यो जपस्ततः सिद्धिमाप्नोतीति सम्बन्धः । ओंकाराद्ययुतेनेत्यादिनेदमाह– यद्यपि प्रणवसमनाव्याप्तिश्चतुष्कलनाथो बहुरूपस्याघोरशब्दादेः 'रूपेभ्यः' इत्यन्त-स्यादौ प्रयुक्तस्तथापि सर्वमन्त्राणां पूजाजपविषये प्रणवनमस्काराभ्यामाद्यन्तसम्बन्धो दीपकः कार्य इति शास्त्रसमयः । तेन द्वात्रिंशदक्षरस्य पूर्वं यौ नमस्कारप्रणवौ उक्तौ, तावेव चतुष्कलपूर्वस्य देयौ । यतः–

'तत्रस्थाः सर्वकर्माणि साधयन्ति' । इत्युक्तम् । (६/४३)

अक्षरसंख्यया लक्षेणेति द्वात्रिंशता लक्षैरित्यर्थः ॥५१॥

१–हमने जो कहा उससे भिन्न व्याप्ति का या अतद् व्याप्ति का अनुसन्धान इसमें आवश्यक है ।

२–उच्चार के समय उद्घाटित मध्य मार्ग के आश्रय के साथ जप होना चाहिये और

३–उन उन विश्रान्तियों में लीन रहते हुए जप होना चाहिये ।

इस प्रकार से जप करने पर ही सिद्धि की प्राप्ति अवश्यंभावी होती है ।

यहाँ एक बात की ओर पुनः ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । वह यह कि, पूर्व में ओङ्कार और अन्त में नमस्ते जोड़कर जप करना चाहिये । वास्तव में प्रणवादि समनान्त व्याप्ति चतुष्कलनाथ बहुरूप में उक्त द्वात्रिंशदक्षरात्मक अघोर मन्त्र में (अघोर से रूपेभ्यः पर्यन्त प्रयुक्त मन्त्र में) प्रयुक्त होता है, फिर भी सभी मन्त्रों की पूजा और जप के सन्दर्भों में प्रणव और नमस्कारान्त दीपक (दीप्तिका जागरण कारक) कार्य करना ही चाहिये । यह शास्त्र के समयाचार में निहित तथ्य है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि, 'अघोर' मन्त्र के पूर्व जो नमस्कार और प्रणव प्रयुक्त होते हैं, वे भी चतुष्कल पूर्व होने चाहिये । इसी आधार पर श्लोक ६/४३ में तत्रस्थ शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट किया गया है कि, 'उसमें स्थित देव सभी कार्य सिद्ध करते हैं' । अक्षरलक्ष का भी तात्पर्य बत्तीस लाख ही लगाना चाहिये ॥५०-५१॥

---

१. ख. पु. तद्व्याप्त्येति पाठः ।

एतदेवाधिकावापेन पूरयति–

प्रणवाद्येन संयुक्तं मन्त्रमेवं जपेत्सदा ।

प्रणव आद्यो यस्य चतुष्कलनाथस्य तेन सम्यग्युक्तं मन्त्रं जपेत्सदा इति यावत् । पूर्वमेव तावदस्यैकाग्रताया अविच्छेदेन जपः कार्य इत्यर्थः । सदेति अत्राधिकावापः । अथ–

जपान्ते तु पुनर्होमं दशमांशेन कारयेत् ।।५२।।

'जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य.........' । (६/३)

इत्याद्युपक्रम्य पञ्चप्रणवस्वरूपं निर्णीय–

'प्रणवाद्येन संयुक्तं मन्त्रमेवं जपेत्सदा' ।

इत्युपसंहृत्य–

'जपान्ते तु पुनर्होमम्' । इत्युक्तम् ।

अतो जपोपक्रमेणाङ्गहोमस्तावत्कृतः । जपे तु मन्त्रदेवतासंमुखीकरणात्मनि निष्पन्ने, तत्तर्पणाय स्वाहान्तेन मन्त्रेण जपसंख्यातो दशांशेनेति लक्षत्रयेण सहस्रविंशत्या च होमः कार्य इति पुनःशब्दस्यार्थः ॥५२॥

अत्र होमे समुचितं द्रव्यमाह–

नृमांसं पुरसंयुक्तं घृतेन च परिप्लुतम् ।
ततः सिद्धिमवाप्नोति अधमां मध्यमोत्तमाम् ।।५३।।

इसी तथ्य को और अधिक वपन पूर्वक बल विस्तार देकर कह रहे हैं कि, प्रणव है आदि में जिसके ऐसे चतुष्कलनाथ से सम्यक् रूप से युक्त मन्त्र का ही जप करना चाहिये । सम्यक् युक्त का तात्पर्य पूर्ण ऐकाग्र्य से है । अविच्छिन्न जप इसका निष्कर्ष है । सदा यही विधि अपनानी चाहिये अर्थात् इसमें किसी प्रकार का प्रमाद नहीं होना चाहिये ।

जप के अन्त में दशमांश होम की व्यवस्था करनी करानी चाहिये । यहाँ प्रथम निर्देश बहुरूप मन्त्र का अक्षरलक्ष जप श्लोक ६-३ द्वारा, द्वितीय निर्देश प्रणव पूर्वक चतुष्कल संयुक्त जप का निर्देश द्वारा तथा तृतीय निर्देश जप के अन्त में दशमांश होम के लिये किया गया है । इसलिये जप के उपक्रम में होम को भी प्रक्रिया का अंश ही मानना चाहिये । जपान्त में सुमुख मन्त्र देवता के तर्पण के लिये अर्थात् ३लाख २०हजार आहुतियों का हवन स्वाहाकार के साथ होना चाहिये ॥५२॥

हवन के द्रव्य के विषय में उस समय प्रचलित प्रक्रिया में प्रयुक्त पदार्थों का नाम लेकर कह रहे हैं कि, मनुष्य के मांस में गुग्गुलु मिलाकर साथ ही साथ

पुरं गुग्गुलुः । एतत्त्रयं युगपद्धुत्वा तत्त्वेश्वरत्वाकाशोत्पतनपातालसिद्धिरुत्तमादिरूपाः सर्वाः प्राप्नोति, न तु यथासंख्यमशब्दार्थत्वादागमान्तरविरोधा[१]च्च ॥५३॥

यदा तु–

त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छदसदृशो भवेत् ।
ब्रह्मविष्णिवन्द्रदेवानां सिद्धदैत्योरगेशिनाम् ।।५४।।
भयदाता च हर्ता च शापानुग्रहकृद्भवेत् ।
दर्पं हरति कालस्य पातयेद्भूधरानपि ।।५५।।
स्फोटयेद्बिल्वयन्त्राणि दिग्गजानपि चालयेत् ।
ब्रह्मराक्षसवेतालान् क्रूरग्रहविनायकान् ।।५६।।
स्मरणान्नाशयेद्देवि अवध्यस्त्रिदशैरपि ।

शापानुग्रहकृत्वाद्भयस्य दाता हर्ता च, स्मरणादिति स्मृतमात्रः सन्नाशयत्येवेत्यर्थः ॥५६॥

घी मिलाकर तीनों पदार्थों का एक साथ हवन करना चाहिये । इससे तत्त्वेश्वरत्व रूप उत्तम, आकाशोत्पतन रूप मध्यम और पाताल सिद्धि रूपी अधम सिद्धियों की प्राप्ति होती है । यहाँ यथासंख्य अर्थ नहीं लेना चाहिये ॥५३॥

जापक इस निर्देश को माने कि, बत्तीस लाख के तिगुना जप करने से स्वच्छन्द भैरव के समान हो जाता है । ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि देवताओं, दैत्यों, नागों और ऐसे ही शक्तिमन्तों का स्वामी बन जाता है ॥५४॥

केवल इतना ही नहीं । उस साधक से सभी भयभीत रहते हैं । वह अनर्थकारी शक्तियों के सामर्थ्य का हरण करने में भी समर्थ हो जाता है । शाप देने और अनुग्रह करने का अधिकारी बन जाता है । काल के दर्प का दलन कर सकता है । अपनी मन्त्र शक्ति से पहाड़ों को भी उखाड़ सकता है और पछाड़ सकता है ॥५५॥

बिल्वयन्त्र जो किसी के अहित के लिये निर्मित होता है, यह एक प्रकार का बम होता है, उसमें बिना किसी को नुकसान पहुँचाये ही विस्फोट कर सकता है । दिग्गजों को विचलित करने की शक्ति से समन्वित होता है । ब्रह्मराक्षस को अपने रास्ते से हटा देता है । राक्षसों के क्षय का साक्षात् कारण बन जाता है । वेतालों का बाजा बजा देता है । क्रूर ग्रह और विनायकों के विनाश में दक्ष होता है ॥५६॥

---

१. ख. घ. पु. आगमेति पाठः ।

अस्य च मन्त्रस्य–

प्राकृतान्यपि कर्माणि सिद्ध्यन्ति जपलक्षतः ।।५७।।

प्रकृतिसंभूतद्रव्ययोगसंपाद्यानि वश्यादीनि प्राकृतानि । जपलक्षत इति पूर्व-सेवार्थं दशांशहोमसहितान्निर्वर्तितात् । प्रयोगकाले कर्मोचितोहजात्यन्तमन्त्राभि-मन्त्रणं वक्ष्यमाणप्रयोगनिर्दिष्टानां द्रव्याणां तत्तदन्यकल्पप्रयोगविषयाणां च स्थित-मेव । यदुपसंहरिष्यति–

'एवं शतसहस्राणि अन्यकल्पोत्थितानि च ।

प्रयोगाणां करोत्येष मन्त्रराजेश्वरेश्वरः' ।। (६/५४) इति ।।५७।।

एवं पूर्वाराधितमन्त्रस्य यानि मुख्यसिद्ध्यङ्गभावेन कदाचिदवसरे प्रयोज्यानि–

तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

ऐसे साधक की यह विशिष्ट शक्ति होती है कि, ये स्मरण मात्र से इनका विनाश कर सकते हैं । ऐसा साधक देवताओं द्वारा भी अवध्य होता है । प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न द्रव्यों के योग से संपादित करने योग्य वश्य और उच्चाटनादि कामों की सिद्धि भी इसके वश की बात होती है । मात्र अघोर मन्त्र के एक लाख जप और दशांश हवन से ये कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ।

प्राकृत कर्मों में ही षट् कर्मों की भी गणना होती है । इनके प्रयोग के समय उन कर्मों के अनुरूप जातियों (हृदयादि) का ऊहन स्वयं करना चाहिये । साथ ही मन्त्रों से द्रव्यों का अभिमन्त्रण भी आवश्यक है । किसी प्रकार के प्रयोग के प्रकल्पन में सावधानी पूर्वक लगना चाहिये । अन्त में इस विषय का ६/९४ में उपसंहार करते हुए भगवान् भैरव ने यह स्पष्ट घोषित किया है कि,

'इस प्रकार सैकड़ों और हजारों की संख्या में अन्य कल्पों में प्रकल्पित प्रयोगों की सिद्धि यह मन्त्रों का राजराजेश्वर मन्त्र कर सकता है' । इसमें सन्देह नहीं ।।५७।।

इस तरह इस पूर्वाराधित मन्त्र की सिद्धि के जितने मुख्य अङ्ग हैं, कभी अवसर पाकर यदि प्रयोग करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो, तो उन्हें अवश्य सम्पादित करना चाहिये । भगवान् कह रहे हैं कि, मैं उनका यथावत् आनुपूर्वी रूप से कथन करने जा रहा हूँ । यहाँ सम्यक् कथन का तात्पर्य है कि, इसमें किसी प्रकार का विसम्वाद या वैमत्य नहीं हो सकता ।

सम्यगिति यथा विसंवादीनि न भविष्यन्ति[१] । यथावदिति ययेतिकर्तव्यतया युक्तानि । अत्रामुको मे वशो भवत्वित्यूहान्तो मन्त्रस्य लक्षजपः कार्य इति व्याख्यानमसत्,

.................ओंकाराद्ययुतेन तु ।

नमस्कारावसानेन...................।। (६।५१)

इति पूर्वमेवासाधारण्येन मन्त्रस्वरूपस्य प्रतिपादितत्वात् । एतावता यथाप्रतिपादनमस्य सामान्येन क्षुद्रसिद्ध्यभिसन्धिमता पूर्वसेवार्थं जपहोमौ कृत्वा विनियोगकाले कर्मोचितोहजात्यन्तस्य प्रयोगः कार्यः ।

तत्र वश्यप्रयोगांस्तावदाह–

मोहना सहदेवा च भूधात्री चक्रलाञ्छना ।।५८।।

रामवल्ल्या सहैकत्र आत्मबीजेन पेषयेत् ।

भक्ष्ये पाने च दातव्यं वशीकरणमुत्तमम् ।।५९।।

मोहना बलामोटा । भूधात्री भूम्यामलकी । चक्राङ्का । रामवल्ली रामतरणिरिति प्रसिद्धौषधिः । आत्मबीजं स्वशुक्रम् । प्रदातव्यमिति मन्त्राभिमन्त्रितम् । एवं ह्यविसंवादि भवति ।।५९।।

इसी पटल के ५१वें मन्त्र के किसी टीकाकार ने एक नये अर्थ का प्रकल्पन किया था । उसके अनुसार वशीकरण के लिये 'अमुको में वशो भवतु' यह मन्त्रान्त में लगाकर मन्त्र का एक लाख जप करने से कोई भी व्यक्ति अपने वश में ही हो सकता है । आचार्य क्षेमराज इसे उचित नहीं मानते । क्योंकि वहाँ मन्त्र के स्वरूप और उसके प्रभाव का विवेचन मात्र करना लक्ष्य है । इसलिये क्षुद्रसिद्धियों की अभिसन्धि में लगने की इच्छा वाले व्यक्ति को आचार्य सावधान कर रहे हैं कि, पहले उचित जप और होम करके मन्त्र सिद्ध करने के उपरान्त ही क्षुद्र कार्य करने के समय विनियोग कर कर्मोचित जाति का प्रयोग करने और तदनुकूल जप–होम करने से ही प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

सर्व प्रथम आठ वश्य प्रयोगों की चर्चा कर रहे हैं–१–मोहना (एक प्रकार की चमेली का फूल) २–सहदेवा, ३–भूधात्री (भूमि आँवला), ४–चक्रलाञ्छना (अशोक का फूल या चकवढ़) ५वीं रामवल्ली के साथ और ६–आत्मबीज के साथ पीसकर किसी प्रकार खाने या पीने में जिस किसी को दिया जाता है, वह अवश्य वशीभूत हो जाता है । यह उत्तम वशीकरण प्रयोग है । इसमें भी मन्त्र जप, अभिमन्त्रण और होम आवश्यक है । केवल प्रयोग भी लोग करते हैं ।।५९।।

---

१. ख. घ. पु. भवन्तीति पाठः ।

उत्तवारणिमूलं तु पुष्यर्क्षेण तु ग्राहयेत् ।
आत्मेन्द्रियेण संयुक्तं वशीकरणमुत्तमम् ।।६०।।

उत्तवारणी विशाला । पुष्यर्क्षेण त्विति पुष्यनक्षत्रेण सौम्यग्रहयुक्तेन । शुक्लपक्षे रात्रौ ओषधिग्रहणं कार्यमित्योषधिकल्पेष्वस्ति । आत्मेन्द्रियं स्वशुक्रम् । यथोक्तम्–

'नृबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते' । इति ।

उत्तमत्वमस्यैकौषधियोगात् । भक्ष्ये पाने चेति स्थितमेव ।।६०।।

श्रवणाक्षिमलं लाला रुधिरेन्द्रियसंयुतम् ।
भूकदम्बसमोपेतं दातव्यं पयसा निशि ।।६१।।

श्रवणाभ्यामक्षिभ्यां मले लाला चेति पञ्च, रुधिरं वामानामिकासम्बन्धि, इन्द्रियं शुक्रमित्यात्मीयं सप्तकम्, भूकदम्बं भूतीकमष्टमम् । एतदेकीकृत्य रात्रौ मन्त्राभिमन्त्रितजलपानमध्ये देयं वशीकाराय ।।६१।।

एतच्च–

अप्रवासे प्रदातव्यं

दत्वा न प्रोषितव्यम् । अन्यथा–

म्रियते विरहेण सा ।

दूसरा प्रयोग–

१–उत्तवारणी (विशाला) का मूल 'पुष्य' नक्षत्र में ग्रहण करना चाहिये । ओषधिकल्प के अनुसार शुक्ल पक्ष की रात को ओषधि ग्रहण करना उत्तम माना जाता है । इस ओषधि को भी आत्मवीर्य के साथ पीसकर खिलाने या पिलाने से व्यक्ति वशीभूत हो जाता है । नृवीर्य को शास्त्र इन्द्र दैवत्य मानता है । इसी आधार पर इसे आत्मेन्द्रिय कहते हैं ।।६०।।

तीसरा प्रयोग–

१–कान और आँख की मैल (खोंट और कीचड़) २–लाला (मुँह से बहने वाला लार) ३–रुधिर (खून) और ४–इन्द्रिय (आत्मवीर्य) इन सबको ५–भूकदम्ब (कदम्ब भेद) के साथ पीस कर रात को दूध में पीने के लिये देना चाहिये । इसमें रुधिर बायीं अनामिका को चीरकर निकालना चाहिये । इन सबको मन्त्र से अभिमन्त्रित करना आवश्यक है ।।६१।।

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, बाहर रहकर इसका प्रयोग न करे अन्यथा वह व्यक्ति विरह की व्यथा से मर भी सकता है ।

इयानस्य प्रयोगस्य महिमेत्यर्थः ।

षष्टिं कनकबीजानि षोडश मणिचन्द्रिकाः ।।६२।।
नरगोदन्तसंयुक्ताः प्रदद्याद्यस्य भामिनी ।
एष कापालिको योगो गच्छन्तमनुगच्छति ।।६३।।

सा तमिति शेषः । कनकं धत्तूरकम् । मणिचन्द्रिका रक्तिका । नरगोदन्तयोर्नात्र संख्यानियमः । एतच्चूर्णं भक्ष्ये पाने व देयमिति प्राग्वत् । कपालैरस्थिभिर्निर्वृत्तः कापालिकः ।।६३।।

श्वेतार्कमूलं मञ्जिष्ठा चटकस्य शिरस्तथा ।
गृहोद्भवस्य कुष्ठं च स्वरक्तेन्द्रियसंयुतम् ।।६४।।
भक्ष्ये पाने प्रदातव्यं वशीकरणमुत्तमम् ।

अर्कतरोः श्वेतत्वं श्वेतपुष्पत्वात् । गृहोद्भवश्चटको मूषकः । स्वरक्तेन्द्रियं प्राग्वत् ।।६४।।

मोहना चैव कान्तारी मयूरशिखया युता ।।६५।।
आत्मलालेन्द्रियैर्युक्तं वशीकरणमुत्तमम् ।

कान्तारी प्रियङ्गुः । मयूरशिखा तदाकारैवौषधिः आत्मलालेन्द्रियैरिति बहुवचनादिन्द्रियद्रव्ये उभयोद्भूते । उत्तममविसंवादि ।।६५।।

चौथा प्रयोग–

१–धत्तूर के ६० बीज, १६ रत्ती के बीज, नर गोदन्त (साँड़ के दाँत । यद्यपि संख्या नहीं लिखी है फिर भी बराबर तौल में लेना चाहिये) । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इसे जिसे दिया जाता है, वह इतना वशीभूत हो जाता है कि वह कारक के पीछे हो लेता है । यह चूर्ण भक्ष्य या पेय किसी प्रकार दिया जा सकता है ।।६२-६३।।

पाँचवां प्रयोग–

१–श्वेत अर्क का मूल (मदार का पौधा जिसमें सफेद फूल हों) २–मजीठ, ३–घर में रहने वाले चटक (चूहे) का शिर, ४–कुष्ठ (कूट) ५–स्वरक्त और ६–आत्मवीर्य इन द्रव्यों का चूर्ण या पिष्ट भाग भक्ष्य या पेय में देना उत्तम वशीकरण माना जाता है ।।६४।।

छठा प्रयोग–

१–मोहना, २–कान्तारी (प्रियङ्गु) ३–मोरपंख या शिखा से समन्वित ४–अपना लार ५–अपना वीर्य मिलाकर खाने या पीने में देने से उत्तम वशीकरण होता है ।।६५।।

लज्जालुका च गोरम्भा चण्डालीकर्मकं तथा ।।६६।।
नागेन्द्रपदमिश्रं तदात्मबीजसमन्वितम् ।
एष योगवरो दिव्यो दीयते यस्य सुव्रते ।।६७।।
मधुरेण समायुक्तो यावदायुर्वशी स तु ।

लज्जालुका लङ्गुडा । गोरम्भा छत्रा । चण्डाल्याख्याया ओषधेः कर्मकं प्रधानमूलम् । मधुरेण विषेण, तस्य च द्रव्यान्तरसंयोगान्मारणशक्ति-निरोधः ।।६७।।

चणका माषमुद्गाश्च अपानेन विनिर्गताः ।।६८।।
वान्तं घृतं तथा रेतः स्त्रीरजो ह्रन्मलं तथा ।
मूत्रं रक्तं तथा केशो लाला चैव वरानने ।।६९।।
[1]पुत्रजानिः कृताह्वा च नागेन्द्रपदसंयुता ।
मोहना विष्णुक्रान्ता च धात्री चैवैकतः स्थिता ।।७०।।
पुष्यर्क्षेण नियुञ्जीत गर्वितानां वरानने ।
भक्ष्ये पाने प्रदातव्यो योगस्त्रिदशपूजितः ।।७१।।

अपानेन निर्गताः शकृद्द्वावमागताः । वान्तं घृतादि । आत्मीयं ह्रन्मलं नाभिमलम् । पुत्रजानिरोषधिविशेषः । कृताह्वा कृताञ्जलिः । विष्णुक्रान्ता प्रसिद्धा ।

सातवाँ प्रयोग–

१–लज्जालुका, २–गोरम्भा, ३–चण्डाली, कर्मक, (मूल) ४–नागेन्द्र पद और ५–आत्मबीज इन सबका पिष्ट भाग दिव्य योग बनता है । इसे ६–मधुर (शहद, बच, मुलहठी) के साथ देने पर खाने पीने वाला आयु पर्यन्त वशीकृत हो जाता है । इसमें मधुर शब्द विष अर्थ में यदि लिखा माना जाय तो उसका द्रव्यान्तर संयोग विषनिरोधक होता है ।।६७।।

आठवाँ प्रयोग–

१–चने, २–माष (उड़द) ३–मुद्ग (मूँग) ये तीनों अपान मार्ग से विष्ठा में से निकाले गये हों, ४–वमन, ५–घृत, ६–वीर्य, ७–स्त्री रज, ८–नाभि का मल, ९–मूत्र, १०–रक्त, ११–केश, १२–लार, १३–पुत्रजानि (ओषधि) १४–कृताह्वा, १५–नागेन्द्र पद ये सभी तथा १६–मोहना, १७–विष्णुक्रान्ता, १८–धात्री (आँवला) इनका मिश्रित चूर्ण अलग, पुष्य नक्षत्र में इनको मिलाकर रख लिया जाय । जो अपने को बड़ा गर्वीला मानता हो कि, मुझ पर किसी भी

---

१. पुंत्रदरिरिति पाठः ।

धात्री आमलकम् । त्रिदशपूजित इत्यविसंवादी । एवमष्टौ वशीकारे प्रयोग उक्ता: ॥७१॥

अथ–

उच्चाटनं प्रवक्ष्यामि शत्रूणां गर्वितात्मनाम् ।

तत्र–

काकोलूकस्य पक्षांश्च खरोष्ट्रमूत्रमृत्तिका ।।७२।।

एभिर्द्रव्यैः–

कृत्वा प्रतिकृतिं प्राज्ञः काकरक्तेन लेपयेत् ।

अथान्यत्[1]–

काकोलूकस्य पक्षांश्च गुदे तस्या विनिक्षिपेत् ।।७३।।

अथ–

तां चतुष्पथे निखनेत्

तत्र खनित्वा स्थगितस्थापितायास्तस्या:–

श्मशानाग्निमथोपरि ।

प्रज्वाल्य होमयेत्तत्र काकपक्षांश्च सुव्रते ।।७४।।

ओषधि या मन्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे लोगों को भी खाने पीने में इसे दिया जाय । इसका अप्रतिम प्रभाव पड़ता है । यह असंदिग्ध सत्य प्रयोग है और देववर्ग द्वारा भी प्रशंसित है ॥६८-७१॥

यहाँ से **उच्चाटन के प्रयोग** की विधियों का निर्देश कर रहे हैं–

उच्चाटन के प्रयोग गर्व से इतराने वाले शत्रुओं के विरुद्ध करने की प्रथा राजवर्ग के आग्रह के अनुसार प्रारम्भ हुई होगी ।

प्रथम प्रयोग–

इसमें विशेष रूप से १–काक पंख, २–उलूक पंख, ३–गधे और ४–ऊँट जहाँ मूत्र करते हैं, उन स्थान की मृत्तिका लेनी चाहिये । इनकी एक प्रतिमा बनानी चाहिये । उस प्रतिभा को काक रक्त से लेपित करना चाहिये । उस प्रतिमा की गुदा में कौवे की पाँख गड़ा देनी चाहिये ।

इसके बाद चतुष्पथ में गड्ढा खोदकर उसमें प्रतिमा को दबा देना चाहिये । उसके ऊपर श्मशान की अग्नि को प्रज्वलित कर काक पक्ष का ही उसमें हवन करना चाहिये ॥७२-७४॥

---

१. ख. घ. पु. अथान्यानिति पाठः ।

उद्भ्रान्तपत्रसहितान् खरमूत्रेण भावितान् ।
यस्य नाम समुद्दिश्य यकाराद्यन्तरोधितम् ।।७५।।
मन्त्रावसाने विन्यस्तं विसर्गान्तं प्रचाटयेत् ।

तमिति शेषः । उद् भ्रान्तपत्राणि अर्जुनवातधूलिदण्डमध्यगतानि पत्राणि । मन्त्रावसान इति आराधितबहुरूपान्ते । विसर्गान्तं यकारेणाद्यन्तप्रयुक्तेन रोधितं सम्पुटितं यस्य शत्रोर्नामेति यः देवदत्तो य उच्चाटितो भवत्विति [१]सक्रोधमुच्चार्य यः क्रोधसमाविष्ट एव वक्ष्यमाणनीत्या शतमष्टोत्तरं काकपक्षाञ्जुहुयात्साधकः स तमुच्चाटयेदिति सम्बन्धः ॥६७॥

स इत्थमुच्चाटितः–

[२]**भ्रमते काकवत्पृथ्वीं शत्रुर्व्याधिनिपीडितः ।।७६।।**

विद्वेषे प्रयोगमाह–

पिण्याकं निम्बपत्राणि मृत्किण्वं तु तुषाणि च ।
शत्रोः प्रतिकृतिं कृत्वा अक्षपुष्पैस्तु वेष्टिताम् ।।७७।।

तदनन्तर अर्जुन के उन पत्रों को लेना चाहिये जो हवा में धूलि धूसरित और उड़कर दण्डरूप शाखाओं के बीच में उलझी हुई हों, उन्हें गधे के मूत्र से भावित कर काकपक्षों में रखे । शत्रु के नाम के आदि और अन्त में 'य' वर्ण को लगाकर जैसे 'यः देवदत्तः (शत्रु नाम) यः उच्चाटितो भवेत् स्वाहा मन्त्र से क्रोध पूर्वक हवन करे 'य'कार से सम्पुटित नाम मन्त्र से १०८ बार हवन करे । इस मान्त्रिक प्रयोग से वह शत्रुता पूर्ण कार्य से विरत हो जाता है । उसकी दुर्दशा भी होती है । वह कौवे की तरह पृथ्वी में पागल की तरह घूमने को बाध्य हो जाता है । तरह तरह की आधिव्याधियों से वह ग्रस्त भी हो जाता है ॥७५-७६॥

विद्वेषण का प्रयोग–

१–पिण्याक (गुग्गुलु बीज का काढा) २–नीम के पत्ते, ३–सुरा पात्र में ऊपर रखे रखे जम जाने वाला मिट्टीमय विकार किण्व कहलाता है । ऐसा किण्व, ४–तुष (धान की भूसी) इन द्रव्यों से शत्रु की प्रतिमा बनावे । उसे भिलावे के फूलों से आवेष्टित करे । भिलावा वह पौधा होता है, जिसके बीज का धुआँ यदि शरीर में लग जाय, तो वह सूज जाता है । यह खतरनाक है ।

---

१. ख. घ. पु. क्रोधमत्यन्तमित्यधिकः पाठः ।
२. ख. घ. पु. क्रमत इति पाठः ।

श्मशाने निखनेत्तां तु वह्निं प्रज्वाल्य चोपरि ।
पुष्पैर्विभीततरुजैर्यस्य नाम्ना तु होमयेत् ।।७८।।
विद्विष्टो वै भवेच्छत्रुः कामदेवसमोऽपि यः ।

पिण्याको गुग्गुलुबीजकल्कः । किण्वं सुरासंधानद्रव्यम् । अक्षपुष्पैर्विभीत-पुष्पैः । वेष्टितामिति तन्मालावलिताम् । नाम्नेति विद्विष्टो भवतु इत्यन्तेन विद्वेषण-जातियुक्तेन बहुरूपेणेत्यर्थात् । होमोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यः ।।७८।।

अथास्य विद्विष्टस्यान्यस्य वा सुभगीकरणमाह–

प्रियङ्गुलतिकामिश्रं गुग्गुलुं घृतवेधितम् ।।७९।।
हुत्वा त्वष्टशतं देवि सुभगः संप्रजायते ।

प्रियङ्गुलतिका गन्धप्रियङ्गुः । अत्राप्याराधितं बहुरूपमेवोच्चार्यामुकः सुभगो भवत्वित्यन्ते सौम्यजातिः प्रयोज्येति ।।७९।।

जातिकुड्मलैर्मिश्रैस्त्रिमध्वक्तैस्तिलैर्हुतैः ।।८०।।

शोधन करने पर यह अमृत बन जाता है । इससे बनने वाला विभीतक पाक सर्वोच्च रसायन माना जता है ।

पुष्पों से आवेष्टित प्रतिमा को चौराहे पर गाड़ दें । उसके ऊपर आग जलाकर, विभीतक पुष्पों की माला से ही यह कहते हुए हवन करे कि, 'सः मम शत्रुः विद्विष्टो भवतु' इसमें विद्वेषण 'जाति' युक्त प्रयोग भी करे । इस प्रयोग से कामदेव के समान आकर्षक दुश्मन भी परस्पर शत्रु बन जाते हैं ।।७७-७८।।

इनमें इस प्रयोग के विपर्यय से पुनः मेल भी हो जाता है, इस प्रयोग का उल्लेख कर रहे हैं–

१–प्रियङ्गुलतिका स्त्री के स्पर्श मात्र से खिल उठती है । इसे 'केसर' भी कहते हैं । इससे मिश्रित २–घी मिला गुग्गुलु रूपी हविष्य से १०८ बार हवन इस तरह कहते हुए कि, 'तयोः सौभाग्य मूलकं मेलकं भवतु' करे । इसके परिणाम स्वरूप शत्रु मित्र में बदल जाते हैं ।।७९।।

स्त्रीवशीकरण का एक और प्रयोग बीच में ही यहाँ कह रहे हैं–

जाति अर्थात् चमेली के कुड्मलों से मिश्रित क्षीर शर्करा और घी (त्रिमधु) में मिली तिल से १०८ बार हवन उसी मन्त्र से अभिमान्त्रित करने के उपरान्त कर्मोचित जाति प्रयोग पूर्वक नाम मन्त्र से करना चाहिये । इस हवन से रूप-हीनता से दुःखी व्यक्ति भी सुन्दर हो जाता है ।।८०।।

सुभगत्वमवाप्नोति रूपहीनोऽपि यो नरः ।

त्रिमधु क्षीरशर्कराघृतम् । अत्रापि पूर्ववन्मन्त्रोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यश्च होमः । एवमुत्तरत्रापि कर्मोचितोहजात्यन्तो होमोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्य एव ॥८०॥

तिलैर्लवणसंमिश्रैस्त्रिमध्वक्तैर्हुतैः प्रियैः ॥८१॥
सप्ताहाद्वशमायाति या स्त्री रूपेण गर्विता ।

आकर्षणमाह–

राजिका लवणं चैव मधुक्षीरघृतप्लुतम् ॥८२॥
होमयेन्नामसंमिश्रं यस्याकर्षेत्तु तं द्रुतम् ।

राजिका आसुरिका ॥८२॥

पूर्वं भक्ष्यपानक्रमेणाष्टौ वशीकारा उक्ताः, होमेन त्वेकः, अधुना स्नानादि-प्रयोज्यद्रव्यक्रमेणाप्याह[1]–

नरस्य रोचनां गृह्य द्विरदस्य मदेन तु ॥८३॥
भावयित्वाभिमन्त्र्यैतन्मन्त्रेणाष्टशतं जपेत् ।
स्नाने विलेपने मद्ये गन्धे वा यस्य दीयते ॥८४॥

तिलों में नमक मिलाकर साथ में त्रिमधु भी मिश्रित करे । इस क्रिया में भी मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कर उक्त द्रव्यों का १०८ बार हवन करना चाहिये । इस प्रयोग से रूपगर्विता नारी एक सप्ताह के भीतर ही वशीभूत हो जाती है ॥८१॥

आकर्षण विषयक एक अन्य प्रयोग की चर्चा कर रहे हैं–

१–राजिका (सरसों) या आसुरिका नामक ओषधि और लवण इन दोनों को मधु क्षीर और घी इन द्रव्यों में मिलाकर स्त्री पुरुष का 'जाति' पूर्वक नाम लेकर हवन करना चाहिये । इस प्रक्रिया से प्रयोज्य तत्काल आकृष्ट हो जाता है ॥८२॥

पहले खाने पीने में मिलाकर देने से वशीकार के ८ प्रयोग बताये गये थे । मध्य में हवन के माध्यम से व्यक्त किये गये थे । यहाँ स्नानादि प्रयोज्य द्रव्यों के माध्यम से कुछ प्रयोग बताये जा रहे हैं–

जैसे गोरोचन निकाला जाता है, उसी प्रकार मानव से निकले द्रव्य को नर रोचना कहते हैं । हाथी के गण्ड स्थल से बहने वाले मद रस में मिश्रित करना

---

१. ख. घ. पु. णाहेति पाठः ।

स वश्यो भवति क्षिप्रं धनदः प्राणदस्तथा ।

नररोचनां गोरोचनावद्गृहीत्वा, हस्तिमदेन लिप्त्वा, मन्त्रेणेति बहुरूपेण प्राग्वदूहप्रयोगजात्यन्तेनैतद्द्रव्यमष्टोत्तरशतजपादभिमन्त्र्य यस्य स्नानादौ दीयते स वश्यो भवतीति सम्बन्धः ॥८४॥

मारणमाह–

अथवा मारयेत्क्षिप्रं शत्रुं निश्चितमात्मनः ॥८५॥
अपकारशतैर्युक्तं कृतघ्नं दुष्टचेतसम् ।

न तुस्वल्पापराधम् ॥८५॥

तत्र–

कपालद्वयमादाय नाम शत्रोः समालिखेत् ॥८६॥
कपालसंपुटस्थं तद्विषाङ्गारेण भावितम् ।
रुधिरेण समायुक्तं हुंफट्कारविदर्भितम् ॥८७॥

चाहिये । मदरस से भावित नररोचना को मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कर १०८ बार जप करना चाहिये । मद्य में और गन्धद्रव्य में मिलाकर लेपन या स्नान के लिये जिसको दिया जाता है, वह यथाशीघ्र वशीभूत हो जाता है । वह समय पर धन भी प्रदान करता है । यहाँ तक कि, प्राण अर्पण के लिये भी तैयार रहता है ॥८३-८४॥

मारण प्रयोग–

सर्व प्रथम मनुष्य को इस निर्णय पहुँचना चाहिये कि, अमुक व्यक्ति हमारा निश्चित शत्रु है । पूर्ण औचित्य अनौचित्य का विचार कर इस निर्णय पहुँच कर कि, यह व्यक्ति निश्चित शत्रु है, उसके प्रति मारण का प्रयोग करना चाहिये । यह परीक्षा भी करनी चाहिये । इस व्यक्ति ने हमारे साथ हजारों प्रकार से अपकार ही किया है । यह कृतघ्न है और इसके चेतस में ही दुष्टता भरी हुई है । इसका सुधार असम्भव है । तभी मारण का प्रयोग करना चाहिये ॥८५॥

इस प्रक्रिया में दो नर कपालों की आवश्यकता होती है । उनमें शत्रु का नाम लिखना चाहिये । यह लेखन श्मशान में ही सम्भव है । वहाँ विषाङ्गार से अर्थात् श्मशान की आग से उन दोनों कपाल सम्पुटों को गर्म कर और खून की स्याही से लिखा जाना चाहिये । शत्रु के नाम में द्वितीया विभक्ति लगाकर अन्त में 'हुं फट्' जाति भी लिखनी चाहिये और इस प्रकार विदर्भित करना चाहिये । यह सारी प्रक्रिया महाप्रेतवन अर्थात् श्मशान में ही होनी चाहिये ।

विषाङ्गारेण [1]श्मशानाङ्गारेण रुधिरविमिश्रेण मषीं कृत्वा श्मशान एव कपालयोः शत्रोर्नाम द्वितीयान्तम्, विदर्भितमिति–

'अभिधेयं भवेत्पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद्भवेत् ।

विदर्भितो भवत्येष....................' ॥

इत्याम्नातत्वादन्तन्यस्तहुंफट्कारं मारयामि हुंफडित्यन्तं सम्यक्संरुद्धभैरवरूपस्वात्माभिमानानुसन्धानेन लिखेत् ॥८७॥

अथ–

महाप्रेतवनं गत्वा स्वच्छन्दं पूजयेत्ततः ।

कृष्णमाल्योपहारैश्च ततः कर्म समारभेत् ।।८८।।

श्मशान एव, कृष्णरात्रौ, श्मशानावरणयुक्तमित्यर्थात् ।

विज्ञाप्य भैरवं देवं शत्रुं मे विनिपातय ।

अथ–

अनुज्ञातस्य देवेन गृहीत्वा तच्छिरोद्वयम् ।।८९।।

'खोपड़ियों में पहले अभिधेय नाम फिर मन्त्र फिर 'हुं फट्' जाति इन तीनों का एक साथ उल्लेख करना विदर्भित करना कहलाता है । इसमें अमुकं (नाम) मारयामि हुँ फट् लेखन आवश्यक होता है । लिखते समय स्वात्म में भैरवभाव के अभिमान का सन्धान भी आवश्यक है ॥८६-८७॥

इसके बाद स्वच्छन्द भैरव की पूजा करनी चाहिये । इसमें काले फूलों, मालाओं और उपहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये । यह सब रात में श्मशान में करना चाहिये । वहीं भैरव से प्रार्थना पूर्वक अगला प्रयोग करना चाहिये ॥८८॥

भैरव देव से श्मशान में ही यह प्रार्थना करनी चाहिये कि, भगवन् ! यह मेरा शत्रु है । आपकी आज्ञा से मैंने यह मारण कार्य प्रारम्भ किया है । देव ! आप इसे विनिपातित करें अर्थात् इसके जीवन तत्त्व का संहार करने की कृपा करें । यह भावना करे कि, भगवान् ने इसकी आज्ञा दे दी है । उसी समय उन दोनों खोपड़ियों को स्वयं लेकर कपालासन पर ही बैठकर रोषपूर्ण मुद्रा अपना लें । दक्षिण ओर मुँह कर ही बैठें ।

---

१. ख. घ. पु. श्मशानिकाङ्गारेति पाठः ।

तत्र गत्वा महादेवि कपालासनसंस्थितः ।
तत्रस्थो रोषसम्पूर्णो दक्षिणाभिमुखः स्थितः ।।९०।।
आत्मनो भैरवं रूपं ज्ञात्वा घोरं सुभीषणम् ।
क्रुद्धः समुच्चरेन्मन्त्री द्वात्रिंशाक्षरसंमितम् ।।९१।।
विलोमेन महाभागे शत्रुनाम ततोऽन्तगम् ।
हुंफट्द्वयं समुच्चार्य काद्ये चास्फालयेद्धृशम् ।।९२।।
खण्डशश्चूर्णिते यावत्तावच्छत्रुर्विनश्यति ।
सप्तरात्रेण देवेशि प्रयोगस्त्वनिवर्तकः ।।९३।।

अनुज्ञात इति भावनया । शिरोद्वयं कपालयुग्मम् । कपालासनं मुण्डासनम् । रोषस्तीव्रापकारस्मरणात् । तत इति विलोममन्त्रोच्चारानन्तरम् । अनिवर्तको न निवर्तते, नान्यथा भवतीत्यर्थः ॥९३॥

उपसंहरति–

एवं शतसहस्राणि अन्यकल्पोत्थितानि च ।
प्रयोगाणां करोत्येष मन्त्रराजेश्वरेश्वरः ।।९४।।

एवं करोत्यविसंवादीनि सम्पादयति ॥९४॥

स्वात्म में भैरव भाव का सतत अनुसन्धान करता रहे । अपने में घोर और भीषण भाव का उच्छलन करें और क्रोध से परिपूर्ण होकर द्वात्रिंशदक्षर अघोर मन्त्र का सम्यक् रूप से उच्चारण करता रहे । फिर अघोर मन्त्र का प्रतिलोम्य जप करे अन्त में शत्रु का नाम लेकर 'हुँ फट्' का अन्त में प्रयोग करें । इस तरह प्रयोग करते हुए उस कपाल द्वय का आस्फालन जोर से करें । उसी आग में खोपड़ियाँ चूर चूर हो जाय । इधर खोपड़ियाँ चूर्णित होती हैं और उधर शत्रु की मृत्यु हो जाती है । सात रात्रियों का यह प्रयोग है । यह अनिवर्त्तक प्रयोग है । यह लौटता नहीं अर्थात् अन्यथा नहीं होता ॥८९-९३॥

उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, मैंने तो कुछ चुने चुनिन्दे उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किये हैं । मन्त्रों का राजराजेश्वर यह मन्त्र अद्भुत मन्त्र है । यह अन्य आगमिक कल्पों में प्रकल्पित असंख्य प्रयोगों में काम आता है और भक्तों की मनोकामनाओं को सरलता पूर्वक पूर्ण करने में समर्थ है ॥९४॥

एवमीदृक्प्रयोगक्रममुद्रितस्य यद्यस्यानुकम्पया स एवान्योऽपि वान्यस्य वा शान्तिमिच्छेत्, तदा–

अनुलोमगतं देवं वैषट्कारान्तसंस्थितम् ।

अमुकस्येति ऊहयुक्तमुच्चार्य ।

क्षीरं तु होमयेद्देवि शान्त्यर्थे हितकारकम् ।।९५।।

अथोक्तानुक्तकर्मसु उचितजातिप्रयोगानाह–

वषडाप्यायने शस्तं स्वाहान्तं वशकर्मणि ।

मन्त्राणां तर्पणार्थं च

अन्त इत्युभयत्र सम्बध्यते ।

किं च मान्त्रं स्वरूपम्–

नत्यन्तं चार्चने स्मृतम् ।।९६।।

नतिर्नमःशब्दः । चकाराज्जपेऽपि ।।९६।।

इस तरह के क्रमों में मुद्रित व्यक्ति को यह चाहिये कि, वह जिसके ऊपर अधिक विश्वास करता है, उससे शान्ति के लिये प्रयत्न करे । व्यक्ति स्वयं पराभिचार से ग्रस्त है । कोई उसका हितैषी भी उसके ऊपर कृपा कर सकता है । वही कृपालु व्यक्ति उसके ऊपर किये गये अभिचार की शान्ति चाहता है, तो वह या अन्य कोई भी शान्ति का उपक्रम कर सकता है ।

इसके अनुलोम गत मन्त्ररूप देव जो वौषट्कार रूप से अन्त में अवस्थित हैं, उनको ही लक्ष्यकर और ऊह मन्त्र बनाकर उसी मन्त्र से दूध का हवन करें । यह दुग्ध होम शान्ति के लिये हितकारक होता है ।।९५।।

जिन जातियों के प्रयोग की चर्चा पहले की गयी है, उनके लिये साथ साथ अनुक्त कर्मों के अनुरूप भी प्रयोज्य जातियों की चर्चा यहाँ कर रहे हैं । हमेशा इनका ध्यान रखना चाहिये ।

आप्यायन के लिये 'वषड्' जाति का प्रयोग करना चाहिये । वशीकरण में 'स्वाहा' जाति का प्रयोग उचित माना जाता है । मन्त्रों के तर्पण के लिये वषट् और स्वाहा दोनों उपयुक्त माने जाते हैं । नमः जाति का प्रयोग अर्चा पूजा या जप में भी उत्तम माना जाता है ।

एतदुपसंहरन्भाविपटलस्य सङ्गतिं करोति–

एतद्धि कथितं देवि साधकस्य सुमेधसः ।
क्रियाकालांशयुक्तस्य अक्लेशात्तु सुखावहम् ।।९७।।

सुमेधसो यमनियमादिवशीकृतधिषणस्य, अत एव यथाकथञ्चित्क्षुद्रकर्माण्यनारभमाणस्य; अपि तु मुख्यसिद्ध्यङ्गतया स्वीकारयोग्यस्य वशीकरणादिसिद्धिसाधनपरिपन्थिनश्चोच्चाटनादि अवसरे कुर्वतः, क्रियया स्नानार्चनसमयपालनात्मतया, भाविपटलनिर्णेष्यमाणकालेन, अंशकेन चाष्टमपटलनिर्णेष्यमाणेन युक्तस्य, तज्ज्ञात्वा प्रयोगमनुरुन्धानस्याक्लेशादित्याराधितैतन्मन्त्राभिमन्त्रणपूर्वकमनुष्ठीयमानम्, सुखावहमिति अभीष्टफलप्रदं भवत्येवेति शिवम् ।

स्मारं स्मारं गुरुवरपदद्वन्द्वविस्फूर्जितानां
मान्त्रं वीर्यं किमपि परमं दर्शितं यन्मयात्र ।
तस्मिन्नन्तर्नमत गुरवो मन्त्रचक्रैकसारे
संसाराब्धिं तरत तरसा भैरवीभावमेत ।।

।। इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे पञ्चप्रणवाधिकारः
षष्ठः पटलः ।।६।।

अन्त में उपसंहार करते हुए आगामी पटल की सङ्गति को ध्यान में रखकर देवी को सम्बोधित कर रहे हैं । वे कहते हैं कि, भावि पटलोक्त क्रिया के कालांश में लगे मेधावी साधक को अक्लेश पूर्वक सुखावह विधियों का मैंने निर्देश किया है ।

सुमेधस का तात्पर्य यम नियम आदि अष्टाङ्गों के सदाचरण से जिसने अपनी बुद्धि को अपने वश में कर रखा है । इस स्थिति में जिस किसी भी अवस्था में इस प्रकार के क्षुद्र प्रयोगों से जो विरत रहते हैं और निरन्तर सिद्धि के अङ्गभूत स्वीकार योग्य वशीकरण तक ही सीमित रहते हैं, वही सुमेधस हैं ।

इसके विपरीत साधन के परिपन्थी अर्थात् विरोधी उच्चाटन आदि को अवसर की बात मानते हैं । आगामी पटलों में कथयिष्यमाण क्रिया, स्नानार्चा और समय पालन की संलग्नता, काल अंशक आदि प्रयोगों को जानते हुए इन मन्त्रों के अनुष्ठान में लगे रहते हैं; उन लोगों के लिये यह मेरा वक्तव्य अभीष्ट प्रद और कल्याणकारी होता है । इति शिवम् ।।९६-९७।।

उद्योतकारपद्यानुवाद—

गुरुपद युगल विमल विस्फूर्जित मान्त्रवीर्य का करके ध्यान ।
दिखलाया मैंने उस ऊर्जा का कुछ कुछ रहस्य-विज्ञान ।
मन्त्रचक्र की परम चेतना में रम, नत हो गुरुजन वर्ग ।
भवसमुद्र संतरण तुरत कर पाओ भैरव भावित भर्ग ॥

+++ +++ +++ +++

हृदि निकषे निष्कलता कलिता,
मया निकषिता, रसात् विमर्शात्
परा परिचिता परितः, पूर्णा,
साक्षात्, कृता परानुग्रहात् ।

हंसः पञ्चप्रणव-सुनिहिते-
ष्वर्थेष्वहं व्यापकः कर्त्ता
स्वच्छन्दे पटले षष्ठेऽस्मिन्
भाष्ये सुव्यक्तः संस्कर्त्ता ॥

महामाहेश्वर आचार्य क्षेमराजकृत उद्योत व्याख्या सहित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा भाष्य संवलित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र का
प्रञ्चप्रणवाधिकार नामक छठाँ पटल परिपूर्ण ॥६॥
॥ शुभं भूयात् ॥



श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

।। अथ सप्तमः पटलः ।।

संकुचच्चित्स्फुरत्तात्मप्राणान्तर्येन भास्यते ।
कालाध्वा विश्वभृद्भुक्तिमुक्त्यर्थं स जयत्यजः ।।

'क्रियाकालांशयुक्तस्य' इति यदुपसंहृतं ततो विदितं क्रियास्वरूपमनूद्य, कालांशकं ज्ञातुं श्रीदेव्युवाच–

क्रिया ज्ञाता मया देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर ।
कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसारतः ।।१।।

'क्रिया' पूजनादिसाधनान्ता । 'कालं' च तत्तत्सिद्धिसाधनोचितमवसरम्, 'अंशकं' च ब्रह्मांशकविष्णवंशकादिरूपं 'प्रसारतः' इति सबाह्याभ्यन्तरव्याप्त्या अभिधत्स्व । अत एव पूर्वम्–

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

सप्तमः पटलः

[७]

स्फुरित संकुचित चित्, स्वयम् अपने में रख काल ।
भासक भुक्ति-विमुक्ति हित, जय अज पुरुष अकाल ।।

इससे प्रथम षष्ठ पटलान्त श्लोक में इस पटल की सङ्गति बिठलाने के लिये क्रिया कालांश युक्त शब्द का प्रयोग भगवान् ने किया है । उसमें क्रिया प्रक्रिया का बोध वहीं उसी पटल में किया गया है । यहाँ काल का ज्ञान कराने के लिये माँ जगदम्बा इसलिये प्रार्थना कर रहीं हैं, जिससे उन उन सिद्धियों के साधन के उचित अवसर ज्ञात हो सकें । साथ ही अंशक का जानना भी इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि, ब्रह्मा, विष्णु के अंशकों का रूप भी इसी समय पता चल सके ।

इसलिये देवी कह रही हैं कि, भगवन् देवाधिदेव महेश्वर ! आपकी कृपा से मैंने क्रिया–प्रक्रिया को अच्छी तरह जान लिया है । हे देवेश्वर ! अब मुझे काल के (अवसर के) विषय में बताइये, जिससे मैं सिद्धियों के साधन के अवसर

'............कालं चैव समासतः' । (१/९)
इत्युक्त्योद्दिष्टमपि कालस्वरूपं तत्त्वतोऽज्ञात्वा पुनः प्रश्नितम् ॥१॥

श्रीभैरव उवाच–

कालो द्विधाऽत्र विज्ञेयः सौरश्चाध्यात्मिकः प्रिये ।

कलयति जन्मस्थित्यादिविकारषट्केन परिच्छिनत्ति जगद्यः पारमेशक्रिया-शक्तिस्पन्दात्मा 'कालो' 'द्विधा' इत्येकरूपोऽपि बाह्याभ्यन्तरतया संस्थितः, 'अत्र' इति नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वेषु कर्मसु अङ्गतयाराधकैर्ज्ञातव्यः । सूरे भवः 'सौरः' स्थूलोऽहोरात्राद्यात्मा, स एव त्वात्मनीति तदधिष्ठिते प्राणे, अध्यात्मे भव आध्यात्मिकः सूक्ष्मरूपः । तत्र शुभं कर्म सुवारसुदिनादौ कर्तव्यम् । तत्र चैहिका-मुत्रिकफलसिद्ध्यर्थं दक्षिणायनोत्तरायणादिस्वरूपमवश्यं ज्ञातव्यम् ।

तदेतत्सर्वं बाह्यकालत एव ज्ञायत इत्याह–

सुवारकरणे लग्ने सुयोगे सुदिने प्रिये ।।२।।
तेजोऽपचयराशौ तु

शोभनो वारश्चन्द्रतिथ्यादिग्रहनक्षत्रयोगः, 'करणं' च वव-वालव-कौलव-तैतिलादिकं विष्टिवर्जितं यत्र, 'सुदिने' अरिक्ततिथौ, 'सुयोगे' इत्यानन्दादियोग-

---

जान सकूँ । साथ ही साथ बाह्याभ्यन्तर व्याप्ति के प्रसार के साथ ब्रह्मा, विष्णु आदि के अंशों पर भी प्रकाश डालने की कृपा करें । आपसे प्रथम पटल के श्लोक ९ में काल के सम्बन्ध में मैंने ही पूछा भी था । प्रभो ! समझने के लिये किये गये पुनः प्रश्न को स्पष्ट कर हमें अनुगृहीत करें ॥१॥

श्री भैरव ने कहा–प्रिये ! काल दो प्रकार के शास्त्र में प्रतिपादित हैं । १–सौर काल और २–आध्यात्मिक काल । काल की परिभाषा करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं–(कलयति जन्मस्थित्यादिविकारषट्केन परिच्छिनत्ति जगत् यः) परमेश्वर की क्रियाशक्ति का स्पन्द ही काल है । कल संख्याने धातु के अनुसार यह छः प्रकार के (जायते, वर्धते, स्थीयते, अपक्षीयते, जीर्यते और म्रियते) विकारों से संसार को परिच्छिन्न करता रहता है । वही काल है । यह परमेश्वर की क्रिया शक्ति का स्पन्द है ।

यद्यपि यह एक है फिर भी बाह्य और आभ्यन्तर रूप से इस विश्व को प्रभावित करता है । नित्य और नैमित्तिक आदि सभी कामों के सम्पादन का यह अङ्ग है । सभी आराधक और विचारक इसके महत्त्व को समझते और तदनुरूप कार्य में संलग्न रहते हैं ।

वति यो 'लग्नः' स्वर्क्षादिरनुकूलः सूर्यसंचारापेक्षः प्रतिदिनं घटिकानियमेन मीनादिराश्युदयस्तत्र, तेजसोऽपचयराशौ मकरसंक्रान्तौ तदुपलक्षिते च तदुपचयराशौ कर्कटे आमुत्रिकैहिककर्मारम्भविषयेऽवश्यज्ञातव्यो यः कालः स एष सौर इति दूरेण सम्बन्धः । सुवारकरणमित्यादिप्रथमापाठस्तु स्पष्टः ॥२॥

किञ्च–

दक्षिणायनमुत्तरम् ।
ग्रहणं चन्द्रसूर्याभ्यां कालश्च ऋतवस्तथा ॥३॥
पक्षो मासश्च वेला विषुवद्राश्यन्तरं तथा ।
पुण्यापुण्योदयो देवि

चन्द्रसूर्याभ्यामुपलक्षितं 'ग्रहणम्' दक्षिणायनोत्तरायणवदैहिकपारलौकिकफलकर्मविषयम् । 'कालः' चातुर्मास्यसंज्ञः । 'ऋतवो' वसन्ताद्याः । 'पक्षः' शुक्लः कृष्णश्च । 'मासः' चैत्रादिः । 'वेला' तत्तद्ग्रहादिसंचाराश्रयः प्रविभक्तोऽहोरात्रविभागः । 'विषुवत्' दिनमहर्निशासाम्यात्म मेषतुलयोः सूर्यसंक्रान्तिकालः ।

इसका पहला प्रकार 'सौर' कहलाता है । इसके मूल में 'सूर' शब्द है । सूर सूर्य का उपनाम है । सूर्य से उत्पन्न होने के कारण इसे सौर कहते हैं । यह अहोरात्र (दिन-रात) में बाँटा हुआ स्थूल रूप काल कहलाता है । इसका दूसरा प्रकार आध्यात्मिक है । अध्याम सम्भूत समय को आध्यात्मिक कहते हैं । यही स्वात्म में अर्थात् प्राण में सूक्ष्म रूप से स्पन्दमान है । स्थूल काल की इसी दृष्टि से शुभकर्म को सुदिन और शुभ मुहूर्त्त में करने का विधान है । इसमें भी ऐहिक और आमुष्मिक फलों की सिद्धि, दक्षिणायन और उत्तरायण आदि का ध्यान रखा जाता है । यह बाह्य काल का महत्त्व है । इसीलिये सुन्दर वार, सुन्दर करण और शुभलग्न, सुयोग से समन्वित शुभ दिन में अच्छे कार्य सम्पादित किये जाते हैं ॥२॥

सुवार वह दिन होता है, जिसमें चन्द्रमा, तिथि, ग्रह और नक्षत्रों का शुभ योग होता है । करण बव, बालव, कौलव, तैतिल आदि को छोड़कर शेष शुभ होते हैं । रिक्तावर्जित दिन को सुदिन, कहते हैं । सूर्य चन्द्र के देशान्तर योग में ८०० का भाग देने से योग बनते हैं । लग्न अपने जन्म के नक्षत्र से गणना में लग्न काम करता है । इन सबमें सूर्य संचार की अपेक्षा होती है ।

'राश्यन्तरम्' इतराः संक्रान्तयः । 'पुण्यकालो' वैशाखशुक्लतृतीयादिः । 'अपुण्यकालो' मलमासादिः' ।।३।।

तदेवमादिकं सर्वं तत्तत्कर्माङ्गतया उपयुज्यमानं यत्, स कालः–

सौर एष प्रकीर्तितः ।।४।।

बाह्य इति शेषः ।।४।।

आध्यात्मिकं पुनर्देवि कथयामि निबोध मे ।

'पुनः' इति विशेषण । 'निबोध मे' इत्युक्त्या परमोपादेयत्वं ध्वनति ।

तत्र–

षाट्कोशिकस्तु यो देहो भूततन्मात्रसंयुतः ।।५।।

तेज का उपचय और अपचय ज्योतिर्विद् जानता है । अपचय मकर संक्रान्ति में और उपचय कर्क संक्रान्ति में निश्चित रूप से होता है । इन सब बातों का ध्यान ऐहिक और आमुत्रिक कामों में अवश्य रखना चाहिये । काल के गुणों के अनुसार ही इनकी सिद्धि होती है । इसी में दक्षिणायन और उत्तरायण का भी ध्यान रखना चाहिये । चन्द्र सूर्य के ग्रहण, ऋतुओं से सम्बन्धित काल गणना आवश्यक है । ग्रहण, चातुर्मास्य काल और बसन्त आदि ऋतुएँ सर्वसाधारण में भी प्रसिद्ध हैं ।।३।।

एक मास में कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष होते हैं । दो पक्षों का एक मास और तीन साल पर पुरुषोत्तममास प्रसिद्ध हैं । ग्रह संचार जनित कालखंड में शुभाशुभ वेलायें भी मुहूर्त्त के रूप में ग्राह्य है । इसी तरह दिन रात के बराबर होने पर मेष और तुला की संक्रान्तियों को विषुवत् कहते हैं । राशियों के अन्तर को राश्यन्तर कहते हैं । पुण्यकाल पर्व के अनुसार मनाये जाते हैं । अपुण्य काल मलमास आदि को कहते हैं । इन सभी ऐसे कर्मों के अनुसार प्रयुज्यमान काल खण्ड सौर काल माने जाते हैं । ये बाह्य और स्थूल काल कहे जाते हैं ।।४।।

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि अब मैं तुमसे बाह्य काल के अतिरिक्त दूसरे आध्यात्मिक काल के विषय में कहने जा रहा हूँ । इसे अवधान पूर्वक अपने बोध का विषय बनाना तुम्हारा कर्त्तव्य है । तुम इसे सुनो ।

यह शरीर षाट्कोशिक कहलाता है । इसमें छः कोश होते हैं । १–अन्नमय, २–प्राणमय, ३–मनोमय, ४–विज्ञानमय, ५–आनन्दमय और ६–शुद्धकाम ये छः होते हैं । इसी तरह १–त्वक्, २–मांस, ३–रक्त, ४–मज्जा,

स मनोबुद्ध्यहङ्कारबुद्धिकर्मेन्द्रियैर्गुणैः ।
सर्वतत्त्वैस्तथा देवैः समधिष्ठितविग्रहः ।।६।।
तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वै नाडिभिश्चरन् ।

स्थित इति शेषः । षट्कोशानि त्वङ्मांसरक्तमज्जास्थिशुक्राणि यो देहः, स कार्यकरणत्रयोविंशत्या सत्त्वादिभिः 'गुणैः' 'सर्वतत्त्वैः' च तदुपरिस्थितैर्नियत्यादिभिः शिवतत्त्वान्तैः, तथा 'देवैः' ब्रह्मादिभिः कारणैः सम्यग् व्याप्यव्यापकभावेन 'अधिष्ठितः' कृतावस्थितिः 'विग्रहः' स्वरूपं यस्य । 'आत्मा' संकुचितसंविद्रूपस्तत्तत्कर्मानुष्ठाता तत्फलभोक्ता च, 'प्रभोः' स्वच्छन्दभैरवस्य 'शक्तिः' स्वातन्त्र्यात्मा मनःप्रसादाद्यवसुरेषु भान्ती, 'वायुः' च नासिकापथवाही प्राणो 'नाडिभिः' वक्ष्यमाणाभिः 'चरन्' स्थितः । अयमत्राशयः–इह विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दसुन्दरः स्वतन्त्रभट्टारकः स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या–

५–अस्थि और ६–शुक्र भी कोशों के छः रूप होते हैं । इस तरह शरीर में द्वादश कोश होते हैं । इनके अतिरिक्त पंचमहाभूत और पञ्चतन्मात्राओं के साथ मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, इनके सत्त्वादि गुणों, सभी तत्त्वों तथा तत्त्वाधिष्ठित देवताओं के साथ इसी शरीर में विग्रहवान् आत्मा विराजमान है । इन देवों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि प्रसिद्ध कारण देव परिगणित हैं । आत्मा की स्थिति इस शरीर में संकुचित संविद्–शक्ति रूपी विग्रहवान् की ही होती है । वही कर्मों का अनुष्ठाता और फल भोक्ता बनकर अवस्थित है ।

इसमें प्रभु सर्वशक्तिमान् भैरव की स्वातन्त्र्य रूप शक्ति का उल्लास भी है । इसका अनुभव मन की प्रसन्नता आदि अवसरों पर होता है । वायु नासिका के रास्ते आने जाने वाले श्वास रूप प्राण तत्त्व को कहते हैं । यही प्राण शरीर की नाड़ियों में संचार करता है । इतना सब कहने का तात्पर्य यही है कि, विश्वोत्तीर्ण विश्वमय चिदानन्द–सन्दोह सुन्दर स्वतन्त्र स्वच्छन्द भट्टारक अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा सूक्ष्म और स्थूल शरीर में सम्यक् रूप से अवस्थित हैं ।।५-६।।

इसी ४/२९५ में उक्त न्याय नियम के अनुसार सदाशिव से क्षिति पर्यन्त विश्व का उन्मीलन स्वयं वही परमेश्वर कर रहा है । इसकी भित्ति उसी का स्वात्म दर्पण है, जो अत्यन्त सूक्ष्म है । उसमें चित्प्रकाश का प्राधान्य है । शून्य भाव वहाँ गौण हो जाता है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, वह अनिर्वचनीय शून्यातिशून्य भूमि सदाशिव से लेकर मन्त्रान्त शुद्ध प्रमाताओं में भी संकोच का उल्लास करने वाली है । उसे ही महामाया कहते हैं ।

'स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण स एकः संव्यवस्थितः' । (स्व. ४/२९५)
इत्युक्तन्यायेन सदाशिवादिक्षित्यन्तं विश्वमुन्मीलयेत्प्रथमं तदुल्लासनभित्तिं शून्यातिशून्यभूमिं स्वात्मदर्पणे । तत्र च चित्प्रकाशप्राधान्येन शून्यस्य गुणीभावात् शून्यातिशून्यभूः सदाशिवादिमन्त्रान्तशुद्धप्रमातृसंकोचप्रपञ्चोत्थापिका महामायाशब्दवाच्या उच्यते । यदा तु चित्प्रकाशगुणीभावात् शून्यमेव प्राधान्येन दर्शयति, तदैषा मायाशक्तिरशेषविज्ञानाकलप्रलयाकलसकलतत्प्रमेयसंकोचप्रपञ्चप्रदर्शिका अभिधीयते । यश्च संकोचस्तया प्रदर्श्यते, स एव शून्यप्रमाता–निमग्न–विमर्शशक्तिः । यदा चासौ व्यतिरिक्तमेयग्रहणायोन्मुखीभवति, तदा प्राणरूपतया स्फुरति, तथा स्फुरन्नपि कस्तूरिकाकणवत् तत्रापि तावत्यंशे संकुचिताशेषविश्वात्मतया भाति । तदभिप्रायेणैव च विततविततमूर्तिवैचित्र्यात्मा पूर्वं षड्विधाध्वविभागः प्राणस्थित

जब चित्प्रकाश ही गौण हो जाता है और शून्य ही प्रधान बन जाता है । तब वही शक्ति माया कहलाती है । यह विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के साथ ही इनके प्रमेयों के संकोच–प्रपञ्चों की प्रदर्शिका कहलाती है । इसके द्वारा जिस संकोच का प्रदर्शन किया जाता है, वही शून्य प्रमाताओं में निमग्न विमर्श शक्ति मानी जाती है । यह शक्ति जब व्यक्तिरिक्त मेय भाव के ग्रहण में उन्मुख होती है, उसी समय यह प्राण रूप से स्फुरित होती है । यद्यपि यह शून्य प्रमाताओं में निहित और व्यतिरिक्त मेय भावों की ओर ग्रहणार्थ उन्मुख होती है तभी प्राण रूप से स्फुरित हो पाती है । यह रहस्य है ।

प्राण रूप से स्फुरित इस विमर्श शक्ति में कस्तूरी के गन्धकणों के समान उसी प्राण रूप विमशर्शि में संकुचित संपूर्ण विश्व के रूप में आभासित होती है । यही संवित् शक्ति का संकोच है । प्राण के प्राणांश में संकुचित विश्व रूप में भासित होती है । इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, यह वितत वितत रूपों में व्यक्त विचित्रताओं से भरा छः अध्वाविभाग इसी प्राण में अवस्थित है ।

एक ही प्राणोच्चार में नालिका के माध्यम से ६० वर्षों का समय व्यतीत हो जाता है । यह विषय इसी ग्रन्थ के एकादश पटल में विस्तार पूर्वक वर्णित है । वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, मनुष्य के आयुष्य काल से लेकर अनाश्रित पर्यन्त इस विश्व की आयु का परिमाण क्या है ? इसमें विविध वैचित्र्य का कैसा चमत्कार भरा हुआ है ।

इत्युक्तम् । इह चैकत्रैव प्राणोच्चारे नालिकातः प्रभृति षष्ट्यब्दोदयान्तम्, एकादश-पटले च मानुषायुष्कालात्प्रभृति अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य च आयुष्परिमाणमति-विततवितत क्रियाशक्तिवैचित्र्यात्मकमस्ति–इति प्रतिपादयिष्यते । यद्यपि च प्राण-भूमिकायामिवात्यन्तसंकुचितशरीराद्यात्मतायामपि परमेश्वरः पूर्णषट्त्रिंशत्तत्त्वस्फार-रूप एव यथाप्रतिपादितम्, तथापि 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति नीत्या प्राण-रूपः परस्याः शक्तेरन्तरङ्गमधिष्ठानम्, तदवरोहक्रमेण भूतभावशरीरावतरणादिति समग्रप्राणप्रसरभित्तिभूतमध्यमप्राणभूमिकाध्यारोहक्रमेणैव परशक्तिपदानुप्रवेशावष्टम्भ-पूर्वमेव स्वच्छन्दभैरवता अवाप्यते महायोगिभिः । मितयोगिभिश्च तत्तदान्तर-कालांशविश्रान्तिपूर्वं विधिमनुतिष्ठद्भिः सा सिद्धिरविघ्नेनासाद्यते । अत एव प्रतिपादितप्रतिपादयिष्यमाणैतच्छास्त्रनिर्दिष्टः संहितान्तरनिर्दिष्टोऽपि वा सर्व

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि, जिस तरह प्राण भूमिका में परमेश्वर स्फुरित है, उसी तरह अत्यन्त संकुचित शरीरादि भूमिका में भी पूर्ण ३६ तत्त्वों के स्फार में व्याप्त पूर्ण परमेश्वर भरित है । जब आगम कहता है कि, 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' तो उसका तात्पर्य यही होता है कि, प्राण रूप जो परा-शक्ति का ही अन्तरङ्ग अधिष्ठान है, वह अवरोध के क्रम से भूतभाव से भावित शरीर में उसी पराशक्ति के प्रभाव से अवतरित है ।

समग्र प्राणप्रसर की भित्ति मध्यम प्राण है । यहाँ से योगी अध्यारोहण करता है । वह साधना के सन्दर्भों को आत्मसात् करता है । प्राणोच्चार की ऊर्जा को आगे बढ़ाता है और परशक्ति पद में अनुप्रवेश कर लेता है । उसमें उसका अवष्टम्भ होता है । वहीं पर विश्रान्ति लाभ करता है । इस तरह संकुचित प्रमाता स्तर से उठकर पर भैरवता को उपलब्ध हो जाता है । यह महायोगेश्वरों के अध्यारोह का सुपरिणाम होता है ।

जहाँ तक मित योगियों का प्रश्न है, वे भी अपनी साधना के अवान्तर सन्दर्भों में समय का सदुपयोग करते हैं । क्रमशः कालांशों में विश्रान्ति–धामों में विश्रान्ति प्राप्त करते हैं । विधियों का अनुष्ठान करते हैं और निर्विघ्न रूप से परासिद्धि को उपलब्ध हो जाते हैं । इसलिये इस शास्त्र में प्रतिपादित या प्रतिपादन करने के लिये शेष विषय में निर्दिष्ट या अन्य आगमिक संहिताओं में निर्दिष्ट जितने भी उपासना के क्रम हैं, यह ध्रुवसत्य है कि, वे सभी मध्यम प्राण के उच्चार से ही सम्बन्धित हैं । उसी उच्चार में उच्चरित मन्त्र में सामर्थ्य से ही सफल होते हैं ।

एवोपासादिक्रमो[१] मध्यप्राणपथोच्चरन्मन्त्रप्रमुखमेव फलदो भवति–इत्याशयेनात्र पटले परमेश्वरस्याध्यात्मिककालस्वरूपप्रतिपादने महान् संरम्भः–इत्यलं तावदिहैवाधिकेन ॥६॥

यद्यप्यात्मप्रभुशक्तिवायवः सर्वत्र देहस्थिताः, तथापि प्राधान्याभिप्रायेण यथाक्रमं–

नाभ्यधोमेढ्रकन्दे च स्थिता वै

नाभ्यन्तं प्रकृतितत्त्वस्य व्याप्तिरिति नाभावशेषनाडीचक्रभूतायां प्राधान्येनात्मा स्थितः, अधोमेढ्रे तु मध्यशक्तिः । एषां चात्र स्वरूपमवधानधनैरेव सम्यगुपलभ्यते, न तु पशुभिः ।

एवं स्थिते सति आत्मविश्रान्तिपदात्–

नाभिमध्यतः ॥७॥

यही कारण है कि, काल निरूपक इस पटल में बाह्य प्राण पर उतना बल नहीं है, जितना बल आध्यात्मिक प्राण के प्रतिपादन पर दिया गया है । एक प्रकार से सारा संरम्भ आध्यात्मिकता पर ही आधृत है । इस विषय का यहाँ तक का विवेचन विषय के आयाम को ही प्रदर्शित करता है ॥६॥

शास्त्र का यह नियम है कि, आत्मतत्त्व, प्रभुशक्ति और प्राण सभी सर्वत्र इसमें अवस्थित हैं फिर भी प्राधान्य की दृष्टि से यथाक्रम तत्त्वव्याप्ति की बात कह रहे हैं । इनके अनुसार नाभि के अन्त तक प्रकृति तत्त्व की व्याप्ति स्वीकार की जाती है । इसी तरह नाभि में सम्पूर्ण नाड़ीचक्र मण्डल में आत्मा को अवस्थित माना जाता है । इसीलिये नाभि को आत्मकेन्द्र, मातृकेन्द्र, पौर्णमासकेन्द्र भी कहते हैं । प्राण की पूर्णिमा यही पूरी होती है । इसके नीचे मेढ्र में मध्यशक्ति व्याप्त मानी जाती है । मेढ्रके अधोभाग में और मूलाधार के मध्य में कन्द नामक अवयव है । वह भी मध्यशक्ति का ही विश्रान्ति–स्थल माना जाता है ।

इस प्रकार नाभिकेन्द्र प्रधानतः आत्म विश्रान्ति का धाम सिद्ध है । इसी नाभि का मध्य भाग शरीर की सभी नाडियों का निर्गम स्थल कहलाता है । यहीं से कुछ नाडियाँ ऊपर की ओर आरोहण करती हैं, कुछ नीचे की ओर चली जाती हैं और कुछ तिर्यक् गतिशील होती हैं । इसी आधार पर पातञ्जल योग सूत्र ३/२९ कहता है कि,

---

१. ख. पु. प्रथोच्चरन्निति पाठः ।

तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ।

अत एवोक्तमन्यत्र–

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' । इति । (पा. यो. ३/२९)

केचित्तु नाभिचक्रत इति पाठं पूर्वत्रैव योजयित्वा, तस्मादित्यनेन कन्दपदं प्रत्यवमृष्टवन्तः ॥७॥

तासां मध्यात्–

चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः ॥८॥

'तत्र' इति नाभौ पद्मे । दश नाडीर्नामतो वक्ष्यति ॥८॥

दशभ्यस्तु–

द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः ।

पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः ॥९॥

'विनिर्गता' इत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्रसृताः ॥९॥

नाभिचक्र में संयम करने से कायव्यूह अर्थात् वात, पित्त और कफ तथा त्वक्, मांस, रक्त, अस्थि, मज्जा और वीर्यरूप षट्कोशों का ज्ञान हो जाता है ।

कुछ टीकाकार 'नाभिचक्रतः' पाठ मानते हैं और पहले इसे अन्वित करते हैं और मेढ्रकन्द में मध्यशक्ति की विश्रान्ति मानते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, ये सभी बातें अपने स्वात्म स्वरूप में अवधान पूर्वक विश्रान्त योगियों को ही अनुभूत होती हैं, सामान्य व्यक्तियों को इनका बोध नहीं हो पाता ॥७॥

इन्हीं नाडियों के मध्य से दश प्रधान नाडियाँ निर्गत होती हैं । श्लोक में प्रयुक्त चक्रवत् शब्द यह कह रहा है कि, ये दश नाडियाँ नाभि के चारों ओर गोलाकार रूप में सधी बँधी हुई स्थित हैं । तत्र अव्यय का यह भी अर्थ है कि, ये नाभि पद्म में ही अवस्थित हैं ॥८॥

इन्हीं दश नाडियों से ७२ हजार नाडियाँ भी निकली हुई हैं । इन ७२ हजार से पुनः अन्य अप्रधान नाडियाँ भी निर्गत होती हैं । इनसे अन्यान्य गौण और अतिगौण छोटी छोटी नाडियाँ भी निकलती हैं ॥९॥

किमवधि निर्याता इत्याह–

यावत्यो रोमकोट्यस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः ।

अर्धचतस्रः कोटयः । अतश्च–

यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः ।।१०।।

शरीरं सर्वजन्तूनां तद्वद्व्याप्तं तु नाडिभिः ।

इह 'प्राक्संवित्प्राणे परिणता' इति स्थित्या निर्णीतनीत्या संवित्तिः शून्यभूमिकामाभास्य प्रणभूमिमाश्रितवती, तत्रापि पलाशपत्रमध्यशाखान्यायेन मध्यनाड्याश्रयमध्यमप्राणरूपतां श्रित्वादिक्रमावस्थिते, तत्रापि प्रधाननाडीदशकाश्रयप्राणादिप्रधानवायुरूपतामासाद्य पुरुषायुषमध्यसंभव्यहःसंख्याकानि षट्त्रिंशत्सहस्राणि बहिर्वाहानां प्राणनाडीनाम्, तावन्त्येव चान्तर्वाहानामपाननाडीनाम्–इत्युभयं द्वासप्ततिसहस्राणि प्रधानभूतानि भासितवती । तथा हि सति यावज्जीवं कर्तव्य-

---

ये नाडियाँ भी ऊर्ध्व, तिर्यक् और अधः भागों में जाती हैं । प्रश्न यह है कि, क्या इनकी कोई गणना है ? भगवान् कह रहे हैं कि, हाँ है । शरीर में जितने रोमकूप हैं, उतनी ही संख्या इन नाडियों की भी है । अर्थात् १/४ करोड़ है । जिस तरह पलाश का पत्ता सर्वत्र सूक्ष्म तन्तुओं से व्याप्त दिखाई पड़ता है, उसी तरह ये नाडियाँ मनुष्य के शरीर में व्याप्त हैं ।

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' की नीति के अनुसार संवित् अपनी शून्य भूमिका का आभासन कर प्राण भूमिका में प्रवेश करती है, उसी तरह पलाश पत्र मध्य शाखा का आश्रय लेकर जैसे जैसे अन्य तन्तु विकसित होते और पूरे पत्र में फैल जाते हैं, उसी तरह मध्य प्राण का आश्रय लेकर मध्यनाडियाँ विकसित होती हैं । मध्य नाडी का आश्रय भी मध्य प्राण ही होता है । मध्य की दश नाडियों में प्राणों का संचार तो रहता ही है । उन्हीं प्राणवायुवर्ग का आश्रय लेकर प्राण–नाडियों का प्रतनन शरीर में होता है ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, पुरुष की आयु के मध्य में आने वाले दिनों की संख्या भी एक प्रकार से इसी से मिल जाती है । बाह्यवाहिनी प्राण नाडी ३६ हजार होती है और इतनी ही आभ्यन्तर वाहिनी भी होती है । दोनों मिलकर ७२००० होती हैं । ये १०० वर्षों के बराबर होती हैं । यही जीवन के दिन हैं । इसी आधार पर दीक्षितों को यह उपदेश दिया जाता है कि, आजीवन कर्त्तव्य कर्म में लगे रहो । भगवद्रूप का ही अनुन्धान किया करो । उक्त तत्त्व व्याप्ति विज्ञ पुरुष के एक बार भी अनुष्ठीयमान कार्य में सब कुछ अनुष्ठित हो जाता है । कहा गया है कक्ष्यास्तोत्र में कि,

त्वेन दीक्षितानां यन्नित्यकर्म भगवत्स्वरूपानुसंधानादि आम्नातम्, तदुक्तव्याप्तितत्त्वविदा एकवारमनुष्ठीयमानमपि सर्वमेवानुष्ठितं भवति । यदुक्तं कक्ष्यास्तोत्रे–

'या अग्निहोत्राहुतयः सहस्रद्वासप्ततिः स्युः पुरुषायुषेण ।
नाड्यंशयुक्त्या सकृदेव जुह्वत् सम्पादयेत्तास्तव मार्गविद्यः' ॥ इति ।

किञ्च–

'मध्यप्राणनिविष्टहंसविसृता[1] ये रोमकूपाश्रयाः
प्राणाः सूक्ष्मविमर्शशालिवपुषः सार्धद्विकोट्यात्मकाः ।
तान्मन्त्रात्मतया विलोमयति यो निःशेषतत्त्वाश्रये
देहेऽसाविह नादभैरवतनुः स्वच्छन्दनाथः परः' ॥ इति ॥१०॥

एताश्च नाडयः–

मारुतापूरिताः सर्वा आत्मशक्तिचराः सदा ।।११।।

'आत्मा' संकुचितसंविद्रूपो ग्राहकः 'शक्तिः' प्राभवी विश्वाशेष[2] परस्फुरत्तात्मा, ताभ्यां हेतुभ्यां चरन्ति वैचित्र्येण प्रसरन्ति ॥११॥

'अग्निहोत्र की जो आहुतियाँ, पुरुष की आयु की संख्या ७२हजार की गणना के अनुसार अर्पित की जाती है, उनके द्वारा तन्त्रसिद्धान्त वेत्ता पुरुष रूप नाड्यंश प्रक्रिया के अनुसार होम करते हुए एक बार के यज्ञ में समग्र आयु का फल पा लेता है' ।

इसके अतिरिक्त दूसरे श्लोक द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि,

'मध्य प्राण में निविष्ट, हंसाक्षर से प्रसृत, और रोमकूपों की संख्या पर आधारित गणना के अनुसार साढ़े तीन करोड़ सूक्ष्म विमर्श वाले शरीर के प्राण हैं, उनको मन्त्र रूप से जो विलोम क्रम के अनुसार विलोमित कर लेता है, वह सभी षट्त्रिंश तत्त्वों से युक्त इस शरीर में ही नाद भैरवभावित रहकर स्वतः स्वच्छन्दनाथ की पराभूमि में प्रवेश कर स्वयं वही हो जाता है' ॥१०॥

ये सारी नाडियाँ प्राणवायु से पूरित रहती हैं और हमेशा आत्म और शक्ति से संचालित होती हैं । यहाँ 'आत्मा' का अर्थ संकुचित संविद् रूप ग्राहक माना जाता और अशेष विश्व में परस्फुरत्तारूप 'शक्ति' मानी जाती है । इन दोनों कारणों के द्वारा नाडियाँ अपने व्यापार में प्रसरित होती हैं ॥११॥

---

१. क. पु. हंसपरमा इति पाठः । २. क. पु. परिस्फुरत्तेति पाठः ।

ताश्च–

पृथग्वृत्तिप्रभेदेन भिन्नाश्चारप्रभेदतः ।

वृत्तयो व्यापाराः सूक्ष्मप्राणवाहात्मकचारप्रभेदहेतुकाः । अत एव–

चारवृत्तिप्रभेदेन संज्ञाभेदो वरानने ।।१२।।

भवति ॥१२॥

अतश्च संज्ञाभेदात्–

नाडीनां चैव वायुनां भेदो ज्ञेयः सहस्रशः ।

सार्धत्रिकोटिपर्यन्त इत्यर्थः । तत्र–

प्रधाना दश याः प्रोक्ता नाडयश्च वरानने ।।१३।।

तासां मध्ये तु देवेशि वायवो ये व्यवस्थिताः ।

'मध्ये' इत्यन्तः ॥१३॥

तेषाम्–

नाडीनां चैव वायूनां संज्ञावृत्तीर्निबोध मे ।।१४।।

वृत्तीर्व्यापारान् ॥१४॥

इन नाडियों की वृत्तियाँ पृथक् पृथक् होती हैं । कोई नाड़ी किसी व्यापार में और कोई किसी व्यापार में प्रवृत्त होती हैं । यह इनकी विशेषता है । इसी तरह प्राण और मरुत् सम्बन्धी चार भी अलग अलग होते हैं । इसी तरह 'चार' व्यापारों के कारण भी इनमें भेद होता है । इन तीनों दृष्टियों को ध्यान में रखकर ही इनकी संज्ञाओं में भी भेद हो जाते हैं । इनके अलग अलग नाम इसी क़ारण से रखे जाते हैं ॥१२॥

संज्ञा भेद के कारण नाडियों और उनमें संचरित वायुओं के नाम भी हजारों में गिने जाने योग्य हैं । इन्हें शास्त्र साढ़े तीन करोड़ मानता है । अत: उनकी इतनी संख्या तो मानी ही जा सकती है । जो प्रधान दश नाड़ियाँ मानी जाती हैं । उनमें भी अलग वायु संचार करते हैं ॥१३॥

भगवान् भैरव भैरवी को संबोधित कर कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! उनके मध्य में संचार करने वाले वायु और उन नाड़ियों के नाम व व्यापार मैं तुम्हें सुना रहा हूँ । इन्हें समझो और सुनो ॥१४॥

तत्र तावत्संज्ञा आह–

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी[1] ।।१५।।

अलम्बुसा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता ।

आसां व्यापारमाह–

एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः ।।१६।।

प्राणं प्राणनारूपं सामान्यं वक्ष्यमाणप्राणापानादिसंज्ञाभेदाद्दशविधं यथाक्रमं वहन्ति ॥१६॥

वायूनां संज्ञाभेदमाह–

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।

नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।।१७।।

एषां वृत्तिभेदम्–

'जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कला ।

शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्येदं विचेष्टितम्' ॥ (७/१०४)

इत्यादिना पटलान्ते वितत्य वक्ष्यति ॥१७॥

नाडियों की संज्ञाओं का क्रम इस प्रकार है–

१–इडा, २–पिङ्गला, ३–सुषुम्ना, ४–गान्धारी, ५–हस्तिजिह्वा, ६–पूषा, ७–यशस्विनी, ८–अलम्बुसा, ९–कुहू, १०–शंखिनी । ये दश प्राणवाहिनी नाडियाँ प्रसिद्ध हैं ॥१५-१६॥

वायुवर्ग की संज्ञा का कथन कर रहे हैं–

१–प्राण, २–अपान, ३–समान, ४–उदान, ५–व्यान, ६–नाग, ७–कूर्म, ८–कृकर, ९–देवदत्त और १०–धनञ्जय। यहाँ प्राण का प्राणना-रूप सामान्य व्यापार होता है। उसी क्रम से ये कहे गये हैं। इनकी वृत्तियों के भेद इसी पटल के १०४ वें श्लोक में हैं। वे इस प्रकार हैं–१–जल्पित, २–हसित, ३–गीत, ४–नृत्त, ५–युद्धगति, ६–कला, ७–शिल्प, ८–ललित कला, ९–चित्र कला, एवं १०–सर्व कला कर्म। ये संज्ञायें वृत्तिभेद की सूचक हैं ॥१७॥

---

१. ख. पु. यशा तथेति पाठः ।

एते च–

वायवो नाडयश्चैव चक्रवत्संस्थिताः प्रिये ।

नाभिमध्यं परिवृत्येत्यर्थः ।

तासु संचरतः सिद्धिं योगं चैव वरानने ।।१८।।

संचरतीति संचरन् तं वायुमधिष्ठाय, तत्तदुचितां सिद्धिं चित्तैकाग्र्ये योगं च प्राप्नुयात् ।

जपतश्च वरारोहे जपसिद्धिमवाप्नुयात् ।

'तासु संचरतः' इत्युवर्तते । जपाज्जपतः । आसामपि–

दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम् ।।१९।।

बिन्दुनादात्मके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता ।

'बिन्दुः' ज्ञानशक्तिप्रधानः प्राणस्तदात्मिका पिङ्गला दक्षनाडी । 'नादः' क्रियाशक्तिप्रधानोऽपानस्तदात्मिका इडा वामनाडी । तयोर्मध्ये सुषुम्नाख्या परेच्छा-शक्तिस्फुरत्तारूपा ।।१९।।

तिस्त्र एताः–

हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः ।।२०।।

ये वायु और ये नाडियाँ चक्रवत् नाभिकेन्द्र को ही घेरकर अवस्थित हैं । वहीं से ऊपर उठती हैं । इनमें संचरित होने वाले वायु के साथ संचार करने वाली प्राणना व्यापार में संलग्नता से अर्थात् उन उन में अधिष्ठित होने पर साधक को सिद्धियों की उपलब्धि होती है और योगविज्ञान का अर्थात् चित्त की एकाग्रता का ज्ञान हो जाता है ।।१८।।

इसमें अधिष्ठित रह कर जप करने से हे देवि ! जप की अनिवार्यतः सिद्धि होती है । साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि, इन दश नाडियों में श्रेष्ठ स्थान केवल तीन नाडियों का ही है ।।१९।।

पहली 'बिन्दु' मयी, दूसरी नादमयी और मध्य में अवस्थित नाडी शक्त्यात्मिका मानी जाती है । 'बिन्दु' ज्योतिर्मय स्वज्ञान स्वरूपप्रधान माना जाता है । ज्ञानस्वरूप प्राण होता है । यही प्राणवती 'पिङ्गला' नाड़ी कहलाती है । यह दाहिने भाग में अवस्थित है ।

'नाद' क्रियाशक्ति प्रधान अपान रूप होता है । इन गुणों से विशिष्ट नाडी 'इडा' है । इसे वामनाडी भी कहते हैं । इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना

हृत्पद्ममध्यकर्णिकायां सम्यगनुप्रवेशेन आ समन्तात् ख्याताः सत्यः साधकानां त्रिविधसिद्धिप्रदाः ॥२०॥

एवं स्थिते–

प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ।

'प्राणः' प्राणनात्मा सामान्यरूपः । अहोरात्रशब्दः पक्षमासाब्दोपलक्षकः । यथा–

तथा ते कथयिष्यामि प्रविभज्य यथास्फुटम् ।।२१।।

अत्र पीठिकाबन्धं तावत्करोति

प्रभुशक्तिसमाकृष्टा मरुत्प्राणात्मसंस्थिताः ।
त्रय एतेऽविभागेन संचरन्ते समन्ततः ।।२२।।

'मरुत्' प्राणनात्मा सामान्यः, प्राणस्तु दक्षवाममध्यादिवाही प्राणापानोदानाद्याख्याविशिष्टः, आत्मा संकुचितचिदात्मा । तद्रूपतया संस्थितास्त्रय एते

नाडी है । यह इच्छा शक्ति प्रधान मानी जाती है । ये तीनों नाडियाँ हृत्केन्द्र से सम्बन्धित हैं । साधकों की हितसाधिका हैं । 'हृत्पद्म' की कर्णिका में अनुप्रवेश करने पर इनकी अनुभूति होती है । साधकों को ये इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्त्यात्मक त्रिविध ज्ञान प्रदान करती हैं ॥१९-२०॥

प्राण इन नाडियों में अहोरात्र विभाग के अनुसार संचार करता है । प्राण में प्राणना व्यापार स्वाभाविक है । अहोरात्र शब्द से पक्ष मास आदि भी उपलक्षित किये जाते हैं । इनकी जानकारी अलग अलग विभाजित कर, दी जा रही है ॥२१॥

प्रभुशक्ति से समाकृष्ट मरुत् प्राणरूप से ही व्यवस्थित होता है । इस तरह १–(आत्मा) २–मरुत् और ३–प्राण ये तीन अविभाग रूप से ही अपना काम करते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, मरुत् भी प्राण ही होता है । प्राण भी दक्ष, वाम और मध्यवाही होता है । इसे प्राण अपान और उदान इन विशिष्ट नामों से भी जाना जाता है । यहाँ आत्मा संकुचितचिदात्मक होता है । ये तीनों १–मरुत्, २–प्राण और ३–संकुचित चिदात्म आत्मा । ये तीनों शिव की शक्ति से ही समाकृष्ट होते हैं । अर्थात् शून्य पदावभास पूर्वक प्राणनाभूमि में उल्लसित होते हैं । ये प्राण, अपान और उदान की संज्ञा से विभूषित होते हैं । इनमें भोग का साम्मुख्य होता है । इसी कारण से इनकी प्रवृत्ति भी होती है । इस प्रवृत्ति में इनका अविभाग पूर्ण संचार होता है । इसी अवस्था में प्राणनावृत्ति उल्लसित होती है । प्राण, अपान और उदान इस प्रवृत्ति के ही उल्लास हैं ।

पदार्थाः 'प्रभोः' शिवस्य 'शक्त्या समाकृष्टाः' इति शून्यपदावभासपुरःसरं प्राणनाभूमिमुल्लास्य, प्राणापानादिविशेषपदवीमुट्टङ्क्य भोगसाम्मुख्येन प्रवर्तिताः 'अविभागेन संचरन्ते' नानादेहभूमीः श्रयन्ति ॥२२॥

त्रिष्वेषु मध्ये यो मरुदुक्तः, सः–

अध ऊर्ध्वं वहेद्ध्यस्मात्सर्वनाडीः प्रवाहयन् ।

ततोऽस्य–

वृत्तिसंज्ञाप्रभेदेन वर्णरूपाण्यनेकधा ॥२३॥

'वृत्तिः' बहिर्वहनान्तर्वहनादिव्यापारस्ततो यः प्राणापानसमानादिसंज्ञाभेदस्तेन, द्वादशषोडशादिस्वरभेदभिन्नास्तद्गर्भीकृतव्यञ्जनात्मानश्च 'वर्णाः' तत्तदनुभवात्मकानि च 'रूपाणि अनेकधा' भवन्ति । अत्र चागमान्तरोक्त्या गर्भीकृतव्यञ्जनः स्वरोदयरूपः पञ्चाशद्वर्णोदयात्मा अष्टवर्गोदयस्वरूपो वा वर्णोदयोऽस्ति । स त्विह नोक्तः केवलं वर्णशब्देन सूचितः ॥२३॥

तदत्र–

द्वासप्ततिसहस्रेभ्यो जायन्ते दश वै प्रिये ।

ये 'दश' प्राणादयस्ते 'द्वासप्ततिसहस्रेभ्यो' द्वासप्ततिसहस्रनिमित्तं 'जायन्ते' तत्प्रपञ्चव्याप्तिं श्रयन्तीत्यर्थः ।

ये सभी भेद की संमुखता में ही प्रवृत्त होते हैं । ये सभी अनेक शरीरों की संरचना के आश्रय बनते हैं ॥२२॥

इन तीनों में मरुत् की गणना भी है । यह ऊर्ध्व और अधः वाह करता है । यही सारी नाडियों को प्रवाहित करता है । इसकी वृत्ति दो प्रकार की होती है । १–बहिर्वाह और २–अन्तर्वाह रूप । इसी कारण प्राण अपान समान, उदान और व्यान प्राणों का संचरण होता है । इन्हीं से स्वर और व्यञ्जन वर्णों का भी उदय होता है । स्वर वर्ण १६ प्रकार के होते हैं । इनमें से षण्ठ स्वरों को निकाल देने पर ये १२ ही शेष मूल स्वर माने जाते हैं ।

स्वरगर्भित व्यञ्जन वर्णों के भी ३४ भेद इसी क्रम में उल्लसित होते हैं । इसमें अनेक आगम प्रमाण उपलब्ध हैं । कई आगम यह मानते हैं कि, गर्भीकृत व्यञ्जन स्वरोदय रूप ५० वर्णों के रूप में और आठ वर्गों के रूप में होता है । इन सारी बातों का अन्तर्भाव श्लोक के वर्णशब्द में ही हो जाता है ॥२३॥

ये उक्त दश प्राण ७२ हजार नाडियों के प्रसार के लिये ही उल्लसित होते हैं । इस प्रपञ्च व्याप्ति का ये सभी आश्रयण करते हैं । भगवान् भैरव कह रहे

ततोऽपि प्रागुक्ताध्युष्टकोट्यात्मतां प्राणः श्रयतीत्याह–

कोटिधातो वरारोहे स एकः संव्यवस्थितः ।।२४।।

स च–

प्राणापानमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।

'हकारस्तु स्मृतः प्राण.............' । (स्व. ४/२५५)

इति यः पूर्वमेवाशेषवाच्यवाचकाविभागविमर्शमयो हलाकृतिः प्राण उक्तः, स एव स्वातन्त्र्यावभासितसंकोचावभासपुरःसरं निर्णीतावरोहक्रमेण प्रकृतं रूपं यस्य प्राणनरूपस्य सामान्यप्राणस्य, स 'विसर्गापूरणं प्रति' इति सर्वैरेव सुषिरमार्गाद्बहिस्तत्तद्भावावभाससृष्टिरूपविसर्गार्थं तदवभासपुरःसरं प्रवेशयुक्त्या तदाहरणेनान्तरापूरणार्थं प्रकर्षेण अननाद्ध्वननादर्थजिघृक्षाग्रहणविश्रान्तिदशोचिताद्विमर्शात् प्राण इत्यर्थः ।

एतदेव स्फुटयति–

नित्यमापूरयन्नेव प्राणिनामुरसि स्थितः ।।२५।।

हैं कि, देवि शिवे ! यह एक प्राण ही इतना प्राणवन्त है कि, यह करोड़ों प्रकार से नाडियों में संव्यवस्थित होता है ॥२४॥

प्राण को शास्त्र (४/२५५) 'ह'कार रूप मानता है । इस पूर्वोक्त उक्ति के अनुसार यह सम्पूर्ण वाच्यवाचक भाव का अविभाग विमर्शमय स्वयमुच्चरद्रूप हल की आकृति में साकार वर्ण तत्त्व रूप माना जाता है । यही स्वातन्त्र्य (शैव) के कारण संकोच रूप से अवभासित होता है । संकोच से भी संकुचित विश्वावभास हो रहा है । यह संकुचित विश्वावभास अवरोह क्रम से उपस्थित है । इसी दशा में प्राण का यह प्रकृत रूप उल्लसित है । प्राणन करना इसका वास्तविक व्यापार है । यही इसका सामान्य रूप है ।

यह प्राण और अपानमय होता है । यह विसर्ग और आपूरक के व्यापार को पूरा करता है । शरीर के सुषिर मार्ग से यह बाहर के अवभासों में सृष्टि रूप विसर्ग में निरत रहते हुए उन प्रमेयों में प्रवेश भी करता है । उनका ग्रहण भी करता है और उनको अपनी ऊर्जा से अनुप्राणित भी करता है । इसमें अनन और ध्वनन नामक शक्तियों का उच्छलन होता है । सभी पदार्थों में इसके प्रवेश का नाम ही जीवन है । उसका भी विमर्श यही करता है । इसीलिये इसे प्राण कहते हैं ।

प्राणनं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणः प्रकीर्तितः ।

सर्वदेहगतोऽप्ययं प्राणिनामुरसि स्फुटमुपलभ्यमानत्वेन अवस्थितो 'नित्यमापूरयन्' अर्थात् प्राणिनोऽर्थांश्च प्रवेशनिर्गमाभ्यां 'प्राणनं' विमर्शमयं जीवनं कुरुते । तस्मादयं प्राण उक्तः ॥२५॥

यदर्थमियान् पीठिकाबन्धः कृतस्तदेवानुबध्नन्नाह–

अहोरात्रगतिं प्राणे अधुना कथयामि ते ॥२६॥

'गतिं' ज्ञप्तिं प्रसरणं च । तत्र–

तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया ।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः ॥२७॥

या पूर्वं चतुर्थपटले सपादद्व्यङ्गुलोदयपरिमाणाः षोडश तुटय उक्ताः, ताः–

प्राणियों के पूरे शरीर में इसकी व्याप्ति होती है । तनु की तनुता का यह आपूरण करता है । फिर भी प्राणियों के हृदय में यह निवास करता है । सारे प्राणन व्यापार का केन्द्र यह उरः भाग ही है । इसे वक्ष का आन्तर अङ्ग कहते हैं, जो सदा स्फुरित रहता हुआ स्पन्दन करता रहता है ।

सृष्टि के विसर्ग का अवभासन सूर्य भी करता है और प्राण भी । सूर्य प्रेरक है प्राण प्रेर्य है । प्राणन करने के कारण ही इसे प्राण कहते हैं । प्रवेश और निर्गम व्यापार को ही प्राणन कहा जाता है । इस प्राणन व्यापार को संकुचितप्रमाता की विमर्श शक्ति भी कहते हैं । इसी से जीवन चलता है । जीने का एक मात्र यही आधार है । यह विश्वप्राण को प्राणवन्त करता है । सूर्योदय से इसका प्रारम्भ होता है ॥२५॥

भूमिका के रूप में कही गयी प्राण की प्राणमयता का यही रहस्य है । इसका मुख्य कार्य प्राण की अहोरात्रमयी स्फुरणशीलता मानी जाती है । प्राण में यह कैसे होती है, इसका परिज्ञान सबको होना चाहिये ॥२६॥

पहले यह कहा गया है कि, प्राण के प्रसरण में १६–तुटियाँ गणना से प्रमाणित हैं । ये सवा २¼ सवा दो अङ्गुल में बाँटी गयी हैं । किन्तु इनके अन्दर तिथियाँ १५ ही होती है । एक तुटि प्राणोदय के समय तिथि की ½ भाग पूर्णिमा में और ½ भाग की अनुसन्धि आमावस्या के चितिकेन्द्र में होती है । ½+½=१ तुटि मिलकर १६ तुटियाँ हो जाती हैं । इसी ग्रन्थ के ग्यारहवें पटल के १९९ वें श्लोक में यह उल्लिखित है कि,

'मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः ।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः' ॥ (स्व. ११/१९९)

इत्येकादशपटलवक्ष्यमाणेन 'बाह्येन कालेन ते लवा' लवशब्दाख्याः कालावयवाः । एवं च प्राणीया तुटिर्बाह्यतुटिश्चान्यैव, न तु शब्दसाम्यादत्र भ्रमितव्यम् । प्राणीया तुटिर्बाह्यो लवः, बाह्या तुटिः प्राणीयं तुट्यर्धं पर्यवस्यति । इत्थं च बाह्यः क्षणः प्राणीयतुटेस्तुर्योऽशः–इति मन्तव्यम् । अननैव च क्रमेण आन्तर-प्राणापानोदयरूपो यः सन्ध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः, स एव–

'लवद्वयं निमेषस्तु ज्ञातव्यो गणितक्रमात् ।
दश पञ्च निमेषास्तु काष्ठा चैव प्रकीर्तिता' ॥ (स्व. ११/२००)

इत्येकादशपटलव्यवस्थयैव काष्ठाभिधानः कालावयवः । यदिहैव अग्रे वक्ष्यति–

'आध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते' ।
(स्व. ७/४९) इति ॥२७॥

'मनुष्य की पलक गिरने के समय के अष्टमांश को 'क्षण' कहते हैं । और दो क्षणों को एक तुटि कहते हैं । दो तुटियों का एक लव होता है' ।

ये लव समय के अवयव हैं । बाह्य काल के अनुसार भी ये लव ही हैं । प्राणीय तुटि की तरह ही बाह्य तुटि है, यह नहीं कहा जा सकता । **प्राण की तुटि आन्तर तुटि मानी जाती है । प्राण की तुटि को बाह्य काल का ही 'लव' कहते हैं । बाह्य की तुटि प्राणीय तुटि की आधा होती है । इस प्रकार बाह्य क्षण प्राणीय तुटि का चतुर्थांश होता है ।** इसी क्रम से आन्तर प्राणापान का उदय रूप सन्ध्याकाल से रहित जो अहोरात्र माना जाता है, वह ३० तुटियों का होता है । इसी क्रम को अगले श्लोक अर्थात् ११/२०० में स्वच्छन्दतन्त्र कहता है कि,

'दो लवों का एक निमेष होता है । गणित के क्रम से इसे जानना चाहिये । १५ निमेष की एक काष्ठा होती है' । यहीं आगे यह भी कहा गया है कि, आध्यात्मिक अहोरात्र के माध्यम से बाह्य काष्ठा का विधान किया जाता है । ७/४९ ।

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक प्राणचार के समय में और सूर्योदय के अहोरात्र के समय मे संगति बिठलाकर ही कालांश का निर्णय करना चाहिये ॥२७॥

इह तु–

ताभिश्चतसृभिर्देवि प्राणे यामो विधीयते ।

'ताभिः' इति तुटिभिः बहिर्वदन्तरपि दिनचतुर्भागो 'यामः' प्रहरः ।

तैरेव प्रहरैर्देवि चतुर्भिस्तु दिनं भवेत् ।।२८।।

एवं निर्गमक्रमवत् प्रवेशक्रमेणापि तथैव–

रात्रिश्चतुर्भिर्विज्ञेया

तदित्थं संकलय्य–

अहोरात्रस्त्वतोऽष्टभिः ।

पारमेशशक्तिनियमितसूर्योदयादिस्थित्या यथा बहिर्दिननिशाविभागः, तथान्तरपि प्राणसूर्योदयादिस्थित्या योगिनः प्रतिदिनादिसाध्यकार्यविवक्षया– इत्युक्तप्रायम् ।

यथास्य प्राणस्य बहिरन्तर्वाहितानैयत्यम् तथोपपादयति–

शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसः प्रभान्वितः ।।२९।।

बाहर की तरह भीतर भी प्राण के याम का विधान है । आन्तर काल में भी बाहर के दिन के चौथे भाग को याम या प्रहर कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि, देवि ! इन्हीं प्रहरों से दिन को भी चार प्रहर वाला मानते हैं । अर्थात् ४ प्रहर का एक दिन होता है । निर्गम और प्रवेश दोनों दशाओं में यही नियम लागू होता है ।।२८।।

चार प्रहरों की ही रात्रि भी होती है । और सबको मिलाकर यह कहा जा सकता है कि, आठ प्रहरों का एक अहोरात्र होता है । सूर्योदय अयत्नसाध्य व्यापार है । यह प्रभुशक्ति से ही नियन्त्रित होता है । दिन और रात्रि के जो विभाग सूर्योदय की दृष्टि से किये जाते हैं, उसी प्रकार प्राण रूपी सूर्योदय की स्थिति से ही योगी लोग अपने सन्ध्याकाल आदि का विधान करते हैं । बाह्य और आभ्यन्तर प्राणचार की गणना में हमेशा गणना के पैमाने का ध्यान रखना चाहिये ।

इस तरह काल की बाह्य और आन्तर गतिशीलता में जो अन्तर है, उसे और जो साम्य है, सबको अच्छी तरह समझना आवश्यक है । इसी का प्रति-पादन यहाँ किया जा रहा है कि,

शिव अपने धर्म के प्रभाव से 'हंस' कहलाता है । और सूर्य 'हंस' भी अपनी प्रभा से अन्वित होकर प्रभाकर कहलाता है । आत्मा को भी हंस कहते हैं और प्राण भी हंस प्रभा से समन्वित होता है । अतः 'हंस' कहलाता है ।

आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः ।

यः पूर्वं चिदानन्दघनः 'शिवः' उक्तः, स 'धर्मेण' स्वातन्त्र्यात्मना स्वभावेन 'हंसः' इति हानसमादानधर्मा विश्वसर्गसंहारकारी, शिवत्वादेव पञ्चविधं कृत्यं हानसमादानसतत्त्वं करोति । यथा चासौ, तथा तदीयज्ञानशक्तिमयः 'सूर्यो'ऽपि 'प्रभया' प्रकाशेन 'अन्वितः' सन् रसविसर्गादानक्रमेण हानसमादानधर्मा 'हंसः' । यतश्च निर्णीतनीत्या शिव एव स्वातन्त्र्यावभासितसंकुचितचिद्रूप 'आत्मा' ततः सोऽपि करणोन्मीलननिमीलनादिक्रमेण हानसमादानधर्मा 'हंस इत्युक्तः' इति ।

'अनेनैव तु योगेन हंसः पुरुष.........' । (४/२६०)

इत्यत्र योजनिकाग्रन्थे इत्थं स एव प्राणः प्राणभूमिकामाश्रितोऽपि बहिरन्तश्च हानसमादाने कुर्वन् हंस एव । यतः स एवायं सूर्य आत्मा प्राणश्च हंसेन अनाहता-

---

शिव चिदान्दघन परमेश्वर हैं, यह पहले प्रतिपादित किया गया है । उसका स्वातन्त्र्य ही उसका धर्म है । या यों कह सकते हैं कि, उसका धर्म उसकी स्वतन्त्रता है । इसी स्वातन्त्र्य धर्म के कारण उसे हंस कहते हैं । 'हंस' शब्द में 'ह' अक्षर 'हान' का प्रतिनिधि और 'स' अक्षर 'समादान' का वाचक है । इसी धर्म के कारण वह विश्व का संहार भी करता है और सृष्टि भी करता है । संहार हान है और सर्ग समादान है । अतः शिव हानसमादान धर्मा कहा जाता है । यही नहीं इसी 'हंस' धर्म के कारण वह पाँच प्रकार के कृत्य भी करता है ।

जैसे हंस शिव पंचकृत्यकारी है, उसी तरह शिव की ज्ञानशक्ति का प्रतीक हंस सूर्य प्रभा (प्रकाश-ज्ञान) से अन्वित है । यह रस तन्त्र का आदान करता है और प्रभातत्त्व का विसर्जन करता है । अतः यह भी हानसमादानधर्मा 'हंस' कहलाता है । आगमिक मान्यता के अनुसार स्वातन्त्र्य के कारण संकुचित चिद्रूप का अवभासन करता है । यह संकुचित चिद्रूप आत्मा कहलाता है । यह आत्मा भी इन्द्रियों के निमीलन और उन्मीलन व्यापार के कारण हान समादान दोनों धर्मों से युक्त होता है । इसीलिये आत्मा को भी 'हंस' कहते हैं । ४/२६० में स्पष्ट कहा गया है कि,

'इसी योग के कारण आत्मा पुरुष हंस कहलाता है' । इसी तरह यह प्राण भी बाहर और आभ्यन्तर निर्गम और प्रवेश करता है । यह भी हान और समादान है । इसी धर्म के कारण प्राण भी हंस कहलाता है । क्योंकि, यही सूर्य, यही आत्मा और प्राण भी 'हंस' रूप अनाहत निष्कल भैरव भट्टारक से अन्वित हैं ।

त्मकनिष्कलभट्टारकेण शिवरूपेण सम्यगन्वितः । स एव ह्यवरोहक्रमेण प्राणान्तं पदमाश्रित्य बहिरन्तर्गमागमौ कुर्वन् सर्गसंहारकृत् । अत एवैतत्पदपरिशीलनाभ्यासेनैव झटिति परमशिवतामाविशन्ति महायोगिनः । प्रसङ्गादत्र रहस्यार्थः कटाक्षितः ॥२९॥

प्रकृतं तु–

तस्योदयात्कलेत्कालः

'तस्य' प्राणस्य 'उदयात्' प्रभृति जन्मादिविकारषट्कक्रमेण 'कालो' भूतवर्तमानादिभेदेन वहन्विश्वं जगत्कलयति । 'कलेत्' इत्यैशः पाठः ।

अत्र चोक्ताहोरात्ररूपे प्राणचारे–

ग्रहाणामुदयो भवेत् ॥३०॥

स चादूर एव व्यक्तीभविष्यति । किञ्च–

ऋक्षाणि राशयश्चैव तारास्त्वंशास्तथैव च ।
प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते ॥३१॥

वही शिव अवरोह क्रम से सूर्य, आत्मा और अन्त में प्राण रूप से चतुर्थ हंस पदवी पर स्वयम् उतर आता है । वही निर्गम और प्रवेश व्यापारों की लीलामयी संरचना का निर्माता बन जाता है । वही संहार और सृजन के व्यापार में व्यापृत है । यह सब परिशीलन अनुशीलन का विषय है । इन्हीं तथ्यों का संमर्श विमर्श करते हुए महायोगी परमेश्वर का साक्षात्कार कर लेते हैं । यही शास्त्र का निहितार्थ है ॥२९॥

प्रकृत स्थिति यह होती है कि, इस प्राण के उदय काल से ही जन्म आदि छः विकारों वाला काल भूत, वर्त्तमान और भविष्य भेद से इस विश्व की गतिशीलता आकलित करता है ।

प्राणाचार का ही परिणाम यह काल पुरुष है । इसी प्राणोदय का परिणाम अहोरात्र भी है । प्राण के अहोरात्र पर आधारित सूर्य हंस द्वारा परिणमित यह बाह्य अहोरात्र भी है । इसी में ग्रहों का भी उदय-अस्त होता है । सारा ज्योतिःशास्त्र इसी पर आधृत है ॥३०॥

बाह्य दिन में ही नक्षत्रों की गणना होती है । प्राण और अपानवाह को भी नक्षत्र संख्या २७ से विभक्त करते हैं । अश्विनी आदि नक्षत्र और इनके अधिष्ठाता मेष आदि राशिवर्ग की कलना के साथ यह विचार भी उत्पन्न होता है कि,

बाह्यदिनगतनक्षत्रानुसारं प्राथम्यं परिकल्प्य, प्राणापानवाहे सप्तविंशतिधा विभक्ते प्रमाणे, अश्विन्यादिनक्षत्राणां तदधिष्ठातॄणां मेषादिराशीनामनुकूलाननुकूल-जन्मादिताराणां त्रिभागनवभागादिकलनया च राश्यंशानां बाह्य इव प्राणीयेऽपि अहोरात्रोदयोऽस्ति ॥३१॥

अथ–

अहोरात्रोदयस्यैव विभागं कथयामि ते ।
हृदयोर्ध्वे तु कण्ठाधो यावद्वै प्रवहेत्प्रिये ॥३२॥
अङ्गुलेन विहीने तु प्रथमः प्रहरः स्मृतः ।

'तुटिभिश्चतसृभिर्यामः' इति यत् प्रागुक्तम्, तत्तुटिचतुष्टयवाहिकालापेक्षम् । इदं तु देशापेक्षमिति न पौनरुक्त्यम् । हृदयात्कण्ठान्तं पूर्वं दशाङ्गुलमेकाङ्गुल-हान्या नवाङ्गुलं भवति ।

ततोऽपि–

द्वितीय ऊर्ध्वे विज्ञेयो मध्याह्नस्तालुमध्यतः ॥३३॥

अत्रापि नवाङ्गुलतैव यो द्वितीयः, स एव तालुमध्ये मध्याह्नः ॥३३॥

ये अनुकूल हैं या प्रतिकूल । इनमें जन्म लग्न का विचार भी अपेक्षित होता है । इसी में तीन भाग और नौ भागों की कलना भी की जाती है । इसी से राशियों के अंशों की कलना भी स्वभावतः होती है । ३ और ९ का गुणनफल भी २७ ही होता है । यह ध्यान देने की बात है कि, यह सारी कलना बाह्य काल गणना की तरह प्राणीयचार में भी अहोरात्रादि के भेद से होती है ॥३१॥

इनके विभागों पर अवश्य ध्यान देना चाहिये । भगवान् स्वयं देवी को सम्बोधित कर इसकी चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि, हृदय (अनाहत केन्द्र) के ऊपर और कण्ठ (विशुद्ध) के नीचे बीच में प्राण जितना गतिशील हो रहा है, उसमें एक अङ्गुल विहीन अर्थात् कम करने से नव अङ्गुल में पहला पहर माना जाता है । पहले कहा गया है कि, चार तुटियों का एक याम होता है । इससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि, तुटि चतुष्टय कालापेक्षी एक याम होता है । यहाँ देशापेक्ष होने के कारण उक्त गणना को फिर नहीं कहा गया है ॥३२॥

दूसरा पहर तालु मध्य में पूरा होता है । यह भी नवाङ्गुल प्रमाण ही होता है । इसे मध्याह्न कहते हैं । यह पहले पहर का ऊर्ध्व देश है । अतः यह भी देशापेक्षी है ॥३३॥

अत्र विश्रान्तस्यानुष्ठानफलमाह–

अत्र होमो जपो ध्यानं कृतं वै मोक्षदं भवेत् ।

अथ–

नासाग्र्यत्र्यङ्गुलोर्ध्वे तु यावत्प्राप्तस्तु सुव्रते ।।३४।।

प्रहरस्तु तृतीयोऽसौ भवेद्वै वरवर्णिनि ।

'नासाग्र्यस्य' भ्रूमध्यस्य त्र्यङ्गुलमूर्ध्वं ललाटम्, आकण्ठं चतुरङ्गुला-त्तालुनो भ्रूमध्यं द्व्यङ्गुलमिति तदूर्ध्वं त्र्यङ्गुलमुक्तम् ।।३४।।

तदुपरि–

शक्त्यन्ते च चतुर्थस्तु प्रहरः

'शक्त्यन्ते' द्वादशान्ते । एतावदन्तम्–

अहः प्रकीर्तितम् ।।३५।।

आन्तरम् ।।३५।।

इसमें विश्रान्ति कर जो जप, जो होम और जितना ध्यान सम्पन्न होता है, वह मोक्ष प्रद होता है, यह निश्चय है । श्लोक में नासाग्र्य शब्द तालुमूल में जहाँ नासिका छिद्र बाहर की ओर मुड़ता है, उसी मूल स्थान का वाचक है । नासिका के बाह्य छिद्रों के बाहर का अर्थ नहीं लेना चाहिये । एक और महत्त्वपूर्ण बात यहाँ ध्यान देने की है । वहाँ से ऊपर की ओर श्वासरूपी प्राण नहीं जाता, वरन् प्राण की ऊर्जा ऊपर उठती है । उस स्थान से यह ऊर्जा भ्रूमध्य में पहुँचती है । यह भी नौ अङ्गुल मात्र होता है और यह तीसरा पहर कहलाता है ।

इस नौ अङ्गुल की वास्तविकता से परिचित करा रहे हैं । तालुमध्य से जिस आन्तर देश में यह प्राण की ऊर्जा की यात्रा होती है, इसमें कण्ठ का स्पर्श नहीं होता । अतः क्षेमराज की व्याख्या का आकण्ठ अर्थ उचित नहीं है । वस्तुतः तालुमध्य से नासिका का मूल स्थान तीन अङ्गुल ऊपर होता है । वहाँ से ललाट प्रदेश ६ अङ्गुल है । इसी नौ अङ्गुल के मध्य का काल खण्ड तीसरा पहर होता है । शिरः केश से जहाँ त्वक् संयोग होता है । वहाँ तक ललाट माना जाता है ।

इस ललाटान्त रेखा से शक्त्यन्त पर्यन्त चौथा पहर होता है । यहाँ शक्त्यन्त को द्वादशान्त कहकर आचार्य क्षेमराज ने योगविधा को ही प्रमाणित किया है । शक्ति की स्पर्श भूमि को शक्ति मानते हैं किन्तु वहाँ पर शक्ति का अन्त उन्मनान्त अर्थात् द्वादशान्त ही मानना चाहिये । यहाँ तक आते आते आन्तर एक दिन और चार पहर की सीमा समाप्त हो जाती है ।।३४-३५।।

तत्र च–

चतुर्थान्ते तु देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः ।

'सदा' इति यदा यदा चतुर्थप्रहरस्यान्तो भवति, तदा प्राण एव अहोरात्रविभागहेतुत्वात् सूर्योऽस्तमेति । किञ्च–

ततोऽस्तमयसन्ध्यात्र तुट्यर्धं तु भवेत्प्रिये ।।३६।।

'ततः' इति तं चतुर्थान्तमवलम्ब्य, प्राणनिविवृत्सापानोल्लिलसिषासामरस्यात्मतया गुणीभूतवाहत्वेनोन्मज्जच्छक्तितद्वत्प्रकाशावेशविश्रान्तिरूपार्धतुटिकला अस्तमयसन्ध्या ।।३६।।

अत्र च सन्ध्यायां प्राणसूर्यः–

तत्कालं तु विलम्ब्यैवं पुनश्चाधः प्रवर्तते ।

'तत्कालं' तुट्यर्धम्, संघट्टपदे विश्रम्य, 'एवम्' इत्यारोहक्रमेणैव 'पुनश्च' इति पुनः पुनः 'अधः प्रवर्तते' अपानचन्द्रीभूय हृदन्तमवरोहति । तदाह–

स च चन्द्रोदयो देवि रजनी च विधीयते ।।३७।।

सूर्य एव प्रभासंक्रमणयुक्त्या चन्द्र इति कालज्ञाः ।।३७।।

देवी को सम्बोधित कर भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, चौथे पहर के अन्त में प्राण सूर्य अस्तंगत हो जाता है । इसीलिये अहोरात्र विभाग का प्राण रूपी सूर्य को कारण माना जाता है । इसके उदय अस्त का यही रहस्य है । इस चतुर्थान्त के साथ ही एक तुट्यर्ध की सन्ध्या का आकलन भी योगविद् साधक करते हैं । इसमें दो प्रकार की वृत्तियाँ उल्लसित होती हैं । १–पहली वृत्ति को प्राण की निविवृत्सा और २–दूसरी वृत्ति को शास्त्र अपान की उल्लिलसिषा कहता है । अर्थात् इधर प्राण निवृत्ति की ओर और अपान उल्लास की ओर प्रवृत्त होते हैं । इन दोनों के सामरस्य की आन्तर आनन्दवादिता में योगी ध्यानमग्न हो जाता है । उस अवस्था में प्राणवाह गौण हो जाता है । शाक्त भाव (सोम-तत्त्व) का उन्मज्जन होता है । उस शाक्त प्रकाश का आवेश योगी को प्रभावित करता है और आत्म पुरुष की विश्रान्ति का शान्त प्रसार खिल उठता है । यह अस्तमन वेला की सन्ध्या होती है । यह बड़ी मधुर और सोमामृत भरपूर हो जाती है ।।३६।।

उस सामरस्यामृत से तृप्त होकर तथा उसमें तुट्यर्ध विश्राम के बाद प्राण की ऊर्जा विनिवृत्त होती है । यहाँ अवरोह क्रम प्रारम्भ हो जाता है । यह आरोहावरोह की प्रक्रिया निरन्तर पुनः पुनः चलती रहती है । अपानचन्द्र का यह चमत्कार अस्तित्व को जीवन प्रदान कर जाता है । सूर्य ही प्रभा संक्रमण की शक्ति के कारण चन्द्र रूप में अधःप्रवाहित होता है ।।३७।।

रात्रावपि प्रहरक्रमः प्राग्वन्नवाङ्गुलस्थित्या अपानचन्द्रसंचारक्रमेणेत्यतिदिशति–

पूर्वोक्तक्रमयोगेन यामेष्वेवं चरत्यसौ ।

अत्र सन्ध्याविश्रान्त्यनन्तरं दिनचतुर्थप्रहरोदयस्थानान्तमाद्यः प्रहरः । ततः–

तालुके चार्धरात्रस्तु पुनरेवं विधीयते ।।३८।।

'पुनरेवम्' इत्यवरोहक्रमेण नवाङ्गुलस्थित्यैवेत्यर्थः । अत्र होमादि सिद्धिदमित्यर्थलब्धमेतत् । किञ्च, 'पुनरेवं विधीयते' इति पुनरपि नवाङ्गुलस्थित्या कण्ठाधोऽङ्गुलान्ते तृतीयो रात्रियाम इत्यर्थः ॥३८॥

ततोऽपि–

हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा ।

तत्रापि–

तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसन्ध्या भवेत्ततः ।।३९।।

एतत्पूर्ववद्व्याख्येयम् । पूर्वत्वमत्र सन्ध्यायास्तदनन्तरं प्राणसूर्योदयात्मकदिनप्रारम्भात् । यदाह–

तस्मात्समुदयश्चैव सूर्यस्य स भवेत्पुनः ।

दिन की तरह रात्रि के भी प्रहर क्रम के नियमानुसार प्राण सूर्य और अपान चन्द्र गतिशील रहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, सोम इस क्रम में पहर-पहर होते हुए हृत्केन्द्र में पहुँचता है। वहाँ भी ऐसी ही सन्ध्या होती है। इसी तरह अपान के प्रहर और प्राण के प्रहर प्रतिश्वास में घटित होते हैं। द्वादशान्त से अपानचन्द्र के अध:प्रवाह में रात का पहला प्रहर आरम्भ होता है।

तालु में अर्धरात्र भी उसी नवाङ्गुल क्रम से होता रहता है। अर्धरात्र भी निशीथ सन्ध्या का समय होता है। इसमें भी आन्तर होम आदि निहित है। कण्ठ के अधोभाग में तृतीय रात्रिधाम होता है ॥३८॥

हृदयपद्म में आने पर प्रभात का समय होता है। यहाँ तुट्यर्ध में पूर्व अर्थात् प्रात:कालीन सन्ध्या सम्पन्न होती है। इसके बाद ही प्राण सूर्योदय का क्रम आता है। इस काल को प्राणसूर्योदयात्मक दिन का क्रम कहते हैं ॥३९॥

यह सूर्य का समुदय काल होता है। सूर्य अर्थात् प्राण सूर्य का उदय और आरोह क्रम सम्पन्न होता है। इस प्रकार आरोहक्रम योग से प्राणवाह सम्पन्न होता है। अस्त में वह अपान चन्द्र बनकर अवरोह करता है। यह प्रक्रिया प्रतिश्वास

'सूर्यः' प्राणः । उदेत्य च–

पूर्ववत्क्रमयोगेन स चरेद्धि सदा शुभे ।।४०।।

'शुभे' इत्यामन्त्रणम् ।।४०।।

अत्रैव–

वासरे तु चरेत्सूर्यो धारायां संचरेच्छशी ।

प्राण एव सूर्यः, अपानस्तु चन्द्रः । अथ च सूर्य इन्द्रियवर्गो 'वासरे' प्राणोदये 'चरति' समुल्लस्य बाह्यं प्रकाशयति । 'धारायां' निशायामपानोदये 'शशी' मेयग्रामरूपः 'चरेत्' प्रमाणप्रकाशमाविश्य प्रमात्रैकात्म्यमेति ।

तदित्थमहोरात्रमध्ये–

चन्द्रसूर्योदयो ह्येष मया ते परिकीर्तितः ।।४१।।

साधकानां सौम्येतरसिद्ध्यर्थमत्रैव मध्ये सूरोदयोक्तवद्ग्रहपञ्चकोदयक्रमं दर्शयति–

भौमाद्याश्च ग्रहा ह्येवं चरन्ति प्रविभागशः ।

यथा सदा बहिरन्तश्च दिननिशयोः सूर्यसोमौ चरतः, तथा सदैव पञ्चधा पञ्चधा विभक्तयोस्तयोः भौमाद्याः सौरान्ताः पञ्च विभागक्रमेण चरन्ति, तेन च क्रूरसौम्यसिद्ध्यङ्गं भवन्ति ।

में अयत्नवाह रूप में थोड़े से यत्न से योगी द्वारा अनुभूत होती रहती है । यद्यपि यह सबमें समान रूप से हो रही है किन्तु इसके साक्षी योगविद् पुरुष होते हैं ।।४०।।

वासर में सूर्यप्राण का प्रवाह और 'धारा' अर्थात् रात्रि में चन्द्र रूप अपान-वाह दोनों के मेल से प्राणपानवाह की प्रक्रिया अपने आप होती रहती है । यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि, प्राणावस्था में प्राण सूर्य का व्यवहार होता है और अपानावस्था में प्राण ही अपानचन्द्र कहलाने लगता है । चन्द्र मेयसमूह रूप होता है । यही प्रमाण सूर्य के प्रकाश के आवेश के कारण प्रमाता की एकता में समाहित हो जाता है । इस प्रकार चन्द्रोदय और सूर्योदय के रहस्य का उद्घाटन भगवान् ने यहाँ किया है ।।४१।।

साधकों की सौम्य सिद्धि और असौम्यसिद्धियों के उद्देश्य से यहाँ इस प्रकरण के बीच में ही सूर्योदय की तरह अन्य पाँचों ग्रहों के उदयक्रम का कथन कर रहे हैं । यह ज्योतिष् शास्त्र का विषय है ।

अथ बाह्यवेलावारानुसारमहनि निशायां चान्तरपि ग्रहसप्तकोदयं गारुडादि-शास्त्रदृष्टन्यायेन दर्शयति-

प्राणे चाप्युदयन्त्येति प्रहरे प्रहरे प्रिये ।।४२।।

वेला वारो भवेद्यस्य स चरेत्प्रहरद्वयम् ।

यस्य ग्रहस्य बहिर्वारः, स प्रथमे प्रहरे बहिरिव अन्तरप्युदेति । ततो दिने षट्परिवर्तनक्रमेण अर्धेऽर्धे प्रहरे तदन्ये, यावदन्त्ये तद्दिनार्धप्रहरे स एव । तदुत्तरेष्ववसरेषु क्रमेण पञ्चपरिवृत्तिक्रमेणान्ये, यावदन्त्ये तन्निशार्धप्रहरे स एव । एवमेकैकस्य ग्रहस्य दिनेऽर्धप्रहरं रात्रावर्धप्रहरं चोदयः । वारभागिनस्तु द्विगुणमिति स्थितेऽहोरात्रमेलनया वारभागिनः प्रहरद्वयम्, तदन्येषां तु प्रहरमुदयो भवति । तदुक्तं श्रीतोतुले-

---

जिस तरह बाह्य काल में और अन्तः अर्थात् आध्यात्मिक दिन और रात में लगातार सूर्य और सोम का उदयास्त क्रम चलता रहता है, उस तरह सदैव पाँच पाँच प्रकार से विभक्त सूर्य सोम के चतुर्दिक् भौम और शनि तक के ग्रह भी नित्य संचरण करते रहते हैं । इस गतिशीलता में वे क्रूर सौम्यसिद्धियों के अङ्ग बन जाते हैं ।

बाह्य वार और वेला से तो सभी परिचित होते हैं । आध्यात्मिक वार (दिवस) वेला और रात में इन सातों ग्रहों का उदय होता रहता है । गरुड़ द्वारा प्रवर्त्तित गरुडज्योतिष के अनुसार उनकी गणना के अनुसार जो नियम वहाँ प्रदर्शित हैं, उनके क्रम से इन ग्रहों के संचरण की प्रक्रिया यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं ।

इसके अनुसार प्राण में भी प्रहर प्रहर के क्रम से ये उदित होते रहते हैं । जिसकी वेला और जिसका वार होता है, वह दो प्रहर तक संचरित रहता है । जिस ग्रह का बाहर जो वार होता है, वह प्रथम प्रहर में बाहर और आभ्यन्तर दोनों स्थानों पर उदित होता है । दिन में छः अर्ध परिवर्त्तन के क्रम से आधे आधे प्रहर में अन्य ग्रह संचरित रहते हैं । इसी क्रम से अन्त में उस दिन के अन्तिम प्रहर में भी वही ग्रह संचरित होता है ।

इनके बाद के अवसरों में क्रमशः पाँच परिवृत्ति के क्रम से दूसरे संचरित होते हैं । अन्त में उस रात्रि के निशार्ध प्रहर में फिर वही ग्रह संचार करता है । इस तरह एक एक ग्रह को दिन में आधे प्रहर और रात के अर्ध प्रहर का उदय होता है । जो वार-भागी ग्रह हैं वे द्विगुणित संचरण करते हैं ।

'प्रहरार्धभुजः सर्वेऽहोरात्रं च चरन्ति ते' । इति ।

संहितासारेऽपि–

'णिसिवासर[1] दुपहरेणा आभुञ्जन्ति गहपराहणा ।
जस्स दिनं सेवारो विणिवत्तइ रअणिव अणा ते ।
कमपरिवेत्तण दिणत्तिं भुञ्जन्ति बाणपरिवत्ते' ॥ इति ॥४२॥

अत्रैव मध्ये–

राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता ।।४३।।

सहेत्यर्थः । तेन तच्चार एव तयोश्चारः, न तु ग्रहान्तरवद्व्यतिरिक्तः ॥४३॥

किञ्च–

ये ग्रहास्ते च वै नागा लोकपालाष्टकं च ते ।
मूर्तयश्चैव ते चाष्टावष्टौ ते च गणेश्वराः ।।४४।।

इस तरह अहोरात्र को मिलाकर वारभागी ग्रह दो प्रहर और तदतिरिक्त ग्रहों का प्रहर भर ही उदय रहता है । नोतुलतन्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, 'आधे प्रहर भोग करने वाले ग्रह सभी अहोरात्र में संचरण करते हैं' ।

संहितासार ग्रन्थ के प्राकृत पद्य का भी लगभग यही भावार्थ है । इस पद्य का पाठ भेद टिप्पणी में दिया गया है । उसकी संस्कृत छाया इस प्रकार की हो सकती है–

निशिवासर द्विप्रहरेण आभुञ्जन्ति ग्रहाः प्रहरक्रमात्
यस्य दिनं स एव वारः विनिवर्त्तते रजन्यामपि ।
क्रम परिवर्त्तनदृष्ट्या दिनरात्रम् भुञ्जन्ति वारपरिवर्त्तनात् ॥ इति ॥४२॥

इसी बीच में राहु सोम के साथ संचरणशील होता है । परिणामतः सोम का चार ही राहुचार की तरह भासित होता है । दूसरे ग्रहों की तरह अलग वार नहीं होता । इसी तरह केतु सूर्य के साथ संचरणशील हो जाता है । इसका भी पृथक् संचरण नहीं होता ॥४३॥

और इसके साथ अन्य देववर्ग से सम्बन्धित दशाओं पर भी दृष्टि-निक्षेप कर रहे हैं । जितने ग्रह हैं, वही नाग हैं । लोकपालों का अष्टक भी इसी में संचरित है । नागों के क्रमिक नाम अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोट, पद्म,

---

१. 'णिमावासरद्वयफरेण आ भुञ्जन्ति गहपराहणाजः स दिनं सेवारोविणि वत्तर हर अणिव अणाते कम्परि वेतुणदिनं रत्तिं भुञ्जन्ति बाणपरिवत्तते' ।

ते च पञ्चाष्टका रुद्रास्तथा योगाष्टकाः परे ।
अनन्तादिशिखण्ड्यन्तास्ते च विद्येश्वराष्टकाः ।।४५।।
सकलाद्यानि तत्त्वानि स्थितानि परतस्त्विह ।
पूर्वोक्ता भैरवाश्चाष्टौ सर्वे ते च व्यवस्थिताः ।।४६।।

'ग्रहाः' आदित्यादयः सौरान्ता यथाक्रममनन्तवासुकितक्षककार्कोटपद्ममहापद्मशंखपालनागाः, राहुस्तु कुलिकः । तदुक्तम्–

'इनस्त्वनन्त इत्युक्तः सोमो वासुकिरुच्यते ।
तक्षकः कुज इत्युक्तः कर्कोटः सोमजो भवेत् ।।
सरोजो गुरुराख्यातो महाब्जः शुक्र उच्यते ।
शंखो मन्दगतिर्ज्ञेयः सप्त नागा ग्रहाः क्रमात् ।।
अष्टमः कुलिको नाम राहुः क्रूरग्रहो भवेत्' । इति ।

महापद्म, शंख और कुलिक हैं । ये भी आठ हैं । लोकपाल भी आठ हैं । इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, समीरण, सोम (कुबेर) और ईशान (२/१२४) ये लोकपालाष्टक में परिगणित देव हैं । इनका भैरवाष्टक रूप से ध्यान करना चाहिये ।

इनकी मूर्त्तियाँ भी आठ और गणेश्वर भी आठ ही परिभाषित हैं । इनके अतिरिक्त पाँच अष्टकों में परिगणित रुद्र, इनके अतिरिक्ति योगाष्टक, तथा विद्येश्वराष्टक भी इसी वार क्रम में सुव्यवस्थित हैं ।।४४-४५।।

सकल आदि तत्त्व भी इनके परिवार के ही सदस्य हैं । इनके अतिरिक्त भैरवाष्टक भी इसी बाह्याभ्यन्तर प्राणचार में प्रतिष्ठित हैं ।।४६।।

इस उक्त श्लोक की व्याख्या में आये हुए शब्दों और विषयों पर गहरायी से विचार करने की आवश्यकता है । जैसे–ग्रह सूर्य और सोम, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि, राहु और केतु । इनमें सूर्य और सोम एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह हैं । वे दो नहीं, वरन् एक ही हैं । अतः आठ ग्रह ही परिगणितव्य है । नाग और लोकपालाष्टकों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है ।

आठ मूर्त्तियाँ इन्द्रादिकों की ही माननी चाहिये । इनके गणेश्वर चण्ड और नन्दी आदि माने जाते हैं । ये भी गुह्य अतिगुह्य पवित्र स्थान आदि पाँच अष्टकों से समन्वित हैं । इनकी क्रमिकता भी शास्त्र में निर्दिष्ट हैं ।

यश्च श्रीतोतुले–

'रवे: षोडश मध्यात्तु चतुरोऽन्ताच्च भार्गवात् ।
चषकौ द्वौ बुधस्यादौ सोमस्याष्टौ तु मध्यत: ॥
सौरस्यान्ताच्चतु:षष्टिं मध्यतश्चषकं गुरो: ।
द्वात्रिंशतं कुजस्यान्ताद्भुङ्क्ते षट्परिवर्तत:' ॥

इति चषकसंख्यया कुलिककाल उक्त:, सोऽत्रात्यन्तसूक्ष्मे प्राणचारे दुर्लक्ष्य एवेत्यविचार्य एव । एवं पुंभोगाय दिनार्धप्रहरानधितिष्ठतां ग्रहाणां नागैरधिष्ठितत्वम्, नागानां तूक्ताक्रमस्थितिभिर्लोकपालैरिन्द्रादिभि: । इन्द्राद्या मूर्तिभिरिति क्षित्यादिमूर्त्यधिष्ठातृशर्वरुद्रभवादिभिर्मूर्तीश्वरै:, ते च चण्डनन्द्यादिभि: प्रागुक्तैर्गणेशै:, तेऽपि गुह्यातिगुह्यपवित्रस्थाण्वाद्यै: पञ्चभिरष्टकै:, क्रमात्क्रममधिष्ठिता: । तेऽप्यकृतादिना योगाष्टकेन व्याप्ता:, योगाष्टकादपि परे ये प्रकृतिस्था: क्रोधाद्या:, मायास्था मण्डलिप्रभृतयस्तैर्व्याप्ता:, तेऽपि विद्यातत्त्वगतैरनन्तादिभि:, विद्येश्वरा अपि सकलाद्यैरिति सदाशिवपरिवारभूतै:–

'सकलो निष्कल: शून्य: कलाढ्य...........' । (१०/१८९)

इति वक्ष्यमाणैरष्टभि:, यद्वा, सकल: सदाशिव आद्यो येषामूर्ध्ववर्तिबिन्द्वीशब्रह्मव्यापिव्योमानन्तानाथानाश्रितानां तैस्तत्त्वैरिति अभेदभूमिस्पर्शात्पारमार्थिकैर्देवै: । तेऽपि औन्मनसपदव्याप्त्यवस्थितश्रीस्वच्छन्दनाथपरिवारत्वात् तदधिष्ठिते: कपालीशादिभिर्भैरवैरधिष्ठिता: ।

इनके साथ अकृत आदि योगाष्टक हैं । योगाष्टकों से भी परे प्रकृतिस्थ, क्रोध आदि, मायास्थ मण्डली आदि, विद्या तत्त्व गत अनन्त आदि शिखण्ड्यन्त और सभी विद्येश्वर तथा सकल से लेकर सदाशिव पर्यन्त सभी तत्त्वाष्टक एक परिवार के रूप ही बाह्याभ्यान्तर संचरित हैं । इनकी इस अद्भुत ईश्वरीय व्यवस्थिति का गम्भीरता पूर्वक आकलन अनुसन्धित्सु साधकों का कर्त्तव्य है ।

पटल १० के ११८९ द्वारा सकल, निष्कल और कलाढ्य के क्रम से ये वर्णित हैं । इनके अतिरिक्त सकलादि का अर्थ सकल रूप सदाशिव भी होता है । इस अर्थ की दृष्टि से ऊर्ध्ववर्त्ती बिन्द्वीश, ब्रह्मा, व्यापी, व्योम, अनन्तनाथ, अनाश्रित और सदाशिव रूप अभेद रूप पारमार्थिक भूमिस्पर्शी देवों की भी गणना यहाँ की जा सकती है ।

तदाह–सर्व एवैते तेषु प्राणीयाहोरात्रार्धप्रहरेषु व्यवस्थिताः । अत्र चाद्यार्धप्रहरक्रमेणैव इन्द्रादीनां दिने रात्रौ च द्वितुटिक उदयः, न तु षट्परिवृत्त्याद्यवस्थितग्रहस्थित्या, ग्रहाणां सप्तानामष्टकैः सह संगत्ययोगात् । व्यवस्थितिश्चैषामभेदव्याप्तिः, अत एवात्र सामानाधिकरण्येनोक्तिः कृता । एवं च परभैरवस्फारमयत्वमेव प्राणे पर्यवसितम्, अतो यदस्माभिः प्राणभूमिकायामहोरात्रक्रमेण व्याप्तिप्रदर्शनं पूर्वं कृतम्, तदुत्सूत्रं न मन्तव्यम् । इत्थं च सर्वमिदं परमेश्वराद्वयमेवेत्यत्र ज्ञानादेव ज्ञानिनां जीवन्मुक्तिः करतलगतेव, साधकानां तु तत्तद्भुवनेश्वरादिव्याप्ततत्पदानुसारेणापि महाव्याप्त्यनुसंधानादविघ्नेनैव तत्तत्सिद्ध्युदयो भवति–इति प्रतिपादितं भवति ॥४६॥

ये भी औन्मनस पद की व्याप्ति में अवस्थित श्री स्वच्छन्दनाथ के परिवार के रूप में विद्यमान कपालीश शिखिवाहनादि भैरवाष्टकों के साथ ही वहाँ उल्लसित हैं । अन्त में यह घोषणा की गयी है कि, ये सभी प्राणीय अहोरात्र और उनके अर्ध प्रहरों के सूक्ष्म समयों में ईश्वरीय नियम के अनुसार व्यवस्थित हैं ।

यहाँ यह जानना भी आवश्यक है कि, इन्हीं अर्धप्रहरक्रमानुसार इन्द्रादिकों के दिन और रात्रि में द्वितुटिक उदय स्वाभाविक रूप से होता ही है । ग्रहों की षट्परिवृत्ति में सात ग्रहों की अवस्थिति के कारण ऐसा नहीं होता क्योंकि सात ग्रहों की अष्टकों के साथ संगति बैठ ही नहीं सकती ।

यहाँ व्यवस्थिति का तात्पर्य इनकी अभेद व्याप्ति ही है । इसीलिये इनके प्रयोग में सामानाधिकरण्य का प्रयोग किया गया है । यह ध्यातव्य है कि, यह प्राण स्वयं संविद्रूप ही है । इसमें ही परभैरवात्म यह स्फार परिणत होता है । इसी आधार पर आचार्य क्षेमराज ने प्राण की भूमिका में अहोरात्र के क्रम से सबकी व्याप्ति का जो प्रारूप प्रदर्शित किया है, वह कोई ऐसी बात नहीं है, जो शास्त्रीय सिद्धान्त का अतिक्रमण माना जाय ।

इस प्रकार सारा यह इदमात्मक प्रपञ्च-प्रसर परमेश्वर के अद्वय अस्तित्व में ही पर्यवसित मानना चाहिये । वस्तुतः ज्ञान से ज्ञानियों की जीवन्मुक्ति होती है । साधक विविध भुवनेश्वरों में व्याप्त उनके पदों के अनुसार महा व्याप्ति का अनुसन्धान करते हैं और उन उन सिद्धियों के अधिकारी बनते हैं । यह सारा ज्ञान विज्ञान प्राणापान प्रक्रिया में करामलकवत् अनायास उपलब्ध है ॥४४-४६॥

तदुक्तमेवार्थमनुबध्नाति–

ग्रहादीन्समधिष्ठाय सर्वेषूदयकारकाः ।

सर्वे एवैते लोकपालाद्या भैरवान्ताः 'सर्वेषु' दिनरात्रिप्रहरेषु उदयं कुर्वन्ति । कथम् ? ग्रहादीनिति तत्तदर्धप्रहरेषु पर्यायेण प्राप्तवारान् सूर्यादिग्रहान् आदि-शब्दादनन्तादिनागांश्च सम्यगभेदेनाधिष्ठाय ।

किञ्च–

राशिभिः सह नक्षत्रैस्त उद्यन्ति अहर्निशम् ।।४७।।

हृदयात्प्रभृति द्वादशान्तं यावत्प्रत्यङ्गुलषट्कं राशिः–इति स्थित्या मकरादयो मिथुनान्ताः षड्राशयः, तदधिष्ठितानि च नक्षत्राणि तदनुसारेणैव प्रत्यंशमपि तत्र उद्यन्ति, तथैव च द्वादशान्ताद्धृदयं यावत्कर्कटाद्या धन्व्यन्ताः ।।४७।।

प्राणापानवाह रूप इस विज्ञान की गम्भीरता का थाह लगाना बड़ा कठिन काम है । इसके लिये अभेद अद्वय व्याप्ति की अनुभूति आवश्यक है । यह ज्ञातव्य है कि, ये सारे के सारे प्रपञ्च–प्रसर के देव रूप दिव्य प्रतिनिधि, जिनमें लोकपालों से लेकर भैरवाष्टकों तक के दिव्य देव परिगणित हैं, सभी दिवस निशा पार्यन्तिक प्रहरों में ग्रहों के साथ अभेद पूर्वक अधिष्ठित होकर ही समुदित और अस्त होते रहते हैं । इसमें प्रहरों और प्रहरार्धों में वारानुसार प्राप्त सभी सूर्यादि ग्रह पहले से ही अधिष्ठित रहते हैं । यह सारा विज्ञान अनुभूति का विषय है ! यद्यपि इसमें गणित का आश्रय लेकर विद्यार्थियों के लिये समझाया गया है पर श्वास के साथ इस प्रपञ्च का ध्यान नितान्त अव्यावहारिक है । इससे अद्वय अभेदभाव भग्न हो सकता है । साधना में मात्र भावदार्ढ्य ही पर्याप्त है ।

इसमें राशियों और नक्षत्रों को समायोजित कर इनके उदय की बात को भी खोल रहे हैं–

हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त ऊर्ध्व प्राणचार होता है । इस यात्रा में प्रति छः अङ्गुल पर एक राशिका उदय होता है । इस तरह मकर से चलकर साधक मिथुन तक पहुँचता है । इनके साथ इनमें अधिष्ठित नक्षत्र भी रहते हैं । जो इनके साथ अंश अंश पर उदित होते रहते हैं । जब हम द्वादशान्त से हृदय देश की प्रति-लोम यात्रा करते हैं, उस समय कर्क राशि से हृदयान्त धनु राशि में प्रवेश कर जाते हैं ।।४७।।

अत्रैवाभिजिदुदयमाह–

मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत् ।

तालुनीत्यर्थः । अभिजयति सर्वान् विघ्नात् इति 'अभिजित्' नक्षत्र-विशेषः ।

अतश्च–

अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह ।।४८।।

'इह' इति पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु उक्तं यद् भोगमोक्षाख्यं फलं साधकाना-मिष्टम्, तत्तु मध्याह्ने आर्धरात्रिकेऽभिजिन्नक्षत्रे भवत्येव ॥४८॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति–

अहोरात्रविभागोऽयमेवं ते कथितो मया ।
अधुना पक्षमासांश्च वर्षाणि कथयामि ते ।।४९।।

तत्र निर्णीताभ्यन्तराहोरात्रं बाह्ये काले नियोजयति–

आध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते ।

इसमें अभिजित् नक्षत्र के उदय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं–

मध्याह्न और अर्धरात्र में अभिजित् नक्षत्र उदित होता है । यह उदय तालु स्थान पर होता है । यह नक्षत्र अत्यन्त विशिष्ट नक्षत्र है । यह समस्त विघ्नों पर विजय प्राप्त करता है । इसीलिये इसे अभिजित् कहते हैं ।

पारमेश्वर शास्त्रों में यह उल्लिखित है कि, भोग और मोक्ष उभय प्रकारक इष्टफल साधकों को उदित होते ही अर्थात् मध्याह्न और अर्धरात्र में इस नक्षत्र के उगते ही अभिजित् के आभिजित्य में सभी अभीप्सित फलों की प्राप्ति अवश्य होती है ॥४८॥

यह प्राणाचार का अहोरात्र विभाग मेरे द्वारा यहाँ कहा गया देवि ! तुम्हारे ही अनुरोध का सुपरिणाम है । अब मैं पक्ष, मास और वर्षोदय काल की बात तुम्हें बताने जा रहा हूँ । इसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥४९॥

उक्त निर्णीत आभ्यन्तर अहोरात्र को बाह्यकाल से नियोजित करने के लिये इस श्लोक को अवतरित कर रहे हैं । इसके अनुसार आध्यात्मिक अहोरात्र से बाह्य काष्ठा का विधान किया जाता है । इस आभ्यन्तर अहोरात्र में काष्ठा एक घटिका नहीं मानी जाती अपितु आध्यात्मिक अहोरात्र के १५ निमेष का विशेष काल खण्ड होता है ।

अत्र काष्ठा न घटिका; अपि तु दशपञ्चनिमेषात्मा कालावयवविशेष इति दर्शितमेव । किञ्च–

मासेनाध्यात्मिकेनैव बाह्ये चैव कला भवेत् ।।५०।।

तत्र त्रिंशदहोरात्रा मासस्तु वरवर्णिनि ।

आध्यात्मिको मासस्ते प्राणचारात्मानस्त्रिंशदहोरात्रा बाह्यास्त्रिंशत्काष्ठाः, तेन ईदृशेनान्तरेण मासेन बाह्यकलाख्य एव कालो भवति । वक्ष्यति चैकादशे–

'त्रिंशत्काष्ठाः कला ज्ञेया..........' । इति । (११/२०१)

एवशब्दः कलाशब्दानन्तरं योज्यः । वरं वर्णयति सर्वोत्कृष्टं परं तत्त्वं परामृशतीति वरवर्णिनी ।

किञ्चाध्यात्मिकैः–

मासैर्द्वादशभिश्चैव बाह्योऽथ घटिका भवेत् ।।५१।।

तदेव स्फुटयति–

शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिका ।

वर्षमेतत्समाख्यातं बाह्ये वै घटिका च सा ।।५२।।

सषष्टित्रिशतप्राणापानचारा बाह्या घटिका । यतोऽसौ षष्टिश्चषकाणि, चषकं च षट् प्राणापानचाराः ।।५२।।

आध्यात्मिक मास की बाह्य की एक कला होती है । कला परिभाषिक समय वाचक शब्द है ।।५०।।

यह तो सभी जानते हैं कि, तीस अहोरात्र का एक बाह्य काल होता है । आध्यात्मिक प्राणचार के एक निर्गम और प्रवेश में एक मास का समय लग जाता है । बाह्य की ये ३० काष्ठायें हैं । आभ्यन्तर और बाह्य काल के इस अन्तर को एकादश पटल के २०१ पद्य में भी कहा गया है कि, ३० काष्ठायें ही कलात्मक मानी जाती हैं । वरवर्णिनी शक्ति की प्रतीक माँ का सम्बोधन है । वरवर्णिनी वही होती है, जो सर्वोत्कृष्ट कारण तत्त्व का पूर्ण परामर्श करती है । इसके साथ यह भी निर्णीत तथ्य है कि, बारह मासों की बाह्य की एक घड़ी होती है ।।५१।।

३६० प्राणापानवाह के समय के बराबर एक बाह्य घड़ी मानी जाती है । यह एक वर्ष का समय होता है । ६० चषक की एक घड़ी और छः प्राणापान चार का एक चषक होता है ।।५२।।

एवमुक्तरूपाध्यात्मिकवर्षकलिताः-

घटिकाः षष्टिस्त्वहोरात्रे बाह्ये तु प्रवहन्ति वै ।
ता एवान्तरचारेण षष्टिः संवत्सराः स्मृताः ।।५३।।

बाह्यघटिका आन्तरं वर्षमिति विभक्तमेव । अतस्ताः षष्टिस्तावन्त्येवान्तराणि वर्षाणि सूक्ष्मकालगत्या । अत एवैकत्र प्राणचारे षष्ट्यब्दोदय इति परा कालस्थिति-रग्रे स्फुटीभविष्यति ।।५३।।

अथ षष्टिघटिकात्मसु वर्षेषु-

प्राणसंख्यां पुनस्तेषु कथयाम्यधुना तव ।
षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ।।५४।।
अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे ।

घटिकायां सषष्टिस्त्रिशती प्राणचाराणाम्, इति गणनया षष्टिघटिकासंख्ये बाह्येऽहोरात्रेऽध्यात्मे आत्मनि तदाश्रयेण प्राणचाराणामेषैव संख्या भवति ।

एवमीदृशी-

प्राणसंख्या समाख्याता ज्ञातव्या साधकेन तु ।।५५।।

एवं प्रोक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिसतत्त्वेन-

बाह्य घटिका का एक आन्तर वर्ष होता है । इसलिये ६० घटिकाओं के एक अहोरात्र के अनुसार बाहर की घटिकाओं का सामञ्जस्य बिठलाना ही उचित है । एक प्राणचार में योगियों का साठ वर्षों तक का अनुभव हो जाता है ।।५३।।

षष्टिघटिकात्मक वर्षों में प्राण संख्या २१६०० बार की होती है । एक घड़ी में ३६० प्राणचार की बात पहले ही कही गयी है । ६० घड़ियों की बाह्य गणना के अनुसार आध्यात्मिक गणना के सामञ्जस्य में एक्कीस हजार छःसौ की ही संख्या आती है । वही प्राणचार की वास्तविक संख्या है । साधक को इसे जानना ही चाहिये ।।५४-५५।।

प्राणहंस के लगातार घटित चार में निरन्तर लीन अर्थात् साक्षी द्रष्टा बनकर विश्रान्त साधक प्राणजित् हो जाता है और परतत्त्व वेत्ता बन जाता है । यह उसका जप अजपाजप बन जाता है । इससे भुक्ति और मुक्ति रूप उभय फल की प्राप्ति हो जाती है ।

प्राणहंसे सदा लीनः साधकः

लीनो निभालनया विश्रान्तः । तथा प्राणभूमिन्यग्भावेन शाक्तपदसमावेशादेवासौ–

परतत्त्ववित् ।

भवति । तदा च–

तस्यायं जप उद्दिष्टः सिद्धिमुक्तिफलप्रदः ।।५६।।

इह प्राणो निर्णीतविश्वमन्त्रवीर्यभूतहंसाश्रयत्वाद्धंस इति । तत्र यो लीनः, स प्राणसंख्ययैव सदैतावज्जपयुक्तो भवति । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे–

'षट् शतानि दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः' ॥ (१५६) इति ॥५६॥

'सिद्धिमुक्तिदः' इति यदुक्तम् तद्विभजति–

अधःप्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः ।
मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते ।।५७।।

एतच्च–

'यदा करोति सृष्टिं च...........' ।

इत्यादौ वितत्य निर्णीतम् ॥५७॥

प्राण के हंस विशेषण के सम्बन्ध में पहले भी विचार किया जा चुका है । यह मन्त्रवीर्य की विश्रान्ति का पद माना जाता है । प्राण हंस उसी में विश्राम करता है । साधक उसी में लीन रहता है । प्राण संख्या के अनुसार उसका जप निरन्तर चलता ही रहता है । विज्ञान भैरव १५६ की यह उक्ति है कि,

'२१६०० बार देवी का जप साधक के लिये तो सुलभ है पर जड और बन्धयुक्त पशु पुरुषों के लिये यह दुर्लभ है' । यह विधि महत्त्वपूर्ण विधि है । इसमें लीन होना चाहिये ॥५६॥

प्राण के निर्गम और प्रवेश को दूसरे शब्दों के माध्यम से परिभाषित कर रहे हैं । अधः प्रवहण का तात्पर्य द्वादशान्त से हृदय की ओर आना है । यह प्राणचार का प्रवेश है । हृदय पद्म में विश्रान्ति सिद्धिप्रदा होती है । इसी तरह ऊर्ध्ववाह में हृदय से द्वादशान्त की यात्रा में जब द्वादशान्त में विश्रान्ति होती है, तो मुक्ति हस्तामलकवत् अनायास उपलब्ध हो जाती है ॥५७॥

तदेवमुक्तव्याप्तिज्ञानपूर्वं प्राणहंसे लीनतया परतत्त्वविदो योगिनः सर्व एव कालस्तत्प्ररोहप्रकर्षात्तादृगनुभवमय एव भवतीत्याह–

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।
यथा प्रवर्तते प्राणस्त्वयत्नादेव सर्वदा ।।५८।।

तथेति मध्येऽध्याहार्यम् । तेन यद्यप्यन्तःकृतयो बहिष्कृतयः स्वधिये प्रसृताः, तथापि परतत्त्वविश्रान्तिपरत्वेन प्राणव्याप्तिज्ञस्य तथा तेनैव परविश्रान्ति-प्रदेन प्रकारेण 'प्राणो' हंसात्मा मध्यमः 'अयत्नादेव' स्वरसत एव सर्वदा 'प्रवर्तते' वहति ।।५८।।

एतदेवोपोद्बलयति–

नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनामुरसि स्थितः ।।५९।।

साधक को उक्त इस व्याप्ति का ज्ञान होना ही चाहिये । इसे प्राणहंस की गतिशीलता और उसकी विश्रान्ति का रहस्य ज्ञात होना चाहिये । ऐसे योगी परतत्त्ववेत्ता होते हैं । इनके लिये सारा कालखण्ड अनुभूत होता है । इसी आधार पर कह रहे हैं कि,

मन की गति विषयोन्मुख न रहकर अन्यत्र निक्षिप्त हो जाती है और आँख विश्वात्मक प्रमेय दृष्टि रहित होकर अन्यत्र लगा दी जाती है । प्राण का प्रवर्त्तन अयत्नवाह रूप से जैसे अनायास होता है, उसी तरह सारी अन्तः और बाह्य कृतियाँ अपनी बुद्धि की अन्तः वृत्ति में ही विश्रान्त हो जाती हैं । परतत्त्व की विश्रान्ति में परायण प्राणव्याप्ति के विज्ञ पुरुषों के लिये परविश्रान्ति के समान ही प्राणहंस अयत्नादेव अर्थात् स्वारस्य पूर्वक सबमें स्वतः प्रवर्त्तित होता है ।।५८।।

इस हंस का कोई उच्चारयिता नहीं होता । इसका कोई प्रतिहन्ता भी नहीं होता । यह स्वयं परप्रमाता स्वरूप सर्वपरामर्शों की महाभित्ति के रूप में अनाहत भाव से स्फुरित होता रहता है । 'हंस' रूप निष्कल यह दिव्य तत्त्व परमेश्वर का प्रतिनिधि मध्यम प्राण ही है । समस्त वाच्य और वाचक क्रमवत्ता को अतिक्रान्त कर यह स्वयम् उच्चरित होता है । परमाद्वयतादात्म्य के सार रहस्य की मन्त्रात्मक वीर्यवत्ता से अन्वित होकर स्वयम् स्फुरित होता है । इसी तात्पर्य से यह कहा गया है कि, इसका उच्चारयिता कोई नहीं है । यह सर्व-

'हंसः' प्राग्व्यावर्णितसतत्त्वपरनिष्कलभट्टारकः, तदधिष्ठितत्वान्मध्यमः प्राणोऽपि निर्णीतव्याप्तिसारः, 'स्वयमुच्चरते' अशेषं वाच्यवाचकक्रममुल्लङ्घ्य परमाभेदसार-महामन्त्रवीर्यात्मना स्फुरति । यतोऽस्य न कश्चिदुच्चारयिता प्रतिहन्ता वा अस्ति, अस्यैव सर्वकर्तृत्वेन परमातृरूपत्वात् । अत एव चायम् 'अनाहतः' इत्युद्घोष्यते इतरवर्णवत् स्थानकरणाभिघातानभिव्यक्तत्वादनस्तमितत्वाच्च । स चायं 'प्राणि-नामुरसि' हृदये जीवितस्यापि जीवितभूतः स्थितः । केचिदेव त्ववधानधना एतत्सत्तामाविशन्ति । तदित्थं परतत्त्वावहितसाधकजपनिष्पत्त्यभिप्रायेण–

मासवत्सरंसख्या तु एषा ते कथिता मया ।

आध्यात्मिकीति शेषः । त्रिंशत्प्राणचारा आध्यात्मिको मासः, षष्ट्यधिका तु त्रिशती वत्सरः, इति हि निर्णीतमेव ।

इदानीमत्रैव प्राणचारे–

चन्द्रसूर्योपरागं तु कथयामि ततः परम् ।।६०।।

साधकस्य भुक्तिमुक्तिफलप्रदमिति स्थितमेव ।।६०।।

कर्तृत्त्व सम्पन्न है । अतः इसका कोई बाधक तत्त्व भी नहीं है, न ही कोई प्रतियोगी है । प्राणियों के हृदय देश में रहते हुए हंस रूप यह स्वयम् उच्चरित होता है । यह जीवन्त प्राणियों का भी जीवन तत्त्व है । बहुत कम ऐसे अवधान-धीर पुरुष हैं, जो इसकी सत्ता में समावेश प्राप्त कर पाते हैं ।।५९।।

इस दृष्टि से परतत्त्व में नित्यावधान धारी साधकों द्वारा जप की निष्पत्ति के अभिप्राय से ही इसमें मास और वत्सर आदि का आकलन किया जाता है और आगे भी अनवरत इसे करना चाहिये । इस आध्यात्मिकी प्राणसंकलना का अनुभव करना चाहिये । यही मैंने देवि ! तुम्हें सुनाया है । तीस प्राणचार अर्थात् प्रतिपदा से अमावस्या तक तिथिक्रम से ३० प्राणचार का एक आध्यात्मिक मास होता है और ३६० श्वास का एक वत्सर होता है, यह मैंने घोषणा की है । इसका क्रम इस प्रकार समझना चाहिये–

प्रवेश क्रम में चितिकेन्द्र से १ से पूर्णमासी तक की १५ तिथियों का एक श्वास और निर्गम क्रम में प्रतिपदा से अमावस्या तक १५ तिथियों का एक प्रश्वास इस तरह श्वास प्रश्वास की एक श्वास में भी एक मास योगी का होता है । और ऐसे ही तीस श्वास का भी एक मास होता है । यह सब स्वयं करने से अनुभूत होता है । इसी क्रम में चन्द्र और सूर्य अर्थात् अपान और प्राण पर राहु केतु के कारण ग्रहण भी लगते हैं । उनका भी कथन भगवान् स्वयं कर रहे हैं । इससे भी साधक की भुक्ति मुक्ति दोनों सिद्ध होती है ।।६०।।

तत्रादौ–

अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तः प्राणेऽस्मिन्सुरसुन्दरि ।
स एव पक्षद्वितयं मासं च कथयामि ते ।।६१।।

अविभागेनेति शेषः । त्रिंशत्प्राणचाराः ।।६१।।

तत्र कृष्णपक्षं तावत्पक्षसन्धिप्रदर्शनपूर्वं निरूपयति–

तुट्यर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः ।
मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिताः ।।६२।।

अध ऊर्ध्वं च यत्तुट्यर्धं पूर्वमहोरात्रोदये पूर्वापरसन्ध्यात्वेनोक्तम्, स एवेह विश्रमः पक्षसन्धित्वेन कीर्तितः । यास्तु मध्ये पञ्चदश तुटयः, ता एव प्रतिपदाद्यास्तिथयः ।।६२।।

अत्र च पक्षसन्धितुट्यर्धमुत्सृज्य, प्रतितुट्यहोरात्रविभागमाह–

प्रथमोदये तु हृत्पद्मात्तुट्यर्धं तु दिनं भवेत् ।
द्वितीये चैव तुट्यर्धं यदा चरति शर्वरी ।।६३।।

देवि ! प्राण में जिस अहोरात्र का प्रकल्पन शास्त्र करता है । यह दो पक्षों में पूरा होकर मास रूप से परिभाषित होता है । इसमें विभाग की स्थिति में भी अविभक्त स्थिति का आकलन करना चाहिये । इसी में ३० प्राणचार होते हैं ।।६१।।

यहाँ कृष्णपक्ष का निरूपण पक्षसन्धि के साथ ही करने जा रहे हैं । अधः और ऊर्ध्व जो तुट्यर्ध होते हैं, वे विश्राम स्थल माने जाते हैं । मध्य में ही १५ तिथियाँ उदित होती हैं । इन तिथियों के क्रम पर विशेष ध्यान देना चाहिये ।।६३।।

हृत्पद्म से प्राण हंस के उदित होने का जो तुट्यर्ध है, वह दिन होता है । द्वितीय तुट्यर्ध में शर्वरी होती है । यहाँ संक्षिप्त सूत्र रूप में एक पूरी प्राण यात्रा की बात कही गयी है । आचार्य क्षेमराज इसका विश्लेषण कर रहे हैं–

अध्येता अपने श्वास का हिसाब लगाये । श्वास को भीतर ले आवे । वहाँ श्वास के अङ्कुर की आदि आधी तुटि को छोड़कर ऊपर १½ अङ्गुल का दिन और वहीं पर विश्रान्ति के कारण रात पूरी हो गयी । अर्थात् २¼ अङ्गुल में एक दिन रात रूपी अहोरात्र का प्रकल्पन कर श्वास को दूसरी तिथि की ओर ऊपर ले चले । इसमें भी उक्तवत् दिनरात के क्रम से १५ तिथियों में १५ अहोरात्र सम्पन्न हो जाते हैं ।

हृत्पद्मादित्युपलक्षणम् । तेनैकैकस्यास्तुटेः सार्धपादाङ्गुलपरिमाणमाद्यमर्धं दिनं प्रकाशरूपम्, परं तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिः । यत इयं भगवती संवित्प्रकाशानन्दमयी, ततो यत्र यावन्तावनया वेद्यवेदकविश्रान्तिरूपौ प्रकाशानन्दावाभास्येते, तत्र तावद्रूप एव दिननिशे । तथा च मशकादौ सदाशिवादौ चात्यल्पातिविततकालत्वं तयोर्युक्तमेव । एवं च प्रतितुट्यर्धं वक्ष्यमाणक्रमेण तदंशांशेष्वपि वा तावाभासमानौ दिननिशाभेदं समुचितं प्रमातारं प्रति भासयत एव । कदाचिच्च प्रकाशस्याधिक्यम्, कदाचिच्च विश्रान्तेः, कदाचित्तयोः साम्यमिति कृत्वा दिननिशयोर्वैषम्यं च भवत्यन्तर्बहिश्च । 'यदा चरति' इति सूत्रांशादनन्तरं तदेत्यध्याहार्यम् ॥६३॥

अत्र च दिनरात्रिभेदे–

राशयो ग्रहनक्षत्राण्युदयन्ति यथाक्रमम् ।

पारमेश्वर्या हि संविदा या यादृशी दिनादिव्यवस्था क्रियते, तां सर्वे ग्रहादयोऽनुवर्तन्ते । तदित्थम्–

अस्मिन्नेवमहोरात्रे पूर्ववच्च वरानने ॥६४॥

इसमें अध्यात्म का सम्पुट देते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, भगवती चिति संविद्रूप होती है । वह प्रकाश और आनन्दमयी भी है । इसीलिये श्वास के २¼ २¼ के कुल ३६ अङ्गुल के प्राणचार के निर्गम में १५ दिन की और १५ रात्रियों की वेद्य भाव और वेदक भाव की विश्रान्ति में १५ तिथियों का १५ अहोरात्र पूरा होता है । इसमें प्रकाश और आनन्द की विश्रान्ति का प्रकल्पन स्वयं कर लेना चाहिये । यह अहोरात्र नहीं वरन् एक निर्गम में प्रकाश और आनन्द की विश्रान्ति का रहस्य है ।

इस तरह तुट्यर्ध में अथवा इस श्वास के किसी काल खण्ड में यह प्रकाशानन्द विश्रान्ति अनुभूत हो सकती है । प्राणीय प्रकाशानन्द का उल्लास एक श्वासप्रश्वास के आन्तर काल में दो पक्षों का एक मास हो जाता है । इस क्रम में कभी प्रकाश का आधिक्य और कभी आनन्द विश्रान्ति का आधिक्य भी होता रहता है । कभी प्रकाशानन्द का साम्य भी सम्भव है । इस तरह दिवस निशा का वैषभ्य भी होता रहता है ॥६३॥

दिनरात के इस प्राणीय आरोह रूप काल में ही सभी राशियाँ ग्रह और सभी नक्षत्र भी अपने क्रम से उदित और अस्त होते रहते हैं । वह सारी व्यवस्था चूँकि पारमेश्वरी संविद् की है । अतः इसी व्यवस्था के अनुसार सभी ग्रह आदि इसी क्रम में अनुवर्त्तित होते रहते हैं । प्रभु शक्ति ही इसमें कारण है ।

तुटिभिः पञ्चदशभिः पक्षः स तु विधीयते ।

'अस्मिन्' इत्यान्तरे । 'एवम्' तुट्यर्धार्धकलनया । 'पूर्ववत्' इति सुसूक्ष्मया दृष्ट्या । 'पक्षः' इति कृष्ण इत्यर्थात् । अथात्रैव पक्षे आमावस्यप्रातिपदतिथ्यंश-मेलनप्रकटनेन सूर्यग्रहं निर्णिनीषुस्तिथिच्छेदवृद्धी दर्शयति–

तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत् ।।६५।।

ऋणं चैव भवेत्कासो निःश्वासो धन उच्यते ।

'ऋणं' प्राणवाहस्य किञ्चिदल्पकालता कासवशाद्भवति । तथा सति झगिति धावनादामावस्योंऽशः प्रतिपत्स्थानं प्रसरति । एतच्च दर्शयिष्यमाणसूर्यग्रहणोप-योगि । निःश्वासवशात्तु किञ्चिच्चिरकालता अपानचन्द्रस्य धनम्, तथा सति पूर्ण-मास्युदयश्चन्द्रग्रहोपयोगी भवति । प्रकृतं तु–

कृष्णपक्षोर्ध्वचारेण संहारः संक्षयो भवेत् ।।६६।।

इसी अहोरात्र के १५ तुटियों में एक पक्ष पूरा हो जाता है । इसमें तुटि, तुट्यर्ध और अर्धार्ध की कलना भी की जाती है । यह कृष्ण पक्ष होता है ॥६४॥

यह ध्यान रखना चाहिये कि, निर्गम में अन्त में अमावस्या होती है क्योंकि प्राण सूर्य और चन्द्र (अपान) दोनों इस तिथि में अस्त होते हैं । प्रवेश के अन्त में सोमतत्त्व की प्रधानता के कारण अन्त में पूर्णिमा होती है । इस तरह आमावस्य और प्रातिपद तिथ्यंशों में भी कभी घट बढ़ होती है । ऐसी अवस्था में तिथिच्छेद हो जाता है । तिथिच्छेद को 'ऋण' कहते हैं और तिथि वृद्धि को धन कहते हैं । ऋण अवस्था में खाँसी आ जाती है और धन अवस्था में निःश्वास की पूर्त्ति हो जाती है ।

प्राणवाह की अल्पकालिकता का नाम ही ऋण है । यह खाँसी के कारण होता है । उस अवस्था में श्वास में तीव्र गति के कारण क्षिप्रता आ जाती है और आमावस्य अंश भी समाप्त हो जाता है और प्रतिपदा का प्रकाश उल्लसित हो उठता है । यह सूर्य रूप प्राण के ऊपर लगने वाला सूर्य ग्रहण होता है ।

अपान चन्द्र की वृद्धि में मन्दता या धनता आ जाती है । यह उसकी 'धन' अवस्था है । इसमें पूर्णमासी में चन्द्रग्रहण हो जाता है ॥६५॥

कृष्ण पक्ष रूप ऊर्ध्वचार से प्रकृत प्राण का क्रमिक रूप से संहार हो जाता है । यह संहार अमावस्या में अस्त होने के कारण संक्षय कहलाता है । पहले ही यह प्रवेशित था । उस समय प्राणावस्था में था और मेय चन्द्र बनकर पूर्णिमा तक पहुँचा था । वहाँ से यह प्रकृत प्राणमय चन्द्र की एकरसता के आधार पर प्रति तुटि एक एक कला के संक्षय के कारण अस्त हो जाता है ।

कृष्णपक्षरूपेणोर्ध्वचारेण प्रकृतस्य प्राणस्य यः संहारः, स एव प्रवेशित-पूर्वप्राणावस्थितमेयचन्द्रस्य प्रतितुट्येकैककलाक्रमेण अमावस्यान्तं पञ्चदशकलानां संक्षय इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीकामिकायाम्–

'अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ।
पिबन्ति च सुराः सर्वे: दश पञ्च पराः कलाः ।।
अमाशेषगुहान्तस्थामावस्या विश्वतर्पिणी' ।। इति ।

द्विधेति कलापञ्चदशकभित्तिभूतातिस्वच्छरूपतया दृश्यमानासितपक्षपञ्च-दशकलात्मना चेत्यर्थः ।।६६।।

यत ईदृक् कृष्णपक्षः, ततः–

क्रूरकर्माणि वै तत्र कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात् ।
शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते ।।६७।।

चकारौ तु शब्दैवशब्दयोरर्थे । इह 'यदन्तस्तद्बहिः' इति स्थित्या यद्यदान्तरे दिनरात्रितत्संध्यापक्षमासादिके फलमुक्तम्, तत्तद्बाह्येऽपि तत्र तथैवेति मन्तव्यम् ।।६७।।

कामिका नामक आगमिक ग्रन्थ में लिखा है कि,

'अमृत चन्द्र रूप से पहले पहले द्विधा और पुनः षोडशधा रूप में परि-वर्त्तित होता है । सारे देव पूरे अमृत का पान करते हैं । देव रूप में हमारी इन्द्रियाँ ही उस अमृत का पान करती हैं । १५ कलाओं के अन्त में संहार हो जाता है । अमाशेष की दृष्टि से । सम्पूर्ण गुहा देश के आन्तर भाव में ही अवस्थित अमावस्या समस्त विश्व का तर्पण करती है' ।

पहले तो यह १५ कलाओं की भित्ति के रूप में अत्यन्त निर्मल रहती है और दूसरे प्रकार में यह चन्द्रकलाओं में दृश्यमान होती है । यही इसका द्विधात्व है ।।६६।।

निर्गम कृष्ण पक्ष होता है । इसमें क्रूर कर्म किये जाते हैं, जिनकी सिद्धि अनायास हो जाती है । कृष्ण पक्ष में शुभकर्म कभी भी सिद्ध नहीं होते । पहला 'च'कार तो अर्थ में और दूसरा 'च' एव के अवधारण अर्थों में प्रयुक्त हैं । प्राण और अपान एक ही प्राण की दो स्थितियाँ हैं । इसी को यद् अन्तः अर्थात् जो आन्तर प्राण है, वही बहिर्भाव में उल्लसित होता है । इस अन्तर को समझ कर ही सिद्धि असिद्धि की सिद्धान्तवादिता का अनुसरण करना चाहिये ।।६७।।

अथान्तरीममावस्यां दर्शयति–

शक्तिं वै विशति प्राणे या तुटिस्तु विधीयते ।

अमावस्या तु सा ज्ञेया कृष्णपक्षे वरानने ।।६८।।

'शक्तिः' ब्रह्मरन्ध्रस्थानं 'तुटिः' इति प्रक्षीणचन्द्रा पञ्चदशी । अत एवामाख्यायां षोडश्यां तुटौ वसनात् तद्भित्त्यवलम्बनादमावस्या सा ज्ञेया ॥६८॥

अथ पूर्वमासूत्रितं पक्षसन्धि स्फुटयति–

शक्तेर्मध्योर्ध्वभागे तु तुट्यर्धं यत्प्रकीर्तिम् ।

पक्षसन्धिस्त्वसौ ज्ञेयः

ब्रह्मरन्ध्रादुत्थितायाः शक्तेर्मध्यं त्वक्स्थानं त्वक्शेषस्तु केशस्थानमूर्ध्वमेकमेव तुट्यर्धं यत्, स पक्षयोः कृष्णशुक्लयोः सन्धिः । यदेव हि प्राणस्यान्त्यं

आन्तरी अमावस्या–

जिस समय प्राण शक्ति सत्ता में (चिति केन्द्र) में प्रवेश करता है और उस समय जो तुटि होती है, वहीं अमावस्या होती है । यह तिथि कृष्ण पक्ष की अन्तिम तिथि मानी जाती है । यह ध्यान देने की बात है कि, शक्ति ब्रह्मरन्ध्र के स्थान को ही कहते हैं । जहाँ तक तुटि का प्रश्न है, यह प्रक्षीणचन्द्रा अर्थात् जिसमें केवल चन्द्र ही नहीं वरन् जिसमें सूर्य भी अस्त हो जाता है, वही कृष्णपक्ष की पन्द्रहवीं तिथि मानी जाती है । अमा षोडशी तुटि कला में घटित होती है । उस तुटि में ही निवसन के कारण यह अमा में वस्या होने के कारण अमावस्या कहलाती है ॥६८॥

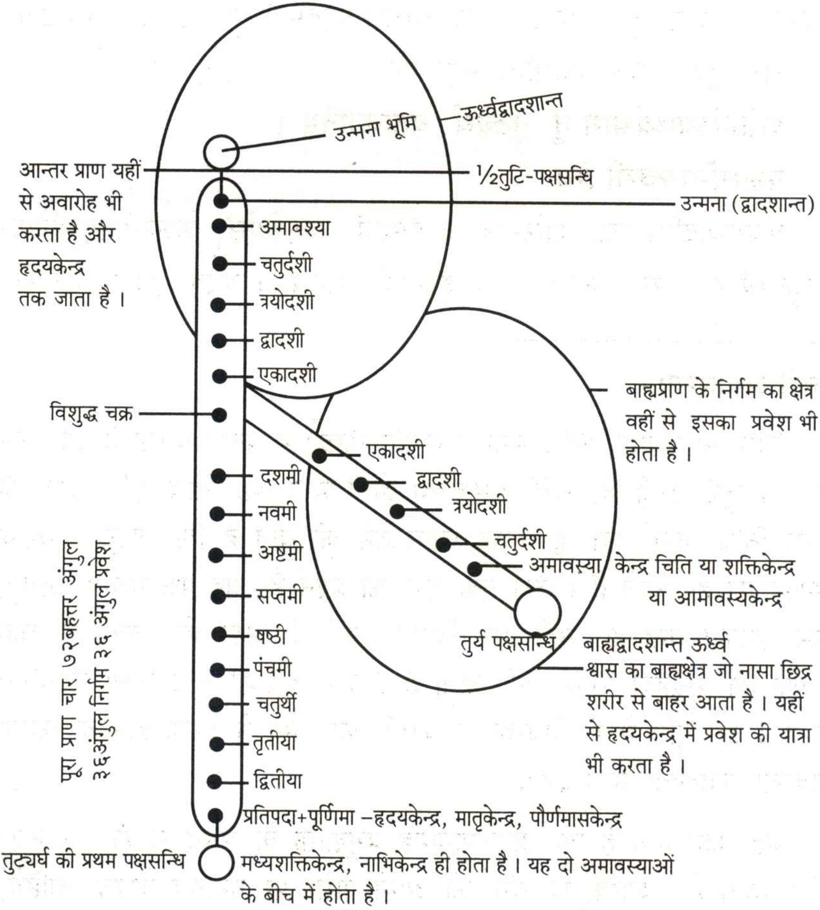
यह कहा गया है कि, प्राणापानवाह प्रभुशक्ति के स्पन्द से ही (७/२२) स्फुरित रहता है । शास्त्र की उक्ति को अपने शरीर पर घटाकर देखना चाहिये, तभी उसकी वास्तविकता का पता चलता है ।

प्रश्न है कि, शक्ति का मध्यभाग और ऊर्ध्वभाग का अर्थ क्या है । इसके लिये निर्गम और प्रवेश दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है । प्रकरण पक्ष सन्धि का है । आचार्य क्षेमराज ने यहाँ त्वक् स्थान आदि की बात लिखी है । मैं अपनी साधना के अनुसार इसे स्पष्ट करना चाहता हूँ । अध्येता वर्ग अपनी श्वास की गति पर मेरे कथन को चरितार्थ कर देखें । श्वास की गति द्विधा होती है । एक आन्तरी और दूसरी बाहरी अर्थात् जो बाहर भी जाती है । जैसे इस चित्र में देखने से स्पष्ट होता है ।

तुट्यर्धम्, तदेवापानस्याद्यं भवतीत्येतदुभयोस्तुट्यर्धात्मकं देशत एकमेव तत्तुट्यर्धद्वयवाहकालं सन्धिपदम् ।

अथात्र सूर्यग्रहणं दर्शयति–

अमावस्यार्धप्रतिपदा ।।६९।।



ध्यान देने की बातें–

१–जब बाहर की ओर श्वास लेते हैं, तो श्वास विशुद्ध चक्र के ऊपर से और आज्ञा के नीचे से नासिका छिद्र से बाहर निकलकर आमावस्य केन्द्र में आता है और यही से पूर्णिमा में पुन: प्रवेश कर यहीं से निर्गम भी करता है । इसलिये दोनों अमावस्याओं की शक्ति का मध्यभाग पौर्णमास केन्द्र ही माना जायेगा ।

२–जब कण्ठ के बाहर श्वास रोककर प्राण की ऊर्जा को ऊपर भेजते हैं तो इसे आन्तर प्राणीय गति कहते हैं । इसकी अमावस्या उन्मना के द्वादशान्त में होती है । यह ऊर्ध्व द्वादशान्त कहलाता है । नासा छिद्र से बाहर की

अमावस्या में भी द्वादशान्त होता है। और यह भी बाह्य ऊर्ध्व द्वादशान्त होता है।

३–मेरा यह कथन श्रीतन्त्रालोक १०/१८६-१८७ से भी प्रमाणित है। इसे भगवान् शम्भुनाथ ने गुरु परम्परा से प्राप्त कर भगवान् अभिनव को समझाया था।

श्वास का पैमाना–

४–	२¼ अंगुल की	=	१ तुटि
	१ तुटि	=	१ तिथि
	१६ तुटि	=	३६ अंगुल
	३६ अंगुल	=	१ श्वास आन्तर या बाह्य
	३६ अंगुल	=	१ निःश्वास आन्तर या बाह्य
	७२ अंगुल	=	१प्राणापानवाह
	१५ तुटि	=	१पक्ष
	१ तुट्यर्ध	=	१ सन्धान या पक्षसन्धि

५–यह ध्यान देने की बात है कि, जब प्राण हंस अमावस्या में विश्रान्त होकर पुनः अंकुरित होता है, तो वह अपान कहलाता है। तंत्र की भाषा में इसे अपान चन्द्र या सोम कहते हैं।

६–इस तरह ३६ के प्राणचार में १५ तुटियों के या १५ तिथियों के समय में एक तुटि अधिक हो जाती है। उसी एक तुटि का अर्धांश नीचे और एक तुट्यर्ध ऊपर आमावस्य केन्द्र में होता है। दो आमावस्यों का मध्य बिन्दु नाभिकेन्द्र या पौर्णमास केन्द्र ही होता है।

७–श्वास जहाँ विश्रान्त होता है, उसी बिन्दु से निवृत्त भी होता है। इस तरह निर्गम और प्रवेश के मध्य में दोनों आमाख्य के तुट्यर्ध पर पक्षसन्धि हो सकती है। इस तरह पक्षसन्धियाँ तीन स्थानों पर होती हैं। यह निश्चय होता है।

१–पहली पक्षसन्धि उन्मना में, २–दूसरी पक्षसन्धि बाह्य प्राणहंस के विश्रान्ति धाम रूप चितिकेन्द्र में और तीसरी पक्षसन्धि पौर्णमास केन्द्र से श्वास के अंकुरित होने के क्षण में भी होती है।

अपनी व्याख्या में आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि, प्राण जो अन्तिम तुट्यर्ध है, वही अपान का आदि तुट्यर्ध है। इस कथन से भी यह सिद्ध हो जाता है। प्राण पक्ष और अपान पक्ष का मध्य ही शक्ति का मध्य है। यह प्रक्रिया तीनों स्थानों पर समान रूप से होती है। आचार्य की यह परिभाषा आन्तर पक्षसन्धि के लिये ही चरितार्थ है ॥६९॥

तिथिच्छेदेन वै तत्र सूर्यस्य ग्रहणं भवेत् ।

प्रागुक्तात्कासात् तिथिच्छेदेन यदा अमावस्येति तत्संबद्धः पक्षसंध्यार्धकालः स्वस्मिन्सन्ध्यातुटिभागे प्रतिपत्कालेन सह भवति, तदा सूर्यग्रहणं भवति । यतः–

रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत् ।।७०।।
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने ।
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तम् ।।७१।।

प्राणापानवाह के क्रम में सूर्य ग्रहण का निर्देश कर रहे हैं–पहले इस विषय की चर्चा की जा चुकी है कि, श्वास के क्रम में ही यहीं छींक या खाँसी आ जाती है, तो उस समय तिथिच्छेद हो जाता है अर्थात् जिस तिथि में खाँसी आ जाती है, वह तिथि और उससे आगे वाली तिथि बीच में ही समाप्त हो जाती है, जैसे प्रकाश और विमर्श रूप प्राणपानवाह में कृष्णपक्ष में प्राण रूपी सूरज में अपान चन्द्र अपनी एक एक कला का अर्पण करते हुए पन्द्रहवीं तुटि में द्वादशान्त के समीप सारी कलाओं का अर्पण प्राणार्क में कर देता है । वहाँ एक तुट्यर्ध बचा रहता है । वही पक्ष की सन्धि कहलाती है । उसका पहला भाग अमावस्या का और दूसरा भाग शुक्लपक्ष की प्रतिपदा का होता है । कास आने पर अमावस्या का वह भाग जब प्रतिपदा में कास (खाँसी) के कारण प्रवेश कर जाता है, तो अमावस्या टूट जाती है और शुक्ल प्रतिपदा में समा जाती है । इसी को ग्रहण कहते हैं ।

यह क्रिया हमेशा नहीं होती । केवल कुम्भक के समय ही होती है । अतः खाँसी आ जाने पर ग्रहण होता है अर्थात् चन्द्रबिम्ब सूर्य में प्रवेश कर जाता है । उस समय चन्द्र की चान्द्रमयी अमृत कला को राहु पीने लगता है । पी लेने के बाद राहु का ग्रहण समाप्त हो जाता है । यह सारा प्रकरण आन्तर प्राणचार का होता है । राहु माया का प्रमाता है । वह केवल आच्छादन करता है । पूरी तरह पी नहीं सकता । सोम के विलापन में वह असमर्थ होता है ।।७०।।

चन्द्रमा सुधा का स्राव करता है और राहु उसी को पीकर अमर हो जाता है । राहु को इसीलिये अमृतार्थी कहते हैं । उस सोम सुधा का आस्वाद ले लेने के बाद राहु चन्द्रबिम्ब को पीकर परित्यक्त कर देता है । उसी समय ग्रहण समाप्त हो जाता है और लोग यह कहते हैं कि, चन्द्रग्रहण समाप्त हो गया । आन्तर और बाह्य प्राणचार में यह क्रिया समान रूप से घटित होती है । वास्तव में राहु चन्द्र का सहचारी होता है । कहा गया है कि,

पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते ।

तदेति प्रतिपदोऽमावस्याभागसंघट्टे 'रविबिम्बान्तरे' प्राणमध्ये 'चन्द्रबिम्बम्' अपानः प्रविशेत् । पूर्वोक्तनीत्या च चन्द्रसहचारी राहुः सूर्यसंस्पर्शविलीनं चान्द्रममृतं 'पीत्वा' कञ्चित्कालमास्वाद्य अपानरूपं चन्द्रबिम्बं स्वसम्बन्धाद् मुञ्चति । इदमत्र सतत्त्वम्–

प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्रविद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता ।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत्त्रयघट्टनज्ञः ॥

एवमन्तरिव बहिरपि अनयैव युक्त्या भवेत् ।

आदित्यग्रहणं चैव लोके तदुपदिश्यते ।।७२।।

ततो ज्योतिःशास्त्रोक्तप्रक्रियया–

राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा ।
दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत् ।।७३।।

महत्त्वमेव व्यनक्ति–

स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत् ।

तथा च–

तत्र स्नानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ।।७४।।

प्राणार्क मान में हठपूर्वक मेयचन्द्र के प्रवेश से अमृत स्राव स्वभावतः होने लगता है । उस अमृत रस को पीने के लिये उत्सुक माया प्रमाता राहु कभी सूर्य को और कभी चन्द्र को आवृत कर लेता है । ये दानों सूर्य और चन्द्र ग्रहण कहलाते हैं । ये साधकों के लिये सिद्धिप्रद होते हैं । त्रिघट्टन का विशेषज्ञ साधक होता है । वह जानता है कि, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण का संघट्टन प्राण में कब होता है और उसका अलग अलगाव (विमुक्ति) कब होता है ? यह आन्तर सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण का रहस्य है ॥७१-७२॥

जब राहु, आदित्य और सोम ये तीनों ग्रह एक साथ, एक सीध में समवाय रूप से दीख पड़ते हैं; उस समय को महाग्रहण कहते हैं । वह महाग्रहण होता है । यह कहने का अर्थ आन्तर प्राणपानवाह का पुण्यप्रद काल होता है ॥७३॥

इस महापुण्यतम ग्रहण में स्नान, दान, पूजा, होम और जपादि जितने कार्य सम्पन्न कर लिये जाते हैं, भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! सभी अनन्त (मोक्षरूप) फलप्रद होते हैं । यह समय भाग्यवश कभी कभी ही प्राप्त होता है ॥७४॥

यत्कृतं साधकैर्देवि तदनन्तफलं भवेत् ।

'अनन्तम्' अपरिच्छिन्नं मोक्षाख्यं फलं यस्य । यद्वक्ष्यति–

मोक्षश्चैव पुनर्भद्रे...............' । (७/८४) इत्यादि ।

एवं कृष्णपक्षं सूर्यग्रहणं च प्रदर्श्य, शुक्लपक्षं चन्द्रग्रहणं च क्रमादादिशति देव:–

तां चैवार्धतुटिं त्यक्त्वा शुक्लपक्षोदयो भवेत् ।।७५।।

'ताम्' इति यत्र सूर्यग्रहणं दर्शितम्, 'शुक्लपक्ष:' अपानचन्द्रोदयरूप: ।।७५।।

तदाह–

शक्तिगर्भादध: सृष्टिस्तस्माद्वृद्धि: प्रजायते ।

'शक्तेर्गर्भ:' कुण्डलाकारता, सा हि शिम्बिकारूपतया स्वान्तरशेषं विश्वमासूत्र्य 'अध' इति हृदयपर्यन्तं तदेव सृजति । अत एव वृद्धि: क्रमात्क्रममपानचन्द्रपरिपुष्टिरूपा तथा वृद्धिर्नि:श्वासात्मकधनरूपा जायते, अत्र कासक्रमेण तिथिच्छेदस्याभावात् ।

यत एवम्, अत:–

तदारभ्य च कर्माणि शुभान्यभ्युदयानि च ।।७६।।

इस प्रकार कृष्णपक्ष के सूर्यग्रहण की चर्चा करने के उपरान्त शुक्लपक्ष के चन्द्रग्रहण के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं–

उस अर्धतुटि (तुट्यर्ध) का परित्याग करने के बाद शुक्लपक्ष का प्रारम्भ होता है । पहले भी कहा गया है कि, शुक्ल प्रतिपदा में प्रवेश हो जाता है । जहाँ सूर्यग्रहण होता है, उसी के तुरत बाद शुक्लपक्ष अर्थात् अपानचन्द्र का उदय होता है ।।७५।।

शक्ति के गर्भ से ही यह अधोवर्त्ती सृष्टि समुदित होती है । जायते के बाद स्थीयते और वर्धते का क्रम आता है । उसी समय उसमें वृद्धि होती है । सृष्टिगर्भ मटर की छिम्मी की तरह होता है तथा कुण्डलाकार होता है । वह अपने भीतर विश्व का आसूत्रण करता है । इस क्रम में हृदय नाभिकेन्द्र एवं मूलाधार पर्यन्त की पार्यन्तिक सृष्टि करता है । उसमें क्रमश: एक एक कलात्मिका वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है । यह वृद्धि पौर्णमास केन्द्र पर जाकर रुक जाती है । वृद्धि धन रूपा होती है । यह नि:श्वासात्मक संवर्द्धन धन रूप ही होता है । इसमें (कासक्रम से) तिथिच्छेद नहीं होता । शक्तिगर्भ से लेकर हृदय पर्यन्त इसमें शुभकर्मों का सन्तोषप्रद उदय होता है । इसमें सन्देह नहीं ।।७६।।

ध्यानमन्त्रादियुक्तस्य सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।

'तदारभ्य' इति शक्तिगर्भस्वरूपमवष्टभ्य, 'शुभानि' आप्यायनादीनि कर्माणि 'अभ्युदयानि च' तत्फलानि च ।

अत्र शुक्लपक्षे दिननिशाविभागं प्रदर्शयति–

प्राणहंसो यदा प्राप्तस्त्वधस्तां प्रथमां तुटिम् ।।७७।।

पूर्वमर्धं त्वहः प्रोक्तं तुट्यर्धमपरं निशा ।

'प्राणहंसः' इति प्राग्वत् । 'अध' इति सन्धितुट्यर्धात् 'प्रथमा' तुटिं' शुक्लपक्षप्रतिपद्रूपाम् । यदाशब्दश्रवणात् तदेत्यध्याहार्यम् । अहर्निशाप्रविभागः प्राग्वदेव । एवं द्वितीयादितिथिष्वपि मन्तव्यम् । किञ्चात्र–

राशयो ग्रह ऋक्षाणि योगाश्च करणानि च ।।७८।।

पूर्ववत्क्रमयोगेन तान्युद्यन्ति त्वहर्निशम् ।

गतार्थमेतत् । या चेयं प्रथमा तुटिः–

प्रतिपत्सा तु विज्ञेया चन्द्रश्चैककलो भवेत् ।।७९।।

चाहे ध्यान किया जाय, मन्त्रों का मनन किया जाय, इन सभी कार्यों की तत्काल सिद्धि होती है । शुक्लपक्ष के प्रारम्भ में निशा होती है । इसका प्रारम्भ उसी समय हो जाता है, जब प्राणहंस तुट्यर्ध की सीमा को पार करता है । इसमें उसकी आधी तुटि समाप्त हो जाती है । शेष बची अर्धतुटि निशा की प्रतिनिधि होती है । उसी में प्राण अपानचन्द्र बनकर प्रतिपदा में प्रवेश कर लेता है । इसमें भी वृद्धि का क्रम चलता रहता है । यह श्वास क्रम है । प्राणियों के जीवन का क्रम का नियत नियम है और एक श्वास निःश्वास में एक अहोरात्र का यही चित्र है ॥७७॥

दिन के बाद रात और रात के बाद दिन, इनके मिलन बिन्दु और वियोग बिन्दु प्राणियों के प्राणापानवाह में आते ही रहते हैं । सामान्य जन इन पर ध्यान नहीं देते किन्तु साधक इनके साथ रहता है, और भुक्ति मुक्ति के लीलाललित प्रकल्पों में अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है । इसी क्रम में राशियाँ, ग्रह, नक्षत्र योग और करण पूर्ववत् अपने क्रमानुसार दिन और रात के क्रम में उदित होते रहते हैं । निशा प्रवेश की पहली तुटि को ही प्रतिपदा कहते हैं । उस समय अपानचन्द्र एक कला वाला हो जाता है ॥७८-७९॥

किञ्च–

द्वितीयायां द्वितीया तु वृद्धिमेति क्रमेण तु ।

'द्वितीयायाम्' इति तुटौ । 'द्वितीया' इति कला । एता एव तुटयः–

तिथयश्चैवमारभ्य यावत्पञ्चदशी तुटिः ।।८०।।

भवति ॥८०॥

सा च पञ्चदशी–

पौर्णमासी तु विज्ञेया तिथिर्वै साधकेन तु ।

'माः' चन्द्रः पूर्णोऽस्यामिति कृत्वा, अत एवैहिकसिद्धिं साधयति । तेनैषा साधकैरुक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिसारतया ज्ञातव्या । अतश्च–

तत्र पूजा जपो ध्यानं सम्पूर्णं सफलं भवेत् ।।८१।।

ऐहिकफलमित्यर्थात् ॥८१॥

यतः–

संपूर्णश्च भवेत्तस्यां चन्द्रो वै चारुलोचने ।

चो ह्यर्थे । 'चन्द्रः' अपानः । अथ–

तस्याश्चार्धतुटिर्या तु पक्षसन्ध्या तु सा स्मृता ।।८२।।

द्वितीया में सोम दो कलाओं से युक्त होता है । तृतीया में तीन कला और चतुर्थी में चार कलाओं के क्रम से बढ़ता रहता है । यही तुटियाँ तिथियाँ भी कहलाती हैं । इसी क्रम में पञ्चदशी की पूर्णिमा तिथि आ जाती है ॥८०॥

तुटि की पञ्चदशी तिथि ही पूर्णिमा या पौर्णमासी तिथि होती है । इसे मातृकेन्द्र कहते हैं । माता की नाभि का नाल गर्भ के नाभिनाल से मिला रहता है । पैदा होने पर नाल का विच्छेदन करते हैं । यह पौर्णमास केन्द्र की क्रिया है । इसी केन्द्र को हृदयं परमेष्ठिनः के अनुसार हृदय भी कहते हैं । वक्षयन्त्र के लिये भी हृदय शब्द का प्रयोग होता है । साधकों की दृष्टि से इस तिथि का बड़ा महत्त्व होता है । इसमें पूजा, जप, ध्यान पूर्णतया शुभफलप्रद होते हैं ॥८१॥

भगवान् कहते हैं कि, सुन्दर नेत्रों से आकर्षण की केन्द्ररूप देवि ! इस तिथि में चन्द्र का गोलक अपने पूर्ण वृत्तरूप में दीख पड़ता है । अर्थात् पूर्ण हो जाता है । 'माः' का अर्थ चन्द्र होता है । जिस तिथि में चन्द्र पूर्ण होता है, उसे ही पूर्णिमा कहते हैं । इसकी अर्ध तुटि पक्षसन्ध्या कहलाती है । कृष्णपक्ष संध्या शब्द का वाच्यार्थ पक्षसन्धि ही है । इसे और भी स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि, तुट्यर्ध पूर्णिमा है और उसका अन्य आधा भाग शुक्लपक्ष की प्रतिपदा ही कही जाती है । यहाँ प्रतिपदर्ध में सह अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है ॥८२॥

प्राग्वदेव । 'तस्याः' इत्यवधौ पञ्चमी । कृष्णपक्षसन्ध्याशब्दवाच्यस्य पक्ष-सन्धेः पूर्ववदेव–

तस्यार्धं पौर्णमासी तु प्रतिपदर्धेन संस्थिता ।

प्रतिपदः सम्बन्धिना 'अर्धेने'ति तृतीया सहार्थे । इत्थं च प्रागुक्तव्याप्त्यैव–

हृत्पद्मसन्धिमध्ये तु सोमस्य ग्रहणं भवेत् ।।८३।।

सन्धिमध्यं प्राणापानसंधिस्थानम् । इदमत्र तत्त्वम्–

'शक्तिसंस्नुतसुधारसक्रमात्पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन् ।
छादयेदिह शुभे महाग्रहे द्रावितं पिबति तं महामुनिः' ।। इति ।

तदेतद् अन्तरिव बहिरपि ।।८३।।

आदित्येन विना लोके सोमग्रहणमुच्यते ।

प्रतिपत्सङ्गाद् दूरस्थार्कस्पृष्टेऽपीन्दौ रात्रावर्काभावात्, सूर्यग्रहणे तु पार्वणेन्दु-कलयार्कः संस्पृश्यत एव । किञ्च–

तत्रैव च महत्पुण्यं ध्यानहोमजपादिभिः ।।८४।।

इस प्रकार पूर्णिमा और प्रतिपदा की व्याप्ति में हृदय कमल की सन्धि के मध्य में अर्थात् प्राण और अपान की सन्धि के बिन्दु पर अपान सोम का चन्द्र-ग्रहण घटित होता है । तात्पर्य यह कि,

'शक्ति की अमृतधार से जिस पीयूष रस का स्राव शाश्वत रूप से हो रहा है, उससे यह अपान सोम सराबोर रहता है । ऐसे अमृत मधुर इन्दु का आहरण अणु राहु के लिये देवत्व प्राप्ति का एक सौभाग्य सूत्र ही होता है । इसी पावन पर्व के शुभ अवसर का लाभ राहु ले लेता है । उस चन्द्र को आच्छादित कर लेता है । इससे स्रवित महारस का पानकर अमृत्व का अधिकारी बन जाता है' ।

यह प्रक्रिया जैसे आन्तर प्राण के उपक्रम में होती है, उसी तरह बाहर भी घटित होती रहती है ।।८३।।

यह ध्यान देने की बात है कि, चन्द्रग्रहण सूर्य के अभाव में ही होता है । चन्द्र से यद्यपि सूर्य का स्पर्श दूर से रहता है फिर भी रात्रि में सूरज के न रहने से यह स्थिति उत्पन्न होती है । सूर्य दिवस रूपी शुक्लपक्ष के प्रतिपद में क्रियाशील रहता है । जहाँ तक सूर्यग्रहण का प्रश्न है, वहाँ पार्वण चन्द्र की कला से सूर्य संस्पृष्ट रहता है । जैसे ऊर्ध्व चितिकेन्द्र में आदित्य का ग्रहण घटित

यथोर्ध्वपदे आदित्यग्रहणं मोक्षप्रदतया महापुण्यम्, तथा 'तत्रैव' इति मध्यमधामप्रवेशक्रमलब्धे हृदये चन्द्रग्रहणमैहिकोत्तमसिद्धिप्रदतया महापुण्यम् ॥८४॥

न च केवलं मध्यधामनि चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणम्, यावत्–

पक्षद्वयेऽपि देवेशि ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।

नानासिद्धिप्रदं ह्येतत्साधकस्याभियोगिनः ॥८५॥

'पक्षद्वये' दक्षे वामे च मध्यवदेव ग्रहणद्वयम् । 'नाना' इति क्रूरसौम्यसिद्धिप्रदम् । 'अभियोगिनः' उद्युक्तस्य ॥८५॥

मुमुक्षोस्तु–

मोक्षश्चैव पुनर्भद्रे पक्षद्वयसमुज्झितः ।

चशब्द एवशब्देन सह नियतविषयतया तत्त्वेश्वरपदव्याप्त्यादिरूपमुत्तमं भोगं समुच्चिनोति । तेन पक्षद्वयोज्झितो मध्यमार्गश्च यो मोक्षः, तदूर्ध्वे सूर्यग्रहणे मोक्ष एव, हृदि तु चन्द्रग्रहणे भोगो मोक्षश्च । अतश्च यो मोक्षार्थी–

पक्षद्वयं परित्यज्य पूर्वोक्तकरणेन तु ॥८६॥

होता है और मोक्षप्रद होने से वह ग्रहण महान् पुण्यप्रद माना जाता है, उसी तरह मध्यम धाम में प्रवेश के क्रम से जब चन्द्र हृदय केन्द्र में प्रवेश पा लेता है, उस समय घटित चन्द्रग्रहण ऐहिक श्रेणी की उत्तमोत्तम सिद्धि प्रदान करके कारण अत्यन्त पुण्यप्रद होता है ॥८४॥

सूर्य और सोम पर घटित होने वाले ये ग्रहण केवल मध्यधाम में ही नहीं अपितु भगवान् कह रहे हैं कि, देवि दोनों पक्षों में सूर्य और चन्द्र के ग्रहण होते रहते हैं । ये दोनों ग्रहण अनेकानेक सिद्धियों को देने वाले होते हैं । नित्य अभियुक्त भक्तों और साधकों के लिये ये दोनों हितकर है । इस श्लोक के आरम्भिक गद्य में मध्यधाम में चन्द्र सूर्य दोनों ग्रहणों की बात श्लोक ८४ के आधार पर उचित प्रतीत नहीं होती । मध्यधाम में केवल चन्द्रग्रहण का ही उल्लेख होना चाहिये ॥८५॥

दो पक्ष होते हैं–१–सूर्यपक्ष और २–चन्द्रपक्ष । एक श्वास निःश्वास में दिन और रात तथा शुक्ल और कृष्ण ये दोनों पक्ष होते हैं । इन दोनों से दो प्रकार की सिद्धियों का उल्लेख ऊपर किया गया है । भगवान् कह रहे हैं कि, कल्याणकारिणी देवि ! इन दोनों मार्गों को छोड़कर मध्य मार्ग अपनाने वाले साधक को मोक्ष की प्राप्ति अनिवार्य रूप से होती है । केवल ऊर्ध्वस्थ सूर्यग्रहण

उन्मन्यन्ते स्थितो नित्यं परवृत्त्यवलम्बकः ।
परित्यज्य त्वधः सर्वं ध्यानमास्थाय योजयेत् ।।८७।।
तस्य मुक्तिर्न सन्देहस्त्वन्यथा सिद्धिभाग्भवेत् ।

पूर्वोक्तं करणं दिव्यम् । परा वृत्तिरुक्ता लक्ष्यते च । अधस्तनं सर्वमुन्मनान्तं 'परित्यज्य' तत्समरसीकृत्य । 'ध्यानं' परतत्त्वविमर्शः । 'अन्यथा' इति दक्षवामपथोर्ध्वस्थितः ।।८६-८७।।

मध्यपथग्रहणं चैतद् दुर्लभम्, इतरत्तु सुलभमेव, इत्याह–

पक्षद्वयेऽपि ग्रहणं भवेद्वै सर्वदेहिनाम् ।।८८।।

'देहिनाम्' इत्यनेन मितयोगिनामत्यन्तं देहप्रमात्रभिमानत्वमिति दर्शयति ।।८८।।

से ही मोक्ष अनिवार्य है । श्लोक में 'च' और 'एव' इन दो अव्ययों से नियतविषयक तत्त्वेश्वरादिपद प्राप्ति रूप उत्तम पद की प्राप्ति स्वाभाविक रूप से होती है, यह निर्धारण हो जाता है ।

इसलिये मोक्षमार्गस्थ मुमुक्षु साधक के लिये भगवान् एक विशिष्ट मार्ग का निर्देश कर रहे हैं । उनका कहना है कि, दोनों दक्ष और वाम या शुक्ल और कृष्ण इन दोनों पक्षों का परित्याग करते हुए मुमुक्षु दिव्यकरण द्वारा ही अपने उद्देश्य की सिद्धि में सावधानी पूर्वक आगे बढ़े । उन्मना को अतिक्रान्त कर उसके ऊपर परवृत्ति का ही अवलम्बन करने वाला मोक्षार्थी अधस्थ सभी चक्रों की साधनाओं से सूर्य सोम रूप ग्रहणों से भी ऊपर 'पर' भावात्मक ध्यान में अपने समग्र अस्तित्व को योजित कर दे और उस पारमेश्वर सामरस्य का आस्वादन करे । भगवान् कह रहे हैं कि, ऐसे साधक की निःसन्देह मुक्ति होती है । अन्यथा अर्थात् पर भाव में स्थिति के विपरीत यदि ऊर्ध्व और अधः के चिन्तन में ही व्यक्ति रह जाये तो भी ऐहिक सिद्धियों का सुफल तो उसे मिलना निश्चित ही है ।।८६-८७।।

यहाँ देह प्रमाता के अभिमान से समन्वित अर्थगर्भ शब्द 'सर्वदेहिनां' का प्रयोग करते हुए भगवान् यह कह रहे हैं कि, सामान्य रूप से इन सोम और सूर्यग्रहणों के विज्ञान का जानकार प्राणी जो आजीवन इसी विज्ञान की साधना में अपने को खपा देता है, उसे भी पूर्वोक्त फलों की प्राप्ति तो होती ही रहती है ।।८८।।

उपसंहरति–

एवमेतत्समाख्यातं यावदायुर्वरानने ।

'एतत्' इति सावधानसंचेत्यं ग्रहणम् ।

अत्रैवाध्यात्माहोरात्रे त्वथाब्दोदय उच्यते ।।८९।।

तमाह–

हृत्पद्मादूर्ध्वपर्यन्तं राशयः षड् व्यवस्थिताः ।

'राशयो' मकराद्याः । षट्त्रिंशदङ्गुले चारेऽत्र–

अङ्गुलैः षट्भिरेकैको हृत्पद्माद्याव शक्तितः ।।९०।।

'एकैकः' इति राशिः । इत्थमस्मिन्षट्त्रिंशदङ् गुले षण्मासोदये–

अङ्गुले अङ्गुले ह्यत्र तिथयः पञ्च संस्थिताः ।

तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत् ।।९१।।

तस्य अङ्गुलपञ्चभागावधेस्तिथेः । अत एव–

षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः ।

त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते ।।९२।।

इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि ! पार्वती यह मैंने जो कुछ कहा है, यह सावधान होकर आजीवन अभ्यास पूर्वक करना चाहिये । अब मैं इसी आन्तर अहोरात्र में यह बताना चाहता हूँ कि, इसमें वर्षोदय कैसे होता है ॥८९॥

प्राण और अपान के चार की कुल गणना ७२ अंगुल की मानी जाती है । ३६ अंगुल का प्राणचार और ३६ अंगुल का अपान चार । प्राणचार के ६-६ अंगुल पर मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन की छः संक्रान्तियाँ होती हैं । यह पूरा उत्तरायण काल माना जाता है । यह छः मास का समय हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त का समय होता है । इसमें एक एक अङ्गुल में ही पाँच तिथियाँ बीत जाती हैं ॥९०॥

सबसे बड़ी विशेषता इसमें यह होती है कि, अङ्गुल अङ्गुल की पाँच तिथियों के क्रम में पूरा अहोरात्र एक मास आदि सभी क्रम अन्तर्भूत होते हैं । एक तिथि के अहोरात्र में एक दिन आधा अङ्गुल का और एक रात भी आधे अङ्गुल में समाहित रहती है ॥९१॥

तिथियों के छः पंचकों में मासिक अहोरात्र की पूर्त्ति हो जाती है । इस प्रकार तीस अहोरात्र की एक मासात्मक निष्पत्ति हो जाती है । इन ३० अहोरात्रों के द्वारा सम्पन्न काल में सामान्य रूप से दो पक्ष भी गणनानुसार होते ही हैं ।

षडङ्गुले राश्युदयस्थाने त्रिंशदहोरात्रस्य मासस्य निष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । 'द्विपक्षः' इत्यनेनेदमाह–यथातोऽपि तत्तन्माससाध्यक्रूरसौम्यसिद्ध्यर्थकृष्णशुक्लपक्षाश्रयणं सुसूक्ष्मदृशा योगिनानु[1]सर्तव्यमिति । अत एव वर्षसाध्ये विधौ तत्तन्मासकार्यं बाह्यान्तरमासैकीकारानुसरणपूर्वं योगिनानुष्ठातव्यमिति वर्षोदयेऽभिप्रायः ॥९२॥

तदित्थम्–

मासि राश्युदये ह्येष अधोर्ध्वप्राणसंचरे ।

ऊर्ध्ववदधःप्राणसंचारेऽपि एष एवमादिः क्रमो ज्ञेय इत्यर्थः ।

अथ राश्युदयं विभागेनादिशति मासप्रभेददर्शनाशयेन–

हृदयादुदयस्थानात्संक्रान्तिर्मकरे स्थिता ॥९३॥
षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे संक्रमते पुनः ।
कण्ठोर्ध्वे द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा मीने संक्रमते पुनः ॥९४॥

पहले कहा गया है कि, दिन में सौम्य और रात्रि में क्रूर कार्य सम्पन्न होते हैं । यह सब आन्तर प्राणापानवाह के इन काल खण्डों में समय–विज्ञान का जानकार उसी विधि से पूरा करता है । न करता हो, तो उसे इस जानकारी को क्रिया में परिणत करना चाहिये । वर्ष भर में पूरा होने वाले कार्यों में भी मासिक कार्य विधि का अनुसरण करना चाहिये ॥९२॥

राशि के छः अंगुल की विरति पर दूसरी राशि का उदय होता है । इस तरह एक एक मास भी बीतते जाते हैं । प्राण संचार अधः से ऊर्ध्व की ओर होता है । इसी तरह ऊर्ध्व से जब अधः की ओर संचार होता है, तो इसी प्रकार राशियों के क्रम भी पूरे होते रहते हैं । इसका क्रमिक उदय हृदय से होता है । यह मकर राशि का उदयस्थान होता है । यह संक्रान्ति मकर में होती है । अतः इसे मकर संक्रान्ति कहते हैं ॥९३॥

अब मकर के छः अङ्गुल नीचे छोड़कर ऊपर की ओर चलते हैं । वहीं कुम्भ में संक्रमण होता है । अतः इसे कुम्भ की संक्रान्ति कहते हैं । कण्ठ में ऊपर मात्र दो अंगुल छोड़कर मीन राशि में संक्रमण होता है ॥९४॥

---

१. क. ग. पु. अनुमन्तव्यमिति पाठः ।

गलोर्ध्वाद्यावत्ताल्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत् ।
नासान्तं यावत्संक्रान्तिरङ्गुलानि षडेव हि ।।९५।।
एषा वै विषुसंक्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता ।

'उदयस्थानात्' इति मन्त्रोच्चारणभूमेः । 'संक्रान्तिः' इति प्राणार्कस्येत्यर्थात्, अत एव माघादिमासक्रमोऽत्र स्थितः । 'षडङ्गुलानि' इति काकाक्षिवत् । 'विषुसंक्रान्तिः' विषुवत्संक्रान्तिः । 'उत्तरे' इति उत्तरायणे ।

एतच्च प्राग्वत्पारलौकिकादिसिद्ध्यङ्गतयेति ज्ञेयम् । तदाह–

जपहोमार्चनध्यानान्महाभ्युदयकारिका ।।९६।।

एषा विषुवत्संक्रान्तिरित्यर्थः । अत्रापि प्राग्वदन्तरिव बाह्यसंक्रान्तिष्वपि तत्तत्फलप्रदत्वं स्मर्तव्यम् ।।९६।।

अथ–

नासाग्रं तु परित्यज्य प्राणहंसो वृषे चरेत् ।
षडङ्गुलानि संत्यज्य संक्रमेन्मिथुने पुनः ।।९७।।
शक्त्यन्तं यावदध्वानं संक्रान्तिर्मिथुने स्मृता ।

'षडङ्गुलानि' इति काकाक्षिवत् । 'शक्त्यन्तं' द्वादशान्तम् ।

एतदनुवदन् फलं पर्यवसायि दर्शयति–

मकराच्च समारभ्य मिथुनान्तं च सुव्रते ।।९८।।

गला के ऊर्ध्वभाग में तालु से नीचे छोड़कर मेष की संक्रान्ति होती है । नासिका के अन्त में जो संक्रान्ति होती है, वह विषुवत्संक्रान्ति होती है । यह सब उत्तरायण का कालखण्ड माना जाता है । विषुवत्संक्रान्ति में दिन रात बराबर होते हैं । इन सभी संक्रान्तियों में जप, होम, अर्चन और ध्यान आदि की सभी क्रियायें महती अभ्युदयकारिका मानी जाती है । यही फल बाह्य संक्रान्तियों में भी होते हैं ।।९५-९६।।

नासिका के अग्रभाग को छोड़कर प्राणहंस वृष में संचरण करता है । पुनः छः अंगुल छोड़कर मिथुन में संक्रमण कर जाता है । इस प्रकार द्वादशान्त तक यह मिथुन संक्रान्ति पूरी हो जाती है । मकर से आरम्भकर मिथुन पर्यन्त हे सुव्रते देवि ! उत्तरायण कालखण्ड पूरा जो जाता है । इसका विग्रह वाक्य है–उत्तीर्यते अनेन इति उत्तरम् उत्तरम् अयनम् इति उत्तरायणम् । इसमें देह प्रमातात्मक सिद्धि

उत्तरायणमत्रैतदैहिकीसिद्धिवर्जितम् ।

उत्तीर्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या उत्तरमयनम् । ततश्च–

स्नानं ध्यानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ।।९९।।

साधकाद्यैः कृतं यच्च सहस्रानेकधा भवेत् ।

इह जन्मनि नाप्नोति परत्रैवोपतिष्ठते ।।१००।।

साधकादीनां पुत्रकादीनां चात्र स्नानादिकरणात्तद्देहान्ते भोगो मोक्षश्चाभीष्टो भवति ।

'इह जन्मनि नाप्नोति' इत्यत्र हेतुमाह–

दिनानि तत्र वर्धन्ते मकरान्मिथुनान्तिकम् ।

तत्काले संहरेद्वीर्यं जगत्यस्मिंश्चराचरे ।।१०१।।

हंसो रश्मिभिराकृष्य गर्भस्थं कारयेत्तु तम् ।

'तत्र' इत्युत्तरायणे । दिनवृद्धिर्मेयग्रहणाभ्यासेन विश्रान्तिभागानादरात् । 'वीर्यं' विश्वस्याप्यायनकरं रसम् । 'हंसः' अनाहतनादोऽन्तः, बहिस्तु सूर्यः । 'रश्मिभिः' अन्तर्मुखीभूताभिर्विमर्शमयीभिरिन्द्रियदेवीभिरन्तः, बहिस्तु प्रभाभिः । 'संहरेत्' इति व्याचष्टे–'गर्भस्थं' शक्त्यन्तर्गतं 'कारयेत्' कुर्वतो रश्मीन्नियुनक्ति ।

की क्रियायें वर्जित हैं । इसमें स्नान, जप, होम, दान और जप आदि की क्रियायें करणीय हैं ।।९७-९९।।

साधक और पुत्रक आचार्यों द्वारा जपादि जो कार्य इस दशा में सम्पन्न किये जाते हैं, ऐसे हजारों प्रकार के अनेक प्रकार से सम्पादित काम फलवान् होते हैं । इनके फल इस शरीर की अवधि में नहीं मिलते । शरीर त्यागोपरान्त ही इनके भोग मोक्ष दोनों प्रकार के अभीष्ट फल उपलब्ध होते हैं ।।१००।।

इस जन्म में वे अभीष्ट फल क्यों नहीं मिलते, इसमें कारण है, इस पर प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं–

इस क्रम में मकर से मिथुन पर्यन्त दिन बड़े होते हैं । यह उत्तरायण का समय होता है । दिन की वृद्धि का परिणाम यह होता है कि, मेय के ग्रहण का अभ्यास भी बढ़ता है । इससे विश्रान्ति रूप संक्रान्ति बिन्दुओं पर विश्राम कम हो जाता है । उस सम संक्रान्ति का सूरज विश्व को तृप्त करनेवाले उस विश्रान्ति रस रूप वीर्य को सोख लेता है । वह रस सूर्य में आत्मसात् हो जाता है और पूजा तथा जपादि के फल भी उसी में निहित हो जाया करते हैं । यह प्रक्रिया इस पूरे चराचर जगत् में चलती रहती है ।।१०१।।

तत्कृत्वा–

गर्भस्थानेकधारूपं यद्गृहीतं पुरातनम् ।।१०२।।
कर्कटादेः समारभ्य सर्वं वर्षति तत्पुनः ।

'कर्कटादेः' इत्यपानोदयस्थानात् । 'तत्' इति वीर्यम् । यत एवं प्राणोदयो वीर्यसंहारकृत्–

तस्मादारभ्य मकराद्ध्यानहोमजपादिकम् ।।१०३।।
परलोकनिमित्ताय तदनन्तफलं भवेत् ।

पूर्वोक्तानुवादोऽयम् । अत्रैवोत्तरायणे साधकस्य मन्त्र[1]सेवार्थं जपादावान्तर-स्थानविशेषात्मकालविशेषाश्रयेणोच्चारमादिशति–

पुरश्चर्यानिमित्ताय मन्त्रग्रहव्रतं च यत् ।।१०४।।
मीनादावारभेत्सर्वं मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः ।

प्राण रूपी अनाहतनादात्मक हंस (बाहर का सूरज भी) अपनी अन्तर्मुख रश्मियों से अर्थात् इन्द्रिय रूप करणेश्वरी देवियों के द्वारा उन्हें खींच कर अपने ही गर्भ में अर्थात् अपने शाक्तभाव के अन्तर में निहित कर लिया जाता है । यह पुरातन शोषित वीर्य अनेक प्रकार का होता है । आराधकों की उपासना के अनुरूप होता है । इस शोषित वीर्य रूप विश्वाप्यायक रस को कर्क संक्रान्ति के प्रारम्भ से वृष्टि के रूप में यह लौटा देता है । अर्थात् बरसा देता है ॥१०२॥

इससे यह सिद्ध होता है कि, उक्त मिथुनान्त प्राणोदय–वीर्य संहार करने वाला उत्तरायण काल होता है । इसलिये मकर संक्रान्तियों से मिथुनान्त संक्रान्तियों में किये गये सभी कार्य परलोक के ही निमित्त हैं । इनसे अनन्त फलों की प्राप्ति होती है ॥१०३॥

इसी आन्तर काल खण्ड में साधक आन्तर उच्चार का आश्रय विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये कैसे कैसे लेता है, इसका निर्देश कर रहे हैं–

मन्त्र ग्रहण पूर्वक व्रतनिष्ठ रहकर, जो नियमित व्रत जप आदि किये जाते हैं, वे ही पुरश्चर्य्या कहलाते हैं । इस प्रकार मकर छः अङ्गुल, फिर कुम्भ छः अङ्गुल और पुनः ६अङ्गुल मीन के होते हैं । कण्ठ मकर से १४ अङ्गुल पर होता है । ६ अङ्गुल मकर का निकालने पर ८ अङ्गुल कण्ठ का बचा । इसमें ६ अङ्गुल कुम्भ का निकालने पर दो अङ्गुल बचा । यह दो अङ्गुल मीन राशि का होगा । इसमें ऊपर का चार अङ्गुल जोड़कर छः अङ्गुल ताल्वन्त मीन राशि का पूरा क्षेत्र होता है । यह ध्यान देने की बात है कि, कुम्भ के बीतने और मीन के

पुरश्चर्याप्रथममेव, मन्त्रग्रहपूर्वं व्रतं नियतजपादिकरणम्। अष्टाङ्गुलात्कण्ठदेशादङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा ऊर्ध्वं ताल्वन्तं षडङ्गुलं मीनस्थानम्, एतदादौ शक्त्यवधिमिथुनस्थानान्ते। अतः प्रभृति ह्यूकारमकारयोगात् परस्य निष्कलस्य मन्त्रत्वमिति पूर्वमुक्तम्।

'मत्स्यवलनसंयोगात्तालुरन्ध्रे व्यवस्थिता'।

इति च श्रीत्रिकसारे निरूपितत्वादत्र शक्तेर्मीनवन्मुखपुच्छाच्छोटनेन तालुबिलाक्रमणात्तद्गतरसास्वादनतः साधकसंविदः सरस[2]त्वापादनेन भाविफलं प्रति अङ्कुरीभावापादनादेवमुक्तम्।

युक्तं चैतत्, यतोऽत्र–

बाह्येऽपि तरवो लोके ऋतुषट्कसमीरितम्॥१०५॥

आरम्भ में ही अनच्क 'ह'कार में 'ऊ'कार और मकार के योग से निष्पन्न निष्कल भैरव मन्त्र की मन्त्रशक्ति का समुच्छलन होता है। उसी समय से इस निष्कल बीज मन्त्र का जप करना चाहिये। इसी पुष्यकाल में स्वात्म का निष्कल रूप सिद्ध होता है। पहले भी यह कहा गया है। त्रिकसार ग्रन्थ में भी यह कहा गया है कि, कण्ठ तालु के मध्य में मत्स्य के संयोग की दशा में तालु रन्ध्र में निष्कल शक्ति सुव्यवस्थित है। वहाँ शक्ति उसी प्रकार उच्छलित होती है, जैसे मत्स्य मुख और पुच्छ एक ओर करके उछल जाती है, या बहाव के विरुद्ध ऊर्ध्व की ओर बढ़ जाती है॥

इस तरह शक्ति तालुरन्ध्र में संक्रमण कर जाती है। वहाँ शाक्तरस का आस्वादन होता है। साधक का स्वात्म-संवित्-तत्त्व सरसता से सराबोर हो उठता है और जैसे बीज से अंकुर निकल कर वृक्ष बनने की ओर अग्रसर हो जाता है, उसी प्रकार राशि राशि क्रम से शक्ति का समुच्छलन होता है॥१०४॥

क्योंकि भीतर की तरह बाहर भी बीज के अंकुरों से बढ़कर वृक्ष बनने वाले वनस्पतिक तरुवर छः ऋतुओं से ही सयक् रूप से प्रेरित होते हैं और क्रमशः कुसुम की माधुरी के आनन्द से विश्व को भी आनन्द विभोर कर देते हैं। यही कुसुमायुध की कामकला में लालित्य भर देते हैं। कामोद्दीप्ति की वासन्ती विलासिता चारों ओर परिमल का प्रसार कर देती हैं। इसी तरह आन्तर

---

१. क. ख. पु. मन्त्रपूर्वसेवार्थमिति पाठः।
२. ख. पु. समरसत्वेति पाठः।

कुसुमानन्दमायान्ति कुसुमायुधदीपकम् ।

'तरवः' कुरवकाद्या अपि मीनसंचारात्मकवसन्तात्प्रभृति कुसुमविकासमयमानन्दं प्राप्नुवन्ति । तं च ऋतुषट्के समीरितम्, वसन्ते प्रथममुद्दिद्य अन्यत्रापि ऋतौ कुसुमानां प्रसरात् । 'कुसुमायुधदीपकम्' इत्यनेन कामोद्दीपनहेतुतामभिदधत्सादृश्येनान्तरस्यापि वसन्तस्य कामानां प्रति साधकत्वं ध्वनति । अत एव बहिर्यथा कुसुममेव फलोपादानम्, तथान्तरपि मीनादौ कर्मारम्भः कुसुमप्रतिमः साधकानामवश्यमीप्सितं फलमभिमुखं करोति—इति कुसुमशब्दाभिप्रायः । अत एव—

मन्त्राः कालानुरूपेण व्रतचर्यादिनेरिताः ।।१०६।।
ज्ञेयबोधप्रदीप्ताश्च सिद्धिमुक्तिप्रसाधकाः ।

'कालो' मीनाद्युदयः । 'व्रतम्' आराधननियमः । 'चर्या' साधकोचितसमयाचरः । आदिशब्दात्करणबन्धादिरुच्चारणोपायः । 'ईरिताः' उत्तेजिताः । 'ज्ञेयबोधो' मन्त्रवाच्यदेवताव्याप्तिज्ञानम्, तेन 'प्रदीप्ताः' तत्प्रकाशाविभेदिविमर्शसाराः ।

काम भी साधक को धन्य बना देते हैं । इसी तरह बाहर भी फूलों के बाद फल लगते हैं । भीतर भी काम के फल मिलने लगते हैं । मीन से आरम्भ किये गये निष्कल जप सुफल प्रद होते हैं, यह तथ्य नितान्त सत्य है । कर्म का आरम्भ कुसुम के उद्भव के ही सदृश है । साधकों के अभीप्सित फल इसी कुसुमोद्भव से अनुमित होते हैं और बाद में प्राप्त भी हो जाते हैं ॥१०५॥

इसलिये मन्त्र उक्त काल खण्डों के अनुरूप ही जप्य हैं । शास्त्र साधकों को व्रत चर्या के लिये इसीलिये प्रेरित करते हैं । क्योंकि मन्त्र इन्हीं राशियों के शाक्त प्रभाव से प्रेरित होते हैं । इसीलिये आराधना के नियमों को अपनाते हुए सभी समयाचारों का पालन करना आवश्यक होता है ।

मन्त्र वाचक होते हैं । इनके वाच्य देववर्ग के रूप में विख्यात हैं । वे ज्ञेय होते हैं । मन्त्र का वीर्य भी ज्ञेय होता है । ज्ञेय का बोध साधक के लिये अनिवार्य है । मन्त्रों से वाच्य देवताओं की शाक्तव्याप्ति का बोध रूपी ज्ञान का प्रकाश ही मन्त्रों को प्रकर्ष पूर्वक उद्दीप्त करता है । उसी समय प्रकाशरूप अद्वय अभेदमयी तादात्म्य का विमर्श होता है और यही मन्त्रचर्या का रहस्य भी है ॥१०६॥

यत एवं सर्वमन्त्राणां स्थितिरतोऽयमत्रत्यो मन्त्रः पूर्वसेवार्थम्-

अध्यात्मशब्दरूपात्मा षड्रसास्वादनेरितः ।।१०७।।

हंसबोधप्रदीप्तस्तु गलके मीनमाश्रितः ।

'अध्यात्मशब्दः' अनाहतध्वनिस्तत्परमार्थः ।

'शिवो धर्मेण हंसस्तु.....................' । (७/२९)

इत्यत्र निर्णीतेन हंसस्य बोधेन व्याप्तिज्ञानेनेद्धः । व्याख्यातमत्स्यवलनव्याप्त्या गले मीनराशिसंचारं प्राप्तः, अथ च षष्ठबीजमेवोर्ध्वाधःकलात्मकमुखपुच्छाच्छोटनया प्रोच्छलन्मीनरूपत्वम् 'आश्रितः' आरूढः । तत एव च सर्वेन्द्रियाश्रयप्राणाधिरूढेनात्मना ईरितो लम्बिकारसास्वादाय प्रेरितः, ततः प्रभृति मन्त्रतां प्राप्तः सन्नुच्चार्य इति यावत् ।

एतदेवोपसंहारभङ्ग्या आदिशति-

शब्दसंवेदनं तस्य स्फुटं तत्र भवेद्यतः ।।१०८।।

सभी मन्त्रों की स्थिति इन्हीं राशियों और ऋतुओं के अनुरूप होती है । उसी तरह यहाँ हम जिस मन्त्र की चर्चा कर रहे हैं, वह भी आन्तरनाद रूप ब्रह्म का ही प्रतीक है । यहाँ अध्यात्म शब्द आन्तर अनाहत ध्वनि के परमार्थ से ओत प्रोत है । इसी पटल के ७/२९ में यह कहा गया है कि, 'शिव अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव रूप धर्म के कारण 'हंस' माना जाता है' ।

ऐसे हंस के बोध अर्थात् उसकी व्याप्ति के ज्ञान से प्रदीप्त निष्कल मन्त्र उक्त मत्स्य के वलन की व्याप्ति से युक्त रूप में गले में मीन राशि के संचार के समय में ही सिद्ध होता है । इस निष्कल बीज मन्त्र में उल्लसित छठे बीजस्वर बीज के रूप ऊपर और नीचे कलात्मक मुख और पुच्छ के उछाल से मत्स्य रूप ग्रहण कर अपने उच्चस्तरीय पद पर आरूढ हो जाता है ।

यह सर्वविदित तथ्य है कि, इन्द्रियाँ प्राण पर ही आश्रित हैं अर्थात् सभी इन्द्रियों का आश्रय प्राण है । उसी प्राण पर अधिरूढ होकर यह शिव हंस लम्बिका में अवस्थित षड्रस का आस्वादन प्राण से प्रेरित होकर करता है । ऐसे प्राण प्रेरित निष्कल मन्त्र का उच्चारण मीन राशि में करना उत्तम होता है । उस आन्तर शब्द का संवेदन मन्त्रतत्त्व के अनुभव रूप में घटित होता है । उसी पवित्र मीन राशि में उसका जप करना चाहिये । उसी समय स्वरवर्ण के छठे बीज के आधार पर मन्त्रत्व को प्राप्त कर चुका होता है ।।१०८।।

तदारभ्य जपात्तस्य सर्वमेव प्रवर्तते ।
मिथुनान्तं च देवेशि ततः सिद्धिः प्रजायते ।।१०९।।

'तस्य' अध्यात्मशब्दस्य । स्फुटं 'शब्दसंवेदनं' मन्त्रतत्त्वानुभवनम् । 'तत्र' इति मीनस्थाने । 'तस्य' इति साधकस्य । सर्वं पूर्वसेवार्थं जपपूजाध्यानादि । मिथुनान्तं शक्त्यवस्थाने विश्रान्तिं कृत्वेत्यर्थः । 'सिद्धिः प्रजायते' मन्त्राराधनं निष्पद्यते । तदत्रोत्तरायणचारे प्राणस्यैव मकरादिरूपत्वमुक्तम्, तदनुकाराद्बहिः–इति वर्णयन्ति । तथा हि–हृदयादुद्घाटितवक्त्रप्राणस्य प्रसरणान्मकरत्वम्, कण्ठे कुम्भवदवस्थानात्कुम्भत्वम्, ततः पूर्वापराच्छोटनेनोच्छलनान्मीनत्वम् ततोऽपि हुडयुद्धवद्भ्रूमध्यभेदनान्मेषत्वम्, तदनु द्वयरसवर्षणाद्वृषत्वम्, अनन्तरं शिवशक्त्युभयात्मकत्वान्मिथुनत्वमिति ।।१०९।।

एवं प्राणे मिथुनान्तमुत्तरायणं निर्णीय, अपाने कर्कटादिधन्वन्तं दक्षिणायनं निर्णेतुमाह–

सहंसो बिन्दुशक्तिस्थः सिद्धिद्वारैरधोमुखः ।
कर्कटादौ स वर्षेत्तु तुलान्तं तालुकान्तरे ।।११०।।

तभी से इस मन्त्र के पूर्व सेवा रूप ध्यान पूजन और जप आदि प्रक्रिया को अपनाने पर सभी मन्त्र जप आदि सफल होते हैं । यह प्रक्रिया मिथुन पर्यन्त अर्थात् उत्तरायण पर्यन्त पूरी की जानी चाहिये । मिथुनान्त शक्ति में अवस्थित रहकर ही साधक इसे पूरा करते हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरी देवि ! तभी मन्त्र की आराधना सफल होती है ।

इस प्रकार इस सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, उत्तरायण में प्राण ही इन बिन्दुओं में विश्रान्त होता है । राशियों की गणना तो तिथि प्रकल्पन पर ही निर्भर है । इसी के अनुकरण पर यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे के अनुसार बाहर भी राशि गणना पूरी होती है ।

इसे इस रूप में समझा जा सकता है । हृदय से उद्घाटित वक्त्रप्राण के प्रसरण से प्राण की मकररूपता, कण्ठ में कुम्भ की तरह प्राण के अवस्थित होने से प्राण की कुम्भता, पूर्वा पर या ऊर्ध्वाधः आच्छोटन से प्राण की मीनता, उसके बाद हुडयुद्ध की तरह भ्रूमध्य भेदन से मेषरूपता, इसके बाद द्वैधरस वर्षण से वृषरूपता और शिवशक्ति की उभयरूपता के कारण प्राण की मिथुन राशिरूपता के कारण प्राण को सभी राशिरूप में स्वीकार करते हैं ।।१०९।।

सह हंसेन वर्तते यः प्राणः स 'बिन्दुशक्तिस्थः' इति–

'यदा करोति सृष्टिं तु ऊर्ध्वे बिन्दुः प्रवर्तते' ।

इत्युक्तदृशा समनापदस्थः, सिद्धिप्रदत्वात्तद्द्वारैः षडङ्गुलैश्चतुर्भिश्चारैः 'अधोमुखो' ब्रह्मरन्ध्रक्रमेणान्तःप्रविष्टः, 'तालुकान्तरे' तालुमध्ये 'तुलान्तम्' इति कण्ठं षडङ्गुलं वर्षेत् ।

तद्यावत्–

कण्ठादधस्ततो देही हृत्पद्मात्सर्वतो व्रजेत् ।

'सर्वतः' सर्वत्र देहे । हृदयस्यापानपूरणेन विकासितत्वात्पद्मत्वम् । 'हृत्पद्मात्' इति तदश्रित्य । यस्मादेवम्–

तस्मादिहात्मसिद्ध्यर्थं पुष्ट्यर्थं चैव साधयेत् ।।१११।।

इहात्मनः सिद्धिरस्मिन्नेव देहेऽणिमाद्याविर्भावनम्, 'पुष्टिः' वलीपलिताद्यभावः ॥१११॥

इस प्रकार प्राण में मिथुनान्त उत्तरायण का निरूपण कर अपान चन्द्र में कर्क राशि से धनुराशि पर्यन्त दक्षिणायन का निर्णय करने के लिये इस कारिका का अवतरण कर रहे हैं–

यही प्राण हंस जब बिन्दुशक्ति में अवस्थित होता है, तो वहाँ से सिद्धि प्रद ६-६ अङ्गुलों के चार के माध्यम से अधोभाग की ओर प्रवर्त्तित होता है । यहाँ बिन्दु शब्द सृष्टि के प्रारम्भ की अवस्था की ओर संकेत कर रहा है । शास्त्र कहता है कि, 'जब सृष्टि की प्रक्रिया का प्रारम्भ करना होता है, तो बिन्दु ऊर्ध्व की ओर प्रवर्त्तित होता है' । यहाँ से निशा का प्रारम्भ है । अतः अधः प्रवर्त्तित होता है । ब्रह्मरन्ध्र के क्रम से हृदय पर्यन्त नीचे की ओर सरकता है । तुला राशि तक यह तालु के मध्य में विश्रान्त होता है ।

कण्ठ से नीचे प्राणहंस हृदय पद्म की ओर आता है । हृदय को पद्म कहने का कारण यह है कि, यह अपान चन्द्र से आपूरित और विकसित होता है । हृदय पद्म से सर्वत्र देह में प्रसरित होता है । इस प्रकार स्वात्म प्राण के प्रसार के कारण यह पर्व की तरह पावन बन जाता है । इसी दृष्टि से इसमें भी आत्मसिद्धि के उद्देश्य से और अपने अभावों की पूर्ति रूप पुष्टि के लिये साधना में संलग्न हो जाना चाहिये । आत्मसिद्धि से शरीर में अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का आविर्भाव और पुष्टि से शिर के बालों में पकने और गिरने आदि की विकृतियाँ समाप्त हो जाती है ॥१११॥

किञ्च प्राग्वद्बहिरपि–

दक्षिणायनजे काले यस्मात्सृष्टिः प्रजायते ।

'दक्षिणम्' अनुकूलं देहभुवनाप्यायकरम् । ग्रीष्मोष्मशोषितानां तृणलता-गुल्मादीनां वर्षासु पुनरङ्कुरोद्भेदो यतो भवति, तस्माद्बाह्याभ्यन्तरैतत्कालैकी-कारेण पूर्वोक्ताः सिद्धीर्जपादिना साधयेदिति सम्बन्धः । ननु जपप्रकरणे–

'जपः प्राणसमः कार्यो दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
संहारः स तु विज्ञेयः शिवधामफलप्रदः ॥
व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदब्जं यावदागतः ।
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया' ॥ (२/१४२)

इसी की अनुकृति बाह्य प्राकृतिक जगत् में भी देखने को मिलती है । दक्षिणायन के समय में ही सृष्टि उत्पन्न होती है । दक्षिण शब्द देह और भुवन को आप्यायित करने वाला, सर्जन के अनुकूल प्रभाव छोड़ने वाला विशिष्ट शब्द है । ग्रीष्म की ऊष्मा से सूखने के कगार पर पहुँचे शोषित तृण, लता और गुल्मों में वर्षा के कारण सरसता का संचार कर उन्हें पुनः अङ्कुरण के लिये प्रेरित करने वाला, और बाह्यान्तर सर्वत्र ऐक्यभाव का सद्भाव प्रदान करने वाला यह एक महत्त्वपूर्ण काल माना जाता है । इसीलिये इसमें जप आदि सिद्धियों की साधना में संलग्न होना चाहिये ।

यहाँ जप के प्रकरण में पहले कहे गये वचन और यहाँ कही गयी उक्ति के परस्पर व्याघात के कारण यह शङ्का उपस्थित कर रहे हैं कि, ऐसे भेद क्यों ? इसी को सन्दर्भ सहित व्यक्त कर रहे हैं–

द्वितीय पटल के श्लोक १४० में कहा गया है कि, 'जप मध्यवाही प्राण के प्राणन रूपी उल्लास और प्रवेश के साथ करना चाहिये । मध्यवाही आन्तर रूप से मान्त्र परामर्श में जितना क्षण लगे, वही जप का पुण्यप्रद क्षण होता है । यहाँ दिनस्थ शब्द का भी प्रयोग किया गया है । द्वादशान्त से नाद जब हृदयाब्ज की ओर चलता है–वह सृष्टि का समय होता है और सर्वसिद्धिप्रद भी होता है' ।

किन्तु यहाँ पर उसी जप के काल में विभाग का प्रकल्पन कर कहा गया है कि, दक्षिणायन में जपादि से आत्मसिद्धि और पुष्टि की साधना करनी चाहिये ऐसा क्यों ? एक जगह मीनोदय से ही मन्त्र सिद्धि के लिये जप और दूसरी जगह आत्मसिद्धि के लिये जप ? यह विभाजन क्यों ? इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

इति पूर्वं प्रविभाग उक्तः, इह तु दिनोदयात्मकमीनोदयतः साधकस्य मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपाद्युक्तम्, तथा कर्कटादौ 'आत्मसिद्ध्यर्थं साधयेत्' इति प्रतिपादितम्, तत्कथमेतत् ? उच्यते । द्वितीयपटलप्रतिपादिते जपप्रविभागे स्थित एवमत्र विशेष उक्तः–साधकैर्मीनादिमिथुनान्तविश्रान्त्या कल्पोक्तजपादिक्रमेण पूर्वसेवया मन्त्राः साधनीयास्तथा साधितास्तु प्रयोगकाले सिद्ध्यर्थं कर्कटादितुलान्तविश्रान्तिप्राधान्येन प्रयोज्या इति न काचिदत्र विचिकित्सा ।

अथ कर्कटादिषट्कमङ्गुलविभागेन निरूपयति–

शक्त्यधो हृदये हंसः संक्रमेत्कर्कटे प्रिये ।।११२।।
षडङ्गुलानि संत्यज्य सिंहे वै संक्रमेत्पुनः ।
षडङ्गुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां संक्रमते पुनः ।।११३।।
नासिकाग्रात्तु ताल्वन्तं त्यक्त्वैवं विषुवद्भवेत् ।
तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद्भवेत् ।।११४।।

द्वितीय पटल में प्रतिपादित जप के प्रविभाग में स्थित जो वैशिष्ट्य है, उसमें मीन से मिथुन पर्यन्त पूर्व सेवार्थ मन्त्रों का जप किया जाता है । ऐसे ही साधित मन्त्रों के द्वारा कर्क से तुलाराशि पर्यन्त विश्रान्तिकाल में आत्मसिद्धि और पुष्टि के उद्देश्य से साधना की जाती है । इस तरह जपकाल में यह किया गया प्रविभाग नहीं वरन् उद्देशपरक समय सूचक निर्देश मात्र है । इसलिये किसी शङ्का या विचिकित्सा के लिये यहाँ कोई भी स्थान नहीं है ।

इस श्लोक के माध्यम से ही शास्त्रकार कर्क से छः छः अङ्गुल के अन्तर पर विश्रान्त राशियों की संक्रान्तियों का निरूपण कर रहे हैं । शास्त्र के अनुसार शक्ति प्रसार के क्रम में प्राणहंस हृदब्ज की ओर प्रस्थान करता है । सर्वप्रथम वह मिथुन के बाद कर्क राशि में प्रवेश करता है ।।११२।।

तत्पश्चात् ६ अङ्गुल छोड़कर 'हंस' सिंह राशि में संक्रमण करता है । पुनः छः अङ्गुल छोड़कर कन्या में संक्रमित होता है । नासिका के अग्रभाग से ताल्वन्त छोड़कर यहाँ भी विषुवत्संक्रान्ति होती है । इसे तुला संक्रान्ति कहते हैं । यह दक्षिण विषुवत् होता है ।

यहाँ शक्ति साधन रूप ही मानी गयी है । उसको अधः व्यापिनी शक्ति कही गयी है । वह वहाँ से ब्रह्मरन्ध्र होती हुई नीचे चलती है तो कर्क के समान ही 'हंस' अधोमुख हो जाता है । वहाँ से चलकर सदाशिवपद पर पहुँचते ही अशेष विश्व को आक्रान्त करने के कारण और नदन (गर्जन) प्रधान होने के दो गुणों के कारण इसे सिंह कहते हैं ।

'शक्ते:' साधनरूपाया अधो व्यापिनीशक्ति: । ब्रह्मरन्ध्रादिपदे कर्कट इव अधोवक्त्रो हंस:, तत: सदाशिवपदे नदनप्रधानत्वाशेषविश्वाक्रमणकारित्वाभ्यां सिंह:, ततो भ्रूमध्यादौ बैन्दवप्रकाशप्राधान्याद्दीप्तिकान्तियोगात्सर्वसाधारणप्रसरण-रूपगतितश्च कन्याशब्दवाच्य:, ततोऽपि तालुमध्ये समत्वेनावस्थिततत्वात् तुला-रूप:, साम्यादेव च विषुं व्याप्तिमर्हतीति कृत्वा विषुवच्छब्दाभिधेय: । पुनर्विषुव-दिति पूर्वोक्तोत्तरविषुवतोऽन्योऽयं विषुवत्काल इत्यर्थ: ।।११४।।

अन्यत्वादेव च–

साधनं यत् कृतं तत्र इह जन्मनि कामदम् ।

तदित्यर्थात् । अतश्च–

मृत्योर्जयं तथा शान्तिं पुष्टिं तस्मात्समारभेत् ।।११५।।

तस्मात्स षड्रसाहारो गलाध: प्रीणयेत्तनुम् ।

एषोत्तमादिरूपा त्रिविधात्र सिद्धि: । स इति दक्षिणविषुवत्कालस्थस्तुल्य: । अत एवात्रैहिकं क्रूरकर्म न फलति इति तत् सर्वरससंहारिपौषमासाधिष्ठातृधन्वि-चारविश्रान्त्या कार्यमित्यर्थलभ्यमत्र ।

भ्रूमध्य के आदि में कन्या की संक्रान्ति होती है । इसमें बैन्दवी कला का प्रकाश ही प्रधान रूप से काम करता है । परिणामत: दीप्ति और कान्ति के योग से सर्वसाधारणवत् प्रसरित होने की सक्रियता रूप गतिशीलता आ जाती है । यह कन्या का स्वभाव होता है । अत: इसे कन्या कहते हैं ।

इसके अधोभाग में तालु के मध्य में समान तुलावत् स्थिति के कारण तुला संक्रन्ति होती है । साम्य के आधार पर ही व्याप्ति रूप विषुभाव को प्राप्त करने के कारण इसे विषुवत् कहते हैं । पूर्वोक्त विषुवत् अर्थात् (उत्तर विषुवत्) के अतिरिक्त यह दूसरा विषुवत् दक्षिण विषुवत् संज्ञा से विभूषित होता है ।।११३-११४।।

यह काल बड़ा पुण्यकाल माना जाता है । इसमें जितनी साधना की जाती है, वह इसी जन्म में फलवती होती है । मृत्यु के ऊपर विजय भी इस जप से अवश्य प्राप्त होती है । उपद्रवों के विरुद्ध शान्ति का वातावरण मिलता है तथा शारीरिक विकृतियों को निराकृत कर पुष्टि भी होती है । इसलिये इस काल के अन्तराल में ही इसकी साधना होनी चाहिये ।।११५।।

इन छ: राशियों में गतार्थ ऋतुओं के षड्रस व्यञ्जन हैं, वे शरीर में कण्ठ के नीचे उतरते हैं । उनसे शरीर का संपोषण होता है । सिद्धिप्रदता में षड्रसता

अथ–

षडङ्गुलानि त्यक्त्वा तु वृश्चिके क्रमते पुनः ।।११६।।

कण्ठोर्ध्वं द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा कण्ठाधश्चतुरङ्गुलम् ।

तालुतलादष्टाङ्गुलात्कण्ठात्षडङ्गुलानि त्यक्त्वा यत् प्रवेशापेक्षया ऊर्ध्वं प्राणोल्लासापेक्षया त्वधस्तनमङ्गुलद्वयं त्वक्त्वा कण्ठाधः षडङ्गुले क्षेत्रे प्रथममङ्गुलचतुष्टयम् तत्र पूर्वाङ्गुलद्वयेन सह षडङ्गुले वृश्चिकवन्निश्चलमव-स्थाय शनैः शनैः प्रसर्पणाद् वृश्चिकः । अथ–

वृश्चिकं तु परित्यज्य धन्विसंक्रान्तिरुच्यते ।।११७।।

षडङ्गुलादधस्तात्तु धन्वि[1]स्थश्चरते हृदि ।

'अधस्तात्' इत्यधःस्थं षडङ्गुलमाश्रित्य, हृदि 'चरति' विश्राम्यति । तत्र चायं हंसो बद्धलक्ष्यत्वाद्धन्वीत्युच्यते । तदित्थम्–

हृत्पद्मान्तं तु वै हंसश्चरित्वा ऊर्ध्वगोदयः ।।११८।।

पुनः प्राणवृत्तिं श्रयतीत्यर्थः ।।११८।।

की सिद्धि दक्षिण विषुवत् के अनुरूप ही है । इसमें किये गये क्रूर कर्म फली-भूत नहीं होते । सर्वरससंहरण करने में दक्ष पौष मास में धनु राशि का चार होता है । वहाँ तक उक्त साधनायें पूरी कर लेनी चाहिये ।

तुला राशि के सन्दर्भ के मध्यान्तर उक्त बातें कही गयी है । अब तुला के बाद वृश्चिक राशि के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि, देवि ! तुला के छः अङ्गुलों का त्याग कर पुनः वृश्चिक राशि में प्रवेश करते हैं । तालुतल से आठ अङ्गुल कण्ठ माना जाता है । आठ अङ्गुल में छः अङ्गुलों का त्याग कर प्राणोलास की अपेक्षा अधोभाग में अवस्थित दो अङ्गुल कण्ठ के नीचे के छः अङ्गुल के पहले वाले चार+२=छः अङ्गुलों में वृश्चिक राशि होती है । वृश्चिक स्थिर रहने के बाद शनैः शनैः प्रसर्पण करता है । उसी स्वभाव के कारण इसे वृश्चिक कहते हैं । वृश्चिक के छः अङ्गुल छोड़कर धनुराशि में प्रवेश करते हैं ।।११६-११७।।

धनु की संक्रान्ति में हृदय पर्यन्त के अङ्गुल मात्र क्षेत्रस्थ धनु हृदय देश में विश्रान्ति लाभ करता है । हृदय क्षेत्र का प्राणहंस बद्धलक्ष्य होने के कारण धनु या धन्वी कहलाता है । हृदय पर्यन्त विश्रान्ति के उपरान्त प्राण हंस अब पुनः ऊर्ध्व की ओर गतिशील होता है । अब तक अपान वृत्ति का आचरण करने वाला हंस अब प्राणवृत्ति के आश्रय-ग्रहण के लिये सक्रिय हो जाता है ।।११८।।

---

१. ख. पु. धन्विभूः इति पाठः ।

उपसंहरति–

मकरादिषु संक्रान्तो द्वादशैवं चरेत्सदा ।

अमुनोक्तक्रमेणैव आयुर्वै सर्वदेहिनाम् ।।११९।।

'संक्रान्तौ' इति जातावेकवचनाद् मकरादिषु याः संक्रान्तयः, तासु 'एवं' उक्तक्रमेण 'द्वादश' इति माघादीन्मासान् 'सदा' प्रतिप्राणचारं हंसश्चरेत् । किमवधीत्याह–'आयुर्वै सर्वदेहिनाम्' यावज्जीव[१]मित्यर्थः ।।११९।।

अथ प्रबुद्धस्य नित्यमेव संक्रान्तिदक्षिणायनोत्तरायणादिपुण्यकाललाभात्तत्तत्सिद्धिसमासादनमनायासेन जायते । तदेतदाह–

ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।

साधकानामत्रस्थानां भवति । उपसंहरति–

अयनद्वयमाख्यातं

अत्र च मकरादिषु द्वादशसु कार्यस्य गर्भत्वम्, प्रोद्बुभूषिष्यत्त्वम् प्रोद्बुभूषत्त्वम्, उद्भविष्यत्त्वम्, उद्भवप्रारम्भः, उद्भवत्त्वम्, जन्म, सत्ता, परिणतिः, वृद्धिः, ह्रासः, क्षयश्च क्रमाद्भवति । अतोऽत्र जपादिक्रियैतादृगेव फलं सूते–इति गुरवोऽभ्यधुः ।

मकर से धन्वी पर्यन्त ये १२ संक्रान्तियाँ एक श्वास निःश्वास में निरन्तर चलती रहती हैं । इनका क्रम उक्त श्लोकों में व्यक्त किया गया है । प्राणियों की आयु का निर्धारण इन्हीं संक्रान्ति में संक्रमण पर निर्भर करता है । आजीवन यह प्रक्रिया चलती रहती है ।।११९।।

इस प्राणापानवाह के जानकार पुरुष 'प्रबुद्ध' कहलाते हैं । ऐसे पुरुषों के लिये हृदय से मध्य और ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त प्राणचार में और द्वादशान्त से हृदय पर्यन्त अपान चार में अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन तथा दक्षिणायन से उत्तरायण के क्रम से उक्त बारहों संक्रान्तियाँ नित्य घटित होती रहती हैं । इनके पुण्यकाल भी इनके साथ ही होते रहते हैं । उनमें जप ध्यान अर्चा आदि से उनसे सम्भूत सिद्धियाँ भी निश्चित रूप से मिलती ही हैं । इनके लिये कोई अन्य आयास नहीं करने पड़ते । वही कह रहे हैं–

इन पुण्यकालों में सक्रिय रहने से ऐहिक और पारलौकिक अधम, मध्यम और उत्तम श्रेणी की सभी सिद्धियाँ प्रबुद्ध साधकों को अनायास उपलब्ध

---

१. ख. पु. यावज्जीवितमिति पाठः ।

यदा तु प्राणापानयातायातपरिहारेण हृदि द्वादशान्ते च विश्रान्तिः क्रियते, तदा–

मोक्षसिद्धिर्द्वयोज्झिता ।।१२०।।

'द्वयेन' भेदेन 'उज्झिता' अद्वयमयी महासाधकस्य भवतीत्यर्थः ॥१२०॥

यतोऽसौ महासाधकः–

अयनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते सदा स्थितः ।

यदा यदा अयनद्वयमाश्रयति, तदा तदा 'उन्मन्यन्ते' इति प्राणापानप्रशमपदे द्वादशान्ते हृदि च परतत्त्वानुभवे विश्राम्यति ।

यद्यपि पूर्वमुन्मन्यन्तता द्वादशान्त एवोक्ता, तथापीहायनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते–इत्यभिदधद्द्वादशान्ताविभिन्ना हृदि व्याप्तिरस्तीति दर्शयति । अत एव–

रहती हैं । यही उत्तरायण और दक्षिणायन के प्राणाचार का आन्तर और बाह्य रहस्य है ।

इन मकर आदि द्वादशराशियों में कार्य की १–गर्भावस्था, २–विशेषरूप से उद्भूत होने की भविष्णुता, ३–उद्बुभूषा का भाव, ४–उद्भविष्यता, ५– उद्भव का प्रारम्भ, ६– जन्म, ७–सत्ता, ८–परिणति, ९–वृद्धि, १०–ह्रास, ११–जीर्णता और १२–क्षय ये क्रमशः घटित होते रहते हैं । अतः इनमें जपादि क्रियाओं से अनुरूप फल प्रसूति होती रहती हैं अर्थात् फल मिलते रह सकते हैं, यह गुरुपरम्परा से प्राप्त जपानुसार तथ्य है ।

जब प्राणापान के निर्गम और प्रवेश व्यापार का योगी परिहार कर लेता है और हृदय या द्वादशान्त में विश्रान्ति में तन्मय हो जाता है, उस समय, मोक्ष की द्वैत भाव के विपरीत अद्वयमयी महासिद्धि प्राप्त होती है । ऐसे साधक महा साधक कहलाते हैं । अर्थात् ऐसे साधकों का शृङ्गार स्वयं मोक्ष लक्ष्मी करती है और अक्षय सत्ता का सद्भावातादात्म्य प्रदान करती है ॥१२०॥

क्योंकि ऐसा महासाधक दोनों अयनों में द्वादशान्त में ही अवस्थिति का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है । क्रमशः प्राणापान के प्रथम पद रूप उन्मनान्त में और हृदय में ही सदा अवस्थित रहता है । वहीं विश्रान्ति लाभ लेता है । यहाँ एक तथ्य की ओर प्रबुद्धवर्ग का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं–

वस्तुतः पहले की उक्तियों में यही प्रतिपादित है कि, उन्मना का अन्त ही द्वादशान्त होता है । यहाँ पर कुछ भिन्न स्थिति है । श्लोक में 'अयनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते' पाठ के कारण द्वादशान्त से अद्वयमय हृदय पर्यन्त व्याप्ति का अर्थ

'द्वादशान्ते च हृदये...............' ।

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् । अतश्च–

तत्रस्थो वै जपध्यानान्मोक्षसिद्धिमवाप्नुयात् ।।१२१।।

जपध्यानप्रमुखं यस्तत्र परतत्त्व एव तिष्ठति विश्राम्यति, स मुच्यत इत्यर्थः ।।१२१।।

अत एवेत्थं स्वभावेनैव[१]–

मोक्षं गत्वा तु नागच्छेत्प्रतिज्ञा भैरवस्य तु ।

प्रतिज्ञा भैरवस्य, न तु श्रीकण्ठोमापत्यादेरित्यनेन सर्वथा द्वादशान्तहृदययोर्विश्रान्तिः कर्तव्या–इत्यादिष्टम् ।

तथा द्वादशवर्षसाध्यमपि कार्यं सुसूक्ष्मतमस्थित्या प्राण एव द्वादशवत्सरव्याप्तिमवगत्याप्रयासेनैव साधकः साधयेदिति शिक्षयन्द्वादशाब्दोदयमादिशति देवः–

अस्मिन्नब्दोदये भूयो द्वादशाब्दोदयं शृणु ।।१२२।।

व्यक्त हो रहा है । अन्यथा दोनों अयनों के अन्त को उन्मन्यन्त क्यों कहते ? इस आधार पर हृदय भी द्वादशान्तमय कहा जा सकता है । इसीलिये एक स्थान पर 'द्वादशान्त और हृदय में समान व्याप्ति होती है' यह कहा गया है । इसलिये इन दोनों स्थानों में जप, ध्यान अर्च्चा आदि प्रक्रिया अपनाने से मोक्ष सिद्धि प्राप्त होती है, यह कहा गया है । अर्थात् जप ध्यान आदि को प्रमुखता देने वाला पुरुष सदा परतत्त्व में ही अवस्थित रहता है ।।१२१।।

इसलिये इस प्रकार के 'स्व' भाव में अवस्थित प्रबुद्ध पुरुष मोक्ष प्राप्तकर लेने के उपरान्त पुनः अवागमन रूप जन्म मरण के चक्कर में नहीं पड़ता, यह भगवान् भैरव की प्रतिज्ञा है । यह श्रीकण्ठ और उमापति आदि की प्रतिज्ञा नहीं हैं । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, यदि शाश्वत तादात्म्य की इच्छा हो, तो इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रखते हुए नित्य द्वादशान्त और हृदय में विश्रान्ति करके जीवन में भैरव सद्भाव सिद्धि का सौभाग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिये ।

इस प्रकार जो कार्य बारह वर्षों में साध्य होता है, सुसूक्ष्म स्थिति के कारण प्राण में द्वादश वत्सर व्याप्ति के हिसाब से अनायास ही साधक साध लेता है । यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । एक वत्सर की इस चामत्कारिक शिक्षा के उपरान्त भगवान् द्वादशाब्द के उदय की बात सुना रहे हैं ।

---

१. ख. पु. स्वानुभावेनैवेति पाठः ।

तत्र द्वादश चैत्रादयोब्दमाससमानसमाख्याः ॥१२२॥

चैत्रसंवत्सरे यस्मान्मासानामुदयो[1] भवेत् ।

तदादि साधकैस्तस्मात्कर्तव्यं मन्त्रसाधनम् ॥१२३॥

'तदादि' इति चैत्रनामानं संवत्सरमादिभूतं कृत्वा ॥१२३॥

प्रागुक्तचैत्रादिमासोदयकाल एवात्र चैत्रादिसंवत्सरोदयकाल इत्याह–

द्वादशाब्दः स विज्ञेयश्चैत्रमासाद्वरानने ।

अष्टाङ्गुलात्कण्ठादङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा षडङ्गुलं यत्प्राक् चैत्रमासस्योक्तं स्थानम्, तदेव चैत्रसंवत्सरस्य । अथ–

लक्षणं तस्य वक्ष्यामि प्राणेऽस्मिन्प्रविभागशः ॥१२४॥

तत्र संवत्सरेणैव अमुनोक्तेन सुव्रते ।

अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तो द्वादशांशं भजेत्प्रिये ॥१२५॥

वे कहते हैं कि, अब इसके आगे इस अब्दोदय में ही द्वादश वर्षों के एक कालावधि का वर्णन करने जा रहे हैं । देवि ! इसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥१२२॥

चैत्र संवत्सर से ही भारतीय पञ्चाङ्गानुसार मासों के प्रारम्भ होते हैं । वहीं से प्रारम्भ कर साधकों द्वारा अपनी साधना शुरू करनी चाहिये अर्थात् चैत्र से ही यह कार्य प्रारम्भ होना चाहिये ॥१२३॥

पहले कहा गया चैत्र आदि मासों के उदय का काल ही चैत्रादि संवत्सरोदय काल है । यही प्रतिपादित किया जा रहा है । भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि सुरेश्वरि ! चैत्र मास से ही द्वादशाब्द की प्रतिपत्ति करनी चाहिये । हृदय से कण्ठ की अवस्थिति आठ अङ्गुल की होती है । उसमें से दो अङ्गुल छोड़कर शेष का प्राक् बिन्दु चैत्र मास का उदय स्थान माना जाता है । वही स्थान चैत्र वत्सर का भी होता है । छः छः अङ्गुल के चार विभाग ही मासों के होते हैं । वही बिन्दु चैत्र संवत्सर के भी होते हैं । इनके लक्षण का कथन (प्राणचार की परम्परा में ही) कर रहे हैं ॥१२४॥

भगवान् सुव्रता भगवती को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, इस अहोरात्र के ७२ अङ्गुल के बारह भाग करने चाहिये । ये १२ अहोरात्र ही १२ वर्ष के होते हैं । यह आन्तर प्राण संवत्सर हैं । आन्तर प्राण संवत्सर की गणना आन्तर अहोरात्र के आधार पर कर लेनी चाहिये । आन्तर अहोरात्र अङ्गुल का $^{१}/_{५}$ भाग के परिणाम के बराबर का होता है ।

---

१. ख. पु. मन्त्राणामुदय इति पाठः ।

द्वादश ते अहोरात्रा द्वादशाब्दे भवन्ति वै ।

आन्तरेण प्राणसंवत्सरेण य आन्तरोऽहोरात्रोऽङ्गुलपञ्चमभागपरीमाणस्तस्य द्वादशमंशं द्वादशाब्दोयेऽहोरात्रो भजते । एवं चाङ्गुलस्य षष्टितमोऽसौ भागो भवति । इत्थमहोरात्रं द्वादशाहोरात्रा भवन्ति । तथा च सत्यङ्गुले षष्टिरहोरात्राणां जातेति ।

पञ्चभिस्तांस्तु संगुण्य द्वादशाब्द ऋतुर्भवेत् ।।१२६।।

मासद्वयमित्यर्थः ।।१२६।।

तमेव द्विगुणं कृत्वा कालस्तु स विधीयते ।

चतुर्मासाख्यः ।

त्रिगुणेनैतदयने

अङ्गुलत्रयेण त्रिगुणेनर्तुनाद्यमुत्तरायणम् ततोऽन्यत्र त्रये दक्षिणायनम् । तदेवम्–

वत्सरः षड्गुणेन तु ।।१२७।।

तदित्थम्–

संक्रान्तयो द्वादशात्र यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः ।
द्वादशाब्दोदये प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः ।।१२८।।

आन्तर प्राण संवत्सर से आन्तर अहोरात्र अङ्गुल के पञ्चम भाग के बराबर होता है । इसका भी बारहवाँ भाग बारह वर्षीय उदय बिन्दु पर शुरू होता है । अर्थात् एक अङ्गुल का साठवाँ भाग होता है । इस प्रकार के एक अहोरात्र में १२ १२ अहोरात्र हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में अङ्गुल मात्र में ६० अहोरात्र सम्भव होते हैं । यह सूक्ष्म गणना आन्तर प्राणचार में घटित होती है ।

द्वादशाब्द रूप बारह अहोरात्र में ५ का गुणा करने पर ६० अहोरात्र की एक ऋतु होती है । ऋतु दो मास की होती है । यह बाह्यकाल के गणक निश्चित रूप से जानते हैं ।।१२६।।

इसे द्विगुणित करने पर एक काल का परिमाण होता है । बाह्यकाल भी दो ऋतुओं का माना जाता है । यह चार माह के बराबर का होता है । काल को त्रिगुणित करने पर अयन होता है । तीन ऋतु के बाराबर एक उत्तरायण और द्वितीय तीन ऋतुओं से दक्षिणायण होता है । काल को छः गुना करने पर एक वत्सर का समय पूरा होता है ।।१२७।।

यद्वदिति षडङ्गुलकलनया ॥१२८॥

अथ ते–

द्वादशाब्दे त्वहोरात्राः

सम्भवन्ति ।

तेषां सङ्ख्यां निबोध मे ।

सहस्राणि तु चत्वारि त्रिशती विंशतिस्तथा ॥१२९॥

द्वादशाब्दोदये देवि प्राणेऽस्मिन्कथिता मया ।

'प्राणे द्वादशाब्दोदये' इति सामानाधिकरण्ये सप्तम्यौ ।

अथातिसूक्ष्मया व्यवस्थया–

षष्ट्यब्दोदयमत्रैव पुनश्च कथयामि ते ॥१३०॥

आनन्दाद्यास्तु ते ज्ञेयाः षष्ट्यब्दास्तु वरानने ।

'अत्रैव' इत्येकत्र प्राणचारे । तदाह–

ते चाध ऊर्ध्वगे प्राणे एकस्मिन्सुरसुन्दरि ॥१३१॥

छः अङ्गुल के विभाजन के अनुसार द्वादश संक्रान्तियाँ एक वर्ष में सम्पन्न होती हैं । पहले यह कहा गया है कि, उसी तरह द्वादश अब्दों की गणना के अनुसार प्राणचार के वर्ष माने जाते हैं ॥१२८॥

द्वादश अब्दों में द्वादश अहोरात्र श्लोक १२६ में कहे भी गये हैं । प्राणीय द्वादशाब्द में ४३२० अहोरात्रों की संख्या उक्त गणना के अनुसार हो जाती है । यह भगवदुक्ति देवी के प्रति उन्हीं को सम्बोधित कर कही गयी है । यहाँ प्राण और द्वादशाब्दोदय के सामानाधिकरण्य को और उनमें प्रयुक्त विभक्ति के निहितार्थ को समझना आवश्यक है, यह संकेतित है ॥१२९॥

प्राणे और द्वादशाब्दोदय इन दोनों में सामानाधिकरण अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है । प्राणचार की काल सीमा में १२ वर्षों का उदयास्त का साक्षी योगी होता है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! मैंने उसे तुम्हें सुनाया । यह प्राणाचार की अत्यन्त सूक्ष्म गणितीय व्यवस्था है । इसी क्रम में एक प्राणचार में ही ६० वर्षों के उदय की सूक्ष्म का वर्णन करने जा रहा हूँ । इन संवत्सरों के आनन्द आदि नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं ॥१३०॥

प्राण जब ऊर्ध्वग होता है और मध्यद्वादशान्त की अमाकला में विश्रान्ति के बाद अधः अर्थात् सोम बनकर जब शरीर में जीवन सुधा लेकर आता है, दोनों अवस्थाओं में हे देवि प्रविभाग पूर्वक सूर्य और सोम रूपी प्राणापान चलते रहते हैं । मैं तुमसे इसी विषय में यहाँ कुछ कहना चाहता हूँ ॥१३१॥

चरन्ति प्रविभागेन तथा ते कथयाम्यहम् ।

अतश्च षष्ट्यब्दसाध्यां सिद्धिं यो वाञ्छति, असावान्तरादानन्दाख्याद्वर्षात्प्रभृति मन्त्राराधनमुपक्रमेत इत्याह–

आनन्दप्रभृतेर्देवि मन्त्रमाराधयेत्तु यः ।।१३२।।
तस्यानन्दस्तु देवेशि मन्त्रेण सह जायते ।

मन्त्रस्य परनिष्कलस्वभावतया अशेषविश्वनिर्भरत्वेन परमानन्दरूपत्वात्तदभेदविमर्शमयप्राणोच्चारज्ञस्य आनन्दमयतैव भवति । ततश्चेहाभिहितषष्ट्यब्दोदयस्थित्या सर्वमेव पुरुषायुषं यन्नित्यकर्मावश्यकर्तव्यम्, तदेकत्रैव प्राणचारे व्याप्तिज्ञस्य सकृदेव कृतं सर्वदैव कृतं भवति ज्ञानिनः । सिद्धिकामस्य तु षष्टिवर्षसाध्यम्, तदीयवत्सरे तत्तत्साध्यं वा कर्म प्राणीयव्याप्तिज्ञानपूर्वकं कुर्वतो न विसंवदतीत्याशयेनेह साधकाधिकारे षष्ट्यब्दोदयादधिकं नोक्तम् ।

भगवान् कहते हैं कि, जब साधक एक प्राण में ही ६० वर्षों की साधना पूरी करना चाहे, तो उसे आनन्द वत्सर के आरम्भ से ही साध्य की आराधना शुरु करनी चाहिये । आनन्द वत्सर से मन्त्राराधन प्रारम्भ करना उचित है । साधक के मन्त्र जप के साथ ही आनन्द सौभाग्योदय होने लगता है ।।१३२।।

वस्तुतः मन्त्रों का स्वभाव परनिष्कल स्वभावमय ही होता है । इसी मन्त्रशक्ति पर सारा विश्व प्रसर निर्भर करता है । मन्त्र स्वयं परमानन्द रूप होते हैं । प्राणोच्चार इसी मन्त्रात्मक परमानन्द रूप अभेद विमर्श के प्रतीक होते हैं । साधक मन्त्र और प्राणोच्चारात्मक परमानन्दात्मक आनन्दमय विमर्श का साक्षी होता है और इस रहस्य का विशेषज्ञ होता है । परिणामतः मन्त्रानन्द, प्राणानन्द और संवत्सर संज्ञक आनन्द की एक रूपता के कारण साधक के जीवन में भी आराधना के आरम्भ से ही आनन्द की पीयूष–वर्षा होने लगती है ।

इसका परिणाम यह होता है । षष्ट्यब्द के उदय से लेकर अस्त पर्यन्त एक प्राणचार में ज्ञानी पुरुष के साठ वर्षों के काम पूरे हो जाते हैं । वह एक प्राणचार में ६० वर्ष जी लेता है और पूरे जीवन अनन्त साठ वर्षों के जीवन का आनन्द लेकर परमानन्द परमेश्वर का तादात्म्य पा लेता है ।

सिद्धि की इच्छा से साधना में लगे बुभुक्षु साधक द्वारा साठ वर्षों में पूरी होने वाली आनन्द वर्षिणी कर्मठता को या कर्म राशि को इसी एक प्राणचार में पूरी कर लेने की निष्ठा के कारण एक प्राणचार में ही पूरी कर उनका फल पा लेता है । इस प्राणीय-व्याप्ति की जानकारी रहने पर साधक सबका सुख भोग लेता है । इसमें किसी को कोई विसंवाद नहीं हो सकता ।

श्रीनन्दिशिखायां तु ज्ञानव्याप्त्यभिप्रायेण विंशत्यधिकशतोदयोऽप्यभिहितः । एवं च ज्ञानयोगिनामेवं प्राणे व्याप्तिज्ञानात्सर्वमयत्नेन सिद्ध्यत्येव । यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः–

'साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन्भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति' ॥ इति ॥

(स्तोत्राव० १/४)

किञ्च–

द्वादशाब्दे त्वहोरात्रं पञ्चधा भेदयेच्च तम् ।।१३३।।
षष्ट्यब्दे ते त्वहोरात्राः पञ्चैव परिकीर्तिताः ।

द्वादशाब्दोदयेऽङ्गुलस्य षष्टितमो भागोऽहोरात्रः–इत्युक्तम् । इदानीं तु तमपि पञ्चधा भेदयेत् । एवं षष्ट्यब्दोदये प्राणाङ्गुलस्य त्रिशततमो भागोऽहोरात्रो भवति । तदनया सुसूक्ष्मया स्थित्या–

ते वै षड्गुणितास्तत्र मास एकः प्रकीर्तितः ।।१३४।।

साधना के अधिकार में यद्यपि नन्दि शिखा ग्रन्थ में १२० अब्दोदय की बात भी कही गयी है, फिर भी स्वच्छन्द भट्टारक ने मात्र साठ वर्षों को ही एक प्राणचार में भोग लेने की वैज्ञानिकता को यहाँ व्यक्त किया है । इससे अधिक के कथन को अनुपयोगी मानते हैं और शास्त्रकार इतने कथन को ही पर्याप्त मानते हैं । यह भी व्यक्त करना चाहते हैं कि, प्राण में काल व्याप्ति के इस विज्ञान को जानने वाले योगी के लिये सब कुछ अनायास ही सिद्ध हो जाता है । श्रीमान् उत्पल देव पाद ने इसी अभिप्राय से कहा है कि, हे नाथ ! साक्षात् आप रूप इस भुवनान्तर अर्थात् विश्व में आपके भक्तों के लिये कुछ भी असाध्य नहीं हैं । तथा मन्त्रों द्वारा इनके कौन काम पूरे नहीं होते अर्थात् सभी पूरे हो जाते हैं ॥१३२-१३३॥

बारह वर्षों की इस काल–सीमा में अहोरात्र को पाँच भागों में बाँट देते हैं, इस तरह १२×५=६० भाग का ही एक अहोरात्र माना जाता है । अब इसे भी पाँच भागों में विभाजित करने से ३०० भाग का एक अहोरात्र परिगणित होता है । इस अत्यन्त सूक्ष्म गणना के अनुसार इसे छः से पुनः गुणित करने पर एक माह का क्रम प्रतीत होता है । इन्हें १२ से गुणा करने पर एक वर्ष की काल सीमा इतने में सिमट जाती है ॥१३४॥

तैश्च द्वादशभिर्देवि वर्षमेकं विधीयते ।

'ते' इति द्वादशाब्दोदयेऽहोरात्राः । 'तैः' इति तथाभूतैर्मासैः । एवञ्च–

अङ्गुले तु सपञ्चांशे मानमेतत्प्रकीर्तिम् ।।१३५।।

अहोरात्रशतत्रयात्मन्यङ्गुले मासदशकम्, अहोरात्रषष्ट्यात्मनि चाङ्गुल-पञ्चमांशे मासद्वयम्–इति कृत्वा सपञ्चांशेऽङ्गुले 'एतत्' इति षष्ट्यब्दोदये वर्ष-मानमुक्तम् ।।१३५।।

तदित्थम्–

षडङ्गुलैस्तु पञ्चाब्दाः षष्ट्यब्द उदयन्ति ते ।

द्वादशाब्दोदयस्थित्या वर्षोदयाश्रयैः षड्भिरङ्गुलैरिह पञ्च वर्षाणि भवन्ति । मासदशकोदयात्मकोऽङ्गुलः–इति तैः षड्भिः षष्टिमासानां वर्षपञ्चकारम्भिणां निष्पत्तिः । अनया च कलनया–

हृत्पद्माद्याव शक्त्यूर्ध्वं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ।।१३६।।

पुनरपि–

शक्त्यधो यावद्धृत्पद्मं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ।

किञ्च–

षष्ट्यब्दे ये त्वहोरात्राः सङ्ख्यां तेषु वदाम्यहम् ।।१३७।।

इस प्रकार के पञ्चांश विभाजित एक अङ्गुल मेय उक्त मान में बन जाता है । इस अङ्गुल का ३००वाँ भाग केवल प्राणचार की स्थिरता में ही संभव है । इसमें दश मास ही पूरे होते हैं । साठ अहोरात्रात्मक अङ्गुल के पंचमांश में दो मास, इन दोनों को मिलाने से एक वर्ष पूरा हो जाता है । इस तरह साठ वर्षोदयों के अन्तराल का यह एक मास माना जाता है ।।१३५।।

छः अङ्गुलों में ५ वर्षों के उदय का क्रम द्वादशवर्षोदयों में वर्ष के उदय क्रम के अनुसार मापा जाना चाहिये । तभी छः अङ्गुलों में पाँच वर्षोदयों की गणना स्पष्ट हो सकेगी । दशमासात्मक एक अङ्गुल और ऐसे छः अङ्गुलों में साठ मासों के पाँच वर्षोदयों की निष्पत्ति सरलता से समझी जा सकती है । इस गणना के अनुसार हृदयपद्म से समना पर्यन्त ३० वर्षोदय हो जाते हैं ।।१३६।।

शक्ति क्षेत्र अर्थात् समना से अधोभाग की ओर जब प्राण सूर्य सोम बन कर शरीर में जीवन पीयूष कलश लेकर उतरता है, तो पूर्णिमा में आते आते ३० वर्ष ऊपर की तरह ही हो जाते हैं । इन साठ वर्षों में कितने अहोरात्र होते हैं, इसकी संख्या भी शास्त्रकार द्वारा परिगणित है ।।१३७।।

विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम् ।
अहोरात्रास्तु षष्ट्यब्दे सङ्ख्यातास्तु वरानने ।।१३८।।

बाह्याहोरात्रगतप्राणचारसङ्ख्याः ।।१३८।।

उपसंहरति–

षष्ट्यब्दोदय आख्यातः प्राण एकत्र ते मया ।

अत्र षष्ट्यब्दोदयान्ते प्रयोजनमाह–

चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च ।।१३९।।
युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽप्यथ ।
वर्षद्वादशके चैव षष्ट्यब्देऽथ वरानने ।।१४०।।
स्नानदानेन यज्ञैश्च पूजाहोमजपेन च ।
ज्ञानयोगा[1]दिभिश्चैव बाह्ये काले तु यत्कृतम् ।।१४१।।

इनकी संख्या भी २१६०० बार ही मान्य है एक अहोरात्र में मनुष्य साँस भी इतनी ही लेता है । इससे यह गणना सटीक मानी जाती है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! मैंने स्वयं गणित के अनुसार निष्पन्न इस संख्या को तुम्हें बताया है । यह प्राणचार की सूक्ष्म गणना का चमत्कार है । इसमें पूर्णिमा में चन्द्रग्रहणों, अमावस्या में सूर्यग्रहणों, पक्षों, मासों और अयनों की गणना भी होती है ।।१३८-१३९।।

इनमें युगों, युगान्तों, संवत्सरों, द्वादशाब्दों, षष्ट्यब्दों आदि में करणीय स्नान, दान, याग-यज्ञ, पूजा-होम और जप आदि के विधान को योगी ज्ञान-योग के अनुसार सम्पन्न करता रहता है । यह काल की गणना का सूक्ष्माति सूक्ष्म क्रम है । इसमें सम्पन्न सभी कार्य अत्यन्त सफल और सुफलप्रद माने जाते हैं ।

(यह गणना की सूक्ष्मता का एक चित्र है । इसमें चैत्र (चित्रा नक्षत्र) आषाढ (उत्तराषाढ) आश्वयुज (अश्विनी) और पौष (पूर्वाषाढा) मासों में युगोदय की स्थिति तथा सिंह, कन्या, मिथुन और मीन राश्यंशों को भी योगी साक्षात् सिद्ध कर लेते हैं) ।।१४०-१४१।।

---

१. ख. पु. योगतपोभिश्च तथा ग. पु. ध्यानयोगेति पाठः ।

अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत् ।

'बाह्ये' चन्द्रोपरागादौ षष्ट्यब्दान्ते 'अमुना आन्तरेण प्रकारेण उक्ते तस्मिन्नेव काले स्नानदानादिक्रमेण कृतं 'तत्फलं महत्' अनन्तं साधको लभते । एवं युगोदयस्थित्या चैत्राषाढाश्वयुजपौषाणां सि.......शादीनि चत्वारि साधयति ।

प्राणहंसगतिं चारे ज्ञात्वैकस्मिंस्तु तद्व्रजेत् ।।१४२।।

प्राणस्य हंसत्वं प्राग्वत् । 'चारे प्राणापानवाहे षष्ट्यब्दान्तव्याप्तिके । 'तत्' इति चन्द्रग्रहादिकम् ।।१४२।।

नन्वेवं वस्तुवृत्तेन तद्व्याप्तिवत्त्वं प्राणस्य कथं प्रतिभागोचरतामेतीत्याशङ्क्याह–

स्वसंवेद्यो भवेच्चारो नाडीचारजयात्स्फुटम् ।

नाडिषु 'चारस्य' वाहस्य 'जयात्' अभ्यासेन संचरणस्वातन्त्र्यलाभात् सर्वा प्राणीया व्याप्तिर्मध्यमार्गे व्यक्तीभवति, अतो योगाभ्यासे यत्नः कार्य इति तात्पर्यम् । योगाभ्यासप्रावीण्ये सति–

अथवा स जपादेवमत्यर्थमुपबृंहितः ।।१४३।।

प्राण हंस के चार की इस सूक्ष्मता का ज्ञान साधक को काल के अन्तराल में झाँकने का अवसर प्रदान करता है । इन अनुभूतियों में जीवन की स्पन्दनशीलता का साक्षात्कार होता है । श्वास की सक्रियता में योगी का प्राणहंस चिति के मौक्तिक चुगता रहता है । साधक को भी उसका साथ देना चाहिये । अर्थात् प्राणापानवाह की इस प्रक्रिया रूप षष्ट्यब्दोदय के अन्तराल में सबका अनुभव करते हुए परमेश्वर के ऐश्वर्य रस में डूबना चाहिये ।।१४२।।

यह प्रश्न सामने आता है कि, इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्मता को अनुभव में कैसे उतारा जा सकता है । सबके लिये यह सरल नहीं हो सकता । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि,

यह चार का क्रम तभी स्वसंवेद्य हो सकता है, जब साधक नाडीसन्धान करते हुए उसकी गति पर विजय प्राप्त कर ले । नाड़ी चार पर विजय वही साधक प्राप्तकर सकता है, जो नाड़ी का विषुवत्भावज्ञ और नाडी सामरस्य के सन्धान में दक्ष होता है । इससे साधक को संचरण स्वातन्त्र्य की उपलब्धि हो जाती है । सुषुम्ना आदि अन्य नाडियों और कुंडलिनी पर विजय आदि ये सब योगाभ्यास के विषय हैं । योगाभ्यास में प्रवीणता आ जाने पर और अपनी जपशक्ति को प्राणसम कर लेने पर इस ज्ञान का उपवृंहण हो जाता है ।।१४३।।

मन्त्री योगं विजानाति ज्ञात्वा सर्वज्ञतां व्रजेत् ।

'जपात्' इति पञ्चप्रणवाधिकारोक्तसङ्ख्याकात् 'उपबृंहितो' लब्धोत्कर्षः 'मन्त्री इति यथोक्तमन्त्रव्याप्तिज्ञो 'योगं' यथारुचि प्राणसंचारस्वातन्त्र्यं 'सर्वज्ञतां' यथोक्त-प्राणीयसर्वव्याप्तिसाक्षात्कर्तृत्वं परभैरवरतां च । उक्तं हि-

'त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छन्दसदृशो भवेत्' । इति । (६/५४)

एतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति-

पुनरेव प्रवक्ष्यामि नाडित्रयविभागतः ।।१४४।।
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तौ विषुवच्चारतस्तथा ।
यथा चरत्यसौ हंसो जगत्यस्मिंश्चराचरे ।।१४५।।

मन्त्र के परिवेश में अनुप्रवेश करने वाला मन्त्रविद् उक्त प्रकार के योगा-भ्यास में दक्ष होता है । इन समस्त आन्तर उल्लासों में समग्र भाव से व्याप्ति करता है, सबका विज्ञ होता है और वस्तुतः सर्वज्ञता के गुणों से गौरवान्वित हो जाता है । श्लोक के एक एक शब्द में रहस्यों का उत्स फूट रहा है । जैसे जपात् यह पञ्चम्यन्त शब्द प्रञ्चप्रणवता की व्याप्ति के साथ जप करना चाहिये, इस तथ्य का निर्देश कर रहा है । इसी तरह उपवृंहित से अभिप्रेत हो रहा है कि, मन्त्र के विधि पूर्वक जप से कोई भी उत्कर्ष को उपलब्ध हो सकता है । वही मन्त्र की व्याप्ति का विशेषज्ञ वस्तुतः मन्त्री कहलाने का अधिकारी है । यहाँ योग का तात्पर्य पातञ्जलयोग से समर्थित योग नहीं, वरन् प्राणसंचार के स्वातन्त्र्य में स्वात्म का सम्यग्योग है । इसी तरह सर्वज्ञता का अर्थ प्राणीय व्याप्ति के साक्षात्कार से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञान से होने वाली पर भैरवभावात्मिका स्थिति की अनुभूति है । विगत पटल में ५४ वें श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है कि,

'प्राण सम त्रिगुण जप से स्वच्छन्द भैरव के समान सर्वज्ञ हो जाता है' ॥१४३½॥

इतना कहने के उपरान्त यहाँ से एक दूसरे प्रकार से हंसोच्चार के वैशिष्ट्य का वणर्न कर रहे हैं । शरीर में ७२हजार नाडियों में रक्त का प्राणवायु द्वारा संचार होता है । इनमें मुख्य दश नाडियाँ होती हैं । उनमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन प्रधान हैं । इनसे होकर हंसोच्चार का साक्षात्कार करना चाहिये ॥१४४॥

इडा वाम भाग में और पिङ्गला दक्ष भाग में प्राणसंचार करती हैं । सुषुम्ना मध्य प्राण मार्ग है । दक्ष और वाम की उभयात्मक व्याप्ति को विषुवत् कहते हैं । प्राण हंस इस तीन मार्गों में संचार करता है । वह केवल मनुष्यों में ही नहीं,

अन्तःस्थः कालरूपेण कलाभिः कलयञ्जगत् ।

मध्यमार्गाश्रयेण चारस्थितिरुक्ता । इदानीं दक्षे वामे तदुभयात्मनि च विषुवति यथा हंसो जङ्गमस्थावरात्मनि जगति चरति, जङ्गमेषु चरन्स्थावराण्यपीन्द्रियप्रसरणयुक्त्वा स्पृशति, अत एव 'अन्तःस्थः' इति प्रमातृषु, भूतवर्तमानादिकालरूपेण पदं बध्नञ्जगत्सर्वं क्षणतुटिलवादिरूपाभिः 'कलाभिः कलयन्' जन्मादिविकारषट्करूपतया सृजन्संहरंश्च यथा चरति, तथा प्रवक्ष्यामीति संगतिः । अचरस्यापि च अन्तःसंज्ञस्य दक्षवाममध्यनाडिषु रसयोजनया पुष्पफलपोषान् हंसः करोति–इति वृक्षायुर्वेदज्ञाः ।

कीदृगसौ चरतीत्याह–

नाडित्रयकृताधारो मार्गत्रयव्यवस्थितः ।।१४६।।

स्थावरों और जङ्गमों, जड़ और चेतन दोनों प्रकार के प्राणियों मेंइसी तरह संचार करता है । जङ्गमों में संचरित होता हुआ, स्थावरों में भी इन्द्रिय प्रसरण विधि से उनको संवर्धित करता है । इसीलिये उसे अन्तःस्थ कहते हैं ।

वह इधर संचार करता है । उधर उसके पीछे पीछे काल की कला गलित होती रहती है । इसी गलित कालकला को भूत कहते हैं । चालू प्राण संचार वर्त्तमान होता है और वर्त्तमान भूत में व्यतीत होता रहता है । मानो ये काल ही दो पद हों । इस कालात्मक पद संचार को हम लव, क्षण और तुटियों आदि के द्वारा पहचानते हैं । इसी में जन्म होता है, बढ़ता, स्थिर दीख पड़ता, अधेड़भाव में कुछ क्षीण होता है, जीर्ण होता है और अन्त में मृत्यु का वरण करता है । ये छः विकार सृजन और संहार के जीवन्त चित्र हैं । प्राणचार की यह चिरन्तन लीला है । यह चर की गति की रूपरेखा है ।

यह अचर को भी प्रभावित करता है । उसके बाहर नहीं उसके भीतर इसके चार का चक्र चलता ही रहता है । उसके दक्ष, वाम और मध्य नाडियों में इस प्राणहंस का संचरण अनवरत रूप से होता ही रहता है । नीचे से ऊपर की ओर इसकी जड़ें रस का सम्प्रेषण अनवरत करती हैं । यही कारण है कि, तरुवर समय पर प्रसूनों से पुलकित और फलों से लद जाते हैं । इस प्रकार चर और अचर दोनों में सृजन संहार की लीला चलती रहती है । शोषण के साथ पोषण की प्रक्रिया भी प्रचलित रहती हैं । यह प्राण हंस का ही विलक्षण व्यापार है । इस सारे व्यापार के मूल में मुख्यतः ये तीन नाडियाँ ही काम करती हैं । प्राणहंस के ये तीनों व्यवस्थित मार्ग हैं ॥१४५-१४६॥

गुणत्रयसमाविष्टस्त्रिधावस्थाव्यवस्थितः ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तः शक्तित्रितयसंयुतः ।।१४७।।
इच्छाज्ञानक्रियाविद्धः सोमसूर्याग्निमध्यगः ।
एतद् नाडीत्रयादिक्रमेण व्याचष्टे–
दक्षनासापुटे चैव नाडी वै पिङ्गला स्मृता ।।१४८।।
इडा चैव तु वामने सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ।
एतन्नाडीत्रयमेव मार्गत्रयमित्याह–
दक्षिणे देवमार्गस्तु पितृमार्गस्तथोत्तरे ।।१४९।।

प्राणहंस के कर्तृत्व की विशेषताओं को छः विशेषणों के द्वारा व्यक्त कर रहे हैं–

१–गुणत्रयसमाविष्टः– समाविष्ट वही होता है, जो समावेश के महाभाव से भावित हो । त्रिगुण का तात्पर्य जप के परिप्रेक्ष्य में भले ही सत्त्व, रज और तम गृहीत किये जा सकते हैं, किन्तु वास्तविक १–प्रञ्चपणव पूर्वकता, २–नमस्कारावसानता और आन्तर होम लिये जाने चाहिये । तभी प्राणसमत्व भी घटित हो सकता है । यही गुणत्रय समावेश माना जा सकता है ।

२–त्रिधावस्थाव्यवस्थितः– यह मार्गत्रय व्यवस्थित शब्द से पहले ही परिभाषित कर दिया गया है ।

३–कारणैः षड्भिराक्रान्तः– छः कारण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव माने जाते हैं । इनसे हंसचार आक्रान्त होना चाहिये ।

४–शक्तित्रितयसंयुतः–अपरा, परापरा और पराशक्ति में समन्वित होना चाहिये ।

५–इच्छा, ज्ञान, क्रियाविद्धः–इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तियों में यह मन्त्र विद्ध हो ।

६–सोम (अपान) सूर्य (प्राण) और अग्नि प्रमाता के मध्य मार्ग से संचार अबाध गति से चला रहा हो ।

इन विशेषणों से विशिष्ट प्राणहंस अयत्नज रूप से ऊर्ध्व और अधोवाह में गतिशील रहता है । इसमें वह इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियों का ही मुख्यतः आश्रय लेता है । इन तीनों में इडा वाम नाडी, पिङ्गला दक्ष नाडी और सुषुम्ना मध्यनाडी के रूप में शास्त्रों में वर्णित हैं । ये तीनों नाडियाँ दक्षिणचार के समय देव मार्ग और वामचार के समय पितृमार्ग तथा मध्यचार के समय शिवमार्ग के रूप में प्रसिद्ध हैं ।।१४७-१४९।।

मध्यमः शिवमार्गस्तु

का तस्य शिवतेत्याह–

तत्र गत्वा न जायते ।

'गत्वा' इत्युपलम्भेन विश्रम्य ।

अत्रैव गुणत्रयमवस्थात्रयं च दर्शयति–

दक्षिणे सत्त्वजाग्रत्स्थः स्वप्नस्थो वामतो रजः ।।१५०।।
मध्ये तमस्तु विज्ञेयं सुषुप्तावस्थ एव च ।

सत्त्वरूपत्वं ज्ञानप्राधान्यात्, क्रियाशक्तिमयत्वाद्वामे रजः, मध्ये त्विच्छाशक्तिमये भेदोपसंहारमार्गरूपत्वात्तमः, अत एव मध्यम् । अत्रोभयनाडीसमवाहित्वं समानव्याप्त्या, न तु मध्योर्ध्ववाहित्वं तस्य तुर्यप्रकाशरूपत्वेन सौषुप्ततमोयोगाभावात् । अत्रैव कारणान्याह–

शिवमार्ग का तात्पर्य है कि, इस मार्ग के संचार का आश्रय लेने वाला आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है । इसी क्रम में गुणों और अवस्थाओं का आकलन योगी करता है । दक्षनाडी के समय जाग्रत् अवस्था और सत्त्वगुण का प्रधान्य होता है । वामश्वासचार में स्वप्नावस्था और रजोगुण का प्राधान्य होता है । मध्यमार्ग में तमका प्राधान्य और सुषुप्ति दशा होती है ।

सत्त्व की प्रधानता में ज्ञानशक्ति का भी प्रधान्य माना जाता है । इसी तरह क्रियाशक्ति की प्रधानता के कारण वामभाग में रजोगुण की बात कही गयी है । इच्छा शक्ति की प्रधानता के कारण भेदवाद के उपसंहार के रूप में तमोगुण का प्रभाव माना जाता है । यह ध्यान देने की बात है कि, समान व्याप्ति के कारण दो नाडियाँ एक साथ भी कभी चला करती हैं । मध्य से ऊर्ध्ववाह के श्वासचार में तुर्य दशा का प्रभाव माना जाता है । तुर्य दशा में प्रकाश का प्राधान्य होता है, उस समय सौषुप्त और तमः प्राधान्य नहीं माना जा सकता ।।१५०।।

कारण देवों की स्थिति की चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि, दक्ष मार्गस्थ ब्रह्मा और ईश्वर देव होते हैं । इसी प्रकार विष्णु और सदाशिव वामस्थ माने जाते हैं । मध्य में रुद्र और शिव देव अवस्थित रहते हैं । ईश्वर, सदाशिव और शिव इनके अधिष्ठाता माने जाते हैं क्योंकि, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र से इनकी पर-व्याप्ति शास्त्रवर्णित है । इसीलिये जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिमय होने पर भी

ब्रह्मेश्वरश्च दक्षस्थो वामे विष्णुसदाशिवौ ।।१५१।।

मध्ये रुद्रशिवौ प्रोक्तौ सर्वातीतः परः शिवः ।

ब्रह्मविष्णुरुद्राणां परव्याप्त्येश्वरसदाशिवशिवा दक्षवाममध्याधिष्ठातृत्वेन स्थिताः । अत एव जागरादित्रयमयेऽपीश्वराद्यधिष्ठानात्तुर्यव्याप्तिरप्यस्ति–इति मन्तव्यम् । 'सर्वातीतः' इत्यनेन तु परकारणस्वरूपमुक्तम् ।

कारणवत्परापरभेदेन शक्तित्रयस्थितिमाह–

ज्येष्ठाज्ञाने च दक्षे च क्रिया वामा तथोत्तरे ।।१५२।।

रौद्री चेच्छा च मध्यस्था

ज्ञानाद्या अपराः, ज्येष्ठाद्यास्तु पराः । कारणानुसारेण परकारणस्वरूपवत्पर-शक्तिस्वरूपमप्याह–

परा शक्तिः परापरा ।

सर्वमेव परमपरं च व्याप्य स्थितेत्यर्थः । अत्रैव सोमसूर्याग्नीनाह–

दक्षिणे तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विराजते ।।१५३।।

ईश्वर आदि के अधिष्ठान के कारण तुर्य व्याप्ति भी होती है । यह रहस्य की बात है । इस परिप्रेक्ष्य में तुर्य व्याप्ति के कारण शिव को सर्वातीत विशेषण से विभूषित किया गया है । इस तरह शिव की परकारणता भी सिद्ध हो जाती है ।।१५१।।

कारणदेवों की तरह ज्येष्ठा, वामा और रौद्री शक्तियों की स्थिति के विषय में कह रहे हैं कि, ज्येष्ठा और ज्ञान शक्तियाँ दक्षनाडी में अवस्थित रहती हैं । क्रिया और वामा शक्तियाँ वाम श्वासचार के नाडिस्थान में अवस्थित रहती है । उसी तरह रौद्री और इच्छा शक्तियाँ मध्य श्वासचार में नाडिस्थ रहती हैं । इसमें ज्येष्ठा, वामा और रौद्री शक्तियाँ परा मानी जाती हैं और ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्तियाँ अपरा होती हैं ।।१५२।।

कारणों की पररूपता के अनुसार परशक्तियों के स्वरूप का निर्धारण कर रहे हैं–

परा शक्ति ही सभी अपर और परापर रूपों को व्याप्त कर अवस्थित है ।

इसी क्रम में सूर्य, सोम अग्नि प्रमाता के स्थानों का निर्धारण करते हुए कह रहे हैं कि, पिङ्गला में सूर्य का अवस्थान है और वाम भागीय इडा में सोम अवस्थित हैं ।।१५३।।

पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः ।

'पाके प्रकाशत्वे च' इति तन्निमित्तं 'पावको'ऽग्निः । सोमसूर्ययोस्तु

'वायति तपति सूर्यः सोमो वर्षति चामृतम्' । (७/१५७)

इति कार्यं वक्ष्यति । पाकप्रकाशौ विषयद्वारेण व्याचष्टे–

पाचयेत्सर्वपाकं हि सोमादिगुण[1]सम्भवम् ।।१५४।।

प्रकाशयेत्स्वसामर्थ्यात्परतत्त्वमनामयम् ।

स्वसामर्थ्यादिति गुणीकृतप्राणादिवृत्तिवशोन्मग्नसंवित्स्वभावतया । पूर्वं मध्यमार्गाश्रयदिनोदयानुसारं ग्रहादीनां स्थितिरुक्ता, इदानीं तु दक्षवामतदुभयाश्रयेणाप्याह–

राशयश्च ग्रहाः सर्वे ऋक्षयोगादयश्च ये ।।१५५।।

चन्द्रसूर्यपथेनैव ते चरन्त्यनुपूर्वशः ।

सूर्यसोमौ च ते सर्वे भुञ्जते क्रमशः प्रिये ।।१५६।।

जहाँ तक अग्नि प्रमाता का प्रश्न है, यह मध्यस्थ होता है । पाक और प्रकाश करने के कारण इसे पावक कहते हैं । सोम और सूर्य के सम्बन्ध में श्लोक १५७ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, दक्षवाही सूर्य शोषण और तापन के कर्त्ता हैं । वामवाही सोम अमृत की वर्षाकर आप्यायन करता है । सूर्य के विषय में पाक और प्रकाश के सन्दर्भों को व्याख्यायित करते हुए भगवान् स्वयम् यह व्यक्त कर रहे हैं कि, सूर्य समस्त पाक योग्य पदार्थों का पाचन करता है । ये पाच्य पदार्थ सोमरस की आर्द्रता से समन्वित रहते हैं । योग के प्रभाव से प्राण गौण होकर अपानात्मक सोमभाव को प्राप्त कर लेता है । उस समय यह अनामय परतत्त्व का प्रकाशन करता है ।।१५४।।

मध्य मार्ग के आश्रयानुसार सूर्य जब उदित होता है, उस समय अन्य ग्रहों की स्थिति का भी आकलन करते हैं । साथ ही दक्ष और वाम और तदुभयाश्रय रूप से उदित होने की चर्चा कर रहे हैं–

इसी उदय क्रम में सभी ग्रहों और राशियों का नक्षत्रों और योगों का भी परिगणन हो जाता है, जिस समय सूर्य और चन्द्र अपने अपने पथ पर गतिशील रहते हैं ।।१५५।।

सूर्य और चन्द्र पथ पर ही ग्रह, नक्षत्र और योग आदि चलते रहते हैं । ये सभी अर्थात् भैरवाष्टक पर्यन्त सभी देव पृथक् वाह में पृथक् रूप से और

---

१. क. पु. सोनादिगुणेति पाठः ।

'ते सर्वे' इति भैरवाष्टकपर्यन्ताः, 'सोमसूर्यौ' इति पृथग्वाहे पृथक्, समवाहे तु युगपद्भुञ्जतेऽधितिष्ठन्ति ॥१५६॥

इत्थं च–

सोमसूर्यात्मकास्ते वै पथित्रयव्यवस्थिताः ।

दक्षे प्राणसूर्यात्मानः, वामेऽपानसोमात्मकाः, मध्ये तूभयात्मकाः । एतच्च द्वितीयपटले आज्यत्रिपथविभागावसर एव विभक्तम् ।

सोमसूर्यात्मकत्वे च सति तेऽपि तत्फलप्रदा इत्याह–

वायति तपति सूर्यः सोमो वर्षति चामृतम् ॥१५७॥

सोमसूर्यात्मकं यस्माज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

यतः प्रोक्तव्याप्त्या सूर्यसोमवाहसम्बद्धत्वात्सर्वं जगत्सूर्यसोमात्मकं 'हिममपि दहति, वह्निरपि चाप्याययति स्पर्शनेन' इत्यनेन न्यायेन तत्तत्प्रमातृदेशकालन्यायेन विश्वस्य ह्लादतापकारित्वेनोपलम्भनात्, ततः 'सूर्यः' इति दक्षवाहो 'वायति' संतापयति च, 'सोम' इति वामवाहस्त्वमृतं वर्षत्याप्याययति । अतः क्रूरसौम्यसिद्धिसाधनपरेण तदौचित्येनैव प्रवर्तनीयमिति परमार्थः ।

समवाह में युगपद्भाव से गतिशील रहते हैं । अर्थात् अनका उपभोग करते रहते हैं । भगवान् प्रिया पार्वती को सम्बोधित करते हुए शरीर की आन्तरिक सक्रियता के रहस्य को स्पष्ट कर रहे हैं ॥१५६॥

इस प्रकार दक्ष भाग में प्राणसूर्य, वामभाग में अपान सोम और मध्य में उभयात्मक स्थिति में ये दोनों, तीन पथों में संचार करते हैं । इस बात की द्वितीय पटल के आज्य त्रिपथ विभाग के अवसर पर व्यक्त की गयी है ।

प्राण चाहे सोम रूप में वर्त्तन कर रहो हो, या सूर्य रूप में संचरित हो, दोनों अपने संचार क्षणों में अपने अनुरूप फल प्रदान करते हैं । जब सूर्य अपने संचार में सक्रिय होता है, उस समय वह पहले वायु का काम करता है । वायु का प्रथम कार्य है–आर्द्रता का शोषण । सूर्य भी यह करता है । दूसरा उसका कार्य है परिपाक । अपने ताप से वह पाचन समर्थ ऊर्जा की वर्षा करता है । इसी प्रकार सोम उन शुष्क पदार्थों को अमृत रस से आप्यायित करता है । इनके विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि, बर्फ भी जला देती है और आग भी स्पर्श से आप्ययित करती है ।

किञ्च–

सौरो दक्षिणमार्गस्तु उत्तरायणसंज्ञितः ।।१५८।।
वामः सौम्यस्तु यः प्रोक्तस्तत्र वै दक्षिणायनम् ।
सोमसूर्यात्म विषुवत्पुटद्वयविनिःसृतम् ।।१५९।।

ऊर्ध्वाधोवाहवदत्राप्युत्तरायणादिविभागोऽस्तीत्यर्थः ।।१५९।।

अत्र संक्रान्तिभेदं दर्शयति–

उदक्संक्रान्तयः पञ्च पञ्च वै दक्षिणायने ।
दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये संक्रान्त्या विषुवद्वयम् ।।१६०।।

'अहनि द्वादश प्रोक्ता.................' । (७/१६८)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या बाह्येऽह्नि द्वादश वामदक्षमध्यसंक्रान्तयो नवशतप्राणापान-वाहात्मानो भवन्ति ।।१६०।।

इस उक्ति के अनुसार सभी उक्त सूर्य और सोम तथा बह्नि रूप प्रमाता देश और काल के अनुसार विश्व को अपने अपने शोषण, संतापन, आप्यायन और दहन रूप कार्यों से आह्लादित, पुष्ट, पाकोपभोगयोग्य और संहति रूप फल प्रदान करते हैं । इसीलिये सूर्य दक्षवाह में शोषण आदि, वामवाह में सोम अमृत वर्षा से आप्यायित करता है । क्रूर और सौम्य सिद्धियों के साधक अग्नि हैं । साधक को यत्नज व्यापार द्वारा उनके वर्त्तन को अपने अनुरूप व्यापारित करने का प्रयत्न करना चाहिये ।।१५७।।

इसी दृष्टि से शास्त्र कहता है कि यह सारा स्थावर जङ्गमात्मक विश्व सूर्य सोमात्मक है। कहा भी गया है कि--'सूर्य सोमात्मकं जगत्' । सौर काल दक्षिण का मार्ग होता है और इस पूरे दक्ष सौर काल को उत्तरायण कहते हैं ।।१५८।।

वाम काल को सौम्य अर्थात् दक्षिणायन कहते हैं । सौर और सौम्य जब एक रेखा पर व्याप्ति करते हैं, वह रेखा विषुवत् कहलाती है । यह एक तरह से सूर्यसोम संपुट से निष्पन्न होता है ।।१५९।।

इसमें संक्रान्ति भेद का भी आकलन करना चाहिये । इसी पटल के श्लोक १६८ में इसकी चर्चा है । उसके अनुसार बारह संक्रान्तियाँ १अहोरात्र में और एक अयन वर्ष में भी घटित होती हैं । उत्तरायण में पाँच और दक्षिणायन में पाँच तथा दोनों विषुवत् पर दो विषुवत्संक्रान्तियाँ मिलकर बारह हो जाती हैं ।।१६०।।

अत्र फलं दर्शयति–

सौरश्च दक्षिणो मार्गस्त्वभिचारप्रसिद्धिदः ।
आप्यायने तथा पुष्टौ शान्तिके सौम्य उत्तरः ।।१६१।।

अथ संक्रान्तिदशके क्रममादिशति–

दक्षिणादुत्तरं याति उत्तराद्दक्षिणं यदा ।
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिः सा चैवं संविधीयते ।।१६२।।

बाह्ये दक्षिणविषुवद्दिने वक्ष्यमाणानुसारं प्रातरान्तरं दक्षिणविषुवत्कालं समवाहेन स्थित्वा दक्षिणमार्गादुदेत्य उत्तरमार्गं याति, पुनरुत्तराद्दक्षिणं यदा याति तदा सा दक्षिणसंक्रान्तिरुत्तरसंक्रान्तिश्चोच्यते । एवं संविधीयते अनेनैव क्रमेण पुनरुत्तराद्दक्षिणं यातीति संविधीयते निश्चीयते, तेन दक्षिणोत्तरदक्षोत्तरदक्षेषु पञ्च संक्रान्तीर्वहतीत्यर्थः ।

सौर उत्तरायण और सौर दक्षिणायन के अलग अलग फल होते हैं । सौर दक्षिणायन अभिचार कर्म सम्पन्न करने के लिये उत्तम माना जाता है । आप्यायन, पुष्टि और शन्ति सम्बन्धी कार्यों की सिद्धि के लिये उत्तरायण प्रशस्त माना जाता है ॥१६१॥

दक्षिण में मकर रेखा का स्पर्शकर सूर्य उत्तर संक्रमण करता और उत्तर में कर्क रेखा का स्पर्श कर दक्षिण की ओर प्रस्थान करता है । इन्हीं स्पर्श बिन्दुओं पर दक्षिण और उत्तर संक्रान्ति घटित होती हैं ।

इस श्लोक में संविधीयते क्रिया इस प्रकार के प्राकृतिक विधान की ओर ध्यान आकृष्ट करती है । इसी प्रकार श्वासचार के मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन रूप छः छः अङ्गुलों के ३६ अङ्गुल विभाग में उत्तरायण की ये संक्रान्तियाँ घटित होती हैं । पुनः मिथुनान्त विषुवत् पर कर्क संक्रान्ति के बाद कर्क, सिंह, कन्या, वृश्चिक और धनु संक्रान्तियाँ होती हैं । एक श्वासचार में मकर से उत्तरायण और कर्क से धनु तक दक्षिणायन समझना चाहिये । यह बाह्य एक वर्ष का आन्तर एक श्वासचार होता है । यह शाश्वत संक्रान्तिवाह का विधान प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप से सम्पन्न होता है ॥१६२॥

उक्त संक्रान्तियों में जिस रेखा पर राशि का स्पर्श होता है, उसमें अर्ध अर्ध भोग सम्पन्न होता है । जैसे दक्षिण नाडी में श्वास चला । वहाँ मान लीजिये धनु राशि का भोग चालू है । उसके आधे से मकर शुरू हुआ । यह धनु और मकर की विषुवत् संक्रान्ति हुई । कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन के आधे स्पर्श भाग के आधे से कर्क राशि की संक्रान्ति विषुवत्संक्रान्ति होगी ।

अथ षष्ठीमत्तरविषुवत्संक्रान्तिमाह–

दक्षिणस्यां यदा नाड्यां संक्रामेत्तु यदोत्तरम् ।
यावदर्धं तु तत्रस्थं मध्येनोत्तरतो वहेत् ।।१६३।।
तावत्तद्विषुवत्प्रोक्तमुत्तरं तूत्तरायणे ।

दक्षिणनाड्यां पञ्चसंक्रान्त्यात्मिकायां स्थित्वा यदा यदोत्तरं मार्गं संक्रामेत्तदा मध्येनेत्युभाभ्यामुत्तरं विषुवद्भवतीति । उत्तरायण इति दक्षिणवाहात्मकोत्तरायणाश्रयत्वात् । कथमित्याह–तत्रेति, दक्षिणस्थमर्धं प्राणीयं कृत्वोभाभ्यां पुटाभ्यां वहतीत्यर्थः । यावदुत्तरत इति च यद्व्याख्यातुमवशिष्टम्, तस्यायमर्थः–ततोऽनन्तरमुत्तरत उत्तरात्प्रभृति वहेद्यावदुत्तरां पञ्चमीं संक्रान्तिं यावत् । तेनोत्तरदक्षोत्तरदक्षोत्तराः पञ्च संक्रान्तीर्वहेदिति तात्पर्यार्थः । उत्तरेति सौत्रं द्विरावर्तनीयम् । टीकाकारैस्तु दक्षिणोत्तरमित्याद्युत्तरायण इत्यन्तमुत्तरविषुवद्विषयमेव व्याचक्षाणैः संक्रान्तीनां विभागो न दर्शितः, ग्रन्थपौनरुक्त्यं चाश्रितमत्र ।

अथ दक्षिणविषुवमाह–

उत्तराद्दक्षिणायां तु संक्रामन्स वरानने ।।१६४।।
यावदर्धं वहेत्तत्र अर्धं दक्षिणतो वहेत् ।
विषुवद्दक्षिणं तावद्दक्षिणायनजं प्रिये ।।१६५।।

पञ्चसंक्रान्तिरूपादुत्तरान्मार्गाद्दक्षिणस्यां संक्रामन्नर्धं प्राणीयं तत्रेत्युत्तरे, अर्धं च दक्षिणे यावद्वहत्युभाभ्यां पुटाभ्यां समं वाहाद्दक्षिणविषुवदेतद्दक्षिणायनकालजातं भवतीत्यर्थः ।।१६५।।

इस प्रकार दो विषुवत् तथा दश स्वाभाविक संक्रान्तियाँ होती हैं । इस विषय में टीकाकारों ने संक्रान्तियों के विभाग का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है । यहाँ वह पहली बार प्रदर्शित है । ग्रन्थ में एक ही बात को कई बार कहने से पुनरुक्ति दोष माना जाता है ।।१६३।।

दक्षिण विषुवत् के विषय में कहते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, उत्तर से दक्षिण की ओर संक्रमण करते हुए जितना आधा भोग उसका होता है, उसे पूरा कर दक्षिण की ओर गति हो जाती है । वही दक्षिणायन में होने वाला दक्ष विषुवत् होता है । पाँच संक्रान्तियों वाला उत्तर मार्ग दक्षिण नाडी में वाह करता हुआ अर्धप्राणीय भोग उत्तर में और अर्धप्राणीय भोग दक्षिण में करता है । दोनों पुटों में समवाह की प्रक्रिया के कारण ही उसे दक्ष विषुवत् कहते हैं ।।१६४-१६५।।

अत्र विषुवद्द्वये फलमाह–

तत्र पूजा जपो होमो यत्कृतं मुक्तिदं भवेत् ।

तत् । किञ्च–

ध्यानयोगेन दीक्षायां तत्स्थो वै मोचयेद्गुरुः ।।१६६।।

ध्यानमत्र परतत्त्वविषयम् । तदित्थम्–

बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने ।

चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत्[1] ।।१६७।।

हृदब्जदलाष्टकस्य प्रधाननाडीत्रयस्पर्शादेवमिति व्याप्तिज्ञाः । प्राणहंस इति प्राग्वत् । अत्रायं विभागः–

अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः ।

अत्रापि विषुवत्संक्रान्तीनां विभागमाह–

पूर्वाह्णे विषुवत्त्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम् ।।१६८।।

तृतीयं चापराह्णे वै अर्धरात्रे चतुर्थकम् ।

चतुर्धा विषुवत्प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम् ।।१६९।।

ते बाह्ये विषुवद्दिने पश्चिमरात्रिशेषघटिका सपादा दिनोदयाद्घटिका सपादा–इत्येकं विषुवत् ।

इसका फल यह होता है कि, इसमें पूजा, जप और हवन आदि जो कुछ भी किया जाता है, वह मुक्तिप्रद होता है । इसमें परतत्त्वात्मक ध्यानस्थ गुरु अपने ध्यान योग की प्रभा से परिपूर्ण तैजसिकता से शिष्य को मोक्ष को उपलब्ध करा देता है ॥१६६॥

बाह्य अहोरात्र में प्राण हंस की गति कुछ विचित्रता लिये होती है । इसमें ये २४ संक्रान्तियाँ सम्पन्न हो जाती हैं । इतनी संक्रान्तियों के कारण हृदय पद्म के अष्टदल कमल के आठों दल हैं । यह वे लोग कहते हैं, जो हृदय पद्म की व्याप्ति के विशेषज्ञ होते हैं ॥१६७॥

इनके विभाग के सम्बन्ध में स्पष्ट कर रहे हैं कि, दिन में १२ और रात्रि में भी १२ मिलकर २४ होती हैं । इसी में विषुवत्संक्रान्तियाँ भी होती हैं । पूर्वाह्न में पहला विषुवत् और मध्याह्न में द्वितीय विषुवत् होता हैं । तीसरा विषुवत् अपराह्न में और अर्धरात्र में चतुर्थ विषुवत् होता है । ये चारों विषुवत् मुक्ति रूपी महाफल प्रदान करने वाले माने जाते हैं ।

---

१. ख. पु. स व्रजेदिति पाठः ।

ततः पञ्च क्रमेण संक्रान्तयः[१] प्रत्येकमर्धतृतीया घटिका एवेति दिनारम्भात्प्रभृति पादोना एताश्चतुर्दश घटिका भवन्ति । ततो द्वितीयं विषुवदर्धतृतीयघटिकाः, ततोऽपि पञ्च संक्रान्तयस्यथैवेत्येवमियदन्तं पादोना एकान्नत्रिंशन्नालिका भवन्ति । ततोऽपि दिनादवशिष्टात्सपादा घटिका, सपादा च रात्रिप्रारम्भघटिकेति तृतीयं विषुवदित्यनेन क्रमेणार्धरात्रे विषुवच्चतुर्थम् । यथा यथा दिननिशयो र्ह्रासो वृद्धिर्वा भवति, तथा संक्रान्तीनामपि स मन्तव्य इति समुदायार्थः । यदुक्तम-स्मद्गुरुभिरशेषागमोपनिषदालोके तन्त्रालोके—

बाह्यस्थ विषुवत् दिन, पश्चिमा रात्रि की शेष घड़ियाँ, सवा सवा के क्रम से दिनोदय पर्यन्त और उतना सूर्योदय पश्चात् के समय का समान विषुवत् घटित होता है । इसी के बाद समान रूप से पाँच संक्रान्तियाँ अपने भोग के अनुसार बीतती हैं ।

दिन के आरम्भ में पौने चौदह घटिकायें मानी जाती है । इसके आगे की दिन की अवशेष सवा घड़ी और रात्रि के प्रारम्भ की सपादा ये तृतीय विषुवत् को व्यक्त करती हैं । अर्धरात्रि में चौथा विषुवत् होता है । यह ध्यान देने की बात है कि, दिवा और निशाओं के ह्रास के साथ ही वृद्धि भी स्वाभाविक प्रक्रियानुसार होती ही रहती है । उसी उसी क्रम से संक्रान्तियाँ भी सम्पन्न होती हैं । सम प्रसाद में उत्तम और विषम भोग में अतिनिकृष्ट फल की प्राप्ति होती है ।

अशेष आगमोपनिषदालोक रूप श्री तन्त्रालोक (आ० ६/२०१-२०५) नामक महान ग्रन्थ में मेरे गुरुवर्य श्रीमदभिनव गुप्तपादाचार्य ने इस विषय का सुन्दर विवेचन किया है । विषुवत् दृष्टि से काल विभाजन की रूप रेखा बता रहे हैं—

१- यह पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ ६० चषक होता है । इनके पैमानों के ये रूप हैं-

६प्राण=१चषक	२½नाली=९०० प्राण संचार	१मुहूर्त्त=१ घड़ी
६०चषक=१नाली	१घड़ी=३६० प्राणचार	३०मुहूर्त=१ अहोरात्र
६०नाली=१तिथि	२घड़ी=७२० प्राणचार	३०कला=१ मुहूर्त्त
१२मास=१वत्सर	½घड़ी=९०० प्राणचार	३०काष्ठा=१ कला
१वत्सर=१पित्र्य अहोरात्र	६०नाली=१ बाह्य अहोरात्र	१५निमेष=१काष्ठा
१८०वर्ष=१पित्र्य उत्तरायण	१अहोरात्र=२४ संक्रन्तियाँ	
३६०वर्ष=१पित्र्य वर्ष	२४संक्रान्तियाँ=२१६०० प्राणचार	
१पित्र्य वर्ष=१दिव्यवर्ष	१संक्रान्ति=९०० प्राणचार	

'विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः ।
वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यावत्संक्रान्तिपञ्चकम् ॥
एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु ।
मध्याह्ने दक्षविषुवन्नव-प्राणशतीर्वहेत् ॥
दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम् ।
नवासु शतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम् ॥
पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद्बहिः ।
यद्वत्तथान्तः संक्रान्तिर्नव प्राणशतानि सा ॥
एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात्समात् ।
आरभ्याहर्निशावृद्धिह्रासंसंक्रान्तिगोऽप्यसौ' ॥ (२००–२०४)

इत्यादि कालतत्त्वप्रकाशने षष्ठ आह्निके । यत्तु तत्र मध्याह्ने दक्षविषुवदित्युक्तम्, तद्बाह्योत्तरायणविषुवद्दिने प्रातरुत्तरविषुवद्भवतीत्याशयात् । इह तु बाह्यदक्षिणायन-विषुवद्दिने प्रातर्दक्षिणविषुवद्भवतीत्याशयादन्यथोक्तम् ॥१६९॥

''विषुवत् वासर में दिन रात बराबर होते हैं । मेषसंक्रान्ति और तुला संक्रान्ति में विषुवद्वासर होते हैं । विषुवद्वासर में प्राप्त १¼नाली मध्य संचार होता है । इसके बाद दायें, बायें, उत्तर और सव्य और अपसव्य अर्थात् दायें और बायें के क्रम से पाँच संक्रान्तियाँ घटित होती हैं । तुला के बाद वृश्चिक से मीन राशियों में प्रत्येक १३¼नालियों का समय लग जाता है । यहाँ तक मध्याह्न का समय मानना चाहिये । मध्याह्न में दक्ष विषुवत् में ९०० प्राण संचार होते हैं । ९००-९००को प्राण संचार की ५संक्रान्तियों में ९००×५=४५०० प्राणचार हो जाते हैं । इसके बाद उत्तर विषुवत् की १२-१२ संक्रान्तियों के २४ से ९००का गुण करने पर २१६००बार प्राणचार हो जाते हैं । इसमें सावधानी पूर्वक रात और दिन का हिसाब साधक रखता है । संक्रान्तियों में उत्तरायण और दक्षिणायन क्रम से दिन में ह्रासवृद्धि का क्रम लगा रहता है । ये सभी क्रम सामान्यजनों के लिये अनावश्यक और साधकों के लिये अनिवार्यतः ध्यातव्य है ।

यह सभी काल तत्त्व का ही उल्लास है । प्राणचार में और बाह्य काल-चार के अन्तर को ध्यान में रखकर इस विषय में सावधानी बरतनी चाहिये । इस क्रम में मध्याह्न में दक्ष विषुवत् की बात कही गयी है । वह बाह्य उत्तरायण के विषुवत् दिन में प्रातः उत्तरविषुवत् की दृष्टि से कही गयी है । बाह्य दक्षिाणायन के विषुवत् दिन में प्रातः दक्षिणविषुवत् होता है ॥१६८-१६९॥

अथाध्यात्मसंक्रान्तीनां बाह्यकालस्थितिमादिशति–

चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।

शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा ।।१७०।।

समधातोः श्लेष्माद्यनुपहतस्य । अत्र च शुक्लप्रतिपदः प्रभृति दिनत्रयमादौ वामे मार्गे प्रथममर्धतृतीया घटिका हंसो वहति, ततोऽन्यद्दिनत्रयं दक्षिणे, ततोऽप्यन्यद्वामे–इत्यादिः क्रमः श्रीकालोत्तरादिशास्त्रोक्त उदयज्ञप्त्यर्थं स्मर्तव्यः । यदुक्तं कालावल्याम्–

'तत्र तावदयं प्राप्य दर्शप्रतिपदं मरुत् ।
समुदेति विधौ तावदादौ चन्द्रदिनत्रयम् ।।
ततः संक्रमते सूर्ये तत्राप्युदयते त्र्यहम् ।
संक्रम्य त्रयमेतस्मात्पुनरेति हिमद्युतौ' ।। इत्यादौ ।।१७०।।

उपसंहरति–

एतन्मानं समाख्यातं

संक्रान्तीनामिति शेषः । अन्यथाप्रवहनमिष्टेतरसूचकमित्याह–

अन्यथा प्रवहेद्यदा ।

इष्टं चैवाप्यनिष्टं च तदा संसूचयेत्तु सः ।।१७१।।

जहाँ तक अध्यात्म संक्रान्तियों का प्रश्न है, उनकी बाह्यशक्ति–स्थिति से अवगत करा रहे हैं ।

जिस व्यक्ति के शरीर में श्लेष्मा आदि अर्थात् बात, पित्त और कफ उपहत नहीं होते, उसे समधातु पुरुष कहते हैं । ऐसे स्वस्थ पुरुष में हंसचार शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ कर तीन दिन तक पहले बायें अर्थात् इडा मार्ग में साढे तीन घटिका तक चलता है । इसके बाद दूसरे तीन दिन दक्षिण अर्थात् पिङ्गला से बहता है । इसके पुनः आगे वाम भाग में पुनः दायें–यही क्रम स्वाभाविक क्रम माना जाता है । इसी तथ्य को 'कालावली' नामक ग्रन्थ में इस रूप में स्पष्ट किया गया है–

दर्श अर्थात् अमा के बाद प्रतिपदा को पाकर मरुत् अर्थात् हंसचार उदित होता है । वह चन्द्र दिन होता है । इसका क्रम तीन दिन तक चलता है । तब इसके बाद 'हंस' सूर्य में संक्रमित होता है । उसमें भी तीन दिन का ही संक्रमण होता है । वहाँ से पुनः चन्द्र मार्ग का अनुसरण करता है । यह ग्रन्थ काल विषयक पैमाने पर लिखा गया था । आज यह अनुपलब्ध है ।।१७०।।

समधातोरित्येव । यत एवम्–

आत्मार्थं वा परार्थं वा तस्माद्योगी निरूपयेत् ।

'आत्मार्थं निरूपयेत्' आत्मना परीक्षीत । 'परार्थं निरूपयेत्' इति परं निरूपणायां परीक्षायां नियुञ्जीत । अत्र निरूपयेदिति द्वौ णिचौ ।

अथात्र परीक्षाकालमाह–

पूर्वोदये तु सम्प्राप्ते भास्करस्य वरानने ।।१७२।।
जीवितं मरणं चैव तदारभ्य विचारयेत् ।

जीवितसंलग्नत्वात्सुखदुःखादिभोगस्य प्रथमं तत्परीक्षैव प्राधान्यादिहोपक्रान्ता । 'भास्करस्य' दक्षिणप्राणस्य पूर्वोदये' इति प्रोक्तोभयवाहात्मकप्रातस्तनविषुवत्कालानन्तरं यदोदयो भवति, तदा प्रभृति विचारयेत् । अत्र च बाह्योत्तरायणे विषुवद्वासरप्रातस्तनकालात्प्रभृति परीक्षेत–इति कालावलीकारः ।

यह हंसचार के काल का मान है, जो संक्रान्तियों की वास्तविकता से परिचित कराता है । इस क्रम के विपरीत प्राणवाह के होने पर इष्ट और अनिष्ट का संसूचन होने लगता है ।।१७१।।

अपने लिये या सम्पर्क में आये दूसरे लोगों के भी इष्ट अनिष्ट का निरूपण किया जा सकता है । यह स्वात्म परीक्षण स्वयं किया जा सकता है । परार्थ निरूपण स्वयं भी और किसी अन्य नियुक्त द्वारा किया जा सकता है । भगवान् देवी को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, सुमुखि ! सूर्योदय के समय से आरम्भ कर इस पर विचार करना चाहिये । इस परीक्षा में जीवित की आयु और मरण पर विचार कर इसका निर्णय करना चाहिये ।

जीवन से ही सभी सुख और दुःख आदि भोग संलग्न हैं । इसलिये उसकी परीक्षा के प्राधान्य की दृष्टि से जीवित की प्रथम परीक्षा की बात कही गयी है । भास्कर दक्षिणप्राण में ही उदित होते हैं । उस प्रातः कालीन वेला में उभयवाहात्मक विषुवत्काल के पश्चात् पूर्वोदय होता है । तभी से जीवित की परीक्षा करनी चाहिये ।

बाह्य उत्तरायण में विषुवद्वासर की प्रातः कालीन वेला में इसका परीक्षण करना श्रेयस्कर होता है । यह कालावली क्रमोक्त प्रक्रिया है । यही बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये कि, जब भी कोई परीक्षण करना हो, प्रातः कालीन विषुवत् काल के बाद जब दक्षचार का प्रारम्भ होता है, तभी से परीक्षण उचित होता है; ऐसा गुरुवर्ग कहता है ।

सर्वदैव प्राभातिकप्रोक्तान्तर्विषुवत्कालोत्तरभाविदक्षवाहात्प्रभृतीति गुरवः । तत्र–

सुसंयतमना योगी वीरो योगासनस्थितः ।।१७३।।
संस्मरन्नात्मजं प्राणं सुषुम्नान्तर्गतं प्रिये ।

सुसंयतत्वं मनसो विषयाकलुषितत्वम्, 'वीरः' प्राणवाह–निभालनैकाग्रः । 'योगासनं' पद्मासनादि । 'आत्मजं प्राणम्' इति व्याख्यातावरोहक्रमेण चित्स्वरूपादेवोत्थितं सम्यक् स्मरन् दिव्यकरणबन्धक्रमेण पूर्वोक्तानुप्रवेशयुक्त्या परामृशन् । अतश्च–

सुप्रशान्तस्तदा तिष्ठेत्प्राणैकगतमानसः ।।१७४।।

मध्यप्राणवाहावधानेन प्रत्ययान्तरप्रशमात्सुप्रशान्तः ।।१७४।।

एवं [1]सर्वप्रसरभित्तिभूतनिभालितसुषुम्नामार्गस्य योगिनो यदा–

प्राणसंक्रान्तिकालो वै पिङ्गलैकस्थितो वहेत् ।
प्रवाहे विषुवद्देवि ज्ञात्वा कालं समादिशेत् ।।१७५।।

इस कार्य में सुसंयत बुद्धि पूर्वक एकाग्र भाव से लगना चाहिये । वीर साधक को योगासन लगाकर योगमुद्रा और दिव्यकरण में अवस्थित रहकर आत्मज अर्थात् अयत्नज प्राण को सुषुम्ना के अन्तराल में सक्रिय देखना चाहिये । प्राण के आरोह और अवरोह पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये । यह प्राण पूर्णिमा के प्रकाश से उठकर चितिकेन्द्र में बाहर जाता है । उभयथा गतिशीलता में चिति का चमत्कार उसके साथ रहता है । साधक दिव्यकरण में बैठता है और प्राण की सक्रियता का साक्षी बन जाता है ।।१७१-१७३।।

साधक स्वयं सुप्रशान्त भाव से सावधानी पूर्वक प्राण के आरोह अवरोह का साक्षी बन कर परीक्षण में प्रवृत्त रहे, यह आवश्यक है । वह एक ऐसी स्थिति होती है, जब अवधान प्राण संचार पर हो और सुषुम्ना में अवस्थिति हो । किसी प्रकार की अनुभूति न होकर एकतानता बनी हुई हो । वास्तव में वही अवस्था सुप्रशान्त अवस्था मानी जाती है ।।१७४।।

यह सर्वविदित तथ्य है कि, सुषुम्ना सभी प्रकार के प्रसर की भित्ति मानी जाती है । साधक सावधान होकर उसका निभालन कर रहा है । उस समय योगी १–मध्यपथ का ही निभालन करता है । २–वह प्राभातिक उभयवाहक समय होता है । ३–इसके बाद पिङ्गला के दक्षिण मार्ग में ही सक्रिय प्राणवाह को, तथा दक्षिणवाम क्रम के उल्लङ्घन के कारण उत्पन्न अवस्था को देखता है ।

---

१. ख. पु. सर्वत्रेति पाठः ।

ज्ञात्वेत्यतोऽनन्तरं तदेत्यध्याहार्यम्, तेनायमर्थः—मध्यपथनिभालनपुरःसरं प्रभातकालमुभयवाहात्मकं निभाल्य, तदनन्तरं पिङ्गले दक्षिणमार्गे एवैकस्मिन् यथोक्तदक्षिणवामक्रमवाहोल्लङ्घनात्स्थितं चिरकालं समवस्थानमुपलक्ष्य तादृशि प्रवाहे 'कालम्' इति स्वस्य परस्य वा मृत्युमादिशेत् ॥१७५॥

एतद्विभजति—

एकाब्दं जीवितं ज्ञेयमहोरात्रेण सुव्रते ।
अब्दद्वयं स जीवेत्तु अहोरात्रद्वयेन तु ॥१७६॥
त्र्यब्दं तु त्रिभिरेवात्र चतुर्भिश्चतुरब्दकम् ।
पञ्चाब्दं पञ्चदिवसैः षड्भिः षड्वर्षमेव च ॥१७७॥
सप्तभिः सप्त वर्षाणि जीवेदष्टाष्टभिर्दिनैः ।
नवभिर्नववर्षाणि दशभिर्दश एव च ॥१७८॥
दिनैकादशकेनैव वर्षैकादशकं प्रिये ।
दिनैर्द्वादशभिर्योगी जीवेद्वर्षाणि द्वादश ॥१७९॥

४–इस प्रकार तीन प्राणगतियों का वह साक्षी बनकर चिरकाल तक पिङ्गला मार्ग में अवस्थित रहता है । ५–इस चिरकालिक प्राण प्रवाह में दक्षवानकाल का ज्ञान कर उस काल को अच्छी तरह आकलित कर अपनी अथवा जिस किसी की मृत्यु के विषय में कहने का अधिकारी हो जाता है ॥१७५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, निरन्तर समयाचार को सम्यक् रूप से सम्पन्न करने वाली सुव्रते देवि ! एक अहोरात्र में यदि प्राण विषुवत् पिङ्गला में ही वाह करता रहे, तो यह मानना चाहिये कि, उसके फल स्वरूप व्यक्ति का जीवन मात्र एक वर्ष का ही है । इसके मृत्यु अवश्यंभावी है । दो अहोरात्र में २ वर्ष जीवन शेष है ॥१७६॥

तीन अहोरात्र पर्यन्त पिङ्गलैकस्थित प्रवाह यदि क्रमिक से चालू रहता है और प्राणवाह दूसरे मार्ग से प्रवाहित नहीं होता, तो तीन वर्ष की आयु शेष है । इसी तरह चार अहोरात्र में चार वर्ष, पाँच अहोरात्रों में पाँच वर्ष ही आयु शेष है । और छः अहोरात्रों में ६ वर्ष की आयु अभी शेष है ॥१७७॥

सात अहोरात्र में सात वर्ष, आठ दिन में आठवर्ष, नव में नव वर्ष, दश में दशवर्ष, एकादश अहोरात्र में ग्यारहवर्ष, बारह में बारहवर्ष की आयु शेष है, यह भविष्यवाणी करनी चाहिये । यदि एक अहोरात्र के सात पहर में ही प्राण-

सप्तयामप्रवाहेण षण्मासानथ जीवति ।
प्रहरान्षड्वहेद्यस्य मासांस्त्रीन्वै स जीवति ।।१८०।।
पञ्चप्रहरवाहेन द्व्यर्धमासायुरेव सः ।
चतुर्भिः प्रहरैर्देवि मासमेकं स जीवति ।।१८१।।
प्रहरत्रयवाहेन मासार्धं चैव जीवति ।
प्रहरद्वयं वहेद्यस्य दिनान्यष्टौ स जीवति ।।१८२।।
चतुरः प्रहराञ्जीवेत्प्रहरं तु वहेद्यदा ।
प्रहरार्धं वहेद्यस्य स जीवेत्प्रहरद्वयम् ।।१८३।।

वाह बदल जाये, तो यह कहना चाहिये कि, उस व्यक्ति का जीवन केवल छः माह ही अवशिष्ट है । छह प्रहर में बदले तो तीन मास मात्र ही जीवित रहेगा, यह शास्त्र का कथन है ॥१७८-१८०॥

पाँच प्रहर का ही यदि दक्षप्राणवाह हो, तो यह निश्चित जानना चाहिये कि, केवल तीन माह में ही परलोक गमन करेगा । चार पहर के प्राणवाह में एक माह का जीवन शेष है, यह जानना चाहिये । ३प्रहरवाह में १५दिन, दो प्रहरवाह में आठ दिन, १ प्रहरवाह में चार प्रहर, तथा जिसकी दाहिनी साँस ½ प्रहर पर बदल जाये, वह मात्र दो प्रहर का ही मेहमान मानना चाहिये ॥१८१-१८३॥

ये बातें बड़ी विचारणीय हैं । गहन अभ्यास से ही इन बातों का ज्ञान सम्भव है । १ प्राणवाह ३६ अंगुल का होता है, इसमें १२ संक्रान्तियों की गणना से ३–तीन अङ्गुलों पर एक संक्रान्ति प्राणवाह में और इसी तरह अपान-वाह में भी १२ संक्रान्तियाँ होती हैं । इस तरह एक अहोरात्र में २४ संक्रान्तियाँ और २१६०० प्राणचार होते हैं । एक संक्रान्ति में ९०० प्राणचार स्वभावतः सम धातु पुरुषों के होते हैं । यदि द्वादश वासरों से लेकर एक दिनात्मक प्राण एक मात्र पिङ्गला में रहता है, तो यह फलादेश किया जा सकता है कि, व्यक्ति उतने ही वर्षों तक जीवित रह सकता है । सात पहर से एक प्रहरान्त प्राणचार की अवस्था में स्ववाह से अधिक वाह होने पर छः, तीन, दो, एक मास, १५ दिन, और ८,४,२,१, आधे दिन की ही आयु होती है ।

किसी टीकाकार ने ९०० प्राणचार के अनन्तर प्राणापानवाह के अनन्तर दिनों की स्थिति के अनुसार दिन विभाग स्वर परीक्षा के लिये चार तुटियों के आन्तरवाह के अनुसार विभाग की बात अपनी टीका में लिखी है । बाह्य आदि दिवा के प्राणवाहों के अनुसार परीक्षा करने पर उसके अनुभव में बाधा आती है ।

अत्र प्रोक्तनवशतप्राणवाहातिरेकेण यदि द्वादशदिवसाद्येकान्तानि दिनानि समधातोः प्राणः पिङ्गलायामेव एकस्यां स्थितो वाममार्गासंस्पर्शे वहेत् तत्तावत्संख्यान्येव वर्षाणि जीवितं भवति । सप्तप्रहराद्यर्धप्रहरान्ते तु स्ववाहाभ्यधिके वाहे षट्त्रिद्व्यर्धैकमासतदर्धदिनाष्टकचतुर्दिनैकदिनदिनार्धमायुर्भवति । कश्चित्तु नवशतिकाद्वाहादनन्तरं प्राणापानवाहात्मकान्तरदिनस्थित्या दिनविभागं स्वपरपरीक्षार्थं तुटिचतुष्टयात्मकान्तरप्रवहणस्थित्या च प्रहरविभागं स्वपरीक्षार्थमेव व्याकृतवान्, अनुभवबाधं च बाह्यदिनादिवाहे प्रोक्तवान् । सप्तप्रहरादिवाहं तु बाह्यमभ्युपेत्योपेक्ष्यमेतद्यतो यदि बाह्यानि द्वादशापि दिनान्यायातमृत्योः प्राणो वहति, तत्कोऽत्रानुभवबाधः । न तथोपलम्भोऽस्तीत्यनायातमृत्युना अनवधानेन चैतद्वक्तुं शक्यम् । इतरस्य तु तथा चोपलम्भो भवत्येव । तुटिचतुष्टयात्मकप्रहरस्थित्या च सप्तादिप्रहरवाहोऽत्यन्तासम्बद्ध एव । नहि कस्यचिदपि जातुचित्प्राणापानवाहः स्वाभाविकीं द्वासप्तत्यङ्गुलतामुत्सृज्य वहति, चतुष्प्रहरवाहे च षट्त्रिंशदङ्गुलान्ते अपानस्याप्रवेशे तदैव मरणप्रसङ्गः ।

इसका उत्तर देते हुए क्षेमराज कह रहे हैं कि, इसमें अनुभव बाधसदृश कोई समस्या नहीं है । वस्तुतः सप्तप्रहर आदि वाह की पीछे जो चर्चा की गयी है, वह ९०० प्राणचार वाली २४ संक्रान्तियों वाले अहोरात्र की गणना पर आधारित है । अन्य कोई गणना इसमें इसी दृष्टि से साधीयसी हो सकती है । जिसकी मृत्यु आ ही गयी हो, उसका प्राणवाह किसी प्रकार बहे, उससे इस सिद्धान्त पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

जिसको अभी जीवन के अनन्त सूर्योदय और सूर्यास्त देखने हैं, वह इस विषय में अवधान नहीं रखता । वह जैसा चाहे कहे । किन्तु योगी को या उसके माध्यम से किसी को अपनी मृत्यु का समय उक्त सिद्धान्त के अनुसार ही ज्ञात हो सकता है ।

एतद्विषक प्रहर चार तुटियों का मानकर सप्त प्रहर से अर्ध प्रहरान्त समय के अनुसार प्राणवाह की परीक्षा कर लेनी चाहिये । किसी पुरुष का प्राणापानवाह स्वाभाविकी ३६ अङ्गुलता को छोड़कर प्रवाहित नहीं होता । चार प्रहरवाह के ३६ अङ्गुलान्त में अपान के प्रवेश न करने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है । योगियों द्वारा अपने अभ्यास के बल पर अंशांश कर प्राणवाह करना साधित किया जाता है । वह विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करता है । अमावस्या केन्द्र में अभ्यास करने पर उक्त सभी सिद्धियाँ अनायास मिलती हैं । उसे जीवन के अन्त की सूचना नहीं मिलती ।

किञ्च, तथाविधांशांशिकावाहो योगिना महता प्रयत्नेन साधितस्तत्तत्सिद्धिप्रदः, इत्यमावस्याप्रयत्नेन घटितः सिद्धिप्रद एव भवेत्, न तु जीवितावसानसूचकः । 'पिङ्गलैकस्थितः' इति चात्राश्लिष्टम् । यदि तु योगिभिरत्र पक्षे वाग्भरो दीयते, तन्नेयार्थमप्येतत्साध्वेव नास्माकं ग्रहः कश्चित्, तदपि तु दिनवाहः स्वपरीक्षार्थः, यामवाहस्तु स्वपरपरीक्षार्थः–इत्यत्र न वचनं किञ्चिदस्ति, प्रहरादिवाहव्यवस्था च बाह्याप्यभ्युगम्यते–इति स्फुटमिदं स्वमनीषामात्रकल्पितम्–इत्यलं पूर्वैः सह निर्बन्धेन । विपर्यस्तस्त्वागमार्थावबोधोऽनुष्ठानविपर्यासहेतुर्मा भूदित्याशयेनैतदुक्तम् ॥१८३॥

किञ्च–

सद्यो मृत्युर्भवेत्तस्य यस्य हंसस्त्रिमार्गगः ।

'सद्यः' इति तस्मिन्नेवार्धप्रहरे । त्रयो मार्गाः नासारन्ध्रे मुखं च ।

अब्दादिजीवितं च तत्परीक्षाकालात्प्रभृति गणयेदित्याह–

यदारभ्य निरूप्येत प्राणे वै कालमीश्वरम् ॥१८४॥

उक्त १७५ वें श्लोक में पिङ्गलैकस्थितः शब्द का प्रयोग है । उससे प्रमुख अर्थ निकलता है कि, पिङ्गल अर्थात् दक्षमार्ग में ही प्राणवाह चल रहा है । वहीं चिरकाल तक अवस्थिति बनी हो । उसी से काल का आदेश किया जा सकता है । योगियों का इसी पक्ष पर जोर है । इसमें स्वयं क्षेमराज का कोई आग्रह इसलिये नहीं है कि, ये नहीं चाहते कि दुराग्रहपूर्ण किसी अर्थ पर बल देने पर कहीं अनुष्ठान में कोई विपर्यास न उत्पन्न हो जाय ॥१८१-१८३॥

उस व्यक्ति की सद्यः अर्थात् तत्काल मृत्यु का योग होता है, जिसका श्वासचारात्मक 'हंस' तीनों मार्गों से अर्थात् दोनों नासिका रन्ध्रों और मुख का आश्रय लेकर सक्रिय हो जाता है । तत्काल का अर्थ भी यही समझना चाहिये कि, इस तरह प्राणहंस की सक्रियता के आधे पहर में ही मृत्यु अवश्यंभावी है । तीनों मार्गों का अर्थ तीनों नाडियों से लेने का अर्थ नहीं निकालना चाहिये ।

इसी क्रम में भगवान् यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि, वर्ष पर्यन्त जीवित रहने का कालक्रम और उसकी परीक्षा भी साधकों द्वारा सम्पन्न होनी चाहिये । साधक द्वारा यह निरूपित करने या परीक्षित करने के काल का निश्चय करना चाहिये । ईश्वर का ही यह एक विशिष्ट स्वरूप है, जिसे सभी काल कहते हैं । इसी काल से प्राण का निरूपण किया जा सकता है ॥१८४॥

मासः पक्षो दिनं वर्षं तदहः प्रभृति प्रिये ।
संलक्ष्यैवं प्रयत्नेन तत्काले निश्चयो भवेत् ।।१८५।।

यतो बाह्यात्कालादारभ्य सकलकालव्यवस्थोत्थापकत्वात्कालम्, प्रभविष्णुतया विश्वस्याक्रमणाच्चेश्वरम्, प्राणे प्रकृष्टेन निभालनात्मना यत्नेनैवमुक्तयुक्त्या निरूपयेत् परीक्षेत, ततः प्रभृति मासपक्षदिनवर्षादि सम्यग्लक्षयित्वा तत्काले निश्चयो भवेदर्थाज्जीवितस्येति सम्बन्धः ।

उपसंहरति–

उत्तरायणजे काले एवं ते कथितं मया ।

उत्तरायणमत्र दक्षिणनासापुटवाहः, तस्य संहारप्रधानत्वात् ।

प्रसङ्गात्प्रकारान्तरं मृत्युज्ञानार्थं प्रतिजानीते–

अयुक्तस्यापि च प्राणे मृत्युज्ञानं निबोध मे ।।१८६।।

तदाह–

कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठो घोषं न शृणुते यदा ।
मरणं तस्य देवेशि षण्मासेन विनिर्दिशेत् ।।१८७।।

मास, पक्ष, दिन, वर्ष और अन्य सभी काल उसी दिन से प्रारम्भ करने चाहिये । प्रयत्नपूर्वक संलक्षित करने के उपरान्त ही किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिये । सामान्य उपेक्षात्मक दृष्टि से यह कार्य नहीं करना चाहिये । समस्त व्यवहारों की व्यवस्था का उक्त काल ही उत्त्थापक है । प्रभविष्णुता के साथ विश्व को आक्रान्त करता है । इसीलिये काल को ईश्वर भी कहते हैं । इसे प्रकर्ष पूर्वक सम्पन्न करना चाहिये । लापरवाही से सारा काम बिगड़ सकता है ॥१८५॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, यह सारी उक्ति जो मेरे द्वारा तुम्हें सुनाई गयी है, इसकी परीक्षा उत्तरायण कालखण्ड में करनी चाहिये । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, श्वास साधना में दक्षिण प्राणवाह ही उत्तरायण है । इसमें संहार का प्राधान्य होता है । क्योंकि श्वास का सूर्य इसी के अन्त में अपान में परिवर्त्तित हो जाता है । श्वास के बाहर अमाकला में अस्त होने की अवस्था में व्यक्ति निष्प्राण भी हो जाता है ।

उक्त मृत्युज्ञान के अतिरिक्त भी जिसे प्राण विषयक प्रसङ्ग में नहीं कहा गया है, उसका ज्ञान हे प्राणप्रिये ! तुम मुझसे प्राप्त करो ॥१८६॥

कान के दोनों छिद्रों में अङ्गुष्ठ अङ्गुलि लगाकर भीतर से आने वाली आवाज को सुनने का प्रयत्न कीजिये । जब भीतर से कोई घोष न सुनायी दे, तो

घोषं द्रुतसरिच्छब्दानुकारं न शृणोति । तदन्तःस्थं चीरवागाख्यप्राणिकार्य-चिञ्चिनीतुल्यं शब्दं शृणोत्येव ॥१८७॥

यदा तु तमपि–

घोषमध्ये परं शब्दं चीरवाक्चिञ्चिनीरवम् ।
मासमेकं स जीवेत्तु न शृणोति यदा प्रिये ।।१८८।।

कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठ इत्यनुवर्तते ॥१८८॥

प्रसङ्गादन्यदप्याह–

उत्पाटं चैव काणं च मृत्युयोगं च मे शृणु ।

तत्र–

संक्रान्तिपञ्चकं प्राणो मुखरन्ध्रे वहेद्यदा ।।१८९।।
तमुत्पाटं वदेद्योगं

प्राणस्य स्वस्थानान्नासापथादुत्पाटनादयमुत्पाटः ॥१८९॥

यदाह–

स्थानात्स्थानान्तरं व्रजेत् ।

अतश्चेदृगरिष्टलक्षणयुक्तोऽपि स्थानात्स्थानान्तरमुद्भ्रान्तप[1]त्रिवद्भ्रमति–इत्यप्यत्रार्थः ।

हे देवेश्वरि ! यह समझना चाहिये कि, छः माह मात्र ही जीवन शेष है । प्रत्येक व्यक्ति को अङ्गुष्ठ लगाकर सुनने से कान के छिद्रों से भीतर से चीरवाग् नामक जीवन काल की सूचिका चिञ्चिनीध्वनि अवश्य सुनायी पड़ती है ॥१८७॥

घोष के मध्य में जब चिञ्चिनीरव सदृश वह चीरवाक् न सुनायी पड़े तो यह मानना चाहिये कि व्यक्ति का जीवन अब मात्र एक मास ही शेष है ॥१८८॥

दो योग उत्पाट योग और काण योग ये दोनों ही मृत्युयोग है । पाँच संक्रान्तियों तक प्राण यदि नासापथ का परित्याग कर मुखरन्ध्र से वहन करता हो, तो इस योग को उत्पाट–योग कहते हैं । यह योग अरिष्ट योग माना जाता है ॥१८९॥

इसमें प्राण का निर्धारित पथ ही प्राण द्वारा छूट जाया करता है । वह कभी इडा से कभी पिङ्गला से कभी कण्ठ होते हुए मुख में उस पक्षी की तरह

---

१. क. ख. पु. पत्रवदिति पाठः ।

किञ्च, ईदृशोत्पाटवतः-

वित्तनाशस्तथोद्वेगो रोगवृद्धिश्च जायते ।।१९०।।

सुहृद्गृहविनाशश्च तेजोहानिश्च जायते ।

काणमाह-

दक्षिणे पुट एकस्मिन्दक्षिणायनवर्जिते ।।१९१।।

संक्रान्त्यष्टकवाहेन काणयोगो भवेद्धि सः ।

दक्षिणायनेन वामपुटवाहेन वर्जिते मध्ये तद्रहिते । एवं चाभिदधद् यत्-

.............त्रिंशत्प्राणक्षयोदया' । (२०२)

इति मृत्युयोगे संक्रान्तिस्वरूपं वक्ष्यति, तदिहापि सम्बन्ध्यमिति सूचयति, दक्षिणायने प्राप्त्यभावाद्वर्जनानुपपत्तेः । अतश्च वामवाहनिमीलनेन दक्षिणैकवाहात्काण इव काणः । अतश्च-

भगन्धरोऽनुग्रन्थश्च नेत्ररोगश्च कामला ।।१९२।।

भटकता रहता है, जो अपनी पाँखों पर नियन्त्रण खोकर इधर से उधर भटकता रहता है । ऐसे उत्पाट योग वाले पुरुष के दुर्भाग्य की सूचक ये बातें उपद्रव बरपा कर देती हैं । कभी अकस्मात् चित्तनाश, तो कभी मानसिक उद्वेग तो कभी भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति और यहाँ तक कि, तुरत रोग वृद्धि भी हो जाने लगती है ॥१९०॥

कभी मित्रों के घर पर भी उपद्रव खड़ा हो जाता है, उसके घर में भी विनाश की लीला का ताण्डव और उस व्यक्ति के घर का भी सम्पात हो जाता है । तेज क्षीण हो जाता है । यही नहीं । कभी ऐसा होता है कि, दक्षिणायन न रहने पर भी दक्षिण पुट में चार हो जाता है ॥१९१॥

प्राणचार पिङ्गला में चल रहा हो और दक्षिणायन की वर्जना हो, व बीच में वह इडा में ही सम्पन्न हों तो, यह काण योग (श्लोक १८९) होता है । वस्तुतः जब प्राण पिङ्गला में चलता है, तो दक्षिणायन हो ही नहीं सकता क्योंकि, उसकी प्राप्ति ही असम्भव है । इसलिये वामवाह के निमीलन होने और मात्र दक्षिण में ही प्राणचार हो, तभी काण योग होता है । इस काण का फल यह होता है कि, भगन्दर अर्थात् पायु रोग हो जाता है । कभी अनुग्रन्थ अर्थात् शूल के साथ अतिसार रोग अथवा कभी नेत्र रोग से पुरुष पीड़ित हो जाता है । पाण्डु रोग की भी सम्भावना बनी रहती है ॥१९२॥

शूलं विस्फोटिकाः दुःखमुरोदोषा भवन्ति च ।

'भगन्धरः' पायुरोगः । 'अनुग्रन्थः सशूलोऽतिसारः । 'नेत्ररोगः' तिमिरामयः । 'विस्फोटिका' पिटिका । 'उरोदोषाः' उरःक्षताद्याः ।

वामकाणमुक्त्वा दक्षिणकाणमाह–

वामनासापुटेनैव संक्रान्तीश्च त्रयोदश ।।१९३।।

यदि प्राणो वहेत् तदा दक्षिणवाहनिमीलनादयमपि काणः ।।१९३।।

तस्मात्–

ज्वरः शिरोऽर्तिः शूलं च अर्शांसि स्तम्भ एव च ।
मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहश्च पाण्डुरोगश्च जायते ।।१९४।।

'प्रमेहः' शुक्रादिप्रस्त्रावः ।।१९४।।

तदित्थं प्राणः–

इडास्थः श्लेष्मणा व्याधिं प्रकोपयति सुव्रते ।

व्याधिमिति ज्वरादिपाण्डुरोगान्तम् । अस्य व्याधेर्जातस्योदयकालं निरूपयति–

यस्मिंश्चारे निरूप्येत तत्कालदिवसे परे ।।१९५।।
व्याधिभिः पीड्यते सर्वैर्वामवामेतरेतरे ।

वामे तदितरस्मिन्दक्षिणे च काणयोगः, इतरत्र च मुखे उत्पाटो यत्र वाहकाले दृश्यते, ततः परत्र दिवसे तत्काल एव प्रोक्तव्याधिभिः पीड्यत इत्यर्थः ।।१९५।।

यही नहीं, मूलरोग, विस्फोटक (चेचक) हृदय रोग आदि के दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं । यह तो वाम काणरोग की बात है । इसी तरह दक्षिण काण का योग भी बड़ा ही भयङ्कर होता है । इसमें दक्षिणवाह बन्द (निमीलित) हो जाता है । श्वास केवल वाम भाग अर्थात् इडा से चलता है । यह दक्षिण काण योग है ।।१९३।।

दक्षकाण योग का दुष्परिणाम यह होता है कि, पुरुष को ज्वर, शिर की भयङ्कर पीड़ा, बवासीर, जकड़न (स्तम्भ) मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह और पाण्डु आदि रोग हो जाते हैं । इसमें स्वप्नदोष और शुक्रप्रस्त्राव भी शामिल हैं ।।१९४।।

इडा में अवस्थित प्राण श्लेष्मा अर्थात् कफ सम्बन्धी रोग उत्पन्न करता है । कफ के प्रकुपित हो जाने से और भी आन्तरिक उक्त रोग उत्पन्न हो सकते हैं । जिस समय श्वासचार की यह गड़बड़ी उत्पन्न हो जाय, उसके दूसरे ही दिन उक्त सारी व्याधियों की सम्भावना हो जाती है । इसमें उत्पाट योग का भी योगदान रहता है । इसलिये जानकार व्यक्ति को सावधान रहना चाहिये ।।१९५।।

एवमुत्पाटकाणौ द्वौ निर्णीय, मृत्युयोगमव्याकृत्य प्रसङ्गान्नासापुटभागस्पर्शं शुभादिसूचकं निरूपयति–

अथान्यत्स्पर्शविज्ञानं नासाधस्तात्तथोपरि ।।१९६।।

वक्ष्यामीति शेषः ।।१९६।।

तत्र–

ऊर्ध्वेन स्पृशतश्चोर्ध्वं रुग्दोषाः प्राक्प्रचोदिताः ।

स्युरिति शेषः । 'ऊर्ध्वेन' इति ऊर्ध्ववाहिना प्राणेन । 'ऊर्ध्वम्' इति नासायाः । अत्र च दक्षिणेनोत्तरस्थं सम्बध्यते ।

ऊर्ध्वेनोक्त्वा अध आह–

वाचाक्रोशाभिभवनं दक्षिणेन वहेद्यदा ।।१९७।।

दक्षिणेन स्पृशेदिति पाठे पूर्वेण सह एकवाक्यतया व्याख्येयम् ।।१९७।।

यहाँ उत्पाट और काण नामक दो योगों के दुष्परिणामों का निरूपण किया गया है । ये मृत्युप्रद भी हो सकते हैं किन्तु शब्दतः यह कहा नहीं गया है । आगे यहीं यह सूचना भगवान् दे रहे हैं कि, नासापुट भाग का स्पर्श जब श्वासचार से होता है, तो उससे आचार्य कैसी सूचना दे । भले ही वह श्वासचार वामनिमीलन के बाद दक्ष स्पर्श करें या दक्षनिमीलन के बाद वामस्पर्श करें । यह सूचित कर रहे हैं ।।१९६।।

प्राण की गति का जल्दी पता नहीं चलता । सामान्य व्यक्तियों के लिये तो इसका जानना कठिन है । साधक के लिये आवश्यक है । श्वास ऊर्ध्व की ओर उन्मीलित हुआ, उस समय उसे ऊर्ध्ववाही प्राण कहते हैं । यह पिङ्गला में प्राण की प्रवृत्ति माननी चाहिये । यह उस समय वहीं चलने के लिये गया हुआ था । कुछ ही देर बाद अचानक यह नासिका के ऊर्ध्वभाग का स्पर्श करने लगा और धीरे से इडा में सरक गया । यह एक तरह का क्रमभङ्ग दोष होता है । इसका परिणाम भी यही होता है, जो उत्पाट और काण योगों से रोग के रूप में दीख पड़ता है ।

इसके विपरीत ऊर्ध्व से अधः श्वास प्रवाह भी उपद्रवों को जन्म देता है । वाणी में आक्रोश भर जाता है । दूसरों का अपमान करता है और स्वयं भी अपमानित होता है ।।१९७।।

किञ्च–

मध्ये मध्यपुटस्पर्शी पराभिभवतां व्रजेत् ।

'मध्ये' इति सर्वपार्श्वस्पर्शवर्जं 'मध्यपुटो' मध्यवंशस्तत्स्पर्शी च ।

किञ्च–

इतश्चेतश्च बहुधा संक्रान्त्येका वहेद्यदा ।।१९८।।

पूजनं बहुसम्मानं लाभस्तस्य भवेत्तदा ।

संक्रान्तिगतानि नव प्राणशतानि 'इतश्चेतश्च' इति वामदक्षिणवाहयोर्यदि पर्यायेण बहुशो वहेत् प्राणस्तदा पूजादिकं भवति । यत्तु कश्चिद्यदा इत्यत्र तदेति पठित्वा पूर्वेण पराभिभवेन फलेन श्लोकार्धं योजितवान्, बह्वित्यर्धं चोत्तरश्लोकेन, तदसारत्वादुपेक्ष्यम् ।।१९८।।

किञ्च–

मन्दचारे सुषुम्नायां प्राणहंसो वहेद्यदा ।।१९९।।

बीच में वह मध्य पुटस्पर्शी बन जाता है । न उसका प्रवाह अगल बगल न और कहीं, केवल मध्यवंश (मध्यदण्ड) (सुषुम्नांश) का स्पर्श करता है । परिणाम यह होता है कि, उस समय प्राण न सुषुम्ना का आश्रय लेकर मध्यवाह को ही अपनाता, न ठीक से इडा में ही चार कर पाता है और न ही पिङ्गला में ही चार कर पाता है । गेंद की तरह उधर इधर का ही बन जाता है । यह स्थिति आश्चर्यजनक मानी जाती है । इसमें मनुष्य सम्मानित होता और वह बहुत कुछ लाभ का भी भागी बनता है ।।१९८।।

यदा-तदा के अपपाठ को आचार्य क्षेम नहीं मानते । हालांकि, यहाँ अपपाठ नहीं शुद्ध पाठ ही छपा है ।

लाभप्रद प्राणचार की एक अन्य अवस्था का वर्णन भगवान् भैरव भट्टारक यहाँ सुना रहे हैं । उनके अनुसार प्रणहंस जब सुषुम्ना में ही चार कर रहा हो और उसकी गति सामान्य से भी मन्द हो, अर्थात् विना शारीरिक प्रभाव के स्वरसवाह में ही प्रवृत्त हो, तो यह शुभ लक्षणप्रद माना जाता है । इस अवस्था में साधक को किसी के द्वारा भूमिदान का प्रस्ताव आ जाता है और भूमि लाभ हो जाता है । इसी प्रभाव से उसमें धर्म का आधान हो जाता है । वह परम धार्मिक बन कर शास्त्राचार का आचरण करने लगता है । उसके ऐश्वर्य और समृद्धि का संवर्धन होने लगता है और वह ऐश्वर्यशाली बन जाता है । उसके यहाँ अत्यन्त प्रियजनों का शुभागमन होता है ।

भूलाभो धर्म ऐश्वर्यं भवेच्चात्र प्रियागमः ।

'सुषुम्नायाम्' इति मध्यमार्गे स्वरसत एव यदा वहेदिति व्याकर्तव्यम्, न तु यथा बृहट्टीकाकारेण व्याकृतं [1]नासापुटमध्य इति । एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वावशिष्टं मृत्युयोगं निर्णेतुमाह–

द्वादशैव तु संक्रान्तीर्वहेद्विषुवतैकतः ।।२००।।
तदैकवत्सरेणैव मरणं तु समादिशेत् ।
ह्रसेत्संक्रान्तिरेका मास एको ह्रसेत्तदा ।।२०१।।

विषुवतेति 'उद्वतो' निवतः इति प्रयोगदर्शनादर्हार्थवत्यन्तस्यानव्ययत्वा-तृतीया । तेन वामदक्षिणयोर्युगपदवस्थित्या यदि द्वादश संक्रान्तीः समनन्तरवक्ष्य-माणत्रिंशत्प्राणचारात्मकैकसंक्रान्तिकलनया षष्ट्यधिकत्रिशतिकवाहात्मिका नवशतिकं स्वाभाविकं वाहमपास्य 'एकतः' इत्येकप्रघट्टकेन वहेत्, तदा मासेन मरणं सूचयति । एकैका तु संक्रान्तिर्यदि 'ह्रसेत्' इत्येकादशदशादिसंक्रान्तीर्यदा वहेत्, तदा तावद्भिर्मासैर्मरणम्, यावत्स्वाभाविकनवशतिकविषुवद्वाहोल्लङ्घने यद्येकां त्रिंशत्प्राणचारात्मिकां संक्रान्तिं वहेत्, तदा मासेन मरणं निश्चेयम् । पूर्वं 'शतानि

इस सन्दर्भ में क्षेमराज ने वृहट्टीकाकार (नाम नहीं दिया है) की व्याख्या का खण्डन किया है । वृहट्टीकाकार ने सुषुम्ना को नासापुट का मध्य माना है । प्राणचार सब सुषुम्ना में होता है तो वह श्वास के क्रम में नासापुट के मध्य में ही होता है और उसका चार भी मन्द होता है । इस आधार पर वृहट्टीकाकार की मान्यता का खण्डन ठीक नहीं लगता । मेरा भी अनुभव कुछ इसी तरह का है । अतः आचार्य के मत से मैं भी सहमत नहीं हूँ । मेरे वैमत्य को श्री क्षेम जी क्षमा करेंगे । इससे आश्वस्त हूँ । वृहट्टीकाकार ही वस्तुतः अनुभवपथ के पथिक प्रतीत होते हैं ।।१९९।।

इतना कुछ प्रसङ्गवश कहने के उपरान्त शेष बचे मृत्युयोग का निरूपण कर रहे हैं । वस्तुतः एक संक्रान्ति में ३० प्राणचार स्वभावतः सम्पन्न होते हैं । इस कलना के अनुसार १२×३०=३६० प्राणवाह यदि चलने लगता है, तो इसका यह अर्थ होता है कि, स्वाभाविक ९०० प्राणवाह का क्रम छूट जाता है । इसी का परिणाम है कि, १२ संक्रान्तियाँ एक ही विषुवत् में एक ही ओर चलती हैं । एक ही प्रघट्टक में चलती रहती हैं । यह अनिष्ट कर योग माना जाता है । मनुष्य एक माह में ही मृत्यु का वरण कर लेता है ।

---

१. ख. पु. वामपटेति पाठः ।

नव वै हंस एकामेकां वहेत् सदा'। (७/१७०) इति यत् संक्रान्तेर्मानमुक्तम्, तदेवोत्पाट-काण-योगसंक्रान्तीनां 'दक्षिणायनवर्जिते' इत्यभिधानादिति निर्णीतम् ॥२०१॥

मृत्युयोगे त्वन्यथेत्याह–

संक्रान्त्येका वरारोहे त्रिंशत्प्राणक्षयोदया ।

प्राणापानवाहस्य अहोरात्रत्वेन उक्तत्वात् तत्त्रिंशता इह संक्रान्तिर्मन्तव्या–इत्यर्थः । इत्थमीदृश्येकैव संक्रान्तिर्यदि स्वाभाविकं विषुवद्वाहमपास्य, तत्स्थाने–

दिने दिने वहेद्वाह्ये यावत्त्रिंशद्दिनानि तु ।।२०२।।

तदा–

मासान्ते तु भवेन्मृत्युः सद्य एव वरानने ।

तदित्थम्–

मृत्युयोगः समाख्यातो मया ते वरवर्णिनि ।।२०३।।

एक एक संक्रान्तियों के ह्रास से एक एक मास का ह्रास होने लगता है । इस तरह एकादश पुन: दश, पुन: नौ के क्रम से घटते घटते अन्त में मृत्यु हो जाती है । उतना उतना काल भोगते हुए अन्त समय आ जाता है । यह आन्तर संक्रान्तियों की क्षीणता का ही परिणाम माना जाता है । इसमें स्वाभाविक ९०० विषुवद्वाह के क्रम का उल्लङ्घन हो जाता है । यह अनिष्टप्रद योग है । इसी पटल के श्लोक १७० में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, हंस एक एक संक्रान्ति में ९०० चार पूरा करता है । यहाँ इसी क्रम का उल्लङ्घन होता है । यह सब उत्पाट और काण योगों की संक्रान्तियों का ही विकार होता है । श्लोक १९१ में दक्षिणायन वर्जिते की उक्ति के सन्दर्भ में इसका स्पष्ट उल्लेख इसी का प्रमाण है ॥२००-२०१॥

मृत्युयोग के एक अन्यथा संक्रान्ति प्रयोग की बात बताने के लिये देवी को सम्बोधित करते हुए भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, देवि ! प्राणापानवाह क्रम में एक अहोरात्र की कल्पना एक श्वास प्रश्वास में की गयी है । यदि तीस प्राणों के क्षय और उदय की एक संक्रान्ति मानी जाय और स्वाभाविक विषुववद्भाव का परित्याग कर उसके स्थान पर तीस दिनों तक दिनों दिन वही चार करती रहे, तो मासान्त में मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इस तरह मैंने योग में बाधक अस्वाभाविक मृत्युयोगों का वर्णन किया है । योगी को ध्यान पूर्वक इसका आकलन कर सावधान रहना चाहिये ॥२०२-२०३॥

अत्रापि पूर्ववत्परीक्षाकालत्प्रभृति प्रोक्ताशुभसूचककालगणना कार्येत्याह–

अब्दं मासं तथा पक्षं तिथिं वेलां यदाभ्यसेत् ।
यत्कालात्तु समारभ्य तत्कालं तु समादिशेत् ।।२०४।।

यत्कालादभ्यसेद्यदा परीक्षितुमुपक्रमेत, ततः कालादारभ्य वर्षमासादि मरणादिसूचकं क्रमेण स्वात्मनः परस्य वा कथयेदित्यर्थः ॥२०४॥

तदीदृशमेवंविधशुभाशुभसूचकम्–

इडासुषुम्नामार्गेण प्राणचारं विदुर्बुधाः ।

सावधाना एव योगिनो जानीयुः, न त्वन्य इत्यर्थः । इडासुषुम्ने पिङ्गलां विषुवं चोपलक्षयतः । उपसंहरति–

दक्षिणायनजे काले एवं ते कथितं शुभम् ।।२०५।।

'दक्षिणायनजः कालो' वामपुटवाहः । एतदपि पूर्ववदुपलक्षणपरमेव ॥२०५॥

यदर्थमियदुक्तम्, तत्प्रस्तावयति–

एवं शरीरजे काले मृत्युं चाशुभमेव च ।
ज्ञात्वा योगी यजेन्मृत्युमशुभान्यप्यशेषतः ।।२०६।।

स्वस्य परस्य वा ॥२०६॥

इस विषय में सावधानी आवश्यक है । अशुभ सूचक काल गणना उसी समय से करनी चाहिये, जब से श्वासचार में आये विकारों की परीक्षा प्रारम्भ की जाय–

इसमें वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, वेला, सबका सतत अभ्यास योगी को साक्षीभाव से करना चाहिये । जब से ऊपर के क्रम से परीक्षा प्रारम्भ करें, चाहे वह अपनी परीक्षा हो या दूसरे की, उसी समय से मरणादि सूचक काल सीमा का कथन करना चाहिये ॥२०४॥

इसके लिये विवेकी साधक को इडा और सुषुम्ना के साथ ही पिङ्गला और विषुवत् में होने वाले प्राणचार की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है । योगयुक्त साधक विशेष रूप से काल के पैमाने के साथ प्राणचार का मेल बिठाते हुए इसे सम्पन्न करें । शास्त्र के पैमानों की संज्ञा बड़ी पुरानी है । उसे ध्यान से न समझने पर विद्वानों से भी स्खलिति हो जाती है । इस तरह यहाँ तक दक्षिणायन और उपलक्षण से उत्तरायण काल का भी परीक्षण और उसके परिणामों की चर्चा की गयी है ॥२०५॥

इस प्रकार शरीर से सम्बन्धित काल की परीक्षा में मृत्यु, अशुभ और शुभ सबकी जानकारी ले लेने के उपरान्त योगी मृत्यु और अशुभों पर भी विजय प्राप्तकर सकता है । चाहे वह स्वात्मसम्बन्धित अशुभ हो या परसम्बन्धित । दोनों पर विजय प्राप्त करना उसका उत्तरदायित्व है ॥२०६॥

कथमित्याह—

ध्यात्वा कालेशस्वच्छन्दं हंसं वा सकलेश्वरम् ।

कालस्य स्थूलसूक्ष्मादिभेदवतो बाह्यान्तरादिरूपस्य सर्वस्येशं यथारुचि निर्भासकम्, हंसं व्याख्यातपरनिष्कलस्वरूपं श्रीस्वच्छन्दं सकलस्य जगत ईश्वरं ध्यात्वा अनुप्रवेशयुक्त्या स्फुटीकृत्य योगी मृत्युं जयेदिति पूर्वेण संगतिः । कुत्रस्थोऽसौ कीदृग्ध्येय इत्याह—

नासिकारन्ध्रमार्गस्थः स सृजेत्संहरेज्जगत् ।।२०७।।
तत्रस्थः कलयेत्सर्वं सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

यः सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमरूपेषु—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' ।

काल की इस कलना को सामान्य नहीं समझना चाहिये यह शरीरज काल स्वयं कालेश्वर स्वच्छन्दनाथ हैं । इन्हें ही 'कालहंस' कहते हैं । ये सकलेश्वर स्वयं स्वच्छन्दनाथ हैं ।

काल की बाह्य कलना स्थूल है । शरीरज आन्तर काल की कलना सूक्ष्म है । यहाँ इन दोनों का समन्वय भी सूझ बूझ के साथ होना चाहिये । इसी सन्दर्भ में यह नित्य ध्यातव्य है कि, इस काल का अपनी इच्छा के अनुसार निर्भासक कालहंस रूप निष्कल सकल उभयरूप श्री स्वच्छन्दनाथ ही सर्वेश्वर हैं । विश्व के विनियन्त्रक वही हैं । उन्हीं का ध्यान कर अनुप्रवेश युक्ति से उनमें प्रवेश कर काल की कमजोरी का पता लगाकर उस पर विजय प्राप्त करना चाहिये । इस तरह योगी मृत्यु को जीत लेता है ।

यह कालहंस लगता है कि, नासिका मार्ग में ही अवस्थित है किन्तु भूर्भुवः और शरीर के स्वःक्षेत्रों का भी अपने स्वरूप से चक्रंमण करता रहता है । यही सारे सर्ग का सृजन और संहार भी करता है ।।२०७।।

इसी शरीर में रहकर वह सबकी कलना करता रहता है । यही सभी प्राणियों में अवस्थित है । स्थावर जङ्गम, चर और अचर सबमें वह अवस्थित है । तन्त्र यह कहता है कि,

'नादसंज्ञक जो परात्पर बीज है, वह सभी प्राणियों में अवस्थित है' । इस परात्पर नादबीज की तरह वह भी सर्वत्र अवस्थित है । नासिका का विग्रह करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, नसते अर्थात् वक्र (कौटिल्य) मार्ग को अपना कर मार्ग ग्रहण करती है, वही मध्यशक्ति नासिका कहलाती है ।

इति तन्त्रान्तरोक्तस्थित्या अवस्थितः, नसते कौटिल्येन गच्छतीति 'नासिका' मध्यशक्तिः, तद्रन्ध्रमार्गे सौषुम्ने धाम्नि स्थितो यथोक्तावरोहक्रमेण प्राणरूपतां श्रित्वा नासायां रन्ध्रमार्गेषु च चक्षुरादिसुषिरभूमिषु स्थितः, स उन्मेषनिमेषयुक्त्या बाह्यान्तररूपं जगत् सृजेत् संहरेच्च । यतस्तत्रस्थः सन् सर्वं 'कलयेत्' अन्तरवस्थितं बहिः क्षिपेत्, बहिराभासितं चान्तः क्षिपेत्, अथ च 'कलयेत्' गणयेद् वैचित्र्येण स्थापयेद् जानीयात् परामृशेच्च, कलतेः क्षेपसंख्यानगतिशब्दार्थत्वात् । तेनेदृशं स्वच्छन्दनाथं कालेश्वरम्–

तत्स्थं ध्यात्वा जयेन्मृत्युं

मध्यधाम्नः प्रभृति अशेषरन्ध्रव्याप्त्यवस्थितं परचैतन्यविमर्शसारमकालकलितं 'ध्यात्वा' इति स्वात्मरूपत्वेन प्रत्यभिज्ञाय तदवष्टम्भेनावस्थितो मृत्युं जयत्येव । यतः–

नाकालस्थं कलेत्प्रभुः ।।२०८।।

इसी के छिद्र से यह सैषुम्न धाम में प्रवेश करता है । वहीं से आरोह और अवरोह क्रम अपनाता है । तभी इसे प्राण की संज्ञा से विभूषित करते हैं । नासा छिद्रों से बाहर अमाकला रूप (चिति केन्द्र रूप तथा मध्य द्वादशान्त रूप) शैव धामों में प्रवेश करता है । वहाँ से जीवन तत्त्व लेकर यह शरीर में पुनः प्रवेश कर सारी इन्द्रियों में ऊर्जा का अमृतत्व उड़ेलता है । आँख, कान, नाक एवं ब्रह्मरन्ध्र रूप सुषिर भूमियों को भैरवभव्यता से भर देता है ।

उन्मेष निमेष रूप शैव संविद्विमर्श की स्फुरत्ता से स्फुरित होता है । बाह्यान्तर को आत्मसात् करता है । सृजन और संहार की क्रीडा करता है । सर्व का आकलन करने वाला यह कालहंस इसी तरह बारह भीतर गतिशील रहता है । चेतना के चमत्कार से यह सबका आकलन कर सब कुछ जान लेता है । सबका परामर्शक यही कालहंस है । कल धातु के क्षेप, संख्यान गति आदि के सभी अर्थों को चरितार्थ करता है ।

ऐसे काल रूप सर्वेश्वर स्वच्छन्दनाथ में योगी स्वयं अनुप्रवेश युक्ति से प्रवेश कर अवस्थित हो जाता है । शरीर के मध्यधाम से लेकर उन्मना तक के सभी चक्रों को कालहंस ही व्याप्त कर वर्त्तमान रहता है । यह परचैतन्य रूप संविद्तत्व का विमर्श करता है । इस अकालकलित कालेश्वर का ध्यान कर स्वात्म रूप में प्रत्यभिज्ञान कर उसी में अवष्टम्भ प्राप्त करना साधक का स्वधर्म है । वह तभी मृत्युजित् हो सकता है ।

अकाले कालातीतपरमेश्वरात्मनि यस्तिष्ठति तदभेदेन स्फुरति तं 'प्रभुः', परमेश्वरो न कलयेत्, स्वात्मनि क्रियावरोधात् ॥२०८॥

यदि चात्रैव पदे योगीन्द्रः सतताविहितो भवति, तदास्य-

ध्यानयुक्तस्य षण्मासात्सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ।
कालत्रयं विजानाति कालयुक्तस्तु योगवित् ।।२०९।।

परस्वच्छन्दस्वरूपसमावेशरसेन धीसन्तानोत्तेजनात् षाण्मासिकात् सर्वं कालाग्न्यादिशिवान्तं जानाति, यदा तु तत्समावेशरसाच्छुरित एव काले प्राणचारे युक्तोऽवहितो भवति, तदातीतवर्तमानानागतं सर्वं जानाति योगिवरः ॥२०९॥

किञ्च-

कालहंसं स तु जपन्ध्यायन्वापि महेश्वरि ।
स भवेत्कालरूपी वै स्वच्छन्दः कालवच्चरेत् ।।२१०।।

अकाल अर्थात् कालातीत परमेश्वर में जो अवस्थित हो जाता है, वह स्वयं अभेदतादात्म्य भाव से स्फुरित होने लगता है । उसे प्रभु परमेश्वर कलना का विषय नहीं बनाते क्योंकि स्वात्म प्रसर प्रक्रिया में इससे विरोध उत्पन्न हो सकता है ॥२०८॥

यदि योग युक्त सावधान साधक इस स्थान पर सतत अवधान पूर्वक पारमेश्वर हृदयस्थ हो रहता है, और ध्यान में तल्लीन रहकर इसका साक्षी बन जाता है, तो छः माह के अभ्यास से ही उसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है । पर स्वच्छन्द समावेश के स्वारस्य के प्रभाव से बुद्धि विवेक में ऐसी उत्तेजना होती है, जिसकी प्रकाश रश्मियों में वह कालाग्नि से शिव पर्यन्त के सारे उच्छलन का साक्षी बन जाता है ।

पारमेश्वर समावेश रस की व्याप्ति के माध्यम से प्राणचार की सारी आन्तर प्रक्रिया को वह सावधानी पूर्वक देखता रहता है । उस समय वह त्रिकालदर्शी बन जाता है । अतीत, वर्त्तमान और अनागत उसके लिये हस्तामलकवत् हो जाते हैं । ऐसा योगीन्द्र, साधकों का शिरोमणि माना जाता है ॥२०९॥

इस कालहंस का निरन्तर जप करने से भगवान् कह रहे हैं कि, सर्वेश्वरी ! या ध्यान करने से साधक स्वयं कालहंस के समान हो जाता है । स्वच्छन्द भट्टारक सदृश वह साधक उसी स्तर के आचरण करें ॥२१०॥

हतमृत्युर्जरां त्यक्त्वा रोगैः सर्वभयोज्झितः ।

पूर्वनिर्णीतो यः परनिष्कलभट्टारकात्मा हंसः, स एव निर्णीतहानसमादानधर्मतया विश्वं कलयन् कालहंस[1] इतीह उक्तः । तं जपन्ध्यायन्वेति पञ्चप्रणवाधिकारयोजनिकाग्रन्थोक्तव्याप्तिचिन्तनया भूयोभूयस्तद्विश्रान्तिपरत्वेन चतुष्कलभट्टारकमन्त्रोच्चारावर्तनेन जपन् कालरूपीत्यशेषविश्वकलनात्मकं कालरूपं प्रशस्तं विद्यते यस्य श्रीस्वच्छन्दभट्टारक एवासौ स्यात् । तद्वदेव च 'विचरेत्' सर्वदैव पञ्चवि[2]धकृत्यकारितया प्रसरेत् । रोगैर्हेतुभिः कृतं यद्भयम्, तेनोज्झितः ।

किञ्चास्य–

विज्ञानं श्रवणं दूरान्मननं चावलोकनम् ।।२११।।

वह मृत्युजित् होकर मृत्यु का ही मृत्यु बन जाता है । उसे बुढ़ापा छू नहीं पाता । किसी प्रकार के रोग उसे नहीं होते । इन सांसारिक विभीषिकाओं से उन्मुक्त हो जाता है । परनिष्कल भट्टारक स्वयं 'हंस' हैं (७/२९-३०) । उसी तरह यह काल भी स्वयं कालहंस है क्योंकि, इसमें भी हान समादान धर्म है और विश्व की कलना में सतत संलग्न है ।

इसका जप या ध्यान पञ्चप्रणव योजनिका की व्याप्ति के अनुसार करना चाहिये । बार बार के अभ्यास के द्वारा उसमें विश्रान्ति करनी चाहिये । चतुष्कल भट्टारक मन्त्रोच्चार के अनवरत आवर्त्तन में लगे रहकर अशेष विश्व का आकलन करने वाला काल रूप स्वच्छन्द भट्टारक का ही प्रतीक बन जाता है । उसी के समान विचरण करने लग जाता है । उसके समान विचरण का तात्पर्य निरन्तर पञ्चविधकृत्यकारित्व है । सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह शिव के पञ्चकृत्य हैं । इस प्रकार मृत्यु के दूत रूप रोगों और इनके भयों से मुक्त हो जाता है ।

इस प्रकार सर्वोच्च स्तर पर पहुँचे साधक के लिये सारा विज्ञान हस्तामलक के समान साधक की बुद्धि के प्रकाश में प्रकाशमान हो जाता है । अति सूक्ष्म ध्वनियों का श्रवण उसे हो जाता है । अव्यक्त शब्दों को व्यक्त की तरह सुन सकता है । मन और अवलोकन उसके लिये सामान्य विषय बन जाते हैं । अर्थात् वह मन्त्र द्रष्टा भी हो जाता है । मन्त्रद्रष्टा ऋषि होते हैं । यह भी ऋषि हो जाता है ॥२११॥

---

१. शिवो धर्मेण हंसस्तु, सूर्यो हंसः प्रभान्वितः । आत्मा वै हंस इत्युक्तः, प्राणो हंससमन्वितः ।
२. नमः शिवाय सततं पंचकृत्यविधायिने । चिदानन्दघनस्वात्म–परमार्थावभासिने ।

सर्वैश्वर्यगुणावाप्तिर्भवेत्कालजयात्सदा ।

दूरादिति सर्वत्र योज्यम् । विज्ञानं बुद्धेर्मननं मनसो व्यापारः, अवलोकनं चक्षुषः । एतच्च सर्वान्तर्बहिष्करणव्यापारोपलक्षणपरम् । तदेवं सर्वरन्ध्रव्यापक-देशकालातीतस्वच्छन्दभैरवात्मकहंसस्वरूपात्मताव्याप्तौ शरीरेन्द्रियादिभूम्युत्तरणात् पुनश्च परतत्त्वरसेन तदास्फुरणाज्जरामृत्युरोगमितविषयज्ञानानैश्वर्याद्यभावोऽर्थसिद्ध एव इत्युक्तम् ।

इदानीं दक्षिणवाममध्यवाहेषु क्रमेण हंसध्याने तदुचितं मृत्युजयमादिशति–

दक्षनासापुटे ध्यात्वा ब्राह्मैश्वर्यमवाप्नुयात् ।।२१२।।
तदायुस्तत्समं वीर्यं भूतकालं च वेत्त्यतः ।
भविष्यज्ज्ञो भवेद्वामे विष्णुतुल्यबलश्च सः ।।२१३।।

काल पर विजय करना असामान्य साधना का ही सुपरिणाम माना जाता है । इससे उस साधक को समस्त ऐश्वर्य उपलब्ध हो जाते हैं । ईश्वरता के सभी गुण उसमें भर जाते हैं । यह सब कालजय से ही सम्भव होता है । कालजय का ही परिणाम बुद्धि के द्वारा सम्भूत विशिष्ट मनन रूप व्यापार से मन्थित बोध रूपी नवनीत के समान व्यक्त विज्ञान रूपी ज्ञानविषय–वैशिष्ट्य है ।

काल विश्व के रहस्यों के अन्तराल का साक्षी है । यह सर्वरन्ध्रों में व्याप्त देश कालातीत स्वच्छन्द भैरव रूप हंस का प्रतीक है । शरीर और इन्द्रियों में भी यह रहता है फिर भी इनसे उत्तीर्ण है । परतत्त्वरस से संवासित है । जरा की जर्जरता मृत्यु की स्तब्धता, रोग की रुग्णता, ज्ञान की अल्पता का अभिशाप, ऐश्वर्य से वंचितत्व आदि इसके सारे अभाव रूप भाव भी काल के उच्च्छलन के छल हैं । इतने के बावजूद यह शरीर की नाडियों में अपना सन्नद्ध रूप दर्शित करता है । दक्ष, वाम और मध्यवाह के समय कालहंस का ध्यान अनन्त सुपरिणामों का निस्तारण करता है । जैसे दक्ष नासापुट के प्रवाह के समय ध्यान से ब्राह्म ऐश्वर्य की अवाप्ति होती है । यह ध्रुव सत्य है ॥२१२॥

वाम प्राणवाह में, विष्णु के समान बल, विष्णु के समान आयु, उसी के समान वीर्य, समस्त अतीत का ज्ञान और साथ ही साथ भविष्य का ज्ञान भी हो जाता है । यह वामप्राणचार का सुपरिणाम है ॥२१३॥

तत्समं चैतदैश्वर्यं तदायुर्योगिराड्भवेत् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं जानाति मध्यतः ।।२१४।।
नित्यं वै [1]ध्यानयोगेन रुद्रस्य समतां व्रजेत् ।
आयुषा बलवीर्येण रूपैश्वर्येण तत्समः ।।२१५।।
ब्रह्मणः परभावेन ऐश्वरं पदमाप्नुयात् ।
विष्णोः सदाशिवैश्वर्यं परभावादवाप्नुयात् ।।२१६।।
रुद्रस्य यः परो भावो ध्यात्वा तं तु शिवो भवेत् ।

मध्य अर्थात् सुषुम्ना में प्राणचार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है । विष्णु के समान ऐश्वर्य और उसी के समान आयुष्य की प्राप्ति हो जाती है । इस सर्व प्रमुख नाडी श्रेष्ठ में प्राणचार में ध्यान करने से साधक को योग मार्ग के रहस्य की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं । वह योगियों में सर्वश्रेष्ठ सम्राट् की भाँति पूज्य हो जाता है । भूत, वर्त्तमान और भविष्य का द्रष्टा बन जाता है । और अधिक क्या कहें, वह सर्वज्ञ बन जाता है ॥२१४॥

इस प्रकार नित्य ध्यान योग की प्रक्रिया अपनाने पर वह साक्षात् रुद्र के सदृक्ष सक्षम हो जाता है । आयु, बल, वीर्य, रूप और ऐश्वर्य सभी रुद्र के ही समान उसे अलङ्कृत करते हैं ॥२१५॥

ऐसा योगेश्वर परब्रह्म परमात्मा के समान पूज्य हो जाता है । पारमेश्वर पद को प्राप्त कर वह प्राज्ञपुरुष सर्वप्रिय बन जाता है । विष्णु, ईश्वर और सदाशिव रूप कारण देवताओं की दिव्यता से विद्योतित हो जाता है । यह सुषुम्ना के पर भाव में अवस्थित होने का सुपरिणाम है ॥२१६-२१७॥

रुद्र का परभाव भैरवभाव माना जाता है । भैरव भाव से भावित यह योगेश्वर उसी ध्यान के बल से विश्व कल्याणकारी परमशिव ही हो जाता है । इस प्रकार यह योग जिसे मृत्युजय योग कह सकते हैं, यहाँ तक श्री भैरवभट्टारक कहते हैं कि, मेरे द्वारा आख्यात हुआ । इस अमृत के ध्यान से मृत्यु पर अनायास जय प्राप्त हो जाता है ।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये पाँचों देव प्रञ्चप्रणव के वाचकों के वाच्य हैं । प्राणवाह में इनकी अवस्थिति के सन्दर्भ में इसी पटल के श्लोक १५१ में स्पष्ट कहा गया है कि,

---

१. क. पु. ज्ञानयोगेनेति पाठः ।

इह–

ब्रह्मेश्वरौ च दक्षस्थौ वामे विष्णुसदाशिवौ ।

'मध्ये रुद्रशिवौ प्रोक्तौ..................' ॥ (७/१५१)

इति नाडित्रय एव षट्कारणावस्थितिः परापरभेदेन पूर्वमुक्ता । तेन दक्षवामनाडिषु यदि हंसं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपमपरया व्याप्त्या ध्यायन् विमृशति, तदा तद्बलवीर्यैश्वर्ययोगी भवति, अतीतभाविवर्तमानरूपत्रैकालिकं विश्वं जानाति । अत्र च ब्रह्मादीननया व्याप्त्या ईश्वरसदाशिवशिवरूपान् ध्यात्वा, तद्रूपतां लभते । उपसंहरति–

एवं मृत्युजयः ख्यातः अमृतं ध्यायतो जयः ।।२१७।।

मृत्योरेवेति शेषः ॥२१७॥

कथमित्याह–

नाडिभिन्नालरन्ध्रस्थं हृत्पद्मं षोडशच्छदम् ।
ध्यात्वा सितं सुविकचं कालाषोडशकान्वितम् ।।२१८।।

'ब्रह्मा और ईश्वर ये दोनों देव दक्ष भाग अर्थात् पिङ्गला में प्रतिष्ठित हैं । वाम अर्थात् इडा में विष्णु और सदाशिव अवस्थित हैं । मध्य अर्थात् सुषुम्ना में रुद्र और शिव अवस्थित हैं । इस सबसे परे सर्वातीत परमशिव की व्याप्ति है' ।

इस तरह इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना में ही अर्थात् इन तीनों नाडियों में ही छः कारण देव युग्मभाव से अवस्थित हैं । हान समादान धर्मा होने से ये सभी हंस हैं । इनका ध्यान इसी कालहंस के रूप में भी करते हैं । इनका यह ध्यान अपर व्याप्ति की युक्ति से करने की बात भगवान् यहाँ करने का निर्देश दे रहे हैं । यह ध्यान देने की बात है ।

ऐसा करने से उनके बल, वीर्य और ऐश्वर्य का अधिकारी वह ध्यान कर्त्ता हो जाता है । त्रैकालिक विश्व को जानकर त्रिकालदर्शी हो जाता है । जहाँ देवों की युग्म अवस्थिति निर्दिष्ट है । वहाँ भगवान् भैरव भट्टारक का एक रहस्य गर्भ अभिप्राय यह भी हो सकता है कि, यदि साधक ब्रह्मा को कालहंस व्याप्ति की युक्ति से उनके साथ रहने वाले ईश्वर रूप से ध्यान करने पर उनका ऐश्वर्य उपलब्ध होता है । इसी तरह तीनों युग्मों में यह सम्भव है ॥२१६-२१७॥

साधना के सर्वोत्तम श्वासचार विधि का निरूपण करते हुए भगवान् भैरव भट्टारक षोडशदल कमल की बात सामने रख रहे हैं । यह नाडिभिन्नालरन्ध्रस्थ है । इसकी संज्ञा उन्होंने हृत्पद्म के रूप में दी है । यह अनाहत रूप हृत्पद्म

सम्पूर्णावयवं चन्द्रं कर्णिकाकारविग्रहम् ।
तन्मध्ये चिन्त्यमात्मानं शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ।।२१९।।
क्षीरामृतार्णवावस्थकल्लोलामृतपूरितम् ।
उपरिष्टाद्‌द्वितीयाब्जं शाक्तामृतमहोदधौ ।।२२०।।

षोडशदलात्मक नहीं होता । तन्त्र में हृत् और हृदय ये दोनों शब्द केन्द्र अर्थ में प्रयुक्त हैं । यहाँ हृत् और द्वादशान्त के ऊर्ध्व और अधः सन्दर्भ को शब्दजाल से नहीं समझा जा सकता । यहाँ से पिण्डार्थः (पृ० २९८) तक का एक वाक्य साधना के सन्दर्भों को उलझा देता है । इसे अलग अलग कर भगवान् ने सरल विधि से समझाया है । अपनी साधना के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार है ।

वस्तुतः भगवान् भट्टारक सीधी भाषा में हृत्पद्म के ४ विशेषण दे रहे हैं– १–यह पद्म उस नालरन्ध्र में है, जहाँ से नाल नाडियों के रूप में भिन्न होता है । २–यह षोडश दल वाला है । ३–यह सुविकच अर्थात् नित्य खिला हुआ है । ४–यह षोडश कलाओं से अन्वित है । ऐसा यह हृत्पद्म है ।

इसमें हृत् और नाल पर विचार करना चाहिये ।

१–नालरन्ध्र शरीर में केवल एक होता है । मेरुदण्ड से होकर मूलाधार से विशुद्ध चक्र तक पहुँचता है । विशुद्ध चक्र से यह नाडियों के रूप में जैसे इडा नाम वामनाडी में, पिङ्गला नामक दक्ष नाडी में और सुषुम्ना नाम मध्यनाडी में विकसित होता है । पुनः इनसे दश में और दश से ७२हजार नाडियों में बाँट दिया जाता है ।

२–दूसरा शब्द है हृत् या हृदय–'सा स्फुरत्ता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः' के अनुसार जिस बिन्दु से शक्ति का उच्छलन (स्फुरण) होता है, वही बिन्दु हृदय है । अर्थात् सभी चक्र परमेष्ठी के हृदय हैं । इस दृष्टि से विशुद्ध चक्र भी हृदय है । अतः गले में नाल जहाँ नाडियों में बँटता है, वहीं यह पद्म अवस्थित है । अतः यहाँ विशुद्ध ही हृत्पद्म है । यही षोडशदल समन्वित है । इसी के १६ दलों पर सोलह स्वरों का विन्यास करते हैं । यह श्वेत कमल है ।

श्री पूर्वशास्त्र में भी इसकी चर्चा है[१] । इस कमल के १६ दलों में अमृत आदि देवताओं के वाचक ही अकरादिवर्ण होते हैं । जैसे-सोलह स्वरों के १६ रुद्र इस प्रकार हैं–१–अ (अमृत), २–आ-अमृतपूर्ण, ३–इ-अमृताभ,

---

१. श्री पूर्वशास्त्र अधिकार तीन श्लोक १७-१८ (३/१७-१८) ।

तच्चाधो मुखपद्मं तु परिपूर्णेन्दुकर्णिकम् ।
तन्मध्ये चिन्तयेद्धंसमधो बिन्दुशिखान्वितम् ।।२२१।।
वर्षन्तममृतं दिव्यं समन्तात्संविचिन्तयेत् ।
आत्मोर्ध्वरन्ध्रमार्गेण प्रविष्टं तच्च चिन्तयेत् ।।२२२।।

४–ई-अमृतद्रव, ५–उ-अमृतौघ, ६–ऊ-अमृतोर्मि, ७–ऋ-अमृतस्यन्दन, ८–ॠ-अमृताङ्ग, ९–ऌ-अमृतवपु, १०–ॡ-अमृतोद्गार, ११–ए-अमृतास्य, १२–ऐ-अमृततनु, १३–ओ-अमृतसेचन, १४–औ-अमृतमूर्त्ति, १५–अं-अमृतेश और १६–अः-सर्वामृतधर । इसमें अकार से अः पर्यन्त वाचक वर्णों के वाच्य ये १६ रुद्र होते हैं । ३४ योनि रूप ३४ वर्णों के चौतिस पृथग् रुद्र होते हैं ।

१–इस विशुद्ध पद्म के मध्य में सम्पूर्ण पूर्णिमा के चन्द्र को कर्णिका के आकार में ही विग्रहवान् सोम रूपी अपान चन्द्र को चिन्तन का विषय बनाना चाहिये ।

२–इसके ऊपर के कमल को ऊर्ध्वाब्ज कहते हैं । यह आज्ञाचक्र का ऊर्ध्वपद्म है । इस ऊर्ध्वाब्ज कमल की कर्णिका में शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिये । यहाँ क्षीरसागर का अमर लहराव है । उसकी ऊर्मियों के कल्लोल में अमृत तरङ्गित होता है । यह शाक्त अमृत का महोदधि माना जाता है । इसे भगवान् भट्टारक द्वितीयाब्ज कहते हैं । पहला विशुद्धाब्ज और दूसरा ऊर्ध्वाब्ज । इनके बीच में ऊर्ध्व के अधः अर्थात् अधोवस्थित कमल है । यही मुख पद्म है । यह भी पूर्णिमा की पूर्ण-चन्द्राकार कर्णिका से समन्वित है । इसके बीच में हंस रूप हकार वर्ण का जिसके अधोबिन्दु के साथ शिखा भी युक्त है । इस 'हूं' बीज का चिन्तन करना चाहिये ॥२१८-२२१॥

साधक इस तथ्य से भली भाँति परिचित है कि, आज्ञाचक्र का बीज ॐकार है । ओङ्कार की पञ्चप्रणवा प्रभा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, बिन्दु और नाद के क्रम में ऊर्ध्वप्रसर से प्रेरित होकर ब्रह्मरन्ध्र में विलीन होती हैं । ब्रह्मरस सोमसुधा का रसागार है । स्वभावतः ऊपर से सूर्य प्राण से द्रवित सोम का पीयूष पारा-वार सारे शरीर को सुधाभिषिक्त करता है । इसी तथ्य को 'वर्षन्तममृतं दिव्यं' के द्वारा भगवान् भैरव भट्टारक ने व्यक्त किया है । इस अमृतवर्षा का ऐसा चिन्तन करना चाहिये, मानो स्वयं साधक उसी रसकोश में निविष्ट है । यह ध्यातव्य है कि, उक्त ऊर्ध्वरन्ध्र के मार्ग से स्वयं परमात्मदेव इस देह में प्रविष्ट होकर इसे दिव्यता प्रदान कर रहे हैं ॥२२२॥

सितं सुबहुलं सान्द्रममृतं मृत्युनाशनम् ।
तेनाप्लावितमात्मानं पूर्यमाणं विचिन्तयेत् ।।२२३।।
पद्मनालनिबद्धैश्च नाडीरन्ध्रमुखैः सदा ।
अमृतापूरितं देहं सर्वमेव विचिन्तयेत् ।।२२४।।
एवं वै नित्ययुक्तात्मा अमृतेशसमो भवेत् ।
व्याधीन्मृत्युं जरां त्यक्त्वा क्रीडते त्वणिमादिभिः ।।२२५।।
एवं तस्यामृतध्यानात्कालमृत्युजयो भवेत् ।

हृद्द्वादशान्तोर्ध्वाधःस्थितं श्रीपूर्वाद्युक्तामृतादिदेवतावाच्यकारादिवर्णषोडशक-कलिततावत्पत्रविकसितसितकमलमध्यस्थमधःकमलकर्णिका पूर्णेन्दुबिम्बनिष्ठमूर्ध्वा-ब्जकर्णिकापूर्णेन्दुमध्यस्थाधोमुखसितचतुष्कलबिन्दु प्रकाशप्रसरत्सुधासारपूरितब्रह्म-रन्ध्रविसृतकल्लोलप्लावितममृतराशिमध्यगमात्मानं स्फटिकप्रभं विचिन्त्य, तदमृतं

उस भैरव रूप आत्मदेव के अमृत से साधक का आत्मतत्त्व पूरी तरह आप्लावित है । इस श्वेत सुबहुल और सान्द्र अमृत से मृत्यु का नाश हो रहा है । यह अपना देह अपना नहीं रह गया है । यह अमृतमय अमृताप्लावित सर्वतो भावेन परिपूर्ण देव विग्रह बन गया है । यही चिन्तन साधना के इस परिवेश में करना चाहिये ॥२२३॥

यह देह पद्मनाल में निबद्ध सभी नालियों के रन्ध्रमुखों के द्वारा स्रवित पीयूष रस इस विग्रह को गौरवान्वित कर रहा है । यह शरीर अब शिवानन्द से परिपूर्ण और निर्मल हो गया है, यही चिन्तन करना चाहिये । यही श्लोक २१८ से श्लोक २२४ तक का पिण्डार्थ अर्थात् निष्कर्षार्थ है ॥२२४॥

एवं विध साधना में संलग्न नित्य योग युक्त साधक अमृतेश्वर (अं) रुद्र के समान रोचिष्माण हो जाता है । वह सभी व्याधियो से मुक्त हो जाता है । मृत्युजित् हो जाता है । जरा से रहित निर्जर हो जाता है और आजीवन अणिमा आदि सिद्धियों का आनन्द प्राप्त करता है ॥२२५॥

इस उक्ति विधि के अनुसार जो साधक अमृतत्व के ध्यान में निरत रहता है, कालजेता पुरुष मृत्युजित् हो जाता है । इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामक इन मुख्य नाडियों के आशय से कालहंस का ध्यान करने वाला और अमृत ध्यान में निरत पुरुष अनन्तर सारस्वरूप को उपलब्ध हो जाता है । अनुत्तर तत्त्व ही परतत्त्व है । उसी में वह अवस्थित हो जाता है और काल से कभी बाधित नहीं होता ।

तदधःस्थसिताब्जनालरन्ध्रनानानाडीमुखैरुच्छलत्समस्तदेहव्यापकं यः षण्मासान् सततं चिन्तयति, स गतव्याधिरजरामरणोऽणिमादिसिद्धिभागमृतेशभैरवतुल्यो भवतीति पिण्डार्थः । नाडिरूपतया भिद्यन्ते नानारूपत्वेन स्फुरन्ति यानि नालरन्ध्राणि अर्थादधोऽब्जगतानि तत्स्थमिति, तैर्ग्रन्थिस्थानगतैः सम्बद्धम्, नालमत्र मध्यनाडीरूपम्, क्षीरं क्षीरोदाद्युद्भूतममृतं तद्रूपोऽर्णव इति संगतिः । अमृतं चात्र परशक्त्यानन्दसारम् ।

एवं सर्वनाडीमार्गत्रयाश्रयहंसध्यानादमृतध्यानाच्च मृत्युजयमभिधाय, तात्त्विकमनुत्तरसाररूपमादेष्टुमुपक्रमते–

अथवा परतत्त्वस्थः सर्वकालैर्न बाध्यते ।।२२६।।

अथवेत्यनेनेदं ध्वनति–कतिपयकालशरीरस्थैर्यादिमृत्युजयप्रकारेभ्योऽयमन्य एवातिविरस(ल)महायोगीन्द्रहृदयङ्गमस्तत्प्रकारो यत्र देहावस्थित एव श्रीस्वच्छन्दभैरवतां सर्वदैव समाविशति कोऽपि पश्चिमजन्मा जन इति ।।२२६।।

तत्र यादृक्परं तत्त्वम्, यथा च तन्मयीभावस्तदादेष्टुमाह–

चिन्तयेत्परमं तत्त्वं कालचारविवर्जितम् ।
कलाकलङ्कनिर्मुक्तं निष्कलं परमं पदम् ।।२२७।।

इस कथन से यह भी ध्वनित हो रहा है कि, इससे प्राप्त कतिपय काल तक स्थैर्य के लाभ से समन्वित पुरुष, मृत्यु को जीतने वाले प्रयासों से ऊपर उठकर कुछ दूसरा ही हो जाता है । ऐसे अतिविरल महायोगीन्द्रवत् संविद्विमर्श के अमृतत्त्व से ओतप्रोत महापुरुष अमर बन जाता है । वह देहभाव में अवस्थित रहकर भी सर्वदा स्वच्छन्द भैरवभाव के शाम्भव समावेश में प्रवेश कर जाता है । ऐसा कोई अनुपमेय पुराण पुरुष ही हो सकता है ।।२२६।।

उस समावेश के परिवेश में जिस प्रकार का वह परतत्त्व है और उसमें तन्मयीभाव जिस प्रकार का है, उसी विषय का आदेश विधि क्रिया द्वारा भगवान् दे रहे हैं कि,

साधकों ! यह तुम्हारा धर्म है कि, तुम हृदय से ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त स्फुरित चिदानन्दघन परमात्मा को अपने चिन्तन का विषय बनाओ । वह चिदानन्दघन परमेश्वर 'कालचार' से चाहे वह बाह्यचार हो या आन्तर, दोनों से रहित है । कला अर्थात् किसी कलनात्मिका कल्पना के कलङ्क से निर्मुक्त है । कला एक प्रकार का मल है । इससे यह रहित है । इसी आधार पर इसे निष्कल कहते हैं ।

चिन्तयेत्स्वाभेदेन विमृशेत् परं तत्त्वं हृद्द्वादशान्तस्फुरितं चिदानन्दघनात्मकम्, 'कालचारेण' बाह्येनान्तरेण च वर्जितम्, 'कलाकलङ्केन' कल्पनामलेन शून्यम्, अत एव चतुष्कलवदकारादिकलायोगाभावाद् निष्कलम्, परमं पदमनुत्तरं धाम ॥२२७॥

न केवलं परमं धामेदृग्यावत्-

निष्कलं चात्मतत्त्वं तु

'आत्मतत्त्वं' समनोपरि शुद्धात्म 'निष्कलं' त्यक्तसमनान्तभेदकलनम् ।

यतः-

कलङ्को देह उच्यते ।
संयुक्तः कारणैः षड्भिः सर्वतत्त्वसमन्वितः ।।२२८।।
वर्णो बिन्दुस्तथा नादो व्यापिनीशक्तिसंयुतः ।
समनावधिपर्यन्तः कलङ्काधार उच्यते ।।२२९।।

एतदुक्तं भवति-यथायं स्थूलस्तत्त्वादिरूपो देहः कलङ्कः तथा करणाश्रयः प्राणात्मा सूक्ष्मः, समनान्तमातृप्रमेयरूपः परोऽपि देहः कलङ्कः एव । परभैरवरूपो हि परव्याप्त्यायमात्मनि । यथा स्थूलदृष्ट्या देहप्राणादिरस्य कलङ्कस्तथा परदृष्ट्या समनान्ता प्रमेयमाला कलङ्क एव । वर्णः अकार उकारो मकारश्च । कलङ्करूपश्चासावाधार इति समासः । कलङ्कत्वं चास्य सर्वस्य परशिवाभेदाप्रथनात् ॥२२९॥

चतुष्कल रूप में भी वह अकारादि कलाओं युक्त रहता है । अतः किसी कला से भी रहित होने के कारण इसे निष्कल कहते हैं । यह अनुत्तर धाम कहलाता है । यही परम पद है । यही स्वात्म विमर्श का मूल रहस्य है ॥२२७॥

यह तो परम अनुत्तर धाम विषयक बात हुई । यह आत्मतत्त्व ही समनान्त भेद कलना को अतिक्रान्त कर निष्कल हो जाता है । कला का कलङ्क तो यह देह मात्र है । यह छः कारण तत्त्वों से समन्वित है । परिणामतः इसे सर्वतत्त्व समन्वित भी माना जाता है ॥२२८॥

वर्ण (अ, उ और म) बिन्दु (मकारोत्तर स्फुरण) और नाद (अर्धचन्द्र और निरोधिका को आत्मसात् कर अवस्थित) ब्रह्मरन्ध्र की धीमी ध्वनि, शक्ति (नादान्त के उपरान्त चिदुद्बोध का सूक्ष्म स्पर्शमय स्थान और व्यापिनी (पिपीलिक गति रूप अनुभूति का वृत्त) तथा समना की अवधि पर्यन्त कला के कलङ्क का प्रभाव है । इसीलिये इसे कलङ्काधार कहते हैं ।

यस्य चायमाधारः, सः–

आधेयः परमो ह्यात्मा

यः पूर्वं शुद्धविज्ञानकेवलो भेदवादिनां मोक्षभूरित्युक्तः ।

अथ–

तत्पराप्युन्मना स्मृता ।

तस्याश्चान्ते परं तत्त्वं सकलाकलवर्जितम् ।।२३०।।

व्यापकं सर्वतोभेद्रं सर्वान्तः सर्वतोमुखम् ।

पञ्चपञ्चकतत्त्वस्थमष्टादशगुणान्वितम् ।।२३१।।

इस विषय को थोड़ी और गहराई से समझना चाहिये । यह स्पष्ट है कि, यह स्थूलतत्त्वों से समन्वित देह कलङ्क माना जाता है । कारणों के आश्रय रूप प्राण को सूक्ष्म कहते हैं । समना पर्यन्त प्रमाता प्रमेय रूप देह का ऊपरी परभाव भी कलङ्क ही है । पर भैरव रूप परमेश्वर की परव्याप्ति के कारण आत्मतत्त्व में ही यह देह भी परिगणित है ।

जब हम स्थूल दृष्टि से इस शरीर का विचार करते हैं, तो हमें देह और प्राण आदि भी कलङ्क की श्रेणी में आते हैं । तथा पर दृष्टि से भी समनान्त यह प्रमेय परम्परा यह सिद्ध करती है कि, यह कलङ्क का ही स्तरीय स्वरूप इसीलिये यह सब कलङ्क रूप ही आधार सिद्ध होता है । और यह सब इसलिये है कि, परशिव से अभेद अद्वय तादात्म्य से यह देह कोसों दूर है ॥२२९॥

यह जिसका आधार है, उसका आधेय यह परम तत्त्व रूप पर आत्मा ही है । यही भेदवादियों की मोक्ष भूमि है । इसे ही शुद्ध विज्ञानकेवल आत्मा कहते हैं ।

इससे पर भाव में उन्मना अवस्थित है । उन्मना के भी अन्त में परतत्त्व है । वह सकल अकल सबको अतिक्रान्त कर अवस्थित है । सकल समनान्त स्फार को कहते हैं । अकल शुद्धात्मा (विज्ञानकेवल स्तर) होता है । इन दोनों को अतिक्रान्त कर अवस्थित ही सकलाकल वर्जित परतत्त्व माना जाता है । वास्तव में सकल और अकल ये दोनों परस्पर अवच्छिन्न अतएव संकोच ग्रस्त हैं ॥२३०॥

जो दिक् और काल से असंकुचित है, वही व्यापक तत्त्व होता है । जो सर्वतोभद्र चिदानन्दघन है, वही सवतोभद्र है । सभी प्राणियों का जो आन्तर तत्त्व है, अर्थात् जीवन रूप है, जो सर्वतो मुख है अर्थात् आणव, मायीय और

'सकलः' समनान्तः स्फारः 'अकलः' शुद्धात्मा, ताभ्यां वर्जितं तयोः परस्परावच्छेदेन संकुचितत्वात्, तत्तु व्यापकं दिक्कालासंकुचितम्, सर्वतश्च भद्रं चिदानन्दघनम्, सर्वस्य चान्तः जीवितभूतत्वेन स्थितम्, पूर्वापरमध्यकोटिमध्यगतं च, सर्वतः सर्वेण मुखमिव मुखं स्वात्मप्रत्यभिज्ञोपायरूपम् । पञ्चपञ्चकानि तत्त्वानि तथाष्टादश गुणांश्च स्वयमेव व्याख्यास्यति । पञ्चपञ्चकेषु च तत्त्वेषु च स्थितं तदभिन्नमूर्तिं गुणेषु चान्वितं अनुगततया स्थितम् ॥२३१॥

तदित्थंभूतमेतत्–

यद्यस्मिंस्तु परं वेत्ति तदा मुच्येत बन्धनात् ।

'कलङ्को देह उच्यते' (७/२२८) इत्युपक्रान्तत्वादस्मिन्देहप्राणादावेव अवस्थितो यद्युक्तरूपं परं तत्त्वं वेत्ति, तदा बन्धनान्मुच्यत एव, जीवन्नेव स्वानुभवेन परभैरवतामाविशतीत्यर्थः ।

अथ पञ्चपञ्चकं दर्शयति–

कारणानि च मन्त्राश्च निवृत्त्याद्याः कलास्तथा ।।२३२।।
बिन्दुश्चैवार्धचन्द्रश्च निरोधी नाद ऊर्ध्वगः ।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनात्मा तथोन्मना ।।२३३।।

शाम्भव आवेशों के परिवेश में भी मुख अर्थात् उपाय का काम करता है, वह सर्वतोमुख भी कहलाता है । जो पाँच पंचकों में अवस्थित है अर्थात् सांख्य दर्शन के अनुसार २५ तत्त्वों में व्याप्त है तथा अष्टादश गुणों से युक्त है अर्थात् इन गुणों से अनुगत है, उसे सर्वतोभावेन जानना साधक का धर्म है ॥२३१॥

यदि इसमें अर्थात् कलङ्क रूप देह में ही उस परमतत्त्व का प्रत्यभिज्ञान हो जाये, तो यह निश्चय है कि, साधक संसृति के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेता है । जीवित रहते ही स्वानुभव के बल से परभैरव समावेश में आविष्ट हो जाता है ।

इसके बाद प्रसङ्गवश श्लोक २३१ में कथित पञ्च पञ्चकों का आकलन कर रहे हैं–

१–कारणानि–ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव ये छः कारण देव माने जाते हैं ।

२–मन्त्राः–अकार, उकार और मकार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के तीनों वाचक माने जाते हैं । इसलिये ये तीनों मन्त्र हैं ।

पञ्चपञ्चकमेतद्धि कथितं ते वरानने ।

'कारणानि' ब्रह्मादीनि षट् । 'मन्त्रा:' इति अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णुरुद्रवाचकास्त्रय: । बिन्दुनादशक्तीनामीशसदाशिवशिववाचकानां सर्वमन्त्रसाधारणबिन्द्वाद्युन्मनान्तप्रमेयदशकमध्ये कथनात्, अतो मन्त्रशब्देन साधारणप्रमेयदशकावशिष्टा असाधारणास्त्रय एव उक्ता: । तथा वक्त्राङ्गमन्त्रैकादशिकावर्गश्चतुर्थ इत्येते दश, ब्रह्मादिकारणाधिष्ठिताश्च निवृत्त्याद्या: कला: पञ्च प्राग्व्याकृता:, तत्त्वं च बिन्द्वादिप्रमेयदशकमित्येतत्पञ्चपञ्चकम् ।

तत्त्वान्येव तु षट्त्रिंशत्

पृथिव्यादीनि षट्त्रिंशत्पूर्वमेवोक्तानि । अत्र सर्वत्र परतत्त्वमभेदेन स्थितमिति पूर्वेण सम्बन्ध: । अथ–

गुणांश्चैव निबोध मे ।।२३४।।

३–बिन्दु, नाद और शक्ति, ईश्वर, सदाशिव और शिव के वाचक हैं । ये सभी मन्त्रों में सामान्यतया विद्यमान रहते हैं । इस प्रकार बिन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त दश प्रमेयों में इनकी भी गणना की जाती है । इस तरह मन्त्र शब्द से साधारणतया दश प्रमेयों से बच जाने के कारण अकार, उकार और मकार ही तीन मन्त्र माने जाते हैं ।

वक्त्राङ्ग मन्त्रों की स्थिति इस प्रकार है–

दिक्	वक्त्र	बीजमन्त्र	अङ्ग	और न्यास के पूर्ण मन्त्र
ऊर्ध्वं	ईशानवक्त्र	ॐक्षं	हृदय	ॐक्षं ईशानवक्त्राय हृदयाय
प्राच्यां	तत्पुरुषवक्त्र	ॐयं	शिर	ओं यं तत्पुरुषवक्त्राय शिरसेस्वाहा
दक्षिणायां	अघोरवक्त्र	ॐरं	शिखा	ॐरं अघोरवक्त्राय शिखायै वौषट्
प्रतीच्यां	वामदेववक्त्र	ॐवं	कवच	ॐ वं वामदेववक्त्राय कवचाय हुं
उदीच्यां	सद्योजातवक्त्र	ओं लं	नेत्रत्रय	ॐलं सद्योजाताय नेत्रत्रयाय नम:
सर्वदिक्देवेभ्योऽस्त्रायफट्		क्षंयंरंवंलं	अस्त्र	अस्त्रायफट्

वक्त्राङ्ग मन्त्रों की एकादशिका उक्त चित्र में स्पष्ट है । ५बीज मन्त्र और ५अङ्ग मन्त्र-१०+१अस्त्रमन्त्र=११मन्त्र ही मन्त्रैकादशिका में गृहीत हैं । इस प्रकार कारण छ: मन्त्र+अ उ म अर्थात् ब्रह्मा विष्णु रुद्र ३+वक्त्र वर्ग १=दश रूप में भी ये परिगणित हैं । ब्रह्मादि कारण देवों की अधिष्ठान रूप पाँच कलायें पहले ही निर्दिष्ट हैं । १–निवृत्ति, २–प्रतिष्ठा, ३–विद्या, ४–तुर्या और ५–तुर्यातीता और प्रमेय दश रूप से बिन्दु, अर्धचन्द्र निरोधिनी नाद, नादान्त, शक्ति व्यापिनी, समना उन्मना और शिव भी पहले निर्दिष्ट हैं । ये कुल मिलाकर

'गुणाः' परभैरवस्य गृहीतमायाप्रमातृभूमिकस्य परापरदशौचित्येनावस्थिता धर्माः शक्तयः ॥२३४॥

तानाह–

अहंकारो धीर्मनश्च इन्द्रियार्थास्तथैव च ।
ग्रहणं स्पर्श आधारः शक्तिश्चैवाष्टमी स्मृता ।।२३५।।
एते चाष्टौ गुणाः

अन्तःकरणत्रयमिन्द्रियार्थसहितोऽर्थवर्गश्चतुर्थः, ग्रहणं च तद्विषयज्ञानम्, स्पर्श आन्तरसुखाद्युपलम्भः, आधारः शरीरम्, शक्तिर्ज्ञानक्रियात्मा प्रयत्नश्चेत्यष्टावपररूपस्यात्मनो धर्माः शक्तयः । यतो यत्किंचित्प्रकाशते विषयशरीरादि, तत्प्रकाशरूपाच्चेतनादभिन्नम्, अन्यथास्य प्रकाशनायोगादित्यस्य धर्मरूपमेव सर्वम् ।

१०+५+१०=२५ ही पञ्च पञ्चक माने जाते हैं । इनके साथ ही ३६ तत्त्व भी परिगणित हैं । ये पृथ्वी से शिव पर्यन्त सभी आगमिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं । ये सारे के सारे तत्त्व अभेद अद्वय भाव से परस्पर सम्बद्ध हैं । मयूराण्डरसन्याय से इसे समझा जा सकता है ।

इसी तरह पर भैरव के जिन्होंने स्वयं गृहीतसंकोच होकर माया प्रमातृत्व स्वीकार किया है, उनके गुण भी इसी सन्दर्भ में जानने योग्य है ॥२३४॥

तीन अन्तःकरण अहङ्कार, बुद्धि और मन, इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषयों के साथ मिलकर चार, इनका ग्रहण, इनका स्पर्श अर्थात् इनसे प्राप्त सुखात्मक आनन्द स्पर्श, इनका आधार शरीर, इनकी ज्ञानाक्रियात्मक सक्रियता रूप प्रयत्न ये कुल मिलाकर परभैरव के ही आठ धर्म अर्थात् गुण माने जाते हैं । वस्तुतः ये इनकी शक्तियाँ ही हैं । इसका कारण यह है कि, विश्व में जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है, चाहे वे विषय हों, शरीर हो, प्रकाश रूप चेतन तत्त्व से वे अभिन्न हैं । अन्यथा इनका प्रकाशन हो ही नहीं सकता था । अतः यह ऊपर कहा गया अष्टक, भैरव का धर्म ही कहा जा सकता है । यही इनके आठ गुण हैं ॥२३५॥

इसी के अनुक्रम में आठ भैरव भी परिगणित हैं । उन्हें भैरवाष्टक कहते हैं । उन्हें संकेत से कशिक्रोवि ममेसोवि कह सकते हैं । जैसे–'क' से कपालीश, 'शि' से शिखिवाहन, 'क्रो' से क्रोधराज, 'वि' से विकराल, 'म' से मन्मथ, 'मे' से मेघराज, 'सो' से सोमराज और 'वि' से विद्याराज । ये भैरवाष्टक देव हैं । इनके आठ गुण भी स्वाभाविक हैं ।

अस्यैव परां व्याप्तिमाविष्टस्य–

अष्टौ भैरवा भैरवाष्टकम् ।

ये पूर्वं कपालीशादयोऽष्टौ भैरवा उक्तास्तदात्मानः परव्याप्त्या भैरवस्य सतोऽष्टकं गुणानामित्यर्थः । किञ्चास्य–

प्राणहंसस्तथा शक्तिः

अपरपरावस्थायाः क्रमेण धर्माः । यथा हि परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् गृहीतात्मभूमिकस्तथा तदीयस्वातन्त्र्यात्मापि शक्तिः संकुचिततया भान्ती प्राणः–इत्युक्तप्रायम् । तदित्थम्–

गुणा अष्टादश त्विमे ।।२३६।।

अतश्च–

एतेषु तत्परं तत्त्वमुच्चारालम्बनादृते ।

इसी परभैरव रूप देवाधिदेव के अपर और पर भाव के आकलन के अनुसार धर्म या गुण भी आकलित होते हैं । इसी तरह प्राणहंस भैरव देव की शक्ति का ही प्रतीक माना जाता है । जब परमेश्वर स्वातन्त्र्य के कारण माया प्रमातृत्वष्व स्वीकार करते हैं, तब उनकी स्वतन्त्रता की शक्ति ही संकोच ग्रहण कर प्राणहंस के रूप में प्रकाशित हो जाती है । इस तरह भैरव के परभाव के और अपरभाव ८+८=१६ धर्म तथा प्राणहंस और स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति को मिलाकर १६+१+१=१८ अठारह भैरवीय गुण शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट हैं ॥२३६॥

इन ऊपर कहे गये पञ्च पञ्चकों, ३६ तत्त्वों १८ गुणों सबमें १–'उच्चार' और २–'आलम्बन' के विना, आधार पर तत्त्व का भी आकलन करना चाहिये । यहाँ 'उच्चार' और 'आलम्बन' इन दो शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है–

शब्दों के उच्चारण के समय कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका, कण्ठतालु, कण्ठोष्ठ, दन्तोष्ठ, जिह्वामूल नामक वक्त्राङ्गों का प्रयोग होता है । तथा, स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवित् प्रयत्नों का प्रयोग भी करते हैं । ये प्रयत्न और इन्द्रियैकाग्र्यपूर्ण प्रयोग करणबन्ध कहलाते हैं । इनसे मन्त्रों का समुदीरण होता है । 'उच्चार' का यही अर्थ है ।

२–'आलम्बन'—जिस मन्त्र का उच्चार होता है, उसके अधिष्ठाता देवता का ध्यान, प्राणसमजप आदि की क्रिया की जाती है । इस आन्तर प्रक्रिया के 'आश्रय' को ही 'आलम्बन' कहते हैं ।

'उच्चारः' करणबन्धादिपूर्वं मन्त्रोदीरणम्, 'आलम्बनं' ध्यानाद्याश्रयणम्, तद्विना एतेषु सर्वेषु भेदेष्वभेदेन स्थितमिति शेषः । उपायाभिमतानामपि स्वप्रकाशचिद्भित्त्यैक्येन प्रकाशनात् । तदुक्तमस्मत्प्रभुपादैः-

'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्धटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात्' ॥ इति ।
(तं. सा. २ आ.)

तदेव विशिनष्टि-

अक्षराक्षरनिर्मुक्तं परं तत्त्वमनक्षरम् ॥२३७॥

इन दोनों के विना उस सभी भेदों में अभेद भाव से ही अवस्थित वह परमतत्त्व है वस्तुतः ये भेद भी उनके जानने के एक तरह के उपाय ही हैं और ये उपाय भी परमात्मा के प्रकाश की चिद्भित्ति से ही उसी में स्फुरित होने के कारण अभेद भाव से ही प्रकाशित हैं । इस तथ्य को इनके प्रभुपाद श्रीमदभिनव-गुप्त पाद ने भी तन्त्रसार नामक ग्रन्थ तथा तन्त्रोच्चय नामक लघुग्रन्थ[1] के द्वितीय आह्निक के प्रथम श्लोक के रूप में दिया है । इस श्लोक द्वारा इसी तथ्य की घोषणा की गयी है कि,

'उपायों का समूह भी परमेश्वर शिव को प्रकाशित नहीं कर सकता । क्या घड़े में वह शक्ति है कि, वह सहस्ररश्मि भगवान् भास्कर को प्रकाशित कर सके । इस प्रकार के विमर्श परामर्श में अनवरत रत चिन्तनशील विवेकी पुरुष उदार दर्शन कहलाता है । ऐसे प्राज्ञ पुरुष की प्रज्ञा विद्युत की तरह इस प्रकार कौंध जाती है कि, स्वयं प्रकाश का तत्क्षण साक्षात्कार हो जाता है और साधक उसी आवेश में शैवमहाभाव में अनुप्रवेश कर जाता है' ।

उसी परतत्त्व रूप परमेश्वर के अनक्षर रूप का कथन कर रहे हैं कि, वह अक्षराक्षर निर्मुक्त पर तत्त्व है और वह निश्चय ही अनक्षर है । इस अर्घाली के 'अक्षराक्षरनिर्मुक्त' और 'अनक्षर' दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं । इन्हें इस तरह समझें-

१-अक्षराक्षर निर्मुक्त-'अक्षर' जीवात्मा का वह स्वरूप जो माया प्रमाता भाव को स्वीकार कर चुका है । अर्थात् गृहीत संकोच भाव जीवात्मतत्व ही अक्षर है । २-दूसरा शब्द आ-क्षर उसके साथ मिला हुआ है ।

---

१. श्री तन्त्रालोक भाग ८ पृष्ठ ४३१
प्र० सं० सं० वि० विद्यालय वाराणसी ।

अक्षरेणाविमलेन जीवात्मना रूपेण आ समन्तात् क्षरैः सर्वभूतैश्च निर्मुक्तं परचिन्मात्रमित्यर्थः, अथवाऽक्षरैर्वाचकैरक्षरैश्च तत्संबन्धिभिर्वाच्यैराकारैर्निर्मुक्तमकारोकारादिवाचकमन्त्रकलातद्वाच्यरूपं न भवतीत्यर्थः ।

युक्तं चैतद् यतः–

अक्षरेषु कुतो मोक्ष आकाशे कुसुमं कुतः ।

अत्यन्तासम्भाव्यमेतत्–यत्स्थानप्रयत्नादुच्चार्यत्वात् सोपाधिषु मन्त्रावयवरूपेषु 'अक्षरेषु' उच्चरत्सु निरुपाधिचिद्घनतत्त्वसमावेशात्मा 'मोक्षो' भवतीति परतत्त्वस्य वर्णतद्वाच्यरूपत्वाभावात् । उक्तं चैतत्प्राक्–

'तस्य रूपं शरीरं च नास्ति वर्णः क्रिया तथा' । इति । (६/१२)

किञ्च, अक्षरेषु भिन्नेषु बहुषु मुक्तात्मसु इष्यमाणेषु कुतो मोक्षः–

'त आत्मोपासकाः...............' । (४/३९२)

इत्यभिहितत्वात् । अत एव–

यावदुच्चार्यते वाचा यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति ।।२३८।।

इसका अर्थ 'आ' अर्थात् पूरी तरह चारों ओर से अर्थात् सर्वात्मना जो क्षर रूप सभी प्राणियों का प्रतीक है । इन दोनों से अर्थात् अक्षर और आक्षर दोनों से निर्मुक्त ही अनक्षर परमतत्त्व होता है ।

एक दूसरा अर्थ भी इसका इस रूप में होता है । अकार गत वाचक अ उ म अक्षर होता है । दूसरे अक्षर का अर्थ इन वाचक देव रूप अक्षर तत्त्व । इन दोनों से अर्थात् वाचकाक्षरों और वाच्याक्षरों दोनों से परे वह अनक्षर तत्त्व ही परमतत्त्व है ॥२३७॥

शास्त्र यह कहता है कि, अक्षरों से जो स्वयं स्थान और प्रयत्नों से उच्चार्य होने के कारण सोपाधिक हैं, ऐसे मन्त्रों के अवयव रूप से उच्चरित होने वाले अक्षरों के द्वारा मोक्ष असम्भव है । भला इनसे निरुपाधि चिद्घनतत्त्व का साक्षात्कार कैसे हो सकता है । सोपाधि से निरुपाधि में समावेश असम्भव ही है ।

जैसे आकाश से कुसुम की उत्पत्ति असम्भव है, उसी तरह अक्षरों से मोक्ष को उपलब्ध होना भी असम्भव है । पर तत्त्व कभी भी वर्णों और उनके वाच्यों से उपलब्ध नहीं हो सकता । इस विषय में पटल ६/१२ में यह कहा गया है कि,

'उसका रूप और उसका शरीर अनिर्वचनीय है । न वह वर्ण और न क्रिया ही है' ।

तावत्स सकलो ज्ञेयो निष्कलो भेदवर्जितः ।

पश्यन्तीपर्यन्ताभिर्वाग्भिरुच्चार्यमाणस्तत्तदकारादिकलाबन्धान्मन्त्रः सकल एव भवति, लिपिध्यानक्रमेऽपि आप्यायादि कुर्वन्नपि अम्बाज्येष्ठा-रौद्री-वामाख्यलिपि-कलायोगादपि सकल एव । यस्तु सर्वभेदप्रत्यस्तमयात् स्वप्रकाशानाहतपरामर्श-मयः, स निष्कलः । एतच्च वितत्य पञ्चप्रणवाधिकारादौ निर्णीतम् । उक्तं च श्रीविज्ञानभट्टारके–

इसके अतिरिक्त भी यह कह देने की बात है कि, अक्षरों में भिन्नता के सभी विकल्प विद्यमान हैं । जो इन भिन्न भिन्न बहुल अक्षरों के माध्यम से शिवत्त्व का परिकल्पन कर लेते हैं । ऐसे लोगों द्वारा जो शिवत्त्व परिकल्पित होता है, वह वास्तविक शिवत्त्व हो ही नहीं सकता । इसलिये इसी ग्रन्थ के पटल चार के श्लोक ३९२ में कहा गया है कि,

'ऐसे परिकल्पित शिव के वे उपासक पर शिव को उपलब्ध नहीं हो सकते' ।

इसलिये सकल निष्कल भेद के स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में भगवान् यह उद्घोष कर रहे हैं कि, 'जब तक वह वाणी से उच्चारित हो रहा हो या जब तक कि, वह लेख्यों में या चित्रों में उकेरा जा रहा होता है, तब तक वह परमेश्वर निष्कल परमतत्त्व नहीं माना जा सकता । वह 'सकल' परिवेश का परतत्त्व कहा जा सकता है । निष्कल तत्त्व तो अभेद अद्वय भावमय ही हो सकता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि, परावाग् का उच्चारयिता नहीं होता । पश्यन्ती और मध्यमा के माध्यम से उच्चार्यमाण बन कर बैखरी के मन्त्रों में वह व्यक्त होती है । अकारादि उसी वाक्तत्त्व की कला के प्रतीक हैं । यही मन्त्र बनते हैं । यह पर तत्त्व का सकल (कलया सहित) रूप है । लिपि में उतर कर मन्त्र विग्रहवान् बनता है । इसके ध्यान से भी यद्यपि आप्यायन होता है और फिर भी अम्बिका, ज्यैष्ठा, रौद्री और वामा शक्तियों से साकार यह रूप भी सकल रूप ही है । इसके विपरीत समस्त भेदमयता को अपास्त कर स्वप्रकाश से अनाहत परामर्श स्वभाववान् ही निष्कल कहलाता है । पञ्च प्रणवाधिकार में इसकी विशद चर्चा की गयी है और इसका निरूपण किया गया है । श्री विज्ञान-भैरव में यह कहा गया है कि, 'वर्ण (सितादिवर्ण या अक्षरवर्ण) अथवा देह (साकार रूप) के भेद से परत्व सिद्ध नहीं हो सकता । परत्व की सिद्धि निष्कल रूपता से ही हो सकती है । सकलरूपता में परत्व असम्भव है' ।

'नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत् ।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद्भवेत्' ॥ इति ॥ (६ श्लो.)

अतश्चायम्–

सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः क्रियाकालविवर्जितः ।।२३९।।

नायं मन्त्रान्तरवत् सृज्यते संह्रियते वा, नाप्यस्योच्चारध्यानादिक्रियाकालोऽस्ति । यथोक्तम्–

'नास्योच्चारयिता कश्चित्............' । (७/५९) इत्यादि ॥२३९॥

एतद्व्यनक्ति–

अधश्चारे भवेत्सृष्टिरूर्ध्वे संहार उच्यते ।
अधश्चारेण जातोऽसौ ऊर्ध्वे चैव मृतो भवेत् ।।२४०।।
सूतकं मृतकं त्यक्त्वा तिष्ठेद्वै तत्त्ववृत्तितः ।

अधश्चारोऽपानः, ऊर्ध्वचारस्तु प्राणः, सृष्टिसंहार इति त्रिविधस्य देहप्रमातुः, असाविति देहप्रमाता इत्थं मुहुः सूतकमृतकाशौचमयः । यदा तु देहप्रमातृताभि-

---

अतः यह निष्कल तत्त्व सृष्टि और संहार सदृश व्यापारों से निर्मुक्त तत्त्व माना जाता है । किसी प्रकार की क्रिया से और काल की कलना से वह रहित है । किसी मन्त्र की तरह भी इसका सृजन नहीं किया जाता । न ही यह संहार का विषय भी नहीं बनाया जा सकता । इसका उच्चार कैसे हो सकता है, जबकि कोई इसका उच्चारयिता सम्भव ही नहीं है । इसके ध्यान आदि की प्रक्रिया भी असम्भव है । इसी आधार पर इसी पटल के श्लोक ५९ द्वारा यह प्रोक्त है कि, इसका उच्चारयिता कोई नहीं ॥२३९॥

सृष्टि की प्रक्रिया अधश्चार में होती है । ऊर्ध्वचार संहार होता है । अधश्चार अपानचन्द्र का चमत्कार है । ऊर्ध्वचार प्राणीय है । देह प्रमाता अधश्चार में जन्म लेता है और ऊर्ध्वचार में मर जाता है । परिणामतः देह प्रमाता जन्म और मरण के सूतकों के प्रभाव से नित्य अशुद्ध रहता है ॥२४०॥

जब देह प्रमातृता का अभिमान प्रशम को प्राप्त करता है और चिन्मात्र की प्रमातृता का आश्रय मिल जाता है, उस समय सूतक रूप जननाशौच और मरणाशौच से मुक्त हो जाता है । तब साधक का स्वात्मपुरुष चिद्रस के अभेद से सुन्दर वृत्ति में स्थित हो जाता है । खिले हुए कमल के समान अपने अस्तित्व की सुरभि से दिग्दिगन्त के आमोदमुग्ध कर देता है । उसके प्राण उसका देह उस कमल के दलों के समान अस्तित्वगत सौन्दर्य से समन्वित हो जाते हैं ।

मानं प्रशमय्य सत्यां चित्प्रमातृतामवलम्बते, तदा दलकल्पदेहप्राणादिपदवर्त्यप्ययं चिदामोदसुन्दरस्तत्त्ववृत्तिस्थित एव-इति का मृतकसूतकसम्भावनापीति इत्थमेतद्व्याकार्यम्, न तु प्राणापानप्रशमपदे सततमवस्थेयमिति योगिनां व्युत्थानदशासम्भवेन तत्र सततावस्थानाघटनात्–

'एतेषु तत्परं तत्त्वमुच्चारालम्बनादृते' । (७/२३७)

इत्युक्तेन वक्ष्यमाणेन च ग्रन्थेन विरोधापत्तेः । यदि चामुखे प्राणापानप्रशमपदनिभालनं तत्त्ववृत्त्यनुभवे भवति उपायः, तथापि तदुपायपूर्वं सर्वदा सर्वावस्थासु सर्वत्र चिदानन्दघनपरमशिवतामयत्वज्ञानमेव तत्त्ववृत्त्यवस्थितत्वम् । यद्वक्ष्यति–

'सर्वं शिवमयं स्मरेत्' । इत्यादि । (७/२४४)

तदित्थमियम्–

तत्त्ववृत्तिश्च व्याख्याता सर्वाध्वोपाधिवर्जिता ।।२४१।।

इस चिदानन्दघन के आमोद से मोदमाता उस साधक के लिये क्या मरण और क्या जनन । इन सबसे अब वह ऊपर उठ चुका होता है ।

प्राणापानप्रशम पद पर अनवरत अवस्थिति भी यहाँ अनिवार्य नहीं होती । योगियों की एक व्युत्थान दशा होती है । वह कभी भी, किसी दशा में भी चिद्रस के परास्वाद का आस्वाद करता रहता है । हमेशा प्रशमपद पर रहना जरूरी भी नहीं होता क्यों यह सतत अवस्थान घटित नहीं होता । एवं स्वाभाविक भी नहीं है । यही तथ्य श्लोक २३७ द्वारा समर्थित है । वहाँ कहा गया है कि,

'इनमें परतत्त्व उच्चार और आलम्बन के अतिरिक्त कुछ अबूझ पहेली जैसा अविर्वचनीय तत्त्व ही है' ।

यदि प्राणापान के प्रथम पद का निभालन तत्त्ववृत्ति के अनुभव में उपाय का काम करता है, तो भी इस उपाय के भी पहले ही सदा और सभी अवस्थाओं में सर्वत्र चिदानन्दघन परम शिव भाव का बोध ही तत्त्व वृत्ति में अवस्थित माना जाना चाहिये । इस तथ्य का समर्थन ७/२४४ से भी होता है । वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि, 'सबको शिवमय रूप में देखना चाहिये' ।

इस अवस्था में वर्त्तमानता ही तत्त्ववृत्ति मानी जाती है । यह सभी अध्वावर्ग की उपाधियों से रहित अवस्था है । छः प्रकार के अध्वाओं की परमार्थिक सत्ता तो वस्तुतः चिन्मयी सत्ता ही है । जब यह बोध सिद्ध हो जाता

षड्विधस्याप्यध्वनः पारमार्थिकसत्तया चिन्मय्या परिज्ञातत्वाद् नास्त्युपाधित्वं व्यतिरेकाभावाद् विशेषेणाख्याता तत्र तत्र शास्त्रे निराचारावधूतनिर्मर्याद स्फुरत्तामहासत्तासमापत्तिसमावेशादिशब्दव्यवहृतत्वात् ॥२४१॥

अतश्च–

तत्त्वाध्व[१]धर्मनिर्मुक्तः कारणैश्च विवर्जितः ।
तत्त्ववृत्तौ स्थितो योगी सर्वारम्भविवर्जितः ॥२४२॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तो विषादानन्दवर्जितः ।
नाकाङ्क्षेन्न च निन्देत्तु विषयांश्च कदाचन ॥२४३॥
समः शत्रौ च मित्रे च ब्राह्मणे श्वपचे समः ।
तुल्यदर्शी भवेन्नित्यं सर्वं शिवमयं स्मरेत् ॥२४४॥

तत्त्वादिभिः शरीरावस्थितैर्नास्याहन्तावच्छिद्यत इत्यर्थः । अत एव चायं चित्समापन्नत्वात् सर्वैरारम्भैर्हेयोपादेयविषयाभिः । प्रवृत्तिभिर्विशेषेणाभिनिवेशात्मना वर्जितः, यतस्तत्प्रवृत्तिहेतुभ्यां रागद्वेषदोषाभ्यां रहितः । तद्रहितत्वमपि अस्य

है, तो फिर औपाधिकता का अस्तित्व ही कहाँ रह जाता है ? क्योंकि किसी प्रकार के व्यतिरेक का ही उस समय अभाव हो जाता है । जब सत्ता में आग ही नहीं, तो धूम की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।

चिन्मयी सत्ता के बोध में उपाधि की अनुभूति असम्भव मानी जाती है । शास्त्रों में भी विभिन्न सन्दर्भों में जगह जगह निराचार, अवधूत, निर्मर्याद, स्फुरत्ता, महासत्ता समापत्ति, समावेश आदि शब्द उसी निरुपाधि चिन्मय सत्ता की ओर ही संकेत करते हैं ॥२४१॥

इसलिये तत्त्वाध्व धर्मों से निर्मुक्त, समस्त कारणों से रहित होकर ही योगी तत्त्ववृत्ति में अवस्थित रह सकता है । इससे किसी व्यापार की व्यावृत्ति की प्रक्रिया का प्रकरण ही समाप्त हो जाता है ॥२४२॥

वह राग-द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठा होता है । इसे हर्ष और विषाद की कोई समस्या नहीं होती । निरभिलाषिता का वह प्रतीक होता है । जब सर्वत्र शिव की अनुभूति में वह रमा रहता है, तो किसी की निन्दा का प्रश्न ही नहीं रह जाता । उसे विषयों के प्रति भी कोई गुरेज नहीं रहता ॥२४३॥

गीता भी यही कहती है । शत्रु और मित्र में बराबर भाव रखो । यह शास्त्र भी यही कहता है । ब्राह्मण और श्वपच भेदवादी शब्द हैं । इनमें भी

---

१. ख. पु. कर्मनिर्मुक्त इति पाठः ।

विषयसङ्गसम्पाद्यविषादानन्दविरहात्, अत एवास्य आकाङ्क्षाद्यभावो यथोपनत-मात्रभोगातिवाहकत्वाद् नास्य शत्रुमित्रब्राह्मणश्वपचेषु अपकार्युपकारिशुश्रूषापवित्रता-दिधीः, तुल्यत्वेनासौ सर्वं पश्यति केवलम्, न तु लोकमध्यस्थो लोकस्य स्थिति-भङ्गमुत्पादयेत् । इदं त्वस्य मुख्यं रूपं यत्सर्वं शिवत्वेन चिन्तयेत् । यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे–

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्क्व यास्यति' ॥ इति । (११६)

तथा–

'सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्' । (६३) इति ॥२४४॥

सर्वं शिवमयं स्मरेदित्युक्तम्, तत्र सर्वमध्ये यद्यप्यात्मा प्रविष्टस्तथाप्यसौ अनादिशिवाद्भिन्न इति भेदवादिदृशा भ्रमो मा भूदित्याह–

आत्मानं च तथैवैवं सर्वथैव सदा स्मरेत् ।

तथैवैवमिति विश्वात्मकपरमशिवैक्येन । अतश्च–

सर्वतत्त्वानि भूतानि वर्णा मन्त्राश्च ये स्मृताः ।।२४५।।
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनयानया ।

शिवता की व्याप्ति है । अतः ये दोनों शिवरूप ही हैं । शास्त्र यह विधि देता है कि, नित्य तुल्यदर्शी बनो और सबको शिवमय रूप में ही याद कर समान व्यवहार करो ॥२४४॥

'सब कुछ शिवमय ही है' यह स्मरण रखे । यह कथन शास्त्र के आदेश की तरह है । यह सभी जानते हैं कि, आत्मा सबमें है । पर यह भूल जाते हैं कि, आत्मा शिव से अभिन्न है । भेदवादी मान्यता के अनुसार सचमुच भिन्नता का भ्रम न हो, अतः शास्त्र यह निर्देश करता है कि, आत्मा को भी सर्वथा सर्वतोभावेन शिव रूप ही मानना चाहिये । परमशिव स्वयं विश्वात्मैक्य रूप से शाश्वत स्फुरित हैं । सभी का स्वात्मरूप भी शिवमय ही है । इस तरह सारे तत्त्व, सारा पंचमहाभूत सारे वर्ण और सभी मन्त्र जो शास्त्र में निर्दिष्ट हैं, वे सभी शिवमय ही हैं ॥२४५॥

यह सारा विस्फार, यह सारा विश्व प्रसर शिव से अभिन्न स्वात्मैक्य भाव से भरित है । इस प्रकार की तत्त्व वृत्ति की निष्ठा साधक में अनिवार्यतः होनी चाहिये । ऐसा पुरुष आदर्श पुरुष होता है । वह किसी पुण्य प्राप्ति की चिन्ता

सर्वस्य शिवाभिन्नस्वात्मैक्येन दर्शनात्, भूतानि चतुर्दश, वर्णाः शब्दराशिशरीरस्थाः । ईदृक्तत्त्ववृत्तिनिष्ठत्वादेव–

न चासौ कुरुते पुण्यं नैव पापं च सुव्रते ।।२४६।।

बुद्धिपूर्वं शुभमशुभं वा न किञ्चित्करोति ॥२४६॥

यत्रोऽसौ–

कृतकृत्यः प्रसन्नात्मा

कृतं निष्पन्नं कृत्यं परमेशात्मस्वात्मसमापत्त्यात्मकं यस्य । प्रसन्नो मलाकलङ्कितः । अत एव–

कृत्यं चास्य न विद्यते ।

च एवार्थो भिन्नक्रमः । यतोऽस्य कृत्यं नैव विद्यते, तेन कथं पुण्यं पापं वा कुर्यात् । जीवन्नप्यसौ मुक्त इत्याह–

इह लोके परस्मिंश्च परिपूर्णस्तु सर्वदा ।।२४७।।

इहेति व्युत्थानाभिमतावस्थायामित्यर्थः । यदि बुद्धिपूर्वं धर्मादि नाचरति, तत्प्रमादसम्पन्नं परोपकारादिकमस्यावारकं नेत्याह–

धर्माधर्मविनिर्मुक्तः

अभिसन्धि विना कर्मणो बन्धकत्वाभावात् प्राक्शरीरार्जितमप्यस्य पुण्यादिकमावारकं नेत्याह–

पुण्यपापविवर्जितः ।

से उत्तीर्ण होता है । उसके द्वारा पाप होने की तो हे सुव्रते देवि ! सम्भावना ही नहीं होती । बुद्धि पूर्वक इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक कर्मों में उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥२४६॥

वह सही अर्थों में कृतकृत्य होता है । उसका मुख्य कर्म परमेश्वर रूप स्वात्म समापत्ति होती है । उसे उसने पा लिया होता है । इस अर्थ में शिवैक्यतादात्म्योपलब्धि की दृष्टि से वह कृतकृत्य है । सङ्कोच रूपी कलङ्क कलषु को दूर कर लेने के कारण वह नित्य प्रसन्न होता है । उसके लिये संसार में अब कोई कृत्य अवशेष नहीं रह जाता । जब कृत्य ही नहीं बचा, तो पुण्य पाप के व्यापार उससे हो ही नहीं सकते । वह सचमुच जीवन्मुक्त होता है । इस लोक और परलोक में भी वह पूर्ण परमेश्वरवत् सदा पूर्ण ही होता है । वह व्युत्थान में शाश्वत व्यवस्थित होता है ॥२४७॥

बुद्धि पूर्वक कर्म धर्म आदि का आचरण न करना कभी लापरवाह भी बना देता है । इस लापरवाही में परोपकार भी उसका आवारक नहीं बन पाता क्योंकि

प्रोक्तज्ञानाग्निना तयोर्भस्मीकृतत्वादित्यर्थः । अत एवेदृशस्य ज्ञानराशेर्योगिनः–

न चास्य भक्ष्याभक्ष्यं हि न पेयापेयमेव च ।।२४८।।
नापवित्रं हि तस्यास्ति न पवित्रं हि सुव्रते ।
निरपेक्षो ह्यसौ नित्यं सर्वापेक्षाविवर्जितः ।।२४९।।

सर्वस्य शिवैक्येन प्रतीतत्वात् । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे–
'किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साशुद्धिः शंभुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेत्सदा' ॥ (१२३ श्लो.)
श्रीमदुच्छुष्मभैरवेऽपि–
'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचि ततः' ॥ इति ॥२४९॥

वह धर्म और अधर्म के आचरणों से भी निर्मुक्त हो जाता है । यह सत्य तथ्य है कि, किसी कार्य में यदि दुराग्रह पूर्ण इरादा न हो तो, वह कार्य बाधक (कर्म बन्धप्रद) नहीं बनता । इस असाधारण पुरुष के प्राक्शरीर से अर्जित संचित और प्रारब्ध कर्म भी इसके बन्धप्रद नहीं होते क्योंकि यह पुण्य और पाप के स्तर को अतिक्रान्त कर अवस्थित होता है । गीता में यह स्पष्टरूप से कहा गया है कि, इसकी ज्ञान की आग से उसके सारे कर्म जल जाते हैं । ऐसे ज्ञानवान् योगिवर्य के लिये भक्ष्य और अभक्ष्य के नियम भी लागू नहीं होते । इसी तरह पेय अपेय में भी कोई अन्तर उसे नहीं पड़ता ॥२४८॥

उसकी दृष्टि में पवित्र और अपवित्र का भी कोई अन्तर नहीं । वह सभी आचारों में निरपेक्ष रहता है । उसे किसी की कोई अपेक्षा होती ही नहीं क्योंकि, सर्वत्र शिवैक्य दृष्टि से ही वह सारा व्यवहार संचालित करता है । विज्ञान भैरव में यह स्पष्ट ही कहा गया है कि,

'अल्पज्ञों की दृष्टि से जिसे शुद्धि कहते हैं, वह शंभु दर्शन में अशुद्धि मानी जाती है । निर्विकल्प स्थिति में रहने वालों के लिये शुद्धि और अशुद्धि का कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता । वि० भै० १२३' ।

श्रीशुष्मभैरव नामक ग्रन्थ में यह उल्लेख है कि, 'जब तक वेदक दशा में योगी नहीं, तब तक वेद्य का अस्तित्व ही क्या है ? वेदक और वेद्य वास्तव में एक ही हैं । इस दृष्टि से अशुचितत्त्व की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती ॥२४९॥

ईदृशस्य च–

नास्य क्षेत्रं नास्य तीर्थं नियमो यम एव च ।

'नियमो' जटाभस्मादिपरिग्रहः, परभैरवस्फाररूपस्य नास्य कश्चित्संकोच इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे रहस्यप्रतिपादिनि अष्टादशे पटले–

'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः...........' । (७४)

इत्यादिना महता ग्रन्थेन । एवंविधस्य योगिनो लोकोत्तरं क्षेत्रादि निरूपयति–

क्षेत्रं तस्य परा शक्तिर्यतः सर्वं प्रसूयते ।।२५०।।

सर्वाध्वानो यतो देवि तत्रस्थाः प्रचरन्ति वै ।

तीर्थं चैव वरं शान्तं नित्यं चानन्दविश्वगम् ।।२५१।।

ऐसे पुरुष श्रेष्ठ के लिये न तो कोई क्षेत्र होता और नहीं ही कोई तीर्थ ही महत्त्वपूर्ण होता है । न तो कोई जटाभस्मादिपरिग्रह रूप कोई नियम ही रह जाता है । श्री पूर्वशास्त्र ८/७४ द्वारा शुद्धि अशुद्धि का खण्डन करता है । अतः उसका क्षेत्र पराशक्ति है और उसी की कृपा होती है क्योंकि पराशक्ति ही सबकी प्रसू है ।।२५०।।

भगवान् देवी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, देवि ! ऐसे योगी देवता-चक्र के मध्य में पड़ने वाले विशिष्ट क्षेत्र में विराजमान रहकर अपने अभीष्ट का साधन करते हैं । जिस समय इस देवचक्र में निवास करता है, वह ध्यातव्य है । वहाँ उस चक्र में मध्य में परादेवी की महासत्ता भी स्फुरित रहती है । इस तरह वहाँ दोहरा चक्र हो जाता है । १–पहला चक्र देवताचक्र, २–दूसरा चक्र पराशक्तिचक्र । उसके मध्य में एकनिष्ठ योगी अवस्थित रहता है ।

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि, पराम्बा माँ ही सबकी प्रसव भूमि है । वही वास्तविक क्षेत्र है । ये देवता जिनके चक्र में वह अधिष्ठित हैं, ये तो पराम्बा की रश्मियों का ही चक्र है । वे रश्मियाँ इन देहस्थ देवरूपों में अनवरत स्फुरित हैं । इन्हीं रश्मियों के प्रकाश से प्रकाश्यमान क्षेत्र में योगी बैठता है । इतने महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में बैठकर योगी अपने आराध्य का तादात्म्य लाभ करता है । वही उसका क्षेत्र और वही उसका सर्वमलध्वंसी तीर्थ भी होता है ।

सभी अध्वा उस तीर्थ में अपने अस्तित्व की परीक्षा करते हैं । वह स्थान ऐसी पुण्यस्थली है, जहाँ सारी भेदवादिता की तरङ्गें अपनी कल्लोल क्रीड़ा को भूलकर परा शान्ति का आलिङ्गन करती हैं । परानन्दभाव के रस से सिक्त होकर उसी आनन्द सिन्धु में समा जाया करती हैं । वह इन योगियों का परम शान्त तीर्थ होता है । परतत्त्व की एकतानता में अभेद विमर्शमयी तादात्म्य वृत्ति में गोते

येन व्याप्तमिदं विश्वमनन्तं विश्वशक्तिभिः ।

नित्यं विरक्तिः संसाराद्यमोऽयं परिकीर्तितः ।।२५२।।

नियमो भावना नित्यं परतत्त्वैकतानता ।

'क्षेत्रं तदुच्यते देवताचक्रमध्यगः ।

तत्तदभीष्टं प्राप्नोति.............' ॥

इत्यतोऽस्य परयोगिनः पराद्वयमयाध्वचक्रदेवताचक्रमध्यगता परा शक्तिरेव सर्वप्रसवभूमिः क्षेत्रम्, तीर्थं सर्वमलध्वंसकृत्, तच्चास्य प्रशान्तभेदकल्लोलमानन्दरसमयं विश्वव्यापि 'परं शान्तम्' अशेषशक्तिकचितं शक्तिमत्पदम् परतत्त्वैकतानता तदभेदविमर्शमयी भावना, सास्य नियमो व्रतम् ।

एष च योगी–

नात्मनो भावयेज्जातिं न कुलं न च बान्धवान् ।।२५३।।

देहात्मनो हि जात्यादिकलङ्कयोगः, न चिदात्मनः ॥२५३॥

ईदृशोऽपि च–

आचरेत्सर्ववर्णत्वं

सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां भावमाचरेत्, यस्य यादृक् स्वरूपमाचारो वा, तस्य तदेव श्लाघेत ।

लगाने का जो विश्वव्यापी आनन्द है, उस परानन्दमय वैराज्य का वह तीर्थ प्रतीक होता है ॥२५१॥

उसी आनन्द से यह सारा विश्व व्याप्त है । इसमें परमेश्वर की पराशक्तियों का शश्वत् समुल्लास है । इसी भैरव शरीर रूप विश्व में रहते हुए भेदवाद के विष में विषम संसार की भावना से विरक्ति भी आवश्यक है । इसी प्रकार की विरक्ति को यम कहते हैं । अथवा परानन्द सन्दोह से दिव्य इस संसार को भैरव भाव भरित देखने की विशिष्ट रक्ति भी यम है क्योंकि योगी इस महाविशिष्ट रक्ति से कभी च्युत नहीं होता ॥२५२॥

नियम उस अभेद विमर्शमयी वृत्ति में अधिष्ठान को कहते हैं, जिसमें भैरवीय महाभाव का तादात्म्यभाव शाश्वत निरन्तर नियमित और अनुशासनमयी शास्त्रीय मर्यादा से बँधा रहता है । ऐसा महायोगी भला किस जाति का हो सकता है । इसलिये कभी भी जाति का भावन नहीं करता । अपने दिव्य देह में सङ्कोच कलुष कलङ्क की कोई रेखा उसे स्वीकार नहीं होती ॥२५३॥

वह सर्ववर्णभाव से भावित सबका सम्पादर करता है । उसके समक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी शिवमय हैं । जो जैसा आचरण करता है,

न चात्मनि वर्णाश्रमनियमं गृह्णीयादित्याह–

न च वर्णेषु वर्तयेत् ।

किन्तु–

परभावनया नित्यं परधर्मेण वर्तयेत् ।।२५४।।

वर्तेतेत्यर्थः ।।२५४।।

तामेव परधर्मवृत्तिं सामानाधिकरण्येनास्य दर्शयति–

सर्वज्ञः परितृप्तश्च परिपूर्णः स्वभावतः ।
स्वतन्त्रोऽलुप्तसामर्थ्यस्त्वनादिनिधनाश्रितः ।।२५५।।
अनादिबोधो ह्यतुलः कालवेलाविवर्जितः ।
चारोच्चारविनिर्मुक्तस्त्वहोरात्रविवर्जितः ।।२५६।।

वह उसी को मुबारक मान स्वात्म चेतना से सबको प्रेरित और दिव्यता की ओर अग्रसर होने को प्रोत्साहित करता है । स्वयं वर्णश्रम के आचार से प्रतिबद्ध न होकर सभी वर्णों में वर्णित होता है किन्तु उन जैसा व्यवहार नहीं करता । पर-भैरव भाव से भावित रहकर अभेद विमर्शमयी तत्त्वैकतानता रूप परधर्म का वर्त्तन करता है ।।२५४।।

१–परमात्मा सर्वज्ञ है । सर्वज्ञता उसका धर्म है । यह योगी भी सर्वज्ञ गुण से गौरवन्वित होता है । २–परमेश्वर नित्य तृप्त माना जाता है । योगी भी पर भैरवानन्द के उल्लास से लालित रहता हुआ नित्य तृप्त होता है । ३–परमेश्वर पूर्ण स्वभाववान् होता है । परिपूर्णता तभी होती है, जब उसमें अनन्त शक्ति का उल्लास रहता है । यह परमात्मा का धर्म है । इस धर्म से योगी भी युक्त होता है अर्थात् अनन्त शक्तिमन्त स्वभाववान् होता है । ४–परमशिव स्वतन्त्र होता है । स्वातन्त्र्य उसका स्वभाव है, गुण है और यही उसका धर्म भी है । इस गुण से योगयुक्त भक्त भी होता है । ५–परमेश्वर की शक्ति का कभी लोप नहीं होता है । उसे अलुप्त शक्तिक तत्त्व मानते हैं । योगी भी शिवभक्ति की शक्ति से सर्वदा समन्वित होता है और शिव ६–छठें अनादि बोध गुण से शाश्वत समन्वित माना जाता है । शिव के ये छः गुण होते हैं । इस षाड्गुण्य से शिवभक्त योगी भी समन्वित हो जाता है ।।२५५।।

इस प्रकार षाड्गुण्य समन्वित होने पर शिवाभेद तादात्म्य सिद्ध योगी का द्वितीय भाव समाप्त हो जाता है और वह अद्वैत सामरस्य में समाहित होकर स्वयं शिव हो जाता है । जैसे शिव की तुलना किसी से नहीं की जा सकती, उसी तरह यह शिवरूप योगिवर्य भी अतुल हो जाता है ।

'परिपूर्णोऽनन्तशक्तिः । सर्वज्ञत्वादय एते गुणाः षट् योजनिकाग्रन्थेऽस्माभिर्व्याकृता एव । 'अतुलः' इति शिवैक्येनास्य स्फुरणात् द्वितीयस्याभावात् । 'कालवेलाविवर्जितः' इति मितयोगिवदस्य प्राणीयतुट्यंशांशिकानिभालनानुपयोगात्, अत एव चारस्य प्राणवाहस्य य ऊर्ध्वप्रेरणात्मा उच्चारः, सोऽप्यस्यानुपयुक्तः, अतश्च नित्यमेव शिवैकात्म्यभावनाविष्टत्वाद् नास्य मुमुक्षुबुभुक्षुवदहोरात्रोपयोगः कश्चित् ॥२५६॥

नाप्यस्य तत्प्रविभागोऽस्तीत्याह–

न दिवा जागरं कुर्यान्न च रात्रौ स्वपेत्क्वचित् ।
स्वभावेनैव संतिष्ठेद्दिनरात्रिविवर्जितः ॥२५७॥

यथा लौकिको दिवा 'जागर्ति' भेदव्यवहारमेव परिशीलयति, निशायां मायायां स्वपिति न प्रबोधमेति, तथा नायम्; अपि तु अभेदनिष्ठ एव तथा मायया नाभिभूयते । जाग्रतः स्वपतोऽपि चास्य न जागरस्वप्नौ स्तः, सदा तुरीयप्रकाशावियोगात् । यथोक्तम्–

जहाँ तक काल वेला के वर्त्तन का प्रश्न है, यह मितयोगी में होता है । वह प्राणीय चार अर्थात् प्राणापानवाह की तुटियों के आधार पर श्वास श्वास में तिथियों, ऋतुओं, अयनों और वत्सरों आदि की कालकलना के आकलन प्रकल्प में लगा रहता है किन्तु तादात्म्य सिद्ध शिवयोगी इससे विवर्जित अर्थात् अकाल पुरुष की तरह कालजित् बनकर अस्तित्व को अलङ्कृत करता है ।

इस दृष्टि से चार और उच्चार के चक्कर को अतिक्रान्त कर स्वतन्त्र में स्थित रहता है । नित्य शिव भावना में सम्यङ् निष्ठ होने के कारण बुमुक्षु-मुमुक्षु प्राणीय अहोरात्र उसके लिये अनुपयोगी हो जाते हैं । परिणामतः इससे ऊपर उठकर आनन्दशक्ति विश्रान्त हो जाता है ॥२५६॥

जागर स्वप्न सुषुप्ति अवस्थायें इसके अधीन होती हैं । उसके जागरण का अर्थ बदल जाता है । वह दिन में संसारियों की तरह नहीं जगता, वरन् बोध के प्रकाश का प्रतीक बनकर खिलता रहता है । भेदमय व्यवहारों की तिलांजलि देकर निश्चिन्त परभाव में निमग्न रहता है । अर्थात् जागर सुषुप्तिमय माया के प्रभाव से अभिभूत नहीं होता । जो व्यक्ति नित्य तुरीय-प्रकाश में प्रकाशमान रहेगा क्या उसके लिये रात रह जायेगी ? अतः उसका शयन भी तादात्म्य-विमर्श की स्फुरत्ता का अङ्ग बन जायेगा । इसलिये उसके लिये बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के अहोरात्रों की उपयोगिता ही नहीं रह जायेगी । इस स्थिति में उसके लिये यह कहना ठीक रहेगा कि, वह 'स्व' भाव में ही एकनिष्ठ होकर रम रहा होता है । श्रीस्पन्द शास्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि,

'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।

नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य..................' ।।)२ निः. १ का.)

इति श्रीस्पन्दे । तस्य परतत्त्वस्य सम्बन्धिन्युपलब्धिस्तन्मयः प्रकाशः सुप्रबुद्धस्य त्रिषु जाग्रदादिपदेषु 'सततम्' इत्यादौ मध्येऽन्ते च नित्यमित्यविच्छेदेन भवतीति मयैवेत्थं स्पन्दनिर्णये व्याकृतमेतत् ।।२५७।।

यः–

एवं वै वर्तते योगी

सः–

परेण समतां व्रजेत् ।

न च तं कलयेत्कालः कल्पकोटिशतैरपि ।।२५८।।

अकालकलितपरमेश्वरैकरूपत्वात् ।।२५८।।

एतदेव स्पष्टयति–

जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्यैषा भावना सदा ।

उस शिवयोगनिष्ठ महान् साधक की जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिमयी त्रियदा दशायें नित्य अविकृत भाव से 'स्व'भाव से भावित होती हैं, यही उसकी महती उपलब्धि है । वह नित्य सुप्रबुद्ध अर्थात् प्रबोधसिद्ध होता है ।।२/१।।

यह उसकी नित्य अविच्छिन्न अवस्था का चमत्कार माना जाता है । उसके व्यावहारिक आदर्शों के आधार पर शब्दार्थ और कोशीय परिभाषायें बदल जाती हैं । स्पन्द निर्णय नामक ग्रन्थ में स्वयम् आचार्य ने इसका विशद निरूपण किया है ।।२५७।।

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, मेरी भक्ति से भरित एकनिष्ठ योगयुक्त साधक निश्चय ही इसी रूप से व्यवहार का संचालन करता है । इस प्रकार के वर्त्तन से वह परतत्त्व रूप शिव की समता को प्राप्त कर लेता है । काल की कलना को अतिक्रान्त कर अवस्थित योगी की चर्या में काल अपना गणित नहीं बिठा पाता है । योगी की जीवनी की सीमा में कोटि कोटि कल्प भी समा जाते हैं क्योंकि वह अकाल कलित परमेश्वर की एकरूपता को प्राप्त कर उल्लसित रहता है ।।२५८।।

इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

वस्तुतः ऐसा योगयुक्त शैवमहाभाव में एकनिष्ठ योगी जीवन्मुक्त ही माना जाता है अर्थात् वह इसी जीवन की प्राण परम्परा में मुक्ति को उपलब्ध

शिवो हि भावितो नित्यं

ततश्च तं–

न कालः कलयेच्छिवम् ।।२५९।।

शिवं शिवैकरूपं महायोगिनं कथं कालः कलयेत् ॥२५९॥

अथास्य महाव्याप्तिज्ञानस्य सकलोपनिषदुपदेशसारतमतामेतत्तन्त्रोपास्य-देवतानामोपपदप्रदर्शनपूर्वं निरूपयति–

योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ।।२६०।।

प्रोक्ततत्त्ववृत्त्यवस्थित्यात्मना स्वात्मप्रतिष्ठया स्वच्छन्दगत्या चरत्यवश्यं योऽयं परतत्त्वैक्यप्रतीतिमयत्वात् स्वच्छन्दशब्दवाच्यो महायोगः, तेन श्रीस्वच्छन्द-भैरवस्य पदे धाम्नि युक्तोऽभिनिविष्टः सन् तत्साम्यमेति ॥२६०॥

हो जाता है । वह स्वयम् यह अनुभव करता है । अनवरत शैवमहाभाव से भावित उसकी भावना में यह तथ्य बद्धमूल हो जाता है कि, मैं गृहीत संकोच जीव नहीं वरन् स्वयं शिव हूँ । शिव का ही नित्य भावन करना उसका स्वभाव हो जाता है । ऐसी अवस्था में काल कुछ नहीं कर सकता क्योंकि काल अकाल पुरुष का आकलन करने में असमर्थ होता है । शिवैकरूप महायोगी की कलना काल के वश में नहीं हो सकती ॥२५९॥

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, इस शैवमहाव्याप्ति के ज्ञान का सारतत्त्व क्या है ? आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, मेरी दृष्टि से समस्त औपनिषदिक उपदेशों का सार यही है कि, एक परमाराध्य उपास्य ऐसा है, जिसका शश्वत् चिन्तन होना चाहिये । उस उपास्य देवाधिदेव के नामोल्लेख के साथ इस कारिका का अवतरण कर रहे हैं–

शैवमहाव्याप्तिज्ञ योगी साक्षात् शिव ही हो जाता है । ऐसा योगी स्वच्छन्द नामक योग का अनुसरण करता है । परिणामतः स्वच्छन्द गति विज्ञान के कारण स्वच्छन्द परमेश्वर तक की गतिज्ञान का आचरण करने लग जाता है । स्वच्छन्द तत्त्व वृत्ति में अवस्थित वह स्वात्म प्रतिष्ठा को देखते हुए स्वभावतः स्वच्छन्द गतिवत् आचरण करने लग जाता है । परतत्त्व की प्रतीति जिस योग में होती है, वही स्वच्छन्द महायोग माना जाता है । इस तरह वह स्वच्छन्द पद में युक्त होकर, वहीं अभिनिविष्ट हो जाता है और उसकी समता को प्राप्त कर लेता है । उपास्य का साम्य योग ही उपनिषदों के उपदेश का सार भी है ॥२६०॥

योगप्रकर्षात्तु–

स्वच्छन्दश्चैव स्वच्छन्दः स्वच्छन्दो विचरेत्सदा ।

नित्यमादिमध्यान्तकोटिष्वयं श्रीस्वच्छन्दभैरव एव स्फुरन् स्थित इति यावत् ।

'स्वसंवेद्यो भवेच्चारो नाडीचारजयात्स्फुटम् ।
अथवा स जपादेवमत्यर्थमुपबृंहितः ॥
मन्त्री योगं विजानाति ज्ञात्वा सर्वज्ञतां व्रजेत्' । (७/१४४)

इति यदुपक्रान्तम्, तद् मध्ये नाडित्रयवाहनिरूपणतदन्यथावाहाद्युत्थारिष्टज्ञानमृत्यु-जयादिबहुप्रमेयव्यवहितं जातम् । अत एतदुपसंहरन् प्रागुक्तमेवानुबध्नाति–

एवं वै मृत्युलिङ्गानि रिष्टान्यन्यानि यानि च ।।२६१।।

अपने द्वारा स्वीकृत इस स्वच्छन्द योग के प्रकर्ष के कारण यह अनुभूति-गत धारणा बद्ध हो जाती है कि, आदि, मध्य और अन्त कोटियों पर स्वयं स्फूर्त्त स्वच्छन्द भैरव ही स्वच्छन्द विचरण करता है । वही परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है । श्लोक ७/१४४ में यही उल्लेख है कि, 'योगी का प्राणचार स्वसंवेद्य हो जाता है, नाडीचार पर विजय प्राप्त करने से ही ऐसी उपलब्धि मिलती है । अथवा प्राण सम पञ्चप्रणवात्मक जप करते हुए भैरव महाभाव में अत्यन्त प्रकर्ष के साथ उपवृंहण करते हुए प्रतिष्ठित होते ही मोक्षलक्ष्मी का साक्षात्कार होता है । इस प्रकार मन्त्र में समाहित योगविज्ञ साधक उसे जानकर सर्वज्ञ हो जाता है' ।

इस प्रकार की जिन बातों पर विशद विश्लेषण पहले किया जा चुका है, उसके ही सन्दर्भ में इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना के मार्ग से होने वाले प्राणापान-वाह का भी निरूपण किया गया है । वहाँ इसका भी विवेचन है कि, इन तीनों नाडियों के प्रवाह में कभी यदि अन्यथा स्थिति आ जाय, तो कई प्रकार के अरिष्ट भी उत्पन्न हो जाते हैं । इन अन्यथा स्थितियों के अतिरिक्त मृत्युजय की कला भी सिद्ध हो जाती है । उस समय के प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयों के चक्र भी चलते रहते हैं ।

इसलिये योगी को इन प्रकरणों का परखी होना चाहिये । इसमें सामान्यतः ऐसे चिह्न भी मिलते हैं, जो मृत्यु के सूचक होते हैं, अथवा होने वाले अरिष्टों की सूचना भी देते हैं ॥२६१॥

योगाज्जानाति योगीन्द्रो नादजान्तर्गतानि च ।
निर्जित्यैतानि योगेन एवमुक्तक्रमेण तु ।।२६२।।

एवमिति यथोक्तवाहविपर्ययात्मकानि यान्यन्यानि च–

'कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठो घोषं न शृणुते' (७/१८७)

इत्यादीनि रिष्टानि नादजान्तर्गतान्युक्तानि चशब्दात् काणोत्पाटादीनि च, तानि योगात् प्रोक्तरूपाच्चारावधानादेव योगी जानाति, ज्ञात्वा च हंसध्यानामृत-ध्यानतत्त्ववृत्त्यवस्थानरूपेण परपरापरापरात्मना मृत्युजिता योगेन निर्जित्य पुनरपि नाडीचारजयाभ्यासाद्योगी विजानाति, ज्ञात्वा च सर्वज्ञतां व्रजेदिति सम्बन्धः ।।२६२।।

अथेदानीम्–

अयोगी यानि जानाति अयुक्तो वापि सुव्रते ।
बहिर्लिङ्गानि तान्यत्र अङ्गारिष्टानि मे शृणु ।।२६३।।

योगयुक्त साधक शिरोमणि योग की तान्त्रिक प्रक्रिया के बल पर नाद तत्त्व से शरीर में उत्पन्न शरीर के आन्तरिक अरिष्टों की जानकारी कर लेता है । योग बल से इनके ऊपर वह विजय प्राप्त कर लेता है । प्राणापानवाह के विपर्यय से जो अन्य विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वह तुरत जान कर उनका निराकरण कर लेता है । जैसे,

कान के छिद्रों में दायें बाँयें दोनों ओर अङ्गुष्ठ लगाने से यदि आन्तर घोष नहीं सुन पड़े, तो मृत्यु योग होता है । यह तथ्य इसी पटल के १८७ में अङ्कित है । यह नादज अरिष्ट है । इसी श्रेणी में काण और उत्पाट योग भी आते हैं ।

इनकी जानकारी प्राणचार में अवधान से ही हो जाती है । जानने के बाद वह प्राणहंस के ध्यान रूपी अमृत से और ध्यान तत्त्व वृत्ति में अवस्थान से अपर, परापर और परध्यान रूप मृत्युजित् योग से इस अरिष्ट को जीत कर पुनः नाडीचार योग की विजय यात्रा के अभ्यास से जानकर स्वयं सर्वज्ञ और कालजेता बन जाता है । योगी को ऐसा अवश्य करना चाहिये । यह उसका उत्तरदायित्व है ।।२६२।।

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! सामान्य चिह्नों और लक्षणों के आधार पर योग में युक्त न रहने वाला अयोगी पुरुष भी जिन अरिष्टों को जान

अयोगीत्यप्राप्तयोगः । 'अयुक्तः' इति योगायाघटमानो वा लौकिक एवेत्यर्थः ॥२६३॥

तान्याह–

शुष्कताल्वोष्ठकण्ठश्चेदकस्माद्धूसरच्छविः ।
स्कन्धौ च भङ्गमायातः षण्मासान्मृत्युमाप्नुयात् ॥२६४॥

अकस्मादिति प्रसिद्धं निमित्तं विना, एतच्च सर्वत्र योज्यम् ॥२६४॥

सुनीलं मण्डलं व्योम्नि यः पश्यति दिने दिने ।
सितं हरितकृष्णं च वत्सरार्धान्म्रियेत सः ॥२६५॥

अकस्मादित्येव । मण्डलमिति सूर्यबिम्बस्य बाह्यपरिवेशः ॥२६५॥

विरश्मिं पश्यति रविं सोमं वै लक्ष्मवर्जितम् ।
तारां ज्योत्स्नां च कृष्णां वै पश्येत्षण्मासजीवितः ॥२६६॥

रविं मण्डलान्तस्थं बिम्बम् ॥२६६॥

लेता है, उन आङ्गिक अरिष्टों के विषय में मैं तुम्हें जानकारी देना चाहता हूँ । ये बहिर्लिङ्ग माने जाते हैं ॥२६३॥

अकस्मात् किसी के तालु, कण्ठ और ओठ सूख जाँय अर्थात् उन अङ्गों की लाल जनित चिकनाई समाप्त होकर अङ्ग सूखने से चिपकने लगें तो छः माह के अन्दर ही मृत्यु योग कहना चाहिये । इनके अतिरिक्त यदि शरीर धूसरवर्ण के कारण धूमरित दीख पड़े, अथवा स्कन्ध भङ्ग सदृश भयोत्पादक लक्षण लक्षित हो जाँय, तो भी छः मास में ऐसे व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । किसी निमित्त से ऐसा होने पर मृत्युयोग नहीं होता । यह यदि अकस्मात् हो जाय तभी मृत्युयोग कहना चाहिये ॥२६४॥

आकाश में सूर्य मण्डल का परिवेश यदि नीलवर्णी वृत्त में परिवर्त्तित दीख पड़े और यह दृश्य केवल एक दिन नहीं वरन् लगातार प्रतिदिन दीख पड़ने लग जाय, तो कभी श्वेत, कभी हरितवर्णी और कभी कालिमा से व्याप्त दीख पड़े, तो छः माह में ही मृत्यु का योग हो जाता है ॥२६५॥

सूर्य मण्डल यदि रश्मि रहित या विशिष्ट रश्मियों में बदल बदल कर दीख पड़े, इसी तरह चन्द्रमा या उसका लाञ्छन न दीख पड़े, तारायें काली और चाँदनी भी कालिमा भरी दीख पड़े तो, इस तरह देखने वाले की आयु भी छः माह की ही मानी जानी चाहिये ॥२६६॥

हिरण्यवर्णं पुरुषं पिङ्गलं कृष्णमेव च ।
स्वप्ने संपश्यते यो वै षण्मासान्सोऽपि जीवति ।।२६७।।

अकस्मात् पित्तादिप्रकोपाभावादिति स्थितमेव ॥२६७॥

आत्मनो ह्यशिरश्छायां पश्येत्षण्मासजीवितः ।

छायापुरुषपरीक्षायामित्यर्थात् ।

तैलाभ्यङ्गं तथा पानं रक्तस्त्रगनुलेपनम् ।।२६८।।
रक्ताम्बराणि कृष्णानि स्वप्ने पश्यति वै यदा ।
प्रेतैः पिशाचै रक्षोभिः श्वगोमायुकसूकरैः ।।२६९।।
वृतं यातं गृद्ध्रकाकैर्महिषैरुष्ट्रगर्दभैः ।
अङ्गभक्षणमुद्वाहं नग्नं चातीव विह्वलम् ।।२७०।।
स्वप्ने च पश्यते यो वै वर्षमेकं स जीवति ।

अत्र यथायोगमात्मन आत्मानमिति च योज्यम् । गृद्ध्रादिभिर्यातमिति वाहनरूपैर्नीयमानम् ॥२७०॥

शंखावर्ते भुजामध्ये गुल्फयोर्मर्मसन्धिषु ।।२७१।।
सोऽवश्यं वधमायाति यस्यैतत्स्पन्दनं न हि ।

स्वप्न में सोने के सदृश पीले रङ्ग का पुरुष, अथवा पिङ्गलवर्णी या काला पुरुष दीख पड़े, तो ऐसा स्वप्न देखने वाला पुरुष भी छः माह ही जीवित रह सकता है ॥२६७॥

अपनी ऐसी छाया का दीख पड़ना, जिसमें उस छाया का शिरोभाग ही गायब हो, ऐसी छाया वही देखता है जिसकी जिन्दगी छः माह ही बची हुई होती है । इसी तरह स्वप्न में तेल की मालिश, तैलपान, लालमाला, लाल पदार्थ का अनुलेपन, लाल कपड़ों और काले कपड़ों का पहनावा जो व्यक्ति स्वप्न में देखता है, प्रेतों से, पिशाचों और राक्षसों के द्वारा, इसी तरह श्वान, शृगाल और सूअरों से अपने को घिरा देखना, अपना अपहरण इसी तरह गृद्धों, काकों, भैसों, ऊटों या गदहों के साथ चलना, अपने ही अङ्ग का भक्षण, अपना या किसी का विवाह, नग्न और अत्यन्त घबराये व्यक्ति को देखना ऐसे स्वप्न मनुष्य की एक वर्ष की आयु का लक्षण बतलाते हैं ॥२६८-२७०॥

शङ्ख कपालास्थि को कहते हैं । क्षेमराजाचार्य ललाट और कपाल की सन्धि मानते हैं । भुजा के मध्य में एक मत्स्य अङ्ग विशेष माना जाता है ।

शंखावर्तौ ललाटकपालसन्धी नेत्रप्रान्तस्थौ, भुजामध्यं मत्स्यस्थानमिति प्रसिद्धम्, मर्मसन्धयो धमन्यादयः सिराः ॥२७१॥

किञ्च–

सोमार्कमण्डलं देहे ध्रुवं चैव त्वरुन्धतीम् ॥२७२॥
न पश्यति महायानं सोऽवश्यं म्रियते नरः ।

एतानि प्रातिलोम्येन व्याचष्टे–

तालुरन्ध्रगतो धूमो महायानं तदुच्यते ॥२७३॥
जिह्वा त्वरुन्धतीत्युक्ता नासाग्रं ध्रुव उच्यते ।

'तालुरन्ध्र' ब्रह्मबिलम्, पश्चात्कृतसूर्यस्तदुत्थां धूमलेखां छायायां न पश्यति । नासाग्रं त्रिपुटिकाप्रान्तः ॥२७३॥

गुल्फों में और मर्मसन्धियों में जिस व्यक्ति के शरीर में कोई स्पन्दन न हो रहा हो, वह मात्र एक वर्ष ही जीवित रहता है ॥२७१॥

सोम और सूर्य के मण्डल का न देख पाना, ध्रुव और अरुन्धती को न देखना, महायान का न देख पाना अर्थात् अपने ही शरीर में इन पाँच पारिभाषिक शब्दों से कथ्य चिह्नों का न देख पाना मनुष्य की निकट मृत्यु के सूचक हैं । इन पाँचों की व्याख्या स्वयं भगवान् कर रहे हैं–

१–महायान–तालुरन्ध्र को आचार्य ने ब्रह्मबिल कहा है । मेरी दृष्टि में तालुरन्ध्र ब्रह्मबिल नहीं है । तालुरन्ध्र से ऊपर जाकर सारे शरीर चक्रों में अवस्थित स्वर व्यञ्जन वर्णों के प्रतीक 'ह' और 'क्ष' आज्ञा के द्विदलों पर न्यस्त हो जाते हैं । वहीं सभी वर्णोदय का बीज ओङ्कार भी आज्ञाचक्र के बीज रूप से अवस्थित होता है । आज्ञा से ऊपर सुषुम्ना नहीं जाती । वहीं से ब्रह्मरन्ध्र का प्रारम्भ होता है । उसी में ॐकार की पञ्चप्रणवता ऊर्ध्व गतिशील होकर उन तक जाती है ।

तालु और लम्बिका के बीच में छेद होता है और आज्ञा चक्र तक जाता है । यही तालुरन्ध्र है । प्राण सूर्य इसी से ऊपर उठता है । सूर्य के पीठ पीछे चले जाने पर आगे की छाया में कालिमामयी धूम्रलेखा स्वभावतः दीख पड़ती है । यहाँ दो बातें ध्यातव्य हैं । तालुरन्ध्र से प्राण सूर्य के ऊपर श्वास के माध्यम से उठने पर एक प्रकार का धुआँ उठता है । उसी वजह से छाया काली दीख पड़ती है । वह धूमलेखा जिस व्यक्ति को छाया में न दिखे, अर्थात् छाया काली न दिखे, उसकी मृत्यु अत्यन्त सन्निकट होती है । वस्तुतः यह धूमलेखा ही महायान है ।

किञ्च–

नेत्रान्ते करजाक्रान्ते मण्डलं सोमसूर्ययोः ।।२७४।।

वामदक्षिणनेत्रप्रान्ता यदा नखेन पीड्यन्ते, तदा ज्योतिर्यद् दृश्यते, तत्सोमसूर्ययोर्मण्डलम् । तदेतत्सर्वम्–

न पश्येद्गगनेऽप्येतत्सोऽवश्यं म्रियते नरः ।

ऋतुकालादनन्तरमेव बहिर्यानमाकाशगङ्गापथः, अरुन्धती सप्तर्षिमध्यस्था, ध्रुवश्चतुर्दशताराब्धशरीरः, सोमसूर्ययोर्मण्डलं बिम्बबाह्यः परिवेशः ।

स्थूलोऽकस्माच्च जायेत अकस्माद्वै भवेत्कृशः ।।२७५।।

२–जीभ ही अरुन्धती मानी जाती है ।

३–नासिका का अग्रभाग ही ध्रुव माना जाता है । तन्त्र की भाषा में इसे त्रिपुटिका प्रान्त कहते हैं ।

४–सोम मण्डल–बायीं आँख का कोना दबाने पर जो गोल प्रकाश दीख पड़ता है, वह सोम मण्डल है ।

५–सूर्य मण्डल–दाहिनी आँख का कोना नख से दबाने पर प्रकाश का एक वृत्त दीख पड़ता है । उसे सूर्य मण्डल कहते हैं । इन पाँचों का न दीख पड़ना सन्निकट मृत्यु का लक्षण है ।।२७२-२७३।।

करज अर्थात् अङ्गुलियों से नेत्रकोण में दबाव डालने पर एक चमकता वृत्त दीख पड़ता है । वाम नेत्र में सोमवृत्त और दक्ष नेत्र दबाव से सूर्य वृत्त दीख पड़ता है । न इस दबाव में न मुक्त गगन में ही सोमसूर्य मण्डलों का न दीख पड़ना भी मृत्यु का ही लक्षण माना जाता है ।।२७४।।

श्लोक २४२ में नासाग्र को ध्रुव और जिह्वा को ही अरुन्धती संज्ञा दी गयी है किन्तु उद्योत में कुछ दूसरा ही कहा गया है । अरुन्धती सप्तर्षियों के मध्य स्थित एक लघुतारिका को और ध्रुव सप्तर्षि वृत्त के मध्य का तारक है । सप्तर्षि वृत्त वर्ष भर इसकी परिक्रमा करता है । इसी क्रम में ऋतुकाल अर्थात् बसन्तान्त में आकाशगङ्गा पथ आता है । यही बहिर्यान है ।।२७३-२७४।।

इसी क्रम को और बढ़ाते हुए कह रहे हैं कि, अकस्मात् व्यक्ति का शरीर अत्यन्त स्थूल हो जाय और कभी अचानक कृश हो जाय–यह अत्यन्त अस्वाभाविक परिवर्तन उस व्यक्ति की सन्निकट मृत्यु का लक्षण है ।।२७५।।

अतिक्रुद्धोऽतिभीतश्च वर्षमेकं स जीवति ।

पुनः स्वप्नविषयमाह–

कृष्णाम्बरधरं कृष्णं लोहदण्डकरोद्यतम् ।।२७६।।
नरं चाभिमुखं स्वप्ने दृष्ट्वा मासत्रयायुषम् ।

आत्मानं निश्चिनुयात् ॥२७६॥

हृदयं शुष्यते यस्य स्नातमात्रस्य तत्क्षणात् ।।२७७।।
गात्रं चैवाप्यनुष्णं च ऋतुमेकं स जीवति ।
धनुर्निशि दिवा चोल्का व्यभ्रे विद्युत्प्रदर्शनम् ।।२७८।।
दिग्दाहोऽप्लुष्टदेशेऽपि मासमेकं स जीवति ।

धनुरैन्द्रम्, अप्लुष्टदेशेऽन्यजनापरिदृश्यदिग्दाहेऽपि यस्य दिग्दाहो भाति, स मासं जीवति, धनुर्निशि, दिवा चोल्कादर्शनम् ।

चक्षुषी स्रवतो यस्य शब्दं न शृणुयात् स्फुटम् ।।२७९।।

कभी क्रोध का पारा पूरी तरह चढ़ जाय, कभी इतना डर जाय मानो वह मृत्यु को ही सामने खड़ा देख रहा हो, ऐसा व्यक्ति वर्ष भर का ही भूमण्डल का मेहमान होता है ।

यदि सपने में काले कपड़ों में लिपटा, काला कलूटा, तलवार या लौह दण्ड मारने पर उतारू मनुष्य दीख पड़े, तो यह जानना चाहिये कि, बस तीन महीने में ही वह यमलोक प्रस्थान अवश्य करेगा ॥२७६॥

इधर स्नान कर स्नानगृह से बाहर निकलते ही जिस पुरुष का वक्ष पूरी भीतर बाहर सूख जाता है, अथवा शरीर पूरी तरह शीतल हो जाय, तो ऐसे मनुष्य की आयु एक ऋतु मात्र ही जाननी चाहिये ॥२७७॥

रात में इन्द्र धनुष का दीख पड़ना, दिन में ही उल्कापात देखना, विना बादल के आकाश में बिजली की कौंध दीख पड़ना, जिस स्थान पर आग लगने का कोई लक्षण न हो, उस स्थान पर दिग्दाह दिखाई पड़ना, जो किसी अन्य जन से कभी भी परिदृश्यमान न हो, तो यह जानना चाहिये कि, वह व्यक्ति मात्र १ माह ही जी सकता है ॥२७८॥

जिसकी आँखे नित्य स्रवित होने लगें, किसी प्रकार के शब्द नहीं सुन पड़ने लगें, या सुनें भी तो अस्फुट भाव से सुनाई दें, इसी तरह गन्ध का भी ग्रहण वह व्यक्ति न कर सके, साथ ही बोली में स्तम्भ हो जाय, तो यह जानना चाहिये कि, इस व्यक्ति की आयु समाप्त हो चुकी है ।

नाघ्राति गन्धं

अघ्रातीति ऐशः पाठः । यस्य च–

वाग्जाड्यं

अकस्मादिति सर्वत्र सम्बध्यते । तस्य–

मासमेकं गतायुषः ।

जीवितमिति सम्बन्धः । अकस्मादेव च–

रक्तपद्मोपमं वक्त्रं जिह्वा कृष्णा च यस्य वै ।।२८०।।
गात्रे वर्णान्यनेकानि हृदयं यस्य रोदिति ।
तालुकम्पोऽथ नाभेश्च अर्धमासं स जीवति ।।२८१।।

'रोदिति' निर्निमित्तं पुनः पुनः खिद्यति, रोदनमनुभवतीत्यन्ये ।।२८१।।

यश्च–

प्रत्यक्षकाकनासीरो दीपधूमं न जिघ्रति ।
पूर्वदृष्टं न जानाति चतुर्मासं स जीवति ।।२८२।।

असंनिहिता अपि काका नासीराः कङ्काश्च येन प्रत्यक्षाः पुरो दृश्यन्ते ।।२८२।।

बिन्दुं यस्तु न पश्येत्तु नित्यं वक्त्रानुगं हितम् ।
नित्यं वहति हिक्कां तु वर्षमेकं स जीवति ।।२८३।।

षडङ्गं करणं कृत्वापि यो बिन्दुं न पश्यति वक्त्रानुगं भ्रूमध्यस्थम् हिक्कां हिध्माम् ।।२८३।।

यह मात्र एक माह ही अधिक से अधिक जी सकेगा । उसका मुँह लाल कमल सा खिल उठे जीभ काली पड़ जाय, तो १५ दिन जीवित शेष माना जाना चाहिये ।।२७९-२८०।।

शरीर कई रंगों में रंगीन हो जाय, जिसके हृदय रुदन का भाव उमड़ने लगे, तालु में कम्पन होने लगे अथवा नाभि में भी स्पन्दन होने लगे, तो यह जानना चाहिये कि, इस व्यक्ति की १पक्ष की आयु ही शेष है ।।२८१।।

आस पास न होने पर भी कौवों की फौज और बगलों की पाँत यदि प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगे, दीप से उठने वाले धुँएँ की गन्ध जिसे पता ही न चले, पहले से परिचित व्यक्ति को न पहचाने, ऐसे व्यक्ति मात्र चार मास में ही परलोक के मेहमान हो जाते हैं ।।२८२।।

वक्त्रानुग बिन्दु जिसे न दीख पड़े, भले ही षडङ्गकरण के उपरान्त भ्रूमध्य में मन क्यों न सुनियोजित हो, इसके अतिरिक्त जिसे प्रायः हिक्का की बीमारी लग जाती हो, वह एक वर्ष से अधिक नहीं जी सकता ।।२८३।।

उपसंहरति–

बहिर्लिङ्गानि चैतानि अङ्गारिष्टानि यानि च ।

उक्तानीति शेषः । अथैतानि–

पूजया जपहोमेन ध्यानधारणया प्रिये ।।२८४।।

कृतरक्षाविधानेन जीयन्ते नात्र संशयः ।

पूजादिधारणान्तं भगवद्विषयम्, रक्षाविधानं वक्ष्यमाणम् ।।२८४।।

तदित्थं रिष्टप्रशमनं कृत्वा प्रकृतो योगाभ्यास एव कार्यः, स च नाडिशुद्धिपूर्वकप्राणजयादेवेति तत्प्रकाशनाशयेन श्रीदेव्युवाच–

नाडीनां शोधनं चैव वायूनां च जयः कथम् ।।२८५।।

तेषां प्राग्विभक्तानां वायूनाम्–

स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि मम प्रभो ।

भगवान् कहते हैं ये बाहरी चिह्न ऐसे हैं, जिनके बल पर जीवन की कल्पना की जाती है । इनमें कुछ आंङ्गिक अरिष्ट भी लक्षित किये गये हैं । इनको देख कर सावधान हो जाना चाहिये । ये सारे लक्षण और अरिष्ट चिह्न और उनसे होने वाले दुष्परिणाम सभी पूजा से, जप से, ध्यान और होम से समाप्त हो जाते हैं ।।२८४।।

भगवान् इसमें और जोड़ते हुए कहते हैं कि, रक्षा के लिये किये गये इन विधानों से उस व्यक्ति का जीवन सुरक्षित हो जाता है । इसमें संशय के लिये कोई अवकाश नहीं है ।।२८५।।

इस तरह प्रासङ्गिक जीवन सम्बन्धी जानकारियाँ प्राप्त करने के बाद भी साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह शास्त्र की मर्यादाओं के अनुसार साधना में अनवरत लगा रहे । वह अपनी नाडियों के शोधन से स्वस्थ रहने का उपक्रम करे, साथ ही साथ प्राणजित् बनने की ओर अग्रसर हो । इन बातों को जानने के लिये माँ शक्ति भगवान् से पूछ बैठीं–भगवन् ! नाडियों का शोधन कैसे किया जाय, और प्राणजित् कैसे बना जाय अर्थात् प्राणजय के लिये क्या किया जाय ? इसे कृपाकर उपदेश देकर अनुगृहीत करें ।।२८५।।

भगवन् ! इस सम्बन्धित स्थान, उसकी रूप रेखा इसमें प्रयुक्त शब्द, इसमें करणीय कर्म सब कुछ मैं आप के श्रीमुख से सुनना चाहती हूँ । भगवान् कृपा

एतत्प्रश्नषट्कं निर्णिनीषुः श्रीभैरव उवाच–

परमो योगसद्भावो गुह्याद्गुह्यतरः प्रिये ।।२८६।।

यो न कस्यचिदाख्यातस्तं योगं शृणु तत्त्वतः ।

यत्त्वया प्रश्नितम्, तद्योगरहस्यं तद्विना योगाभ्यासायोगात् ।

तत्र तावत्–

सुप्रशस्ते भूप्रदेशे नाग्नितोयसमीपतः ।।२८७।।

बालुकाशर्कराहीने शुष्कवृक्षविवर्जिते ।

निःशब्दकीटवल्मीके ईतिभिः परिवर्जिते ।।२८८।।

पुण्ये धर्मिष्ठसंवासे तत्र योगं समभ्यसेत् ।

'ईतयः' अतिवृष्ट्यादयः । पुण्ये सत्तीर्थादियुक्ते धर्मिष्ठसंवासे पुण्याश्रये ।

तदासौ–

देवदेवं समभ्यर्च्य भैरवं सविनायकम् ।।२८९।।

कर यह बोल पड़े, देवि ! यह परम योग सद्भाव की बात अत्यन्त गुह्य से भी गुह्य है । फिर मैं तुम्हें बताऊँगा ॥२८६॥

भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, देवि ! अब तक मैंने किसी को नहीं बताया था । तुम्हारे इस श्रवणाभिलाष से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम तात्त्विक रूप से इस योग को सुनो ।

१–स्थान विषय जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि, वह भू प्रदेश परम प्रशस्त हो, आग से और पानी से इतनी दूर रहे, जिससे इनका भय न हो ॥२८७॥

न तो वहाँ बालुका की अधिकता हो और नहीं कंकड़ पत्थर की कंकड़ियों से कलुषित हो, वहाँ सूखे हुए पेड़ न हों । किसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला वहाँ मचने की सम्भावना न हो, निःस्वन शान्त भूमि जिसमें कीड़ों का दीमकों का भय न हो और दैवी आपत्तियों से पीड़ित होने की सम्भावना भी न हो ॥२८८॥

पुण्य पावन भूमि पर धार्मिक कृत्य पहले भी किये गये हों, वहाँ उस धर्म-संवास हेतु स्थान पर योगाभ्यास करना चाहिये । सर्वप्रथम वहाँ देवाधिदेव भैरव की अभ्यर्थना करनी चाहिये । विनय के साथ ही भगवान् भैरव की पूजा सबसे पहले ही करणीय है ॥२८९॥

पूर्वाचार्यान्नमस्कृत्य युक्तो ध्यानपरायणः ।

विघ्नप्रशमनाय गणपतिपूजापूर्वमाज्ञाग्रहणाय गुरून् पूजयित्वा, भैरवमभ्यर्च्य ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति सम्बन्धः । कथमित्याह–

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ।।२९०।।
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ।।२९१।।
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं तथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ।।२९२।।
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्त्याश्रयात्सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविषेषणं भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टं परिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृन्न भवति । यथोक्तम्–

पहले के पारम्परिक आचार्यों की नमस्कृति के उपरान्त ध्यान में संलग्न होना चाहिये । विघ्नों के शमन हेतु गणपति विनायक की पूजा आवश्यक मानी जाती है । परम्परा से प्राप्त गुरुजनों की क्रमिकता पूर्वक स्मृति और प्रार्थना अनिवार्य कर्त्तव्य होते हैं ।

इसके लिये स्वस्तिक आसन उत्तम माना जाता है । इसके अतिरिक्त पद्मासन, भद्रासन भी उपयुक्त होते हैं ॥२९०॥

आसन स्थिर सुखप्रद होता है ।

१–स्वस्तिक– दायें पाँव के अँगूठे और अन्य चार अंगुलियों को कैंची की तरह फैलाकर उनको अन्दर बाँयें पाँव के घुटने के जोड़ में लगाकर, उसी तरह बायें पाँव को भी दाहिनी जङ्घा से नीचे सटा कर कमर को सीधी करके बैठने से स्वस्तिक आसन होता है । इसके अच्छे परिणाम भी मिलते हैं ॥२९१॥

२–पद्मासन– पद्म की तरह रहने से उसे पद्मासन कहते हैं ।

३–भद्रासन– बराबर पैरों की स्थिति में बैठना ही भद्रासन होता है ।

४–अर्धचन्द्र– भित्ति का आश्रय लेकर आसन करने को सापाश्रय कहते हैं । एक पैर को भूमिस्थ कर दूसरे चरण को मोड़ कर ऊरु पृष्ठ से लगाने पर अर्धचन्द्र होता है ।

'स्थिरसुखमासनम्' इति । (पात. सू. २/४६)

ततः पूर्वोक्तं [1]दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तर-रेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना अथ च भावि-प्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनु-प्रविशेत् । तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण[2] स्फुटयति–

मन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ।।२९३।।

५–योगपट्ट– कमर को बाँधने के लिये बने हुए चौड़े और लम्बे पट्टे को ही योगपट्ट कहते हैं । इसको बाँध कर ही आसन करते हैं ।

६–सुखासन– शरीर क्लेश रहित बैठने की कोई मुद्रा ही सुखासन होती है ।

पाताञ्जल योगसूत्र में २/४६ वाँ सूत्र इसी का निर्देश करता है–

'सुखासन स्थिर भाव से सुखप्रद बैठने के उस ढङ्ग को कहते हैं, जिसके द्वारा साधन किया जा सके' ।

१–इसके बाद आन्तर विकार को दहन रूप अग्निबीज से जलाने की विधि सम्पन्न करते हैं ।

२–दहन के बाद 'उत्पूयन' की क्रिया की जाती है ।

३–उत्पूयन के बाद 'अमृताप्लावन' जिसे 'आप्यायन' भी कहते हैं । नामक साधना विधान अपनाया जाता है ।

४–सकलीकरण–यह [3]बाह्याभ्यन्तर एकत्व निष्ठा से सम्पन्न करने वाला व्यापार करते हैं ।

५–अन्तर्याग–आन्तरिक रूप से याग सम्पन्न करते हैं ।

६–परोच्चार–सबके बाद निष्कल भट्टारक के बीजमन्त्र का उच्चारण परोच्चार कहलाता है ।

७–दशधा योगमार्ग–स्वस्तिक से लेकर परोच्चार पर्यन्त दशधा यह मार्ग योगमार्ग माना जाता है । आचार्य ने पातञ्जल योग मार्ग के प्रत्याहार, ध्यान और धारणादि की ओर भी सङ्केत किया है । दशधा योगमार्ग दश मुख्य नाडियों द्वारा प्राणचार को व्यवस्थित करना भी मानना चाहिये ।

---

१. ख. ग. पु. दाहादीति पाठः । २. ख. पु. सारणेनेति पाठः ।

३. ७/१५ इडा पिङ्गला सुषुम्ना गान्धारी, हस्तिजिह्वा पूजा, यशस्विनी अलुम्बुषा, शंखिनी ।

संकल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद्वै तेन सर्वगम् ।

चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्ध-चन्द्रनिरोधिकापदमुद्घाट्य नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादि-प्रकाशरूपम्, संकल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाश-चिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शो-दयेन समाविशेत् ॥२९३॥

तदेतद् नाडिशुद्धिप्राणजयपूर्वकं सुघटं स्यात्, इत्याशयेन नाडिजयं तावदाह–

अपसव्येन पूर्येत सव्येनैव विरेचयेत् ।।२९४।।
नाडीसंशोधने चैतन्मोक्षमार्गपथस्य च ।

इसमें हंस स्वच्छन्द प्रयोग द्वारा हंस रूप प्राणाश्रय के माध्यम से स्वच्छन्द भैरव भट्टारक के निष्कल बीजमन्त्र का जप भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

इतनी साधना के बाद क्रिया योग के सहयोगी क्रमिक विधि का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि,

पञ्चप्रणवात्मक बीजमन्त्र (जिसमें अकारोकार मकार के साथ चतुष्कल बीज भी उच्चरित हो), बिन्दु, तदतीत अर्धचन्द्र निरोधिका, नाद, नादान्त क्रम से ज्योंति उसमें शक्ति, व्यापिनी, सहस्रार (समना और उन्मना अन्तर्भूत हैं) अर्थात् ऊर्ध्वस्थ उन्मनान्त प्रकाशमान प्रदेश का संकल्पन कर कल्पनाओं के द्वारा भी अलक्ष्य अर्थात् विकल्पों को अतिक्रान्त कर अविकल्प स्वप्रकाशरूप चिदा-नन्दघन स्वच्छन्द हंस स्वरूप सर्वव्याप्त परभैरव का ध्यान अनिर्वायत: नियमत: और अनुशासित रहकर करे और अकृत विमर्श के माध्यम से निष्कल स्वरूप में प्रवेश करे ॥२९२-२९३॥

इस तरह की उपर्युक्त साधना के बलपर नाडी शुद्धि हो जाती है । प्राण पथ पर सन्धान से प्राणजय भी हो जाता है । इस साधना से साधक सुघट हो जाती है । एतद्विषयक विधि का निर्देश कर रहे हैं–

अपसव्य वामनासा पथ से वायु को पूरी तरह खींचकर पूरक और कुम्भक किये विना सव्य तथा दक्ष नासापथ से रेचन करना चाहिये । इस तरह अनवरत करते रहने से नाडी शोधन हो जाता है ।

'सव्येन' दक्षनासापथेन 'रेचयेत्' रेचकं कुर्यात् 'अपसव्येन' वामेन 'पूर्येत' वायुपूरणं कुर्यादित्यर्थः । एवमनवरतं क्रियमाणमेतन्नाडीनां मोक्षमार्गपथस्य वा मध्यधाम्नः शोधनं मारुतप्रशमनं भवति ।

प्राणजयं व्यंङ्क्तुमुपक्रमते–

रेचनात्पूरणाद्रोधात्प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः ।।२९५।।

प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् ।।२९५।।

त्रय एते प्राणायामाः सर्वसाधारणेन नासिकापथक्रमेण निर्वर्त्यमानाः साधारणा बाह्याश्चेत्याह–

सामान्या बहिरेते तु

एतदभ्यासपूर्वमन्तःप्रयुज्यमानैः–

पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः ।

तानाह–

आभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु ।।२९६।।

निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः ।

'आभ्यन्तरेण' मध्यपथेनात्र रेचनं द्वादशान्ते, पूरणं हृदि निष्कम्पं कुम्भकमिति निरायासं प्रशान्तकुम्भकमित्यर्थः । 'कार्याः' इति निर्वर्तनीया भवन्ति ।।२९६।।

वस्तुतः प्राणचार मार्ग और आज्ञाचक्र से उन्मनान्त प्राण की ऊर्जा के सम्प्रेषण का मार्ग मोक्षपथ कहलाता है । इस मोक्षमार्ग रूपी राजपथ पर चलने के लिये सुघट हो जाना चाहिये । इससे प्राण का प्रशमन भी हो जाता है ।

इस रेचन, पूरण और रोधन व्यापार को प्राण का आयाम कहते हैं । यही रेचक, पूरक और कुम्भक नाम तीन प्रकार के प्राणायाम योग शास्त्र आदि शास्त्रों में विस्तार पूर्वक वर्णित हैं ।।२९५।।

ये तीनों प्रकार के प्राणायाम सामान्य प्राणायाम हैं । इन्हें बाह्य प्राणायाम भी कहते हैं । इन प्राणायामों को विधि पूर्वक करने के बाद पुनः तीन आभ्यन्तर प्राणायाम की विधि भी शास्त्रानुमोदित है । आभ्यन्तर से रेचन करना इसकी पहली प्रक्रिया है । आभ्यन्तर पथ सुषुम्ना पथ का मध्यपथ माना जाता है । पूरक हृदय देश में होता है । ऊर्ध्व द्वादशान्त तक और हृदय देश तक पूरक कर निष्कम्प कुम्भक होता है । इसमें निरायास क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये । ये तीनों आभ्यन्तर प्राणायाम भी अवश्य करणीय हैं ।।२९६।।

अथ–

नाभ्यां हृदयसंचारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात् ।।२९७।।

प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्त इति श्रुतः ।

निष्कम्पकुम्भकानन्तरं 'हृदयसंचारात्' इति शनैः शनैर्हृदयादधःसंचारयुक्त्या प्राणं नाभ्यामेव नियम्येत्यर्थात्, तथा मन इन्द्रियगोचरादिति तत्प्रत्याहारयुक्त्या नाभ्यामेव नियम्य, मनोनियमपूर्वकं प्राणं नाभौ नियच्छतः सुप्रशान्तः प्राणायामो भवति ।।२९७।।

तदित्थम्–

प्राणरोधे तु सम्पूर्णे नाभौ नीत्वा[1] समुच्छ्वसन् ।।२९८।।

अनन्तरम्–

शनैर्विमोचयेद्वायुं वामनासापुटेन तु ।

निरुद्धवायुप्रकोपापहाराय । एवं चारजयान्तं प्राणायामप्रत्याहारावभिधाय, धारणा निरूपयति–

वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ।।२९९।।

वस्तुतः हृदय देश में रोककर हृदय संचार को नियमित करने के उपरान्त प्राण को नाभि की ओर ले जाना चाहिये । नाभिचक्र गणिपूर है । इसे मातृकेन्द्र कहते हैं । प्राण का मुख्य नियमन केन्द्र नाभि ही मानी जाती है । इस तरह आभ्यन्तर प्राणायाम के तीन बिन्दु १–द्वादशान्त, २–हृदय और ३–नाभि इनको ध्यान में रखते हुए आभ्यन्तर प्राणायाम की साधना सम्पन्न होती है । इसको सुप्रशान्त नामक चौथा प्राणायाम करते हैं ।।२९७।।

इस प्रकार प्राणरोध सम्पन्न हो जाता है । यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धि मानी जाती है । इसके सम्पन्न होने के बाद नाभि में किये कुम्भक को निरुद्ध वायु के प्रकोप से बचने के लिये गहरी साँस लेनी चाहिये ।।२९८।।

सुप्रशान्त में उक्त समुच्छ्वास वायु को वामनासापुट से वायु का रेचन होना चाहिये । उक्त गहरी साँस बायीं नासिका के छिद्र से ही बाहर निकालना श्रेयस्कर है । इस प्रक्रिया से प्राणापानवाह पर विजय हो जाता है । इसी को प्राणजित अवस्था कहते हैं । यह आभ्यन्तर प्राणजय है ।

---

१. ख.ग.पु. गत्वेति पाठः ।

माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रया ।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ।।३००।।

पाददेशे तिर्यग्गतेः, नाभौ जाठराग्नेः, कण्ठे स्थितिपदे धरण्याः, घण्टिकायां रसस्य, ब्रह्मरन्ध्रे च व्योम्नः सद्भावात्तथैव धारणा उक्ताः । अत्र चोद्घाते दीक्षाप्रस्तावनिर्णीतं वर्णमण्डललाञ्छनाक्षरात्मकत्वं धारणाध्येयम् । तत्र प्रथमं कण्ठे पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा हृदयादुद्घातपञ्चकेन पञ्चगुणं पार्थिवं तत्त्वं भिन्द्यात्, ततोऽनेनैव क्रमेण हृदयादेव चतुर्भिरुद्घातैश्चतुर्गुणमप्तत्त्वम्, ततो हृदयादेव नाभिक्षेत्रे त्रिभिरुद्घातैस्त्रिगुणमग्निम्, अनन्तरं हृदयादेव द्वाभ्यां पादाङ्गुष्ठगतं

प्राणवायु के प्रकोप का अपहार ही प्रत्याहार माना जाता है । इस तरह यहाँ तक प्राणायाम और प्रत्याहार नामक दो विधियों का वर्णन पूरा हो जाता है । अब धारणा का निरूपण कर रहे हैं–

१–वायवी धारणा अङ्गुष्ठ में की जाती है । यह तिर्यग् गति के कारण होती है ।

२–आग्नेयी धारणा नाभिमध्य में की जाती है । इससे जठराग्नि वशीभूत होता है ।

३–माहेयी धारणा कण्ठ में होती है

४–आकाशीय धारणा मूर्धा में होती है ।

५–वारुणी धारणा–घण्टिकाश्रया होती है । इसे रसीय कहते हैं ।

ये धारणायें सर्व सिद्धिप्रदा होती हैं । ब्रह्मरन्ध्र में आकाश की व्याप्ति के कारण ब्रह्मरन्ध्र में ही होती हैं । उद्घात के प्रकरण में जहाँ दीक्षा के प्रकरण में अध्वा शोधन की बातों का उपक्रम है, वहाँ अक्षरोच्चार क्रम से पाँच उद्घातों के द्वारा ग्रन्थियों के भेदन में भी उपाय रूपता का ही निरूपण है[1] । तन्त्राम्नाय में कहा गया है कि, ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त भ्रूमध्य से लेकर पाँच धरादितत्त्व हैं । ये ग्रन्थियाँ हैं । इनके साथ इनके कारणदेव भी रहते हैं । इनका भेदन करने से शिव की प्राप्ति होती है । इसमें धरा, रूप, स्पर्श और स्पर्श गुणों की पाँच उद्घातों द्वारा शुद्धि की जाती है । पाँचों उद्घातों में पृथ्व्यादि की धारणाओं का भी विधान है । यह हुति दीक्षा में घटित होने वाली उक्तियाँ हैं ।

---

१. स्व०त० ५/५४-६१

द्विगुणं वायुम्, ततोऽपि अङ्गुष्ठात्संकोचयुक्त्या प्राणशक्तिमूर्ध्वमुद्बोध्य हृदयादेवैकोद्घातयुक्त्या शरवद्ब्रह्मरन्ध्रस्थमेकगुणं व्योमग्रन्थिं भित्त्वा, द्वादशान्तस्थस्य सर्वाः सिद्धयो भवन्तीति वाक्यार्थः ॥३००॥

तदेतदाह–

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसंख्योद्घातैः प्रसिद्ध्यति ।

उद्घातं लक्षयति–

संनिरुद्धे तु वै प्राणे मूर्ध्नि गत्वा निवर्तते ॥३०१॥

स उद्घात इति प्रोक्तो ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।

'मूर्ध्नि' इत्युपलक्षणपरं कण्ठादिक्षेत्राणाम् ।

'ज्ञातव्य' इति तत्तत्स्थानानुसार्यनुभवात्मकोऽयमित्यर्थः । अत एव पूर्वमनुभवप्रधान एवासावुक्तः ॥३०१॥

इसी प्रकार पहले कण्ठ में पार्थिवी धारणा का बन्ध करने के उपरान्त उक्त उद्घात क्रम से पहले पार्थिवी धारणा का वेध होता है । हृदय से उक्त पाँच उद्घात से पंचगुणात्मक चार उद्घातों से अप्तत्त्व का, तीन उद्घातों से अग्नितत्त्व का, दो उद्घातों से वायुतत्त्व का और एक उद्घात ये ब्रह्मरन्ध्रस्थ व्योम ग्रन्थि का भेदन करना चाहिये । इस प्रकार ग्रन्थियों के भेदन से द्वादशान्त तक पहुँचना सरल हो जाता है । द्वादशान्त-निष्ठ की सारी सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती है ॥३००॥

इस तरह प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम उद्घातों के द्वारा धारणायें सिद्ध हो जाती हैं । जब प्राण संनिरुद्ध हों और मूर्धा से उनका प्रत्यावर्त्तन हो रहा हो, उस समय ही इनका अनुभव होता है । प्राण जब एक एक स्थानों का भेदन कर भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक और ब्रह्मरन्ध्र से भ्रूमध्य और इसके अतिरिक्त हृदय से भी नीचे पादाङ्गुष्ठ पर्यन्त तत्त्वों का भेदन करता है, यही उद्घात है । यह प्राण के संयमन, ऊर्ध्ववाह और अधोवाह में अनुभूत होता है । ये धारणायें भी मूर्धा, घण्टिका, कण्ठ, नाभि और पादाङ्गुष्ठ में सिद्ध होती हैं । इस तरह पार्थिव पंचगुणत्व, प्राणसंयमन, उद्घात और धारणा इन सबके समन्वय का एक साथ अनुभव करना चाहिये ॥३०१॥

ये सारी क्रियायें किसी न किसी तरह प्राण संयमन और निष्कल मन्त्रोच्चार के प्राणसम प्रयोग पर निर्भर करती हैं । प्राणपथ की ग्रन्थियों का भेदन उद्घात से ही होता है । यह उद्घात भी प्राणन व्यापार की तीक्ष्णता से ही सम्भव है ।

अथ प्राणायामादीनां फलमादिशति–

रागद्वेषौ प्रहीयेते प्राणायामैः सुधारितैः ।।३०२।।
धारणाभिर्दहेत्पापं प्रत्याहारेऽक्षसंयमः ।

पापं दहेदित्यावारकपृथिव्यादिग्रन्थिभेदात् शुभाशुभकर्मबन्धविच्छेदात् ।

अथ यत्प्राणादिविषयं प्रश्नितं 'स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि' इति, तत्क्रमेण निर्णेतुमाह–

हृद्गुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ।।३०३।।
प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते

व्यानान्ताः पञ्चेत्यर्थात् । एषां च–

रूपं शब्दं च मे शृणु ।

तत्र–

द्रुततारनिभो रक्त इन्द्रगोपकसन्निभः ।।३०४।।
क्षीराभः स्फटिकाभश्च पञ्चानां रूपलक्षणम् ।

'द्रुततारं' गलितं रूप्यम् ।।३०४।।

ये धारणायें भी उद्घातों से ही सिद्ध होती हैं । इस तरह सब कुछ प्राणायाम पर ही निर्भर है । इसी तथ्य के इस अर्धाली द्वारा कह रहे हैं कि, सुधारित प्राणायाम से ही यह सब सिद्ध होता है और इसका सुपरिणाम यह है कि, इसकी सिद्धि हो जाने पर रागद्वेष से मुक्ति मिल जाती है ।।३०२।।

धारणाओं की सिद्धि से पाप अर्थात् सारे मानसिक विकार शुद्ध हो जाते हैं । प्रत्याहार की सिद्धियों से इन्द्रियों पर संयम हो जाता है । पृथिवी आदि ग्रन्थियाँ आत्मा की आवारक होती हैं । आवरण भङ्ग से ही रस की निष्पत्ति होती है । उस समय पापों की सम्भावना भी नहीं रह जाती । शुभ और अशुभ कर्मों का प्रकल्प भी कीलित हो जाता है ।

श्लोक २८६ में प्रश्न के क्रमानुसार स्थान, रूप और शब्द विषय के प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने शरीर में प्राणायाम के द्वारा प्रशस्त स्थान में साधना कर उद्घात और धारणाओं की बात बतायी । यहाँ उन्हीं प्राणों के आन्तर देहावस्थान के सम्बन्ध में बता रहे हैं । उनके अनुसार, हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ और सभी सन्धियों में क्रमशः प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु रहते हैं ।।३०३।।

इसके बाद रूप और शब्द के विषय में कह रहे हैं–१–द्रुततारक (चाँदी के द्रव) सदृश, २–रक्त, ३–इन्द्र गोपियों के सदृश, ४–दूध सदृश श्वेत और ५–स्फटिक के समान पाँचों रङ्ग के रूप होते हैं ।।३०४।।

घण्टाकंसाब्दमधुरो गजनादो महाध्वनिः ॥३०५॥
प्राणादीनां तु पञ्चानामयं शब्द उदाहृतः ।

'कंसं' कांस्यम्, 'अब्दो' मेघः, 'महाध्वनिः' द्रुतनदीघोषोपमः ॥३०५॥

एषां कर्मादिशति, तत्र–

जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ॥३०६॥
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्यैवं विचेष्टितम् ।

कलाश्चित्राद्याः सर्वकर्माणीत्येतान्येव ॥३०६॥

प्रवेशयेदन्नपानं तन्मलं स्रावयेदधः ॥३०७॥
अन्धत्वं श्रोत्ररोगं च अपानस्तु करिष्यति ।

चशब्दाद्ग्रहणघ्राणादि ॥३०७॥

अशितं लीढपीतं च समानः समतां नयेत् ॥३०८॥

नाडीषु संचारयेत् ॥३०८॥

क्षोभो हिक्का तथा छिक्का उदानस्य विचेष्टितम् ।

'छिक्का' क्षुतम् ।

स्वेदश्च रोमहर्षश्च शूलं दाहोऽङ्गभञ्जनम् ॥३०९॥

१–घण्टा, २–काँसे के घण्टे के समान, ३–मेघ-मधुर ध्वनि, ४–गज-नाद, ५–महाध्वनि, ये पाँच ध्वनियों के भेद पाँच प्राणों से समन्वित हैं ॥३०५॥

१–प्राण का कर्म जल्पित, २–अपान-हसित, ३–समान का गीत, ४–उदान का नृत्त और व्यान की युद्ध की गतिशील कलायें और शिल्प ही सबके कर्म के रूप में परिगणित हैं ॥३०६॥

१–प्राण से ही अन्न का शरीर भाग में प्रवेश और पीने के कर्म होते हैं । २–मल के शरीर से बाहर निकालने का काम होता है । इसी तरह अपान से अन्धत्व, श्रोत्र के रोग आदि होते हैं । व शब्द से गन्ध ग्रहण और सूँघना आदि भी इसी के परिणाम हैं ॥३०७॥

३–भोजन, जीभ से आस्वाद लेने और पीने के कामों में समता लाने का काम समान करता है । अर्थात् समान से इन सबका नाड़ियों में संचार होता है ॥३०८॥

४–उदान के कामों के रूप में क्षोभ से क्षुब्ध होना, हिचकी के रोग और छींक आदि आते हैं । मुख्य रूप से उदान वायु ही कण्ठ से प्राण को आज्ञा की ओर ऊर्ध्ववाह के लिये प्रेरित करता है ।

व्यानस्यैतानि कर्माणि स्पर्शं चैव स विन्दति ।

स एव लभते ॥३०९॥

नागादीनां स्थानान्यादिशति–

अङ्गुष्ठजानुहृदये लोचने मूर्ध्नि संस्थिताः ॥३१०॥

नागाद्याः

क्रमेणेत्यर्थः ॥३१०॥

सर्वेषामेषां शवलरूपता शवलशब्दता च तुल्येत्याह–

बहुरूपाश्च

चकाराद्बहुशब्दाः ।

कर्म त्वेषां निबोध मे ।

तत्राविकृतावस्थायां क्रमेण–

आह्लादोद्वेगजनकः शोषणस्त्रासनस्तथा ॥३११॥

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तश्च पञ्चमः ।

अतिनिद्राकरश्चान्यो योजकश्च धनञ्जयः ॥३१२॥

अतिनिद्रा तन्द्रा, योजको देहान्तरसम्बन्धकृत् ॥३१२॥

इसके बाद ५–व्यान आता है । इस वायु से पसीना, रोमहर्ष, शूल, शरीर में जलन और अङ्ग भङ्ग आदि काम माने जाते हैं । स्पर्श का ज्ञान भी व्यान से ही होता है ॥३०९॥

इसके बाद १–नाग वायु अङ्गुष्ठों में, २–कर्म वायु जानु अर्थात् घुटनों में, ३–कृकर वायु हृदय में, ४–देवदत्त आँखों में और धनञ्जय मूर्धा में अवस्थित रहते हैं ॥३१०॥

इनकी शब्दरूपता और शबल शब्दता के विषय में कह रहे हैं कि, ये अनेक रूपों में उद्रिक्त होते हैं और अनेक प्रकार की ध्वनियों से युक्त होते हैं । जब ये किसी विकार से रहित होते हैं, तो ये क्रमशः १–आह्लाद, २–उद्वेग, ३–शोषण, ४–त्रासन और ५–आत्यन्तिक निद्रा (मृत्यु के समय की) प्रदान करते हैं । इन्हें क्रमशः नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय कहते हैं । धनञ्जय देहान्तर का योजन भी करता है । ये नागादि प्राणों के कार्य हैं ॥३११-३१२॥

एषां विकृत्यवस्थायाम्–

श्वाससंकोचनच्छेदा घुर्घुरोत्क्रमणं तथा ।
नागादीनां तु पञ्चानां मृत्युकाले विचेष्टितम् ।।३१३।।

'उत्क्रमणं' देहविश्लेषः ॥३१३॥

धनञ्जयकूर्मयोर्विशेषस्त्वयं यत्–

न चैव याति चोत्क्रान्तौ तनुं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।

कञ्चित्कालं शवशरीरं न मुञ्चति ।

आकुञ्चयति वै कूर्मः शोषयेच्च कलेवरम् ॥३१४॥

'आकुञ्चनं' सन्धिसंकोचः । शोषस्ताल्वादिस्थानेषु ।

तदेवं दशधा स्थितम्–

प्राणमेव जयेत्पूर्वं जिते प्राणे जितं मनः ।
जिते मनसि शान्तस्य परं तत्त्वं प्रकाशते ।।३१५।।

मृत्यु के समय इन पाँचों के भयङ्कर कार्य दीख पड़ते हैं । १–नाग श्वास का संकोच करने लगता है । २–कूर्म प्राणवाह को तोड़ देता है । ३–कृकर से उत्क्रमण में ऊर्ध्वश्वास के कारण घुर्घुर ध्वनि होने लगती है । ४–देवदत्त उत्क्रमण का कारण बन जाता है । उस समय सामान्यतः प्राण निष्प्राण लगता है । ये मृत्यु काल के व्यापार शरीर को विकृत बनाकर रख देते हैं ॥३१३॥

५–धनञ्जय प्राण चूँकि देहान्तर का योजक माना जाता है (३१२) । अतः यह उत्क्रान्ति काल में भी मूर्धा में (३१०) अवस्थित रहता है । यह ध्यान देने की बात है कि, मरने के समय सन्धियों में जो संकोच दीख पड़ता है और तालु आदि जो विशेष रूप से सूखने लगते हैं–ये काम कूर्म वायु के माने जाते हैं ॥३१४॥

इस प्रकार साधक को इन दशों प्राणों पर विजय प्राप्तकर के इनके विकारों से बचने के लिये सन्नद्ध हो जाना चाहिये । प्राणजित् हो जाने पर मन अपने आप वश में हो जाता है । मन के जीत लेने के बाद ही शान्ति की प्रतिष्ठा शरीर में होती है । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः यह तीन उद्घोष परम शान्ति के प्रतीक हैं । इसके बाद परम तत्त्व का प्रकाश होता है ॥३१५॥

तत्र–

प्राणापानं गुदे ध्यायेत्प्राणसमानं नाभितः ।

प्राणोदानं तु कण्ठे तु प्राणव्यानं तु सर्वगम् ।।३१६।।

प्राणशब्दोऽत्र सामान्यप्राणवाची अपानादीनां विशेषरूपाणां सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तः । यस्तु बहिःप्रसरणात्मा विशेषरूपः प्राणस्तं पूर्वोक्तदेशे हृदि ध्यायेत् । यथोक्तवर्णशब्दाद्यात्मानश्चैते ध्याता वशीकृता भवन्ति ।

एवमेव च–

नागाद्याः प्राणसंयुक्ताः

सामान्यप्राणसम्बद्धाः ।

एतान्यथोक्तरूपान्पूर्वोक्तषु–

स्वस्थानेषु निरोधयेत् ।

तदेतस्य दशकस्य यावता कालेन निरोधाज्जितता भवति, तत्कालं वक्तुमाह–

निरुद्धस्य च यः कालस्तं वक्ष्यामि निबोध मे ।।३१७।।

प्राण रूप जो अपान है, इसे मूलाधार चक्र में ध्यान में लाना चाहिये । इसी तरह प्राणरूप समान को नाभि में ध्यात करना चाहिये । प्राण रूपी उदान को कण्ठ में तथा व्यान को शरीर की सभी सन्धियों में अर्थात् अणु अणु के योग के कारण सर्वग जानना चाहिये ।।३१६।।

नाग आदि सामान्य प्राण से सम्बद्ध वायु पूर्वोक्त (३०३) अपने अपने स्थानों पर निरुद्ध करने योग्य हैं । इनका इन दश प्राणों के पूर्व स्थान इस प्रकार हैं–

१–प्राण का स्थान हृदय	२–अपान का स्थान गुदा (मूलाधार)
३–समान का स्थान नाभि	४–उदान का स्थान कण्ठ
५–व्यान का स्थान सर्वसन्धियां	६–नाग का स्थान अङ्गुष्ठ
७–कूर्म का स्थान जानु	८–कृकर का स्थान हृदय
९–देवदत्त का स्थान लोचन और	१०–धनञ्जय का स्थान मूर्धा ।

इन दश प्राणों का इनके स्थानों पर निरोध जितने समय तक होता है, उतने समय तक उन पर विजय मानी जाती है । इस काल के विषय में बता रहे हैं ।।३१७।।

तालात्प्रभृति तं ध्यायेद्यावत्पञ्चशतं गतम् ।
जितोऽनिलो भवत्येव संक्रान्त्युत्क्रान्तिकर्मणि ।।३१८।।

अङ्गुल्या जानुभ्रमणावधिकालस्तालः । तेषां यावत्पञ्चशतं गच्छति, तावद्यदि प्राणदीनामविचलं ध्यानं सिध्यति, तदा ते जिता भवन्ति । ततश्च परशरीरसंक्रान्तौ उत्क्रान्तौ च सामर्थ्यं भवति ॥३१८॥

इदं च तज्जयेऽभिज्ञानम्–

दिव्या कान्तिः शुभो गन्धः प्रज्ञा चास्य विवर्धते ।
दिव्या दृष्टिश्च श्रवणं दिव्या वाक्च प्रजायते ।।३१९।।
वायुवद्विचरेल्लोकान्सिद्धान्देवांश्च पश्यति ।
मनसा चिन्तितावाप्तिः प्रवर्तेत गुणाष्टकम् ।।३२०।।
सर्वकामसुसम्पूर्णः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
संसारबन्धनिर्मुक्तः शिवतुल्यश्च जायते ।।३२१।।

गुणाष्टकमणिमादिकम् । तदियता ग्रन्थे–

'दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत्' । (७/२९३)

इति यदुपक्रान्तमभूत्तन्निर्वाहितम् ॥३२१॥

ताल एक पारिभाषिक शब्द है । जानु के बल ५०० अंगुल चलने के कालावधि को ताल कहते हैं । कम से कम इतने समय तक वायु रूप प्राण यदि अपने स्थान पर निरुद्ध रहें अर्थात् अभ्यास के बल पर उतनी देर रोके जा सकें, तभी इनका निरोध प्राणजय में बदल सकता है । इससे परशरीर में संक्रान्ति और उत्क्रान्ति में साधक समर्थ हो जाता है ॥३१८॥

इस प्रक्रिया के सिद्ध हो जाने पर साधक में दिव्य कान्ति आ जाती है । उसके शरीर से शुभ गन्ध की सुरभि निकलने लगती है । उसकी प्रज्ञा का संवर्द्धन हो जाता है । उसमें दिव्य दृष्टि का चमत्कार घटित होता है । उसकी वाणी में दिव्यता का आधान हो जाता है ॥३१९॥

वायु के समान लोक में विचरण करने में समर्थ हो जाता है । सिद्धों और देवों के दर्शन उसे होने लगते हैं । मन से जो चाह लेता है, उसकी पूर्त्ति होने लगती है । इसके साथ ही उसमें अणिमा आदि के गुण भी जो आठ होते हैं, वे आ जाते हैं ॥३२०॥

सभी कामनायें उसकी पूरी हो जाती हैं । सभी प्रकार के राग-द्वेष रूपी द्वन्द्वों से वह निर्मुक्त हो जाता है । संसार के आवागमन रूपी उसके

अथेदानीं सगर्भप्राणीयधारणाभिर्योगिनां योगोचितजाग्रदाद्यवस्था दर्शयन् दर्शनान्तरोक्तवेधसमावेशस्वरूपज्ञानं शिक्षयति–

प्राणापानौ तु संयोज्य ह्रस्वकोटिसमन्वितौ ।
नाभ्याधारे च योगीन्द्रः

यदा तिष्ठेत्तदास्य–

स्वेदः कम्पश्च जायते ।।३२२।।

हृदये प्रशान्ताशेषतरङ्गानाहतविश्रान्त्यनन्तरं यदा मन्त्रवृद्धेरुन्मिषत्ता[1] भवति, तदा, हृदि सामरस्यावस्थितौ प्राणापानौ ह्रस्वकोट्याकारकलाविमर्शनेन युक्तावधः-प्रसरणक्रमेण नाभौ संयोज्य, प्रोक्तकालं तिष्ठतः स्वेदकम्पौ भवतः ॥३२२॥

बन्धों से छुटकारा मिल जाता है । इस तरह वह शिव के समान समर्चनीय हो जाता है ॥३२१॥

पहले कहा गया था कि, दश प्रकार योग मार्ग से स्वच्छन्द रूपी हंस का अभ्यास या हंस रूपी स्वच्छन्द का अभ्यास करना चाहिये (७/२९३) । उन बातों का निर्वाह भगवान् ने यहाँ तक किया है । इसके बाद सगर्भ प्राणीय-धारणाओं के द्वारा योगियों की योग प्रक्रिया के अनुकूल जाग्रत् आदि अवस्थाओं पर प्रकाश प्रक्षेप करते हुए अन्य दर्शनोक्त वेध और समावेश के विषय में ज्ञानोपदेश कर रहे हैं–

प्राण और अपान इन दोनों का समायोजन एक साथ में साधक हृदय रूप अनाहत में सम्पन्न करता है । उस समय अनाहत अत्यन्त प्रशान्त होता है । उसमें किसी प्रकार की भावनात्मक तरङ्गें उन्मिष्ट नहीं होतीं । उस समय मन्त्र को संवर्द्धन मिलता है । वहाँ प्राण और अपान सामरस्य रूप से अवस्थित हो जाते हैं । परिणाम यह होता है कि, ये दोनों इतने हल्के हो जाते हैं कि, उनकी मात्रात्मकता ह्रस्व कोटि का आश्रय ग्रहण कर स्वल्पात्म कला विमर्श से युक्त हो जाती हैं । यह प्रशान्त अनाहत की सूक्ष्मानुभूति है । इसके तुरत बाद वे दोनों नाभि में आश्रय लेते हैं । अधः प्रसरण क्रमानुसार नाभि रूप समान वायु के स्थान पर साधक आधिपत्य कर लेता है । उसमें उतनी ही अवधि तक विश्रान्ति का आनन्द लेने लगता है । उस समय शरीर में पसीने की अधिकता और कम्प अर्थात् शीत से सिहरन उठने लगती है ॥३२२॥

---

१. ख. पु. वृद्धेरुन्मिमिषिषेति पाठः ।

अथासौ–

पुनरेव तु हृत्स्थौ हि प्राणापानौ निरोधयेत् ।
दीर्घकोटिसमायोगात्तत्क्षणाच्च पतेद्भुवि ।।३२३।।

नाभिपदविश्रान्त्यनन्तरमूर्ध्वमारुह्य हृत्स्थं कृत्वा दीर्घात्मकमान्त्रद्वितीयकला-विमर्शनपरो निरोधयेत्–इति तत्कालोच्चारस्थाने कण्ठान्ते प्रोक्तकालं तिष्ठेत्, तदेकाग्रताप्रकर्षाद् भुवि पतेत् ।।३२३।।

ततोऽपि यद्यसौ–

कण्ठस्थं च तथैवेह प्राणमेव निरोधयेत् ।
प्लुतकोटिसमायोगात्स्वप्नवृत्तिस्ततो भवेत् ।।३२४।।

उल्लासे सति अपानप्रशमात्प्राणमितीहोक्तं कालम्, प्लुतकोटि: पूर्वोक्त-नीत्या ताल्वन्तोच्चारी मकारकलाविमर्श:, स्वप्नोऽत्र जिज्ञासितवस्तुप्रथनात्मा योग्युचित: । एवमादिशता कम्प-स्वेद-पाता योगिजागरा–इति निरूपितं भवति ।।३२४।।

पुन: प्राणापान को हृदय अर्थात् अनाहत में ले आते हैं । वहाँ लाकर उनका निरोध करना चाहिये । उस समय ह्रस्व कोटि के विपरीत उस साम-रस्य में दीर्घ आयाम का भार पड़ जाता है । यह नाभि से ऊर्ध्व आरोह की अवस्था मानी जाती है । मन्त्र की द्वितीय कला का विमर्श यहाँ होने लगता है । उस समय भी साधक उनके निरोध में तत्पर रहता है । हृदय से मन्त्र सम्वर्द्धन के उन्मेष के फलस्वरूप कण्ठान्त में उच्चार के स्थान तक वे अवस्थित रहते हैं । उस समय इतनी एकाग्रता हो जाती है कि, अपना या शरीर का ध्यान ही नहीं रह पाता । परिणामत: साधक अकस्मात् भूमि पर ही उलट पड़ता है ।।३२३।।

उससे साधक हतोत्साहित नहीं होता है । उसके तुरत समकाल में वह कण्ठ में अर्थात् विशुद्ध में प्रवेश कर जाता है । वहीं प्राण का निरोध कर लेता है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि, उस समय अपान का प्रशमन हो गया होता है । केवल प्राण ही निरोद्धव्य रह जाता है । यहाँ मान्त्रमयी तृतीय कला का उन्मेष होता है । यह प्लुत स्वरोच्चार समोच्चार का ही विमर्श होता है । यह मन्त्र की मकार कला का काल होता है । इस अवस्था को स्वयं भगवान् भैरव भट्टारक स्वप्न वृत्ति के प्रशमन का स्थान कहते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि, कम्प-स्वेद और एकाग्रता की पूर्वावस्थायें योगी की जागृति की अवस्थायें होती हैं ।।३२४।।

यदा तु–

भ्रूमध्ये बिन्दुयोगेन प्राणरोधं तु कारयेत् ।

सुषुप्तं जायते तत्र क्षणाच्चैव प्रबुद्ध्यते ।।३२५।।

प्लुतेनैव तालुनो भेदितत्वान्मान्त्रबिन्दुकलाव्याप्तिविमर्शेन भ्रूमध्ये प्रोक्त-कालं तिष्ठतः प्रशान्तमनोवृत्तिः, सुषुप्तावस्था उदेति, क्षणाच्च प्रबुद्ध्यत इति न लौकिकवत् तमोवरणेन अभिभूयते । तदुक्तम्–

'........तदन्यत्र तु चिन्मयः' । (स्प. २/२) इति ॥३२५॥

ततोऽपि–

मूर्धद्वारं समाश्रित्य निष्कलं ध्यानमारभेत् ।

एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययस्तु तदा भवेत् ।।३२६।।

पञ्चप्रणव विवृत्यनुसार यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, ह्रस्व 'अ' जागृति, 'ऊ' दीर्घ मात्र कला विमर्शात्मिका स्वप्नावस्थायें और म प्लुत सुषुप्त बिन्दु, तुर्य और नाद तुर्यात्मक कहीं गयी हैं किन्तु यहाँ स्वयं भगवान् ही बिन्दु को सुषुप्त स्थानमय कहते हैं । म की प्लुत कला भी स्वप्न के अन्तर्गत ही निविष्ट मानी गयी है । श्लोक ३२५ के अनुसार भ्रूमध्य में बिन्दु का योग होता है । वहाँ प्राणरोध करने पर तुरत सुषुप्ति होती है । प्लुत से तालुरन्ध्र का वेध हो जाता है । उसके माध्यम से जब बैन्दवी मान्त्र कला का विमर्श होता है, उस समय भ्रूमध्य की प्रथम अवस्था सुषुप्ति में परिणत हो जाती है । यह सुषुप्ति क्षणिक होती है क्योंकि विमर्श की सूक्ष्मता के कारण जागरा के प्रभाव के कारण साधक पुनः प्रबुद्ध हो जाता है । यह बोध लौकिक आवरण की तरह का नहीं होता क्योंकि स्पन्द कारिका २/२ कहती है कि, उसके चिन्मयावस्था का ही साम्राज्य होता है ॥३२५॥

इसके भी ऊर्ध्व स्तर पर मूर्धद्वार अर्थात् निरोधिका, नाद एवं नादान्त को पार कर शक्तिवृत्त वह भाग जिसमें वेध करने से द्वार बन गया है, वहीं रुक कर निष्कल का ध्यान करना चाहिये । इस ध्यान से पूरा शक्तिवृत्त प्रभावित होता है । यह वह स्थिति होती है, जहाँ वर्णों का, ज्योति का, नाद का और नादान्त रूपी अनुरणन का भी उल्लङ्घन हो चुका है । वहाँ सूक्ष्म स्पर्शानुभूति होती है । इसके बाद ध्यान में ही साधक उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ व्यापिनीवृत्त परमात्म व्याप्ति में समाहित रहता है । वहाँ पिपीलका के पतले पैरों के रेंगने जैसी अनुभूति होती है । उसके पैरों में पकड़ने की कटीली नखरेखिकायें होती हैं ।

पिपीलकण्टकावेधो मूर्धद्वारं विभिन्दतः ।

निष्कलमिति वर्णज्योतिर्ध्वनिव्याप्त्युल्लङ्घनात्पर्शनानुभवरूपम्, 'पिपीलकण्टकावेध' इति संचरत्पिपीलस्पर्शतुल्यकण्टकस्पर्शतुल्यश्च स्पर्श इत्यर्थः ॥३२६॥

किञ्च–

भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मन्यन्तानि यानि तु ।।३२७।।

पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि

लक्षणैरिति प्रणवाधिकारोक्तैरनुभवैर्युज्यत इति शेषः । तावदन्तात्र तुर्यदशा ।

अथैतत्सर्वम्–

त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

गाढगाढोन्मनापदविश्रान्तिपदप्रकर्षात् तुर्यातीतदशालाभात् चिदानन्दघनपरभैरवसमावेशमनुभवति योगीन्द्र इत्यर्थः ।

न केवलं देहोत्तीर्ण एव पदेऽस्य परसमावेशो घटते, यावत्–

जायते उन्मनस्त्वं हि देहेनानेन साधके ।।३२८।।

देहावस्थायां व्युत्थानेऽपि साधकस्य समावेशप्रकर्षात्तदानन्दरससंस्काराद्घूर्णमाणतैव भवतीत्यर्थः ॥३२८॥

उन्हीं को यहाँ कण्टकावेध कहा गया है । चीटी के पैरों की नखाग्र रेखिकायें मानों उस खोपड़ी के निचले में चलित सी हैं । उनका स्पर्श प्रतीत होता है ॥३२६॥

क्रमशः इन वृत्तों का भेदन करते हुए समना में पहुँचते हैं । वहाँ सहस्रार पद्म में १००० वर्णों को न्यस्त करते हैं । वर्ण माला में १६ स्वरों और ३४ व्यञ्जन मिलकर पचास होते हैं । इनकी २० आवृत्ति में न्यस्त करने की प्रक्रिया में १सहस्रवर्ण हो जाते हैं । सहस्रवर्णों के कारण इसे सहस्रार कहते हैं । पुनः इसको भी अतिक्रान्त कर उन्मना में पहुँचते हैं । उन्मना में इसके बीजमन्त्र का न्यास कर उसके ध्यान में गाढगाढगूढतामयी गुह्य ग्रन्थि खुल जाती है । और इस तुर्य दशा को भी साधक अतिक्रान्त कर तुर्यातीत में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥३२७॥

तुर्य दशा के उल्लङ्घन से जिस तुर्यातीत दशा की उपलब्धि होती है, वही स्वच्छन्द परमेश्वर की व्याप्ति का सर्वोर्ध्व, सर्वाराध्य, विश्रान्ति धाम है । इस चिदानन्दघन परभैरव समावेश का अनुभव योगीन्द्र करता है । निष्कल परभैरव बीज की संविद्विमृष्टि की यह पराकाष्ठा है । यह स्थिति ऐसी है, जो योगीन्द्र को इसी शरीर में उपलब्ध हो जाती है । जिस अवस्था में साधक व्युत्थान सिद्ध होता है,

किं चायं स्वातन्त्र्यशक्त्युन्मेषात्–

संक्रामेत्परदेहेषु क्षुत्तृष्णाभ्यां न बाध्यते ।

अतीतानागतं चैव त्रैलोक्ये यत्प्रवर्तते ।।३२९।।

प्रत्यक्षं तद्भवेत्तस्य सर्वज्ञत्वं च जायते ।

'यच्च प्रवर्तते' इति यदपि वर्तमानं किञ्चिदस्ति, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति । 'सर्वज्ञत्वम्' इति क्रमेणाभ्यासप्रकर्षान्मन्त्रमन्त्रेशादितुल्यो भवतीत्यर्थः ।।३२९।।

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरन् पटलान्तरेण संगतिं दर्शयति–

प्रसङ्गेऽध्यात्मकालस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ।।३३०।।

सर्वमेतत्समाख्यातमंशकांश्च निबोध मे ।

वहाँ समावेश के प्रकर्षक कारण परानन्द संविद्रसानुभूति निर्भर होने के कारण घूर्णमाणता भी सम्भव होती है ।।३२८।।

यहाँ स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मेष भी होता है । स्वतन्त्रता के बल से साधक पर शरीर में भी प्रवेश करने में समर्थ हो जाता है । उस समय भूख (क्षुधा) और प्यास उसे नहीं सताते । वह त्रिकालदर्शी हो जाता है । भूत भविष्य उसी आँखों के सामने प्रत्यक्ष से हो जाते हैं ।।३२९।।

प्रत्यक्ष होने का तात्पर्य यह है कि, उसमें पर भैरव का सर्वज्ञ नामक गुण चरितार्थ हो जाता है । यह ओङ्कार के क्रमिक, नियमित और अनुशासित रूप से किये गये अभ्यास प्रकर्ष का परिणाम है । प्रत्येक साधक का यह धर्म है कि, वह अपने जीवन को इस उत्कर्ष के अन्तिम लक्ष्य को पाकर धन्य बना ले ।

यह आध्यात्मिक काल-सन्दर्भ का विश्लेषण है । इसमें सारा ज्ञान विज्ञान भरा हुआ है । आज्ञा चक्र स्थित ओंकार की यहाँ तक की ऐसी पराव्याप्ति का चित्रण अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है । ओंकार के वर्णन छान्दोग्य (ओंतद् सद् व्रह्म) कठ० मु० तै० उप० मैत्र्युप० और माण्डुक्य में भी हैं । किन्तु इस प्रकार की साधना का विधान कहीं नहीं है । माण्डुक्य में थोड़ी अच्छी व्याख्या अवश्य है किन्तु बात बात से विज्ञान उपलब्ध नहीं होता । योग दर्शन का तस्य वाचकः प्रणवः स०२७ आदि और ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गीता के अर्थवाद में साधना विधियों का नितान्त अभाव है ।

यहाँ इन विधिक साधना के सन्दर्भों को अपनाने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है । इससे ज्ञान विज्ञान सब की उपलब्धि हो जाती है ।

अध्यात्मकालकथनप्रसङ्गेन तत्त्ववृत्त्या ज्ञानं मृत्युजययोगिजागरावस्थाद्यात्मक-वेधादिरूपं च विज्ञानमेतदुक्तमनुक्तमपि अनुजिघृक्षावेशात्, अत:-

'कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसादत:' । (७/१)

इति यत्प्रश्नितम्, तत: कालस्वरूपं कथितं प्रसङ्गाज्ज्ञानं विज्ञानं चाप्यादिष्टम्, अंशकस्वरूपं तु निर्णेतुमवशिष्टम्, अतोऽशकान् भाविपटलेन निर्णेष्यमाणान्निबोध जानीहीति पाटलिकी संगतिरिति शिवम् ॥३३०॥

संवित्स्फारव्याप्त्या विश्वं प्राणान्त:स्थं सम्यग्ज्ञात्वा ।
तास्ता: सिद्धीरंशज्ञप्त्या पूर्णस्थितिं यायात् ॥१॥

।। इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते कालाधिकार:
सप्तम: पटल: समाप्त: ।।७।।

अगले आह्निक से समन्वय स्थापित करने के लिये भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि संविद्विमर्श की परा साधनाओं के उत्कर्ष विधान को मैंने तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत किया । अब तुम अंशकों के सम्बन्ध में सुनो । नि:शेष बोध से व्यक्ति अवश्य ही प्रबुद्ध हो जाता है । इस आध्यात्मिक काल ज्ञान के सन्दर्भ में तत्त्व वृत्ति, मृत्युजय योग, जागराद्यवस्थाओं का क्रमिक वर्णन है । ७/१ में कालांशक को जानने की इच्छा देवी ने प्रकट की थी । उसी का स्वरूप विश्लेषण आगे के पटल में किया जायेगा । यह कहकर भगवान् भैरव ने पटल की संगति स्थापित की है ॥३३०॥

प्राणान्त:स्थित विश्व को संविद्रसमय जान ।
पूर्णस्थिति पाकर बनें, साधक ईश समान ॥ उद्योतपद्यानुवाद

॥ इति शिवम् ॥

प्राणान् प्रतिष्ठाप्य परोन्मनान्तं ध्याये सदा निष्कलभैरवत्वम् ।
जीवस्य हंसत्वमहं महत्या युक्त्या स्वदेहे चरितार्थयामि ॥ भा०भाष्यकार ।

महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् क्षेमराजकृतोद्योत-व्याख्यायुक्त
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र
का
कालाधिकार नामक सप्तम पटल परिपूर्ण ॥७॥
॥ शुभं भूयात् ॥

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

।। अथ अष्टमः पटलः ।।

यस्य बोधमहाम्भोधेर्ब्रह्माद्या भुवनेश्वराः ।
अंशा मिता बुद्बुदवत्तं स्तुमः परभैरवम् ।।
'......अंशकांश्च निबोध मे' । (७/३३०)

इति यत्पटलान्ते उपक्षिप्तं, तद्विभक्तुं श्रीभैरव उवाच–

अंशकं षड्विधं देवि कथयाम्यनुपूर्वशः ।

परस्य बोधभैरवस्य शक्तिभिः ब्राह्म्यादिभिरधिष्ठिता ब्रह्माद्यास्तथावभासिता अंशाः, ततस्तदनुग्राह्या अपि तदंशा इत्युच्यन्ते । अतोऽशानाराध्यत्वेन स्थितान् कायति अयं ब्रह्मांशोऽयं विष्ण्वंश इत्यादिक्रमेण यो वक्ष्यमाणो भावस्वभावादिः, सोंऽशक इत्युच्यते । स च साधकं प्रति सिद्ध्यनुकूलत्वाद् अल्पांशोंऽशक इत्यभिधीयते ।

तमुद्दिशति–

भावांशकः स्वभावांशः पुष्पपातांश एव च ।।१।।

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

।। अष्टमः पटलः ।।

भैरव-बोध-सिन्धु-बुद्बुद से, ब्रह्मादिक भुवनेश महान्,
अंशमात्र हैं, परमानुग्रह-निर्भर अंशक सतत समान ।।
परभैरव पद पर ही अर्पण कर सर्वस्व सतत अम्लान,
क्षेमराज करता है सम्प्रति अंशक विषयक-अनुसन्धान ।।

सप्तम पटल के श्लोक ३३० में भगवान् ने अंशकों की जानकारी देने की चर्चा की थी । इससे सप्तम और अष्टम पटलों की संगति भी बिठलायी गयी थी । इस समय भगवान् स्वयं अंशकों को विभक्त कर उनकी वास्तविक जानकारी दे रहे हैं । उनका कहना है कि,

देवि ! अंशक छः प्रकार के होते हैं । उन्हें आनुपूर्वी रूप से मैं तुम्हारे समक्ष व्यक्त कर रहा हूँ । परात्पर बोधात्म भैरव की ब्राह्मी आदि शक्तियों से अधिष्ठित ब्रह्मा आदि अपने रूपों में अवभासित हैं । ये ही परभैरव के अंश रूप हैं ।

मन्त्रांशकः स्मृतश्चान्यस्त्वंशकापादनं द्विधा ।

भावः सहजस्तत्तद्भक्तियुक्त आशयः । स्वभावस्तदनुगुणो व्यापारः । यस्तु पूर्वयुक्त्या बद्धनेत्रस्य पुष्पपातानुसारं निश्चीयते तन्मन्त्रवाच्यदेवतात्मा अनुष्ठातुं, स मन्त्रांशः । अंशकापादनमंशस्यानिरूपितस्यापि मन्त्रस्य वीरद्रव्यादिहोमेन साधकदीक्षाक्रमेण वा आराधकं प्रति क्रियत इति द्विरूपमिति षोडशांशकाः ।

इनके द्वारा अनुग्राह्य भी इनके अंश ही कहे जा सकते हैं । 'कायति अंशान् इति अंशकः' इस विग्रह के अनुसार 'अंशक' शब्द की निष्पत्ति होती है । अंशान् काय इव आचरति इति अंशकायः भैरव का विशेषण हो सकता है । भैरव के ही ब्रह्मादि देव अंश रूप हैं । इस तरह अंशक रूप ब्रह्मा ब्रह्मांश, विष्णु रूप अंशक विष्ण्वंश रूप और रुद्र के अंश रुद्रांश कहे जा सकते हैं ।

यह तथ्य कायात्मक भाव पर निर्भर करता है । इसलिये ये भाव भी अंशक कहलाते हैं । साधक की सिद्धि के अनुकूल ये भाव ही होते हैं । इसलिये भावांशक संज्ञा से भी विभूषित किया जा सकता है । इन्हीं तथ्यों के सन्दर्भ में इनके छःहों प्रकारों का कथन कर रहे हैं–

ये अंशक छः प्रकार के होते हैं ।–१–भावांशक, २–स्वभावांश, ३–पुष्पपातांश, ४–मन्त्रांशक, ५–अंशकापादन (निरूपित) ६–अनिरूपित अंशकापादन ।

इसे अलग अलग समझने की आवश्यकता है ।

१–भावांशक–सहज भक्तियुक्त आशय को भाव करते हैं । भाव पूर्ण स्वाभविक भक्ति पूर्ण अनुरक्ति से पूज्य भावांशक कहलाता है ।

२–स्वभावांश–भावनुगुण व्यापार स्वभाव होता है । इसके अनुसार आराध्य इष्ट भावांशक होता है ।

३–पुष्पपातांश–दीक्षा प्रक्रिया में आँख बन्दकर दीक्ष्य फूल फेंकता है । वह जिस आराध्य पर गिरे, वह पुष्पातांशक है ।

४–मन्त्रांशक–पुष्पपात से देवमन्त्र का भी आकलन होता है । वह आराध्य मन्त्र ही मन्त्रांशक होता है ।

५–अंशकापादन–निरूपितांश का आपादन प्रथम अंशकापादन होता है । और दूसरा अनंशक अनिरूपांश का होता है ।

६–अनिरूपितांशापादन–वीरद्रव्यादि के होम के माध्यम से साधक की दीक्षा के क्रम में आराधक के प्रति इसका निर्णय किया जाता है ॥१॥

एषामाद्यस्य लक्षणमाह–

देवानुस्मरणं भावः सहजं तं विजानत ।।२।।

अदत्तानुष्ठानस्यापि प्राग्जन्मवासनापरिपाकवशात् तत्तन्नियतदेवतानुस्मरणं यत्सहजं स भावांशः ॥२॥

द्वितीयमाह–

स्वभावश्च भवेच्चेष्टा ।

प्रोक्तभावानुगुण एवमेव लिङ्गार्चनाद्यात्मा व्यापारः । तं च–

कथयाम्यनुपूर्वशः ।

ब्रह्मांशो वेदभक्तस्तु रुद्रांशं च निबोध मे ।।३।।

रुद्रभक्तः सुशीलश्च शिवशास्त्ररतः सदा ।

विष्णवंशो विष्णुभक्तश्च चन्द्रांशः प्रियदर्शनः ।।४।।

सर्वदेवरतः शान्तो यक्षांशो धनसंग्रही ।

लुब्धो गर्वितमृष्टाशी वातांशश्चपलः स्मृतः ।।५।।

सर्पविस्रम्भगामी स्यान्नागांशो दीर्घशाय्यथ ।

दीर्घरोषः पूतिवक्त्रो गुरुक्षीररुचिः सदा ।।६।।

१.भावांशक–

इनके लक्षणों का निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि, देव का अनुस्मरण भाव कहलाता है । यह सहज होता है । विना किसी अनुष्ठान के प्राग्वासना के परिपाक के कारण किसी देवता के प्रति सहज झुकाव हो जाता है । यह सहज भाववश होने के कारण भावांशक कहलाता है ॥२॥

२.स्वभावांश–

अनुगुण व्यापार अर्थात् चेष्टा को स्वभाव कहते हैं । इनके आनुपूर्वी भेदों को गिना रहे हैं–

१–ब्रह्मांश साधक वेदभक्त होता है । २–रुद्रांश-रुद्रभक्त, सुशील और शिव शास्त्रों के स्वाध्याय में अनवरत निरत रहता है । गुटिकाञ्जन विज्ञ होता है ।

३–विष्णवंश–विष्णुभक्त होता है । ४–चन्द्रांश–प्रियदर्शन पुरुष होता है और सभी देवों के प्रति वह विनम्र एवं शान्त होता है ।

५–यक्षांश–धन संग्रह में प्रवृत्त रहता है । लोलुप, सविलास रुचिकर पक्व भोजन में दक्ष होता है ।

गान्धर्वो गायनो नित्यं शिवभक्तो वरानने ।
विद्याधरांशकः प्राणी दैत्यांशो द्वेषणः स्मृतः ।।७।।
कामांशो रूपवांश्चैव सुभगो गणिकाप्रियः ।
रक्षोऽशंः क्रूरनिस्त्रिंशो देवद्वेषी द्विजेषु च ।।८।।
पिशाचांशश्छलान्वेषी वासरे भीरुकातरः ।
अग्न्यंशः परुषस्तीव्र उष्णादः पिङ्गलस्तथा ।।९।।
सवित्रंशश्च तेजस्वी पूर्तधर्मरतः सदा ।
इष्टानि कुरुते नित्यं दयालुः शिवभावितः ।।१०।।

पूतिवक्त्रो दुरामोदलालास्यः । विद्याधरांशस्य शिवभक्तत्वं शिवशास्त्रोक्त-विधानेन गुटिकाञ्जनादिसिद्धिरसिकत्वम् । क्रूरो दारुणहृदयः । निस्त्रिंशो निर्घृण-व्यापारः । परुषो वाचा । तीव्रः कर्मणा । पूर्तं वापीकूपादिकरणम् । इष्टं यज्ञः । स्पष्टमन्यत् ॥१०॥

ये च यदंशास्तेषामेते ब्रह्मादयः–

स्वसिद्धेः फलदाः सर्वे स्वध्यानजपहोमतः ।

६–वातांश–वातानुकूल चापल्ययुक्त, सर्पवत् विश्वासपूर्ण ढङ्ग से सक्रिय रहता है ।

७–नागांश–दीर्घशायी (कुम्भकर्ण) और दीर्घरोष, कुवस्त्रधारी, दुर्गन्ध श्वास मुख युक्त तथा गाढ़ा दूध पसन्द करता है ।

८–गन्धर्वांश–गायक, और शिवभक्त होता है ।

९–विद्याधरांशक–भी शिवभक्त होता है ।

१०–दैत्यांश–सर्वदा सबके प्रति स्वाभाविक द्वेष रखने वाला पुरुष दैत्यांश कहलाता है ।

११–कामांश–रूपवान्, सौभाग्यशाली और गणिकाप्रिय होता है ।

१२–राक्षसांश–क्रूर निस्त्रिंश (कठोर) देवद्विज विरोधी होता है ।

१३–पिशाचांश–छल करने में दक्ष, छिद्रान्वेषी और दिन में भी डरपोक होता है ।

१४–अग्न्यंश–तीव्र, कर्कश स्वभाववान्, गर्मभोजी, पिङ्गलवर्णी होता है ।

१५–सवित्रंश–तेजस्वी इष्टापूर्त–धर्मरत होता है ।

ये सभी स्वभावांश के अन्तर्गत आते हैं ॥३-१०॥

यस्य यावदैश्वर्यम्, तावदेवासावाराधित: साधकेभ्य: प्रयच्छति । एवं चाभिदधदिदमाह–यत् परिमितांशस्य तत्तत्पदप्रापक एव मन्त्रोदय: । स च येषां विशेषत: शास्त्रेषु नास्ति, तेषां प्रणव एव तन्नामनमस्कारयुक्त: ।

यदा तु–

'यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजित: ।
सिद्धिभाङ्मन्त्रसामर्थ्यात्.................' ॥

इत्युक्तस्थित्या इहत्यमन्त्रै: कृतदीक्षस्य साधकस्यैतन्मन्त्राराधनेनाराधितास्ते ते देवताविशेषा:, तदा सर्वे भैरवरूपा एवेति सर्वसिद्धिसाधका इत्याह–

भैरवाङ्गसमालब्धा: सर्वे देवा वरानने ।।११।।

उपर्युक्त स्वभाव वाले पुरुष जिसके अंश होते हैं, उनके देव उसी प्रकार के फल प्रदान करते हैं । वही कह रहे हैं–

उन देवताओं के पास जैसी सिद्धियाँ, जैसी शक्ति, और जितना सामर्थ्य होता है, ये सभी अपने मन्त्रों के जप, ध्यान और हवन आदि से प्रसन्न होते हैं । यह स्वाभाविक है कि, जिस देव में जितना ऐश्वर्य होगा, आराधित होने पर साधकों के लिये वे उतना ही फल प्रदान करते हैं ।

इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि, इन देवताओं से सम्बन्धित मन्त्रों से परिमितांश आराध्यों के सदृश ही परिमित पदों की ही प्राप्ति हो सकती है । जिन अंशकों के मन्त्र शास्त्रों में निर्दिष्ट नहीं हैं, उनके लिये उनके नाम के पूर्व प्रणव लगाकर नम: के योग से मन्त्र बना लेते हैं । जैसे ॐ पिशाचाय (नाम से युक्त) नम: ही उनका मन्त्र होगा ।

शास्त्र में यह कहा गया है कि, 'जो जिस भोग का इच्छुक होता है, गुरु द्वारा उसी में नियोजित होता है । उसी के अनुरूप मन्त्र सामर्थ्य से सिद्धि का भाजन बनता है ।

इस उक्ति के अनुसार इस स्वच्छन्दतन्त्रोक्त मन्त्रों की दीक्षा से जो दीक्षित हैं, उन्हीं मन्त्रों द्वारा आराधित देव उन्हें वैसा ही फल देते हैं । यह भैरवतन्त्र है । अत: इसमें वर्णित सभी देव भैरव रूप ही हैं । ये अपने मन्त्रों के अनुसार दीक्षित को फल प्रदान करते हैं । यही बात इस कारिका से भगवान् कह रहे हैं–

देवि सुमुखि ! भैरव के अङ्गों से अर्थत: लब्ध सभी देव भैरव रूप ही होते हैं । ये आराधित होकर सभी सिद्धियों को सुफल प्रदान करते हैं । इनमें कुछ देव ऐसे हैं, जिनके अङ्गों के वक्त्र मन्त्र नहीं कहे गये हैं । जैसे कपालीश भैरव ।

भैरवास्तु स्मृताः सर्वे सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।

भैरवाङ्गसमालब्धा इत्युक्त्येदमाह–येषां कपालीशादिमन्त्राणां वक्त्राणि नोक्तानि, तेषामाराधकैर्नैष्कलवक्त्राङ्गानि प्रयोक्तव्यानि । कश्चिदत्र सर्वशब्दस्य द्वि:स्थितस्य वाक्यद्वयविषयां योजनामसहमानः सर्वे देवा इत्यत्र सर्वदैवेति सर्वसिद्धिफलप्रदा इत्यत्र च सर्वकामसमन्विता इति पठित्वा एतन्मन्त्रदीक्षिताः साधकास्तदाराधनाद्भैरवा एव पूर्णसिद्धिभाजनं भवन्तीति व्याख्यातवान् । पुराणपुस्तकेषु त्वविगानेनाद्य एव पाठो दृश्यते । एवम्–

स्वभावांशः समाख्यातः साधकानां हिताय वै ।।१२।।

साधकपदेन मुमुक्षूणां नायं नियम इत्यादिशति ।।१२।।

पुष्पपातांशं लक्षयति–

पुष्पपातवशान्नाम कर्तव्यं सुरसुन्दरि ।

अनिश्चितभावस्वभावांशस्य बुभुक्षोर्बद्धनेत्रस्य पूजितसर्वावरणे भगवन्मण्डले पूर्वोक्तस्थित्या एकं पुष्पं क्षिपतो यत्र तत्पतेत्, तन्मन्त्रवाच्यदेवतानुसारेण नाम कार्यम् ।

इनके मन्त्रों के वक्त्र अनुक्त हैं । इनकी आराधना के लिये, नैष्कल वक्त्राङ्गों का ही प्रयोग करना चाहिये ।

इस कारिका में 'सर्वे' शब्द द्विरुक्त है । कुछ टीकाकार इसे बदल कर पहली पंक्ति में सर्वेदेवा की जगह 'सर्वदैव' स्वीकार करते हैं । और यह अर्थ करते हैं कि, वे सर्वदा ही सिद्धि प्रदान करते हैं । जो हो पुरानी पुस्तकों में परम्परा से सर्वे पाठ ही चला आ रहा है ।

भगवान् कह रहे हैं कि, यहाँ तक मेरे द्वारा स्वभावांश का प्रतिपादन किया गया । यह साधक पुरुषों के लिये स्वभाव की परख के अनुसार साधना में प्रवृत्त होने के लिये बड़ा ही लाभदायक है । साधक का अर्थ बुभुक्षु ही शास्त्र में गृहीत है । अतः मुमुक्षु के लिये यह नियम नहीं है ।।१२।।

३. पुष्पपातांशनिरूपण–

कुछ ऐसे शिष्य होते हैं, जिनके भावों और स्वभावों के अंश का निश्चय नहीं हो पाता । ऐसे बुभुक्षु दीक्ष्यों के लिये ही यह योजनिका उपाय में लायी जाती है, जिसमें शिष्य की आँखों पर पट्टी लगा दी जाती है । वह सर्वावरण रूप से पूजित भगवन्मण्डल में बैठे ही बैठे फूल फेंकते हैं । जहाँ वह फूल गिरता है, वह पुषपातभूमि होती है । वहाँ के प्रतिष्ठित मन्त्रवाच्य देवता के अनुसार १५ नामों में से कोई अनुरूप नाम दिया जाता है ।

अतश्च ज्ञातांशकेनाचार्येणोपदिष्टतत्त्वस्य–

स मन्त्रः सिद्ध्यते तस्य तमेवाराधयेद्यदि ।।१३।।

शास्त्रोक्तविधानेनेत्यर्थात् ।।१३।।

क्रमप्राप्तं मन्त्रांशकमधिकवक्तव्यत्वात् सम्प्रत्यनुक्त्वा, अंशकापादनं प्रस्तौति–

अंशकापादनं देवि कथयामि समासतः ।

कथमित्याह–

वैहायसं ध्वजं चैव होमयेद्यस्तु साधकः ।।१४।।

उसी ज्ञातांशक आचार्य के द्वारा तदनुरूप मन्त्रोपदेश उसे दिया जाना चाहिये । भगवान् कहते हैं कि, उस शिष्य का यह कर्त्तव्य होता है कि, वह उसी मन्त्र का जप करे । उसी के शास्त्रविधि से भावपूर्ण आराधन से उसकी सिद्धि होती है ।।१३।।

४. अंशकापादन–

यह दो प्रकार का होता है–१. अंशक और २. अनंशक । यद्यपि क्रम प्राप्त मन्त्रांश का आपादन था किन्तु पहले इसी पाँचवें भेद का वर्णन कर रहे हैं । देवी को सम्बोधित कर भगवान् कह रहे हैं कि, मैं इसका वर्णन संक्षिप्त (समास) शैली के रूप में कर रहा हूँ ।

यह साधन कुछ कठिन है । इसमें नरमांस का प्रयोग करना पड़ता है । यह दो प्रकार का होता है–१. वैहायस और २. दूसरा ध्वज । वैहायस उस मांस को कहते हैं, जो आकाश की ऊँचाई पर किसी कारण से वायुयान से या गुब्बारे के साथ उड़नखटोलों के टूटने से आकाश में ही मृत्यु हो जाय । उसे एकत्र कर कहीं ऊपर सुरक्षित रख दिया जाय और ओषधि के प्रयोग से वह मांस ताजा बना रहे ।

२. ध्वज मांस–शत्रु के युद्ध में मर जाने पर द्वेष पूर्ण क्रूरता के कारण उसे शूल पर ऊपर लटका कर रखा जाय । ये दोनों प्रकार के मांस पवित्र और हवनीय माने जाते हैं । यह हवन १०८ आहुतियों का या १००८ आहुतियों में पूरा होना चाहिये । यह गुरु पर निर्भर करता है कि, व्यवसाय के अनुसार इसका निर्णय करें ।

इसमें यह ध्यान देने की बात है कि, मन्त्र के सामान्यतः १६ प्रकार के भेद प्रभेद होते हैं । इसमें सोलहवाँ 'भेद अरिअरि' है । यद्यपि यह निषिद्ध होता है ।

स मन्त्रः सिद्ध्यते तस्य अर्यन्तोऽपि हि सुव्रते ।

वक्ष्यमाणस्थित्यार्यन्तोऽपि यो मन्त्रस्तदाराधनायैव वैहायसमिति उद्बद्धनर-मांसं ध्वजं च शूलारोपितनरमांसमष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथासम्भवव्यवसायं यः साधक इत्याराधक आचार्यस्तत्प्रयुक्तोऽन्योऽपि वा साधको होमयेत् जुहुयात्, तस्यासावेवमाराधितः सिद्ध्यति साधनानुगुणो भवति ।

यस्य तु प्रोक्तक्रमेणाविवेचितांशकोऽपि प्रभावातिशयश्रवणात् कश्चिन्मन्त्रः आरिराधयिषितो भवति, न च वीरद्रव्यक्रमे योग्यतास्ति, तस्यारिराधयिषितं पूजाहोमादिनादौ तर्पयित्वा प्राक्प्रोक्तसाधकदीक्षाभिषेकविधानेनैव तन्मन्त्रांशकत्वा-पादनं कर्तव्यमित्यभिदधद् द्वितीयमंशकापादनं लक्षयति–

अनंशकोऽपि यो मन्त्रो ज्ञातचिह्नैर्वरानने ।।१५।।

फिर भी यह मन्त्र नरमांस के इस हवन से सिद्ध हो जाता है । इसी मन्त्र को अर्यन्त मन्त्र कहते हैं । अरिमन्त्र चार प्रकार के सिद्ध साध्य सुसिद्ध और अरि मन्त्रों का चौथा भेद है । १. सुसिद्ध अरि, २. अरिसिद्ध, ३. अरिसाध्य ४. अरिसुसिद्ध और ५.अरिअरि भेद से ५ प्रकार का होता है । ये पाँचों निषिद्ध हैं पर नरमांस के होम से ये भी सिद्ध हो जाते हैं । इसकी व्यवस्था प्रयोजक आचार्य करता है । भगवान् कहते हैं कि, समस्त अनुष्ठानों को व्रत की निष्ठा से सम्पन्न करने वाली देवि ! मेरे ये वचन अकाट्य और शाश्वत प्रमाण हैं ।।१४।।

उपर्युक्त क्रम से जो अंशक अविवेचित रह जाते हैं, वे भी मन्त्र के प्रमाण के आतिशय्य के कारण आराधन की इच्छा के विषय बन जाते हैं । कोई दूसरा आकर यह सुनाये कि, वह मन्त्र बड़ा प्रभावशाली है और उसे जप करने से ऐसे ऐसे काम सिद्ध हो गये । तो स्वभावतः उसके प्रति आकर्षण हो जाता है । परिणामतः वह मन्त्र आराध्यवत् मन्त्री के मन में बद्धमूल हो जाता है ।

मान लें कि, जपाभिलाषी का वीर द्रव्यक्रम में अधिकार ही नहीं हो फिर भी उसे आराधना के लिये अभिलाष हो, तो उस मन्त्र की पूजा करें । हवन करें और तर्पण से उसे तृप्त कर साधक को दीक्षा के अनुसार ही अभिषेक विधि द्वारा उस मन्त्रांशकत्व का आपादन करना चाहिये । इसे द्वितीय अंशकापादन कहते हैं ।

तदा यागं पुरा कृत्वा अग्नौ होमं तु कारयेत् ।

प्रोक्तप्रकारैर्न परिच्छिन्न अंशक आराधकः शिष्यो यस्यासावनंशकः । यागहोमौ तं शिष्यं प्रति तस्य मन्त्रस्याभिमुखीकरणाय । ततः-

शिष्यस्य पूर्ववत्कर्म कृत्वा तु विधिपूर्वकम् ।।१६।।

पूर्णाहुतिप्रयोगेण योजयेच्छाश्वते पदे ।

कर्मेति भगवदर्चादिपूर्वं साधकाभिषेकान्तम् योजयेदिति तमेव शिष्यं मन्त्रेण सह शाश्वत इति परमशिवपदे, साधकाभिमते च शाश्वतभोगप्रदे सदाशिवादिधाम्नि शाश्वतपदयोजनादेव चायमासादितवीर्योऽनंशकतामुत्सृज्य, सदंशकत्वमेति । इत्थमासादितांशकोऽसौ-

परतत्त्वमभिध्यायन्साधयेन्मनसेप्सितम् ।।१७।।

एवमंशकापादनं द्विधोक्त्वा, मन्त्रांशकमाह-

मन्त्रांशं गणयित्वा तु गृह्णीयात्सुविचारितम् ।

भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि ! महेश्वरि ! अनंशक रहते हुए भी उसके लक्षणों की जानकारी हो जाने पर पहले याग की सुव्यवस्था कर हवन करना या कराना चाहिये । अनंशक की परिभाषा देते हुए आचार्य क्षेमराज कह रहे हैं कि, पहले कहे गये विधान से परिच्छिन्न अंशक रूप आराधक शिष्य जिस मन्त्र का आराधन करता है, वह मन्त्र अनंशक माना जाता है । याग और होम इस उद्देश्य से करना चाहिये कि, उस मन्त्र का साम्मुख्य उस शिष्य की ओर हो जाय ॥१५॥

इस प्रकार पूर्ववत् शिष्य के कर्म का विधि पूर्वक सम्पादन कर इसकी पूर्णाहुति भी अवश्य करनी चाहिये । तदनन्तर शिष्य के कल्याण के उद्देश्य से योजनिका क्रिया द्वारा शाश्वत परमपद में समायोजित करना चाहिये । साधक के अभिषेक के बाद ही परम पद में समायोजन उचित होता है । यह समायोजन भोग के उद्देश्य से सदाशिव पद भी हो सकता है । इससे यह अनंशक भी सदंशक श्रेणी को पा लेता है ॥१६॥

सदंशकता को प्राप्त कर लेने के उपरान्त परतत्त्व का आभिमुख्य पूर्वक ध्यान करता हुआ वह मनसेप्सित उद्देश्य की उपलब्धि में समर्थ हो जाता है । चाहे वह परमशिव के शाश्वत पद का ही चाहने वाला ही क्यों न हो । भोग की इच्छा का लक्ष्य सदाशिव पद ही हो, तो कोई बात ही नहीं ॥१७॥

५. मन्त्रांशकापादन-

मन्त्ररूप अंश अर्थात् अक्षर भेद के क्रम से अंशीकृत उस मन्त्र को ध्यान में रखकर मन्त्रांश की गणना से उसमें यह सुविचारित होना चाहिये कि, कहीं

मन्त्ररूपमंशमक्षरभेदक्रमेणांशीकृतं मन्त्रम् । साधकस्य चानुरूपांशकरूपत्वादपि अंशेन–

हीनमध्यसमुत्कृष्टं कथयामि समासतः ।।१८।।

तत्र–

हीनं शत्रुं विजानीयान्मध्यमं साध्यरूपिणम् ।
सिद्धं चैव सुसिद्धं च उत्तमं परिकीर्तितम् ।।१९।।

कथमित्याह–

मन्त्राक्षरं तु विश्लेष्य मात्राबिन्दुसमन्वितम् ।
आत्मनामाक्षरं तद्वदधोभागेऽस्य योजयेत् ।।२०।।

'ॐशिवाय नमः' इत्यादिके मन्त्रे ॐकारादि मन्त्राक्षरं मात्राभिरकारोकारादिभिर्बिन्दुना च समन्वितं विश्लेष्येति अकारोकारादिमात्रा बिन्दुं च मकारमात्राकल्पनया अस्य पृथक्कृत्य, एवं शिकारवाकाराभ्यामिकारमाकारं च विश्लेषयेत् । अकारमात्रा तूच्चारणार्थम्, न कुतश्चिद्विश्लेषयेत्प्रत्युत यतो वर्णान्मन्त्रान्तरं विश्लेषितम्, तस्याकारमुच्चारणार्थं कल्पयेदन्यथा उच्चारायोगात् । एवमात्मनः शिष्यसम्बन्धि यन्नाम विष्णुमित्रमित्यादिकम्, तत एकैकमक्षरं तद्वत्प्रोक्तमात्राभेदेन विश्लेष्य, अस्येति विभक्तमन्त्रस्याधोभागे योजयेत् । तेन अउमशइवआयनम

से कोई त्रुटि न रह जाय । इससे मन्त्रांश की पूर्णता और अपूर्णता का आकलन हो जाता है । साधक की अनुरूपता के निश्चय के उपरान्त ही इसका निर्णय होता है । इसमें उसकी हीनता, मन्त्र की मध्यमता और उत्कृष्टता की दृष्टि से तीन भेद १. हीन, २. मध्य और ३. उत्कृष्ट भेद के अनुसार ही आकलन करना चाहिये । भगवान् आगे की कारिका में इसका कथन कर रहे हैं ॥१८॥

इस क्रम में यह ज्ञातव्य है कि, हीन मन्त्र शत्रु होते हैं । मध्यमन्त्र साध्य होते हैं और उत्तम मन्त्र सिद्ध और सुसिद्ध दो प्रकार के होते हैं ॥१९॥

यह कैसे होता है, इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं–अभिलषित मन्त्र के अक्षरों को पहले अलग अलग करते हैं । इसके बाद मन्त्राक्षर मात्रा और बिन्दु से समन्वित कर अपने नाम के अक्षरों को भी अलग अलग कर अभीष्ट मन्त्राक्षरों के नीचे नीचे क्रमशः लिखें । मान लें–अभीष्ट मन्त्र हैं–'ॐ शिवाय नमः' । इसके अक्षरों को विभाजित कर एक पंक्ति में लिख लें । उन अक्षरों और मात्राओं को नीचे शिष्य के अपने नामाक्षरों और मात्राओं को लिखें । इस क्रम को इस तरह अपनावें–

इति दशानामक्षराणामधोविभक्तानि विष्णुमित्रनामाक्षराणि वइषणउमइतरेति दद्यात् । यत्र मन्त्राक्षराणि बहूनि भवन्ति, तत्र नामाक्षराणि पुनः पुनर्योजयेदा मन्त्राक्षरसमाप्ति योजयेत् ॥२०॥

एवं स्थिते सति–

आत्मवर्णात्समारभ्य यावन्मन्त्रार्णमागतम् ।
यस्मिन्स निपतेद्देवि तमायं परिकल्पयेत् ॥२१॥

जैसे अभीष्ट मन्त्र का स्वरूप और इसके नीचे शिष्य नामाक्षर–विष्णुमित्र

अभीष्ट मन्त्र–(ॐशिवायनमः) (विष्णु मित्र) शिष्य नाम

अ	उ	म	श	इ	व	आ	य	न	म
व	इ	ष	ण	उ	म	इ	त	र	

यह ध्यान देने की बात है कि, शिष्य के नाम के अक्षरों से अधिक मन्त्राक्षर हैं । जहाँ नामाक्षर कम होते हैं, वहाँ नामाक्षरों को पुनः जोड़ना चाहिये ॥२०॥

इस तरह शिष्य के नामाक्षरों को मन्त्रवर्णों तक की गणना करनी चाहिये । जैसे व से मन्त्र के अ रूप आद्यक्षर पर्यन्त गिनने पर ९ अंक आता है । शिष्य के नाम का आदि अक्षर व है । मन्त्र का आदि अक्षर अ है । अ के ठीक नीचे व लिखकर क्रमशः इसी प्रकार लिखने पर मन्त्राक्षर न के नीचे शिष्य नामाक्षर का अन्तिम अक्षर समाप्त हो जाता है । यहाँ पुनः शिष्य नामाक्षरों को नीचे इसी प्रकार लिखा जाना चाहिये ।

इस तरह ९ बार लिखने पर मन्त्रवर्ण और शिष्य के नामाक्षर बराबर हो जाते हैं । इसी क्रम के अपनाने पर मन्त्र के चार भेद हो जाते हैं–१. सिद्ध, २. साध्य, ३. सुसिद्ध और ४. अरि । इन भेदों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्रथम तीन भेद वाले मन्त्र 'आय' है । चतुर्थ भेद रूप 'अरि' मन्त्र कभी भी जप न करें । पहले तीन शुभ हैं और चौथा अनिष्टकर होता है ।

इसकी जानकारी के लिये एक चतुर्भुज को चार भागों में बाँटने पर १६ कोष्ठक बनाकर उनमें मातृका के वर्णों को इस प्रकार लिखें–

शिष्यनामाक्षरमेकैकमवधिं कृत्वा मातृकावर्णपाठक्रमेण गणनया एकैक-नामाक्षरोर्ध्वस्थ एकैको मन्त्रवर्णो यावदागच्छति, तावद्वक्ष्यमाणेन सिद्धसाध्य-सुसिद्धारिभेदगणनेन यत्रैतदन्यतमे स नामवर्णो निपतेत्संयुज्येत, तमायमिति शुभाशुभसूचकं निश्चिनुयात् । यथोक्तं मया संग्रहे–

'आयान्तीष्टेतरार्थाय भवन्त्यायास्तत.......'। इति ॥२१॥

१	२	३	४
अ क थ ह	उ ङ प	आ ख द	ऊ च फ
५ ओ ड व	६ ऌ झ म	७ औ ढ श	८ ॡ ञ ष
९ ई घ न	१० ऋ ज भ	११ इ ग ध	१२ ॠ छ न
१३ अः त स	१४ ऐ ठ ल	१५ अं ण ष	१६ ए ट र

इसमें १, ३, ११, ९, २, ४, १०, १२, ६, ८, १६, १४, ५, ७, १५, १३ इस क्रम के कोष्ठों में स्वर के १६ वर्णों का न्यास करना चाहिये

इसी प्रकार–

क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त,
१, २, ११, ९, २, ४, १०,१२, ६, ८, १६, १४, ५, ७, १५, और १३
त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, ष, स,
ह

इस चक्र को अ क थ ह (प्रथम कोष्ठ के नाम पर रखा हुआ) चक्र कहते हैं । इस चक्र का प्रथम चार सिद्ध, २द्वितीय, तीन उ ङ प साध्य, तृतीय आ ख द सुसिद्ध, और चतुर्थ ऊ च फ कोष्ठक अरि माना जाता है ।

इन्हीं चक्रों के अनुसार मन्त्राक्षर के वर्णों और शिष्य नामाक्षर के वर्णों को रखने पर क्रमशः यह निर्णय हो जाता है कि कौन अभीष्ट मन्त्र सिद्ध मन्त्र है । इन्हीं मन्त्राक्षरों और शिष्य नामाक्षरों का मेलापक होता है ।

स्वयं आचार्य क्षेमराज ने 'संग्रह' ग्रन्थ में इस विषय में यह लिखा है कि, इस तरह इष्ट मन्त्रों के इतर अर्थात् अरि मन्त्रों के ज्ञान के लिये और आय के ज्ञान के लिये उक्त मेलापक क्रिया करनी चाहिये ॥२१॥

अत्र गणनोपायप्रदर्शनपूर्वमायस्वरूपमादिशति–

रेखाङ्गुलिगतं तं तु कथयामि समासतः ।

रेखोपलक्षिताङ्गुलीगतमङ्गुलिरेखासु कथितं तमायम् । स च

पर्वणि प्रथमे सिद्धः साध्यश्चैव द्वितीयके ।।२२।।

तृतीये तु सुसिद्धः स्यादरिर्ज्ञेयश्चतुर्थके ।

अनेन क्रमेण नामाक्षराणि मन्त्राक्षरप्राप्ति यावद्गणयित्वा आयं परीक्षेत ।

तत्र–

अरिसाध्यौ परित्यज्य दातव्यश्चुम्बकेन तु ।।२३।।

सिद्धरूपः सुसिद्धश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।

अरिसाध्ययोराद्यन्तस्थितयोर्बहलयोर्वा परित्यागः, सिद्धसुसिद्धयोस्तु स्वीकारः क्रमेण भुक्तिमुक्तिप्रदत्वात् । यथोक्तम्–

'सिद्धान्ते सिध्यतेऽवश्यं साध्यान्ते कृच्छ्रसाधनः ।
सुसिद्धः पूर्वसिद्धस्तु अर्यन्तो न प्रसिध्यति' ।।

इति । तथा–

'एवं शुद्धौ कृतायां तु सुसिद्धोऽभ्यधिको यदि ।
सिद्धौ न लभ्यते ग्राह्यमूर्तिः साध्येऽपि साधकः' ।।

इति । शुद्धौ कृतायामित्यंशकविषये निश्चितायां साध्येऽपि अधिके त्रिश्चतुर्वा आयाते सति मन्त्रमूर्तिराराध्यत्वेन ग्रहीतव्या इत्यत्रार्थः । इयं चांशकपरीक्षा एकाक्षरमालामन्त्रयोर्न कर्तव्या । यथोक्तम्–

मेलापक गणना के उपायों के कथन के बाद आय (धन) और ऋण आदि मन्त्रों के भी विचार किये जाते हैं । इसके लिये अङ्गुलियों के चारों पर्वों अर्थात् गाँठ चिह्नों और ऊपर के पर्व को मिलाने से १६ पर्वों पर भी यह विचार किया जाता है । जैसे–प्रथम पर्व के अक्षर सिद्ध, द्वितीय के साध्य, तृतीय के सुसिद्ध और चतुर्थ पर्व के अक्षर वाले वर्ण अरि वर्ग के होते हैं ।।२२।।

इनमें अरि और साध्य मन्त्रों का परित्याग कर चुम्बक गुरु सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्र का ही उपदेश करें । ये दोनों प्रकार के मन्त्र भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रकार के फल देने वाले होते हैं । अरि और साध्य मन्त्र उत्तम नहीं होते । कहा गया है कि,

'सिद्ध मन्त्र के जप की पूर्णता पर अवश्य सिद्धि होती है । साध्य मन्त्र कठिनायी से सिद्धि रूप फलप्रद होते हैं ।

'एकाक्षरेषु कूटेषु मालामन्त्रेषु भामिनि ।
अंशकं न परीक्षेत परीक्षेतान्यमन्त्रगम्' ॥

इति, कूटेष्वद्वैततत्त्वेषु । अत एव–

'मायां नेत्रे च देवेशि तथा द्वात्रिंशदक्षरे ।
न च तत्रारिशङ्का स्यात्.............' ॥

इत्यप्यन्यत्रोक्तम् । तदित्थं विचारात्–

यस्त्वंशकविशुद्धः स्याद्भैरवोऽत्र वरानने ।।२४।।

सुसिद्ध तो पूर्व से ही सिद्ध है । जहाँ तक अरि मन्त्रों का प्रश्न है, उपद्रव कारक होते हैं' ।

इस विषय पर यह भी कहा गया है कि, इस प्रकार की मेलापक क्रिया के उपरान्त यदि साध्य मन्त्र ही धन की दृष्टि से उत्तम हो, तो वह भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है । ३ या ४ शेष रहने पर मन्त्रमूर्त्ति आराध्य रूप से स्वीकार्य हो जाती है ।

मेलापक की यह परीक्षा एकाक्षर मन्त्र और माला मन्त्रों में नहीं करनी चाहिये । इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि,

'प्रिये ! एकाक्षर कूट अद्वैत तत्त्वात्मक बीज मन्त्रों और माला मन्त्रों को देते समय अंशकापादन की प्रक्रिया नहीं अपनानी चाहिये । अन्य मन्त्रों की परीक्षा तो करनी ही चाहिये' ।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि,

'माया' 'नेत्र' और द्वात्रिंशदक्षर मन्त्रों के सम्बन्ध में 'अरि' होने की कल्पना भी नहीं करनी चाहिये' ।

ये कथन और उक्तियाँ मेलापक से सम्बन्धित हैं । इन पर अवश्य विचार करना चाहिये ॥२३॥

निष्कर्ष यह कि, अंशक विशुद्ध भैरव मन्त्रों (सभी आठों प्रकार के १–कपालीश, २–शिखिवाहन, ३–क्रोधराज, ४–विकराल, ५–मन्मथ, ६–मेघनाद, ७–सोमेश्वर और ८–विद्याराज) के रूप में जो भी परीक्षित हो गया है, उसे ही आराध्य मानकर मध्य मण्डल में या अन्तर्याग के समय हृदय मण्डप में मध्य में प्रतिष्ठित करना चाहिये । क्योंकि, आराधना की दृष्टि से वही उत्कृष्ट प्रमाणित हो चुका है । उसकी पूजा कर उसी स्थान पर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत से व्याप्त परभैरव रूप स्वच्छन्द भैरव को भी न्यस्त करना चाहिये । यह आवश्यक विधान है ॥२४॥

तं मध्यमस्थं संपूज्य तत्स्थाने मध्यमं न्यसेत् ।

य इति कपालीशाद्यन्यतमः । मध्यमस्थमिति आराधनायां प्रधानीभूतत्वात् तत्स्थान इति तस्यावरणकक्ष्यास्थस्य कपालीशादेः पदे मध्यममिति श्रीस्वच्छन्दमयं तुर्यादिरूपतया परीक्ष्येति दर्शितम् ।

अथ कथं श्रीस्वच्छन्दनाथस्य परिवारं प्रति परिवारतया न्यास इत्याशङ्कां शमयितुमाह–

यतः सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतः स्मृतः ।।२५।।
तत्सिद्धिमुक्तिदातासौ न वर्णाः परमार्थतः ।

यः सर्वगतो व्यापको देवः क्रीडादिशीलः चिदानन्दघनः श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः सर्वेषु कपालीशादिषु प्रपञ्चव्याप्त्यावस्थितेषु अन्तर्गतः परमार्थरूपो यतः, तत्तस्मात् स एव तत्तत्कपालीशाद्यात्मना स्मृतः साधकस्यांशकशुद्ध्या सिद्धिमभेदव्याप्त्या च मुक्तिं ददाति परमार्थतः, न तु व्याप्तिज्ञानशून्या वर्णाः किंचित्कुर्वन्ति । उक्तं हि प्राक्–

'अक्षरेषु कुतो मोक्षः........' । (७/२३८)

इति । तेन स्वस्यावरणभेदस्यान्यथाकल्पनेऽपि न तत्त्वभूमेः काचिन्म्लानिः ।

भैरवाष्टक के सभी सदस्य स्वच्छन्द भैरवनाथ के ही परिवार हैं । इसमें परिवार के रूप में फिर न्यास की बात का तात्पर्य क्या है ? इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं –

यह सर्वसम्मतिमा सिद्ध सिद्धान्त है कि, स्वच्छन्द भैरव भट्टारक सर्वव्यापक सर्वगत देवेश्वर हैं । दिव् धातु के सभी अर्थों की प्रथा को चरितार्थ करते हैं । वे चिदानन्दघन परम परमेश्वर हैं । वे सभी कपालीशादि प्रपञ्चव्याप्ति में प्रतिष्ठित अष्टकों के भी परमार्थतः प्रेरक हैं । वही कपालीश आदि अष्टकों की संज्ञाओं से भी विज्ञप्त होते हैं ।

यह ध्यातव्य तथ्य है कि, इस प्रकार की तात्त्विक व्याप्ति से शून्य कोई वर्ण हों या मन्त्र हों या देव हों, वे कुछ भी करने में असमर्थ माने जाते हैं । साधक ने अंशक शुद्धि के द्वारा सिद्धि, और अभेद व्याप्ति द्वारा मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त कर लिया है । उसके लिये वर्ण मात्र वर्ण नहीं रह गये हैं । वर्णों में भी परभैरव की भव्यता की भावात्मक भूमि को उसने श्रद्धा की सुधा से सिक्त कर लिया है ।

यह निश्चय है कि, व्याप्ति विज्ञान शून्य मन्त्र कुछ भी नहीं कर सकते ।

तदिदमंशकविचारान्ते प्रसङ्गायातं वस्तु–

कथितं सरहस्यं ते गुह्याद्गुह्यतरं परम् ।।२६।।

अथ यत् कथितमित्युक्तम्, तत्प्रमाणीकर्तुं परमशिवात् प्रभृति गुरुपारम्पर्येणेदं रहस्यं तन्त्रमवतीर्णमिति दर्शयन् परादि दिव्यान्तं सम्बन्धषट्कं प्रदर्शयति–

अतस्तन्त्रावतारार्थं कथयामि समासतः ।

तत्र–

अदृष्टविग्रहायातं शिवात्परमकारणात् ।।२७।।
ध्वनिरूपं सुसूक्ष्मं तु सुशुद्धं सुप्रभान्वितम् ।
तदेवापररूपेण शिवेन परमात्मना ।।२८।।

इसीलिये ७/२३८ में यह कहा गया है कि,

मात्र अक्षरों की उपासना से मोक्ष की प्राप्ति नहीं सकती ।।२५।।

अंशकापादन के उपरान्त प्रसङ्गतः प्राप्त वस्तु के उपक्रम के पहले उपसंहार रूप से कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! मन्त्र विषयक यह विज्ञान अत्यन्त गुह्य ही नहीं, गुह्यों से भी गुह्यतर है । मैंने तुम्हारे समक्ष इस रहस्य का उद्घाटन किया है । इसकी प्रामाणिकता पर अविश्वास नहीं करना चाहिये ।।२६।।

इस गुह्यविद्या का प्रवर्त्तन परम शिव से हुआ है । तब से लेकर आज तक गुरु परम्परा के अनुसार यह प्रवर्त्तित है । गुरु परम्परा से ही तन्त्रशास्त्र में यह रहस्य सुरक्षित है । भगवान् कह रहे हैं कि, इस तन्त्र के अवतरण की क्रमिकता का इतिहास थोड़े शब्दों में तुम्हें बताना चाहता हूँ । इससे इसकी प्रामाणिकता और भी पुष्ट होगी ।

यह परम्परा अदृष्ट विग्रह निराकार निष्कल, परम कारण परमेश्वर शिव से ही प्रवर्त्तित हुई । सर्वप्रथम यह आत्यन्तिक सूक्ष्म नाद रूप में स्फुरित हुई । यह मौलिक रूप से निष्कल्मष थी और पारमैश्वर्य की प्रभा से भासमान नाद ध्वनि के प्रसरण और प्रस्फुरण रूप से नादात्मक परामर्श से परिपूरित थी । अभी अप्रमेय रूपा इस ध्वनि से अकारादि कलाओं का कलन प्रारम्भ नहीं था । इससे यह ध्वनित होता है कि, वह विश्व में व्याप्त थी । प्रकाश चूँकि बोध रूप होता है । अतः प्रकाशमयी उसकी प्रभा महाज्ञान से प्रकाशमान थी ।

वही अपर रूप से अर्थात् अनाश्रित भैरव भट्टारक शिव के रूप में अवस्थित थी । यह अवस्थान प्राणदण्ड तथा वक्त्रपञ्चक में महामन्त्र के स्वरूप में पुलकित थी ।।२७-२८।।

मन्त्रसिंहासनस्थेन पञ्चमन्त्रमहात्मना ।
पुरुषार्थं विचार्याशु साधनानि पृथक् पृथक् ।।२९।।
लौकिकादिशिवान्तानि परापरविभूतये ।
तदनुग्रहयोग्यानां स्वे स्वे विषयगोचरे ।।३०।।

परमेश्वर के उस नादात्मक सुसूक्ष्म परामर्श में कई रहस्य अनुस्यूत थे–

१–अनुग्रह योग्य अनुग्राह्यों के स्तर के अनुरूप पार्थक्य प्रथा में प्रथित पृथक् पृथक् साधन या इनके अनुष्ठान के सम्बन्ध में रहा होगा ।

२–लोक की स्थिति के अनुसार सिद्धियों के साधन के लिये अपर रूप से स्फुरित अपर भाव भी रहे होंगे और

३–स्थूल मध्यमा और बैखरीरूप में स्फूर्यमाण वेदादि रहस्यान्त विभिन्न स्रोतोभेद से भावित नाना शास्त्रों के ग्रन्थ सन्दर्भों के रूप में रहा होगा ।

मन्त्र के सिंहासन पर आसीन भगवान् भैरव ही माने जाते हैं । मन्त्रों की संख्या भी साढ़े तीन करोड़ की मानी जाती है । इनके अधिपति होने के कारण इन्हें मन्त्र सिंहासनासीन कहना स्वाभाविक है । इससे यह स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि, शास्त्र भी अनन्त ही रहे होंगे ।

पञ्चमन्त्र महात्मा विशेषण शब्द है । पाँच मन्त्रों के आविष्कार से जिसने महत्त्व को प्राप्त कर लिया है, ऐसे केवल स्वच्छन्द भैरव देव ही हैं । वे पञ्चवक्त्र हैं । प्रत्येक वक्त्र के एक एक पृथक् मन्त्र हैं । इन्हीं पाँच वक्त्र मन्त्रों से महात्मा ही पंचमन्त्र महात्मा कहे जा सकते हैं । आचार्य क्षेमराज ने श्री कण्ठीय संहिता में कहे गये विविध स्रोतों से इसे संकेतित किया है । वहाँ यह उल्लेख है कि, अदृष्ट विग्रह, परमशान्त और परमकारण रूप परमेश्वर से ही ज्ञान रूप प्रकाश निष्पन्न हुआ । यह अनवच्छिन बोध अनिर्वचनीय और महान् है ।

वस्तुत: नादात्मक विमर्श की ध्वनि रूपता का ही यह एक चित्र है । इसी से उन सभी तत्त्वों की निष्पत्ति हुई, जो चतुर्वर्ग फल प्रदान करने वाले हैं । इन्हीं पुरुषार्थों की प्राप्ति के अनुसार इनकी प्राप्ति के पृथक् साधन भी विकसित हैं और भविष्य में आविष्कृत किये जाते रहे । इन्हीं के आधार पर अनन्त अनन्त शक्ति का सर्जन सम्भव हो सका ॥२९॥

लोक से शिव पर्यन्त पर, अपर और परापर भेद भिन्न बोध के साधन शास्त्र आबद्ध-निबद्ध किये जाते रहे और किये गये । यह परीक्षा भी ली जाने लगी कि, इन ज्ञान के सागरों को चुल्लू में पी जाने वाले कितने अगस्त्य हैं ?

अनुष्टुप्छन्दसा बद्धं कोट्यर्बुदसहस्रधा ।

शिवात् परमाद्वयप्रथात्मकश्रेयोरूपात् परमकारणात् शिवान्तानां कारणानां सर्वेषां स्वभित्तावाभासकात्, अत एवादृष्टः परद्रष्ट्रेकरूपो विग्रहः स्वरूपं यस्य तस्मात्, भिन्नमेतत्पदं छान्दसेन पञ्चम्यात्वादेशेन, अथ च तस्मिंस्तद्रूपमेवायातं प्रसरणस्फुरणं यस्य तद्ध्वनिरूपं नादामर्शात्मकं सुसूक्ष्ममप्रमेयं विश्वव्यापकं च, अकारादिकलाकलितत्वाभावात् सुशुद्धं सुप्रभान्वितं महाज्ञानरूपं यत्तदेवापररूपेणे-त्यनाश्रितभट्टारकाख्येन शिवेन दण्डवक्त्रभङ्ग्यवस्थितसद्योजातपञ्चमहामन्त्रशरीरे पृथक् पृथगनुग्राह्यानुसारं साधनान्यनुष्ठानानि लौकिकादिशिवान्तानि विचार्य तत्तत्सिद्धिसाधनार्थमपररूपेणैव स्थूलेन वेदादिरहस्यान्ततत्तत्स्रोतोभेदोद्भूतनाना-शास्त्ररूपमनन्तग्रन्थसन्दर्भात्मकं निबद्धम् । मन्त्रसिंहासनस्थेन सार्धत्रिकोटिमन्त्रा-धिपतिनेत्यनेनैव शास्त्रानन्त्यस्यावकाशो दत्तः । पञ्चमन्त्रमहात्मनेत्यनेन श्रीकण्ठीय-संहिताद्युक्तनानास्रोतोभेदः सूचितः । तत्र–

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
ज्ञानरूपं विनिष्क्रान्तमनवच्छदनं महत्' ॥

इत्यादिना नादस्वरूपं निरूप्य–

'ततो जातमिदं सर्वं चतुर्वर्गफलप्रदम्' ॥

ऐसे अनुग्राह्य व्यक्तियों के सर्वविध समुत्कर्ष के उद्देश्य से ही उन विषयों के अनुरूप और उनकी साधना के अनुरूप फल भी उद्घोषित किये गये । यह ध्यान देने की बात है कि, इन सारी प्रक्रियाओं में एकवाक्यता थी । ये अभिन्न विमर्शों के स्फार के ही सुपरिणाम के रूप में ही जाने जाते हैं । इस समस्त सृजन प्रक्रिया में एक तत्त्व की व्याप्ति और उसी की स्फुरणशील महासत्ता का ही सम्बल है ॥३०॥

इस व्याप्ति के विशेषज्ञ यही मानते हैं कि, अभेद अद्वय चिदानन्दघन की विश्रान्ति के ही ये धाम हैं । इनका पारमार्थिक रूप एक और निर्वचनीय है । अन्यत्र कहा भी गया है कि,

'यह सारा का सारा प्रपञ्च विस्तार शिव से ही समुद्भूत है । ये सभी वस्तुतः शिव धाम की विश्रान्ति रूप फल प्रदान करने में समर्थ हैं' ।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, यह निखिल शास्त्रप्रसर परसम्बन्ध मूलक है ॥३०॥

इत्युक्त्वा स्रोतोभेदेन नानाशास्त्रप्रपञ्चोदयः प्रदर्शितः । तदेवेत्यादिना आबद्ध-मित्यन्तेन तत्तदनुग्राह्याशयानुसारेण भिन्नभिन्नफलान्यपि शास्त्राणि वस्तुतो वाक्यैक-वाक्यतया परिपूर्णाभिन्नविमर्शस्फाराण्यासूत्रितसमस्तभेदाभेदप्रपञ्चानीति तथाविध-व्याप्तिज्ञं तत्त्वज्ञं प्रत्यभिन्नचिदानन्दघनतत्त्वविश्रान्तिपरमार्थान्येवेति ध्वनति । यदुक्तम्–

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम्' । इति ।

एवं परसम्बन्धमूलतां शास्त्रप्रसरस्य प्रदर्श्य, सम्बन्धान्तरगोचरतामपि प्रदर्शयिष्यामीत्याशयेन परमशिवेनापीत्थमिदमुत्थाप्यत इत्याह–

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।।३१।।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः ।
तज्ज्ञानमीश्वरेऽदात्तदीश्वरेण शिवेच्छया ।।३२।।
विद्यायाः कथितं पूर्वं विद्येशेभ्यस्तथादरात् ।

विश्व विचक्षण विमर्श के प्रसार का यह परिणाम था कि, करोड़ों ही नहीं अरबों और खरबों प्रकार के शास्त्र का प्रवर्त्तन हो गया । इसमें मात्र अनुष्टुभ् छन्द ही प्रयोग किया गया । शास्त्रों के प्रवर्त्तक शिव बोलते गये । ग्राहिका शक्ति से गौरवास्पद स्वयं शिव ही शिष्य बने । इस प्रकार गुरु भी शिव और शिष्य भी शिव और शास्त्र के बोधक वाक्य भी शिव ! इस तरह एक यह चमत्कार घटित हो गया और बोध, शास्त्रों में निबद्ध हो गया ॥३१॥

परावाक् शक्ति के अधिष्ठाता देव ने पूर्व और उत्तरपद युक्त वाक्यों के द्वारा तन्त्र को एक महान् आधार प्रदान दिया । अशेष शास्त्रों के सन्दर्भ इन्हीं परा और पश्यन्ती वाक्यों से प्रसूत वे सिद्धान्त थे, जो प्रश्नोत्तर रूप से साकार होकर बैखरी का रूप ग्रहण कर रहे थे । शिव के माध्यम से सदाशिव और सदाशिव से ईश्वर भाव में यह चिद्रस उड़ेल दिया गया । इसमें मूल कारण परमेश्वर की इच्छा शक्ति थी ॥३२॥

साधक यह समझता है कि, शिव, सदाशिव और ईश्वर के सविमर्श प्रकाश की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परास्फुरत्ता का ही सदुल्लास तन्त्र शास्त्र है । इसका महा सम्बन्ध परमेश्वर की शाश्वत स्फुरत्ता से है । यह सारी बोधसुधा की सरिता मातृका के महासागर में समा गयी । मातृका अष्टवर्गात्मिका होती है । यही सरस्वती है । यही विद्या है । ११/५५ श्लोकानुसार वही परा मातृका है ।

देव: परावाक्शक्तिमय: शिवभट्टारक एव, सदाशिव इति गृहीततत्तद्भूमिक:, स्वयं गुरुशिष्यपदे स्थित्वेति प्रतिभाभुवि प्रष्टृप्रतिवक्तृभावासूत्रणेन परममहापश्यन्ती-वाक्शक्त्यासूत्रितपूर्वोत्तरपदात्मकैर्वाक्यैरुपलक्षितं तन्त्रमशेषशास्त्रसन्दर्भमयं तज्ज्ञानं चेश्वरेऽदादिति संक्रमितवान् । आधारभेदत इति ईश्वरात्मकमाधारभेदमाश्रित्य स्वयं तदात्मना स्थित्वा इत्यर्थ: । तज्ज्ञानमीश्वरे दत्तमिति तु पाठ: पूर्वश्लोकान्त आसूत्र्येति योजयित्वा तेन चेत्यनुषङ्गेण व्याख्येय: । इयता महत्संबन्धो दर्शित: । शिवेच्छया सदाशिवेच्छयाइत्यनेनानायातशक्तिपातो नोपदेश्य इति ध्वनति–विद्याया इति ।

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका परा' । (११/५५)

इति वक्ष्यमाणमातृकावाच्याया देव्या:, तथा वेदनप्रधानत्वात् विद्याशब्दावाच्य-स्याशेषस्य मन्त्रग्रामस्य, अनन्तभट्टारकादिभ्यश्च विद्येशेभ्यो मन्त्रचक्रवर्तिभ्य ईश्वरेण तन्त्रं तज्ज्ञानं च कथितं संक्रमणयुक्त्या विमर्शपदं नीतम् । आदरादिति भक्त्युल्लासप्रकर्षात् । यद्यपि भगवतो मातृका तदुत्थाश्च मन्त्रा: परमेशवदभेदेनाव-भासिता विद्यातत्त्वधाम्नि तावदशेषविश्वाभेदव्याप्तिरत्र निमग्नेव स्थितेति तामुन्म-ज्जयितुमीश्वरेण विश्वानुजिघृक्षया ज्ञानसंक्रान्तिरत्र कर्तुमुपपन्नैव ।

इत: प्रभृत्यन्तरालसम्बन्ध आसूत्रित:–

'मयापि देवेशि साधिकारं समर्पितम्' । (३६)

इत्येतावत्पर्यन्तो भविष्यति ।

एवं पश्यन्तीप्रसरणपर्यन्तां शास्त्रस्थितिमुक्त्वा, मध्यमाप्रसरणेनाह–

मायानियतिपर्यन्तैस्तस्माद्रुद्रैरवापि तत् ।।३३।।

ईश्वर ने विद्या और विद्येश्वर जो विद्याशक्ति के अधिष्ठाता और मन्त्रों के चक्रवर्त्ती भी माने जाते हैं, इन दोनों के लिये पारम्परिक रूप से इस चिद्रस को प्रदान कर दिया । यह प्रदान की प्रक्रिया संक्रमणमयी थी । अर्थात् उन दोनों में संक्रमित कर दी । विद्या स्वयं वेदना प्रधान होती है । अत: इसमें वेदनात्मक विभव की शाश्वत व्याप्ति रहती ही है । इस तत्त्वधाम में अशेष विश्व भी अभेद-व्याप्तिमयमयूराण्डरस न्याय से निमज्जित है । यह ईश्वर द्वारा प्रयुक्त ज्ञान संक्रान्ति ही कही जा सकती है । यही संक्रमण युक्ति श्लोक ३६ में भी निर्दिष्ट है ।

ज्ञान-संक्रान्ति का यह स्तर पश्यन्ती पर्यन्तमयी शास्त्रीयता का ही माना जा सकता है । मध्यमा वाणी के स्तर पर विद्या तथा विद्येश्वर अनन्त

तस्मादिति विद्यातत्त्वचक्रवर्तिनोऽनन्तभट्टारकादित्यर्थात्, मायानियति-पर्यन्तैरिति मण्डलिप्रभृतिभिः कञ्चुकवासिभिश्च रुद्रैरवापीति संक्रमण-युक्त्यैव ॥३३॥

ततोऽनन्तरं तदेव ज्ञानं तथैव–

श्रीकण्ठेनेश्वरात्प्राप्तं ज्ञानं परमदुर्लभम् ।

अयं हि भगवानीश्वरात्मनः शिवस्य शिष्यो मण्डल्याद्यास्त्वनन्तशिष्याः । अत्र मध्ये पुंस्तत्त्वाधिष्ठातारो रुद्रा बन्धहेतुतया स्थापिता इति तेषामेतज्ज्ञान-शक्तिसंक्रान्तिर्न कृता । ततोऽपि तथैव–

तेनापि तदधः प्रोक्तं रुद्राणामीश्वरेच्छया ॥३४॥
प्रधानाच्छतरुद्रान्तं दीक्षयित्वा विधानतः ।
ममापि च पुरा दीक्षा तथा चैवाभिषेचनम् ॥३५॥

भट्टारक के द्वारा माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप छः कञ्चुकावरणों के अधिष्ठाता रुद्रों ने प्राप्त किया । यह भी बोध सुधा की संक्रान्ति ही थी ॥३३॥

इसके बाद यह ज्ञान 'श्रीकण्ठ' संज्ञा से विभूषित ईश्वर के परम शिष्य को ईश्वर से ही प्राप्त हुआ । पुंस्तत्त्वाधिष्ठाता रुद्रों को यह ज्ञान इसलिये नहीं प्राप्त हुआ क्योंकि वे स्वयं बन्ध हेतु के रूप में नियुक्त रुद्र हैं । अतः उनमें इस ज्ञान की संक्रान्ति नहीं की जा सकी । यह परम दुर्लभ ज्ञान ईश्वर की इच्छा के अनुकूल ही अनुग्राह्य शिष्य रूप रुद्रों को प्रदान किया । परम्परा का यह क्रम इसी तरह चलता रहा ॥३४॥

यहाँ एक सूक्ष्म कथा का सूत्र अन्तः पिरोया हुआ है । वस्तुतः 'श्रीकण्ठ-नाथ' गुणतत्त्व में अधिष्ठित देव हैं । यह शास्त्र में कथित तथ्य है । गुणतत्त्व प्रकृति का स्वात्मधर्म माना जाता है । फिर भी ये शिव के शिष्य हैं और अति-शय प्रभावशाली देव हैं । अतः ये रुद्रों पर अनुग्रह करने वाले अनुग्रहीता भी हैं । इसी बल पर इन्होंने दो प्रकार के रुद्रों पर अनुग्रह किया ।

यह ध्यान में रखना है कि, श्री कण्ठ गुणतत्त्व स्थित देव हैं । गुण प्रकृति के होते हैं । प्रकृति के स्तर के ऊर्ध्व भाग में अवस्थित क्रोधाष्टक रुद्र माने जाते हैं और श्री कण्ठ के आधार तत्त्व (प्रकृति) में ही शतरुद्र पर्यन्त भी अनन्त रुद्र अवस्थित हैं ।

श्रीकण्ठेन पुरा दत्तं तन्त्रं सर्वार्थसाधकम् ।

यद्यपि गुणतत्त्वे श्रीकण्ठनाथः स्थितः, तथाप्यसौ शिवशिष्यत्वेन प्रभावातिशयवानिति स्वोर्ध्वस्थप्रकृतिवर्तिनः क्रोधाद्यष्टकस्य स्वाधारतत्त्वगतानां च शतरुद्रान्तानां रुद्राणामनुग्रहीता । ममापीति कैलासवासिनस्तन्त्रप्रवक्तुर्भगवत उमापतेरुक्तिः । तदित्थमनन्ताद्याः श्रीकण्ठश्चेश्वरभट्टारकात्मनः शिवस्य शिष्याः, मण्डलिनस्त्वनन्तशिष्याः, क्रोधादयः शतरुद्रान्ताः, उमापतिश्च श्रीकण्ठाशिष्या इत्यादिष्टं भगवता । तेन यत् खेटकनन्दनेन–

'मण्डलिनः श्रीकण्ठः क्रोधाद्याः शतभवाः सवीरेशाः ।

अपने प्रभावातिशय के कारण और ईश्वर शिव के शिष्य की मुख्यता के कारण उन्होंने अपने से भी ऊर्ध्ववर्त्ती क्रोधाद्यष्टक रुद्रों और स्वाधारतत्त्वस्थ शतरुद्रान्त उभयविध रुद्रों पर भी अनुग्रह किया और विधान पूर्वक उन्हें दीक्षा भी दी । देवि ! इसी सन्दर्भ में मैं अपनी दीक्षा और अभिषेक के विषय में भी तुमसे बता देना अपना उत्तरदायित्व मानता हूँ ॥३५॥

तन्त्र प्रवक्ता, कैलाशवासी भगवान् उमापति अपनी ही शक्ति से अपनी बात छिपा कैसे सकते हैं । इसलिये उन्होंने पहले तो यह बता दिया कि, अनन्त भट्टारक श्रीकण्ठ ये दोनों ईश्वर शिव के ही शिष्य हैं । क्रोधादि और शतरुद्रादि भी श्रीकण्ठ के ही शिष्य हैं । यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया कि, स्वयं मैं भी श्री कण्ठ का ही शिष्य हूँ । उन्होंने ही मुझे दीक्षा दी और अभिषेक से भी कृतार्थ किया । इस तरह यह सर्वार्थसाधक तन्त्र मुझे श्रीकण्ठ से ही प्राप्त हुआ ।

यहाँ खेटपालाचार्य द्वारा कथित एक उक्ति का समन्वय कैसे बिठलाया जाय यह एक समस्या आ खड़ी हो गयी । उसी पर उद्योतकार विचार कर रहे हैं–

तन्त्रसमन्वय में ३०वें पद्य में वे कहते हैं कि,

'मण्डली रूप अनन्त शिष्य मण्डल, स्वयं श्रीकण्ठ, क्रोधाद्यष्टक, शतरुद्र और वीरेश्वर इन सभी ने कलादि कञ्चुकों के सम्पर्क के कारण ज्ञान प्राप्त किया और क्रियाशक्ति के योग की साधना प्राप्त की' ।

इस कथन में न तो दीक्षा की बात कही गयी है और न ही अभिषेक की । दीक्षा और अभिषेक ये दोनों क्रियायें पहले शाक्त समावेश के संक्रमण पूर्वक शाम्भव समावेश में प्रवेश की युक्ति से ही सम्पन्न होती हैं । अदीक्षित पुरुष

एते कलादियोगात्प्रकटीकृतदृक्क्रियाः परेशेन' ॥ (त. सं. ३०) इत्युक्तम्, तद्यथोक्तानुसारं क्वचित्साक्षात् क्वचित्पारम्पर्येणेति व्याख्येयम् न त्वविशेषेण । दीक्षयित्वेति अभिषेचनं कृत्वेति च शाक्तसमावेशसंक्रमणयुक्त्या पूर्वं शांभवसमावेशयुक्त्यैव । एवं च नादीक्षितस्य ज्ञानग्रहणे, नाप्यनभिषिक्तस्य तद्दानेऽधिकार इत्यादिष्टं भवति ।

अथैतत्तन्त्रं च तज्ज्ञानं च सङ्क्रमणयुक्त्यैव–

मयापि तव देवेशि साधिकारं समर्पितम् ।।३६।।

इतः प्रभृति वैखर्याः प्रसरः ॥३६॥

एवमियतान्तरालाख्यं सम्बन्धं प्रकटीकृत्य, दिव्यान्तमादिशति–

त्वमपि स्कन्दरुद्रेभ्यो ददस्व विधिपूर्वकम् ।
ब्रह्मविष्णिवन्द्रदेवानां वसुमातृदिवाकृताम् ।।३७।।
लोके संगृह्य नागानां यक्षाणां परमेश्वरि ।

को ज्ञान ग्रहण का अधिकार ही नहीं होता । विना अभिषिक्त हुए किसी को मन्त्र दिया भी नहीं जा सकता । इसलिये खेटपालाचार्य की इस उक्ति को कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से दृक्क्रियावन्त हुए थे, इसी सन्दर्भ में अन्वित करना चाहिये । ज्यों का त्यों नहीं ।

इन आन्तरालिक तथ्यों को अन्तः सन्दर्भ के रूप में लेते हुए अध्येता पुनः प्रकृत प्रसङ्ग की बात पर ध्यान देता है । उसे भगवान् की उक्ति सुन पड़ती है । वे कहते हैं कि, देवेशि ! मेरे द्वारा भी साधिकार तुम्हें यह विद्या समर्पित की गयी है । इस विषय में किसी को किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिये ॥३६॥

भगवान् उमापति स्वयम् उमा को भी यह अधिकार प्रदान करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! तुम भी इस विद्या को विधि पूर्वक स्कन्द और रुद्रों में संक्रमित करो । साथ ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवों, वसुओं, मातृकाओं और सूर्य आदि को भी इस विद्या संक्रान्ति से कृतार्थ कर दो । तुम देवेश्वरी हो । यह तुम्हारी कृपा उन्हें धन्य कर दे ॥३७॥

लोक संग्रह की दृष्टि से देवि ! तुम नागों, यक्षों और ऋषियों को भी दीक्षा और अभिषेक विधियों के अनुसार बोध सुधा से सिक्त करो । इस प्रकार भगवान् उमापति ने विश्वानुग्रह का अधिकार देवी को सौंप दिया । यह भगवान् की परम कारुणिकता का प्रमाण है, जो इस कथन से पुष्ट होता है ।

विधिर्दीक्षाभिषेकरूप: दिव्यादिव्यसम्बन्धमाह–

कथयस्व ऋषीणां च

एवं च देव्या विश्वानुग्रहाधिकारार्पणेन भगवता महाकारुणिकत्वं परिपोषितम् । अदिव्यं सम्बन्धमाह–

ऋषिभ्यो मनुजेष्वपि ।।३८।।

कथयस्वेति स्थितम् । देवी एव हि पराशक्तिस्वभावा विश्वाधिष्ठात्री अनुजिघृक्षारससरसहृदया तत्तदाचार्यदेहमाविश्यानुग्रहं करोति । एवं चादिव्यसम्बन्धपर्यन्त: पर एव सम्बन्ध: सर्वत्र प्रपततीत्यभिहितं भवति । तदुक्तम्–

'........................सर्व: परकलामय: ।

महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽदिव्यश्च तत्पर:' ।।

इति त्रिकहृदये ।।३८।।

उपसंहरति–

एवं तन्त्रवरं दिव्यं सिद्धरत्नकरण्डकम् ।

त्वया गुप्तचरं कार्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।।३९।।

इन दिव्य योनियों को यह ज्ञान उन्हें दिव्य रखेगा ही किन्तु ऋषियों से यह ज्ञान मनुष्यों में भी पहुँचेगा । पराशक्ति रूपा देवी विश्व की अधिष्ठात्री देवी हैं । वह परमकरुणामयी माँ हैं । अनुग्रह रस की वर्षा करने वाली प्रसू हैं । वह आचार्यों के शरीर में अनुप्रवेश कर अनुग्रह करती हैं । इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि, दिव्य सम्बन्धों से लेकर अदिव्य सम्बन्धों तक उसी परमेश्वर का अनुग्रह किसी न किसी रूप में अपने स्वात्म का सम्प्रेषण करता रहता है । इसीलिये त्रिक हृदय में कहा गया है कि, 'यह सारा अस्तित्व परभैरव भाव की भव्यता से भरा हुआ है' । भले ही वह महतो महीयान् हो, अवान्तर तत्त्व हो, दिव्य अथवा अदिव्य हो, उसी परभैरव भाव में परायण हैं ।।३८।।

पटल का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, उक्त पारम्परिक तन्त्रावतार की प्रक्रिया से यह प्रतीत हो रहा है कि, तन्त्र शास्त्र दिव्यतम रत्नों का अमूल्य करण्डक (पिटारा) है । यह अत्यन्त रहस्यमय है । अत: गुह्य एवं गोपनीय है । देवि ! उमे ! मैं तुमसे भी यही आशा करता हूँ कि, तुम भी इसे गोपनीय मानकर जिस किसी को भी अधिकारी अनधिकारी का विचार किये विना नहीं दोगी ।

यद्यपि पूर्वोक्ते सर्वतन्त्रे तवाधिकारो दत्तस्तथापि यदेवं निर्णीतनिर्णेष्यमाण-पटलगतरहस्यार्थपूर्णत्वाद् वरमुत्कृष्टमिदं दक्षिणस्रोतःसमुद्भूतभैरवतन्त्रजातमध्ये प्रधानभूतं दिव्यं सर्वभोगापवर्गप्रदं तन्त्रम्, तत्त्वया गूहनीयं ज्येष्ठाशक्तिपातवतामेव प्रकाश्यम्, नेतरेषामिति शिवम् ॥३९॥

आ देवेभ्यः क्रमान्तं निखिलमिदमियच्छासनत्राणरूपं
विश्वं यत्संप्रसूतं परमशिवपदाल्लोकपर्यन्तमेतत् ।
शास्त्रं वाक्येकवाक्यस्थितमिव विगलद्भेदविश्रान्तिलब्ध-
स्वच्छस्वच्छन्दधामप्रथनपरमिदं स्तात्समग्रस्य जन्तोः ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते अंशकाधिकारोऽष्टमः
पटलः समाप्तः ॥८॥

यह दक्षिणाम्नाय सिद्धान्त समुद्भूत भैरवतन्त्रों में प्रधान, दिव्यातिदिव्य भोगापर्वगप्रद स्वच्छन्दतन्त्र संज्ञा से विभूषित महातन्त्र है । इसका निगूहन अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है । तुम भी ऐसा ही करो । यह मेरा आदेश उपदेश और निदेश है । जिसके ऊपर ज्येष्ठा शक्ति की अनुग्रह शक्ति का संपात हो गया है, वही इसका अधिकारी है । उसे तुम इसे बता सकती हो । इतर व्यक्तियों को नहीं ॥

॥ इति शिवम् ॥

सृजन मात्र का शिव करता है,
त्राण, जयनशासन, संरक्षण,
शिव से संप्रसूत जगती है,
उससे ही प्राणन, संतर्पण ।
शिवशास्त्रों की एक वाक्यता में,
अद्वैत सुधा संवर्षण,
परभैरव संप्रथन परक, यह शास्त्र
['स्वच्छन्द'] स्वयं शिव निर्मल दर्पण ॥

उद्योतकारपद्यानुवाद

हंसः शिवः विश्वनियन्त्रणाय विमर्शविद्यां विदधाति शश्वत्
आस्वादितुं विश्वरसं शिवोयं ह्यङ्गीकरोतीव विमर्शविद्याम् ।
प्रावर्त्तयत् त्वार्ष-विमर्श-सिन्धौ तस्मात् मनुष्येषु पराकृपातः
हंसस्तु तत्रैव विनक्ति नीरं, क्षीरं व्यनक्तीह शिवार्चनाय ॥

तन्त्रायतिक्रमो ह्यस्मिन् दर्शितः पटलेष्टमे
नीर-क्षीर-विवेकेन स स्यात्स्फुटतरः शुभः ।
विषया हंसभाष्येन विशदा विलसन्तु वै
स्वच्छन्दस्याष्टमे ह्यस्मिन् पटले प्रतिपादिताः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीक्षेमराज-कृतोद्योतव्याख्या-सहित
डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसमन्वित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र
का
अंशकाधिकार नामक अष्टम पटल परिपूर्ण ॥८॥
॥ शुभं भूयात् ॥

●

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

।। अथ नवमः पटलः ।।

श्रीमन्निष्कलसद्धित्तावुट्टङ्क्य सकलस्थितिम् ।
विश्राम्यत्यकले तत्त्वे यस्तं भैरवमाश्रये ॥

साधकोद्देशेनाराध्यपञ्चप्रणवनिरूपणानन्तरं तदुपयोगिबहुप्रमेयगर्भं कालस्वरूपमभिधायांशकसतत्त्वमुक्तं प्रसङ्गात्तन्त्रावतारो दर्शितः । अथ विघ्नौघविघातेन झटित्यभीष्टसिद्धिसाधनं श्रीकोटराक्षविधानं रक्षाचक्रप्रपञ्चमप्रश्नितमपि अनुजिघृक्षया प्रतिपिपादयिषुः श्रीभैरव उवाच–

।। श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम् ।।

नवमः पटलः

निज निष्कलता में स्फुरित कर नव सकल सुरूप ।
स्वयम् अकल में रम रहा, भैरव, आश्रय-रूप ॥

साधक साधना में संलग्न रहकर आराध्य की आराधना करता है । परम कृपालु परमेश्वर ने उस पर अनुग्रह करते हुए उसके श्रेयः की सिद्धि के उद्देश्य से पञ्चप्रणव का उपदेश विगत पटल में किया है । पञ्चप्रणव साधना की सिद्धि में उपयोगी बहु प्रमेयगर्भ काल के स्वरूप का भी अभिधान वहाँ प्रस्तुत है । प्रसङ्गवश तन्त्र के अवतरण की चर्चा भी की गयी है ।

इस पटल में भी साधना की सिद्धि के सन्दर्भ को ही महत्त्व प्रदान किया गया है । यह प्रसिद्ध है, शुभ कार्यों में विघ्नों की बड़ी बाधायें आती हैं । उनका निवारण भगवान् ही कर सकते हैं । अभीष्ट की तत्काल सिद्धि तभी हो सकती है । विघ्नौघ के विनिवारण और तत्काल अभीष्ट की सिद्धि के उद्देश्य से स्वयं भैरव भट्टारक ने 'कोटराक्ष' विधान प्रस्तुत किया है । साथ ही रक्षाचक्र प्रपञ्च प्रश्नित जिज्ञासा का भी अनुग्रह पूर्ण समाधान किया है । यही तथ्य भगवान् भैरव यहाँ इस पटल के माध्यम से प्रारम्भ कर रहे हैं और कह रहे हैं कि, इसके बाद मैं इस रहस्य का उद्घाटन करने जा रहा हूँ । यह अत्यन्त उत्तमकोटि के रहस्य की बात है । कारिका में अतः अव्यय से भैरव के कहे गये वचनों के क्रम की सूचना मिलती है । प्रवक्ष्यामि क्रिया में प्र उपसर्ग के द्वारा अनुग्रह

अतः परं प्रवक्ष्यामि रहस्यमिदमुत्तमम् ।

अतःशब्दो व्याख्यातक्रमसूचनाय । प्रकर्षेण अनुजिघृक्षादरेण वक्ष्यामि । उत्तमं रहस्यमिति सर्वविघ्नप्रशमनं झटित्यभीष्टसिद्धिप्रदं च । अत एव–

यन्न कस्यचिदाख्यातं तत्ते वक्ष्यामि सुव्रते ।।१।।

शोभनं व्रतं परतत्त्वावहितत्वं यस्या इत्यामन्त्रणेन योग्यतमविरलशिष्य-विषयत्वमस्यानुष्ठानस्येति ध्वनति, अतश्च योग्यदेवीव्यतिरेकेण नैतदन्यस्याप्युक्तम् ॥१॥

एतदुद्घाटयति–

महाभैरवदेवस्य क्रीडमानस्य भामिनि ।
सृष्टिसंहारकर्तारं हृदयात्तु विनिर्गतः ।।२।।

महाभैरवदेवः प्रथमपटलदर्शितनिर्वचनस्थित्या स्वच्छन्दनाथस्तस्य, निःशेषविघ्न-प्रशमनसर्वसिद्धिसम्पादनानुजिघृक्षात्मिकां क्रीडां ताच्छील्येन कुर्वतः, स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या-त्मकाद् हृदयात्, सृष्टिसंहारयोः कर्त्ता वक्ष्यमाणश्रीकोटराक्षनामा देवः, अरं शीघ्रं विनिर्गतः समुच्छलित इत्यर्थः । अत एव भगवानघोरहृदय इत्युच्यते ॥२॥

की आकाङ्क्षा में भगवान् का आदर व्यक्त हो रहा है । उत्तम रहस्य से भी विघ्नों के तत्काल शमन की शक्ति और अभीष्ट की तुरत सिद्धि का संसूचन हो रहा है ।

भगवान् भैरव भट्टारक देवी को सम्बोधित कर रहे हैं कि, सुव्रते देवि ! जिस रहस्य को आज तक मैंने कहीं किसी को भी नहीं सुनाया है । वही रहस्य तुम्हें आज अभी सुनाऊँगा । यह योग्यतम विषय विरल शिष्य को ही सुनाया जा सकता है । इससे देवी की योग्यता प्रमाणित हो जाती है ॥१॥

भगवान् कह रहे हैं कि, सौन्दर्य और रमणीयता की देवी के रूप में प्रसिद्ध शिवे ! एक बार की बात है कि, महाभैरव देव क्रीडा में मग्न थे । उनकी क्रीडा भी विचित्र होती है । चुटकी में किसी की पीड़ा का हरण कर देते हैं । शैवाचार ही सिद्धियों का आधार माना जाता है । उसे अनायास पूरा करा देना ही भगवान् की क्रीडा है । इसी में वे रमे हुए थे ।

उन्हें सृष्टि और संहार की भी चिन्ता थी । भगवान् का हृदय स्वातन्त्र्य के आनन्द से भरा रहता है । उसी स्वातन्त्र्य की शक्ति से सृष्टि और संहार के कर्त्ता कोटराक्ष भगवान् भैरव देव के हृदय देश से विनिर्गत हुए । कर्त्ता और अर शब्दों के श्लेष के आधार पर विनिर्गत देव का विशेषण सृष्टि संहार कर्त्ता माना जायेगा । अर का अर्थ शीघ्र होता है । भैरव देव के स्वातन्त्र्यमय हृदय से विनिर्गत देव तत्काल सृष्टि संहार करने में समर्थ हैं । 'सृष्टि संहार कर्त्तारम्' का यह द्वितीयान्त प्रयोग तीसरे श्लोक से अन्वित करने पर भी कोटराक्ष की शक्ति का अनुसन्धान किया जा सकता है ॥२॥

तं भगवन्तं दर्शयितुमाह–

कल्पान्तवह्निवपुषं प्रलयाम्बुदनिःस्वनम् ।
तडित्पुञ्जनिभोद्दंष्ट्रं जटाज्वालासमप्रभम् ।।३।।
चन्द्रसूर्याग्निनयनं कोटराक्षं सुभीषणम् ।
बृहद्वक्षःस्थलाभोगं नागयज्ञोपवीतिनम् ।।४।।
स्फुरन्माणिक्यमुकुटं सर्पकुण्डलभूषितम् ।
सर्पहारकृताटोपं सर्पकङ्कणनूपुरम् ।।५।।
सिंहचर्मपरीधानं सर्पमेखलमण्डितम् ।
गजचर्मावृतपटं शशाङ्ककृतशेखरम् ।।६।।
पञ्चवक्त्रं शवारूढं दशबाहुं त्रिलोचनम् ।
कपालमालाभरणं खड्गखेटकधारिणम् ।।७।।
पाशाङ्कुशधरं देवं शरशार्ङ्गवितानितम् ।
कपालखट्वाङ्गधरं वरदाभयपाणिकम् ।।८।।
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं स्फुरिताधरभास्वरम् ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुनमितं त्रिदशैरपि दुर्लभम् ।।९।।

आगे कोटराक्ष के ध्यान के लिये उनके व्यक्तित्व का एक शब्दचित्र श्लोक ३ से श्लोक नौ पर्यन्त प्रस्तुत किया गया है । उनको किस रूप में देखा गया, इसका शब्दचित्र इस प्रकार है–

१–कल्पान्त में प्रज्वलिष्यमाण अग्नि के समान तैजस शरीर से दीप्तिमान्त । २–प्रलयकालीन बादलों के समान घोष से समन्वित । ३–बिजली की कौंध के समान निकली दंष्ट्रा से शोभित, ४–जटा की पिङ्गल प्रभा से भासमान, ५–चन्द्र (वाम) सूर्य (दक्षनेत्र) और अग्नि (तृतीयनेत्र) से चित्राकार, ६–कोटर की तरह धँसी हुई गहरी आँखों वाले, ७–अत्यन्त भयावने, ८–लम्बी चौड़ी छाती से सक्षम, ९–सर्प के उपवीत से वेष्टित, १०–माणिक्य से रमणीय मुकुट धारक, ११–सर्पकुण्डल से शोभित, १२–सर्पस्रक् शोभित, १३–सर्प के कङ्कणों और नूपुरों से युक्त, १४–सिंहचर्म धारी, १५–सर्प की मेखला से मण्डित, १६–हाथी के चर्म के उत्तरीय से आवृत, १७–चन्द्रशेखर, १८–पाँच मुख वाले, १९–शवारूढ, २०–दशबाहु, २१–त्रिलोचन, २२–कपालमाल के आभरण से संभृत, २३–खड्ग और खेटकधारी, २४–पाशांकुशधारी, २५–धनुष बाण के प्रयोग में संलग्न गोल हाथों वाले, २६–कपाल और खट्वाधारी, २७–वरद

सर्वमेतत् प्रागुक्तव्याख्याभिः व्याख्यातसतत्त्वम् । तडित्पुञ्जनिभे उद्गते दंष्ट्रे यस्य, जटानां ज्वालानां चासमा प्रभा दीप्तिर्यस्य, कोटरं कुहरं तदाकृतीन्यक्षीणि यस्य अनेन अन्तर्लक्ष्यतां बहिर्दृष्टित्वं च दर्शयति, सुष्ठु भीषणत्वं नाम्नैवोक्तम् । मेखलशब्दे तु ह्रस्व ऐश्वरः । त्रिलोचनमिति प्रतिवक्त्रम् । अवतानितं मण्डलीकृतदोर्दण्डम्, स्फुरिताधरत्वं निःशेषविघ्नभक्षणपरत्वेन ॥९॥

एतद्रूपमनुग्राह्यैरुपास्यमित्याह–

एवं तं भैरवं देवं स्वच्छन्दं परिकीर्तयेत् ।

स्वच्छन्दनाथमेव बहुरूपत्वादनेन सुभीषणेन विघ्नसंत्रासनेन रूपेण चिन्तयेदित्यर्थः । अतश्च–

स्मरणान्नाशयेद्देवः पापसंघातमुल्वणम् ॥१०॥

ध्यायिनां व्याध्याद्युद्भावकप्राक्तनमहापापप्रशमनायैव तेनैवंविधं रूपं स्वेच्छया गृहीतम् । अतः स्मरणादेवोल्वणं दुष्टभोगदानायोन्मुखीभूतं पापसंघातं नाशयत्येव । अत एव चतुर्वक्त्रात् श्रीव्याधिभक्षभट्टारकादयमन्य एव देवो व्याध्याधिकारणभूतमहापापभक्षण इत्यवगतम् ॥१०॥

और अभय मुद्राओं से मोदमय, २८–घोर काले अंजन से समूह के समान कृष्ण, २९–स्फुरित होठों से सुन्दर, ३०–ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु रूप त्रिदेवों से प्रणम्य और ३१–देवों के लिये भी दुर्लभ सृष्टि संहार क्रिया में समर्थ देव भैरव भट्टारक के हृदय से विनिर्गत । इसी रूप में तत्कालीन देवों ने उन्हें देखा था ॥३-९॥

श्लोक दो में महाभैरव देव की चर्चा है । उन्हीं के हृदय से इस नये देव की उत्पत्ति हुई है । श्लोक ४ में इनका नाम कोटराक्ष रख दिया गया है । श्लोक १० में उन्हें ही स्वच्छन्द भैरव नाम से विभूषित किया गया है और यह निर्देश दिया गया है कि, अनेक रूपों में व्यक्त, भीषण विघ्नविध्वंसकारी रूप में श्री स्वच्छन्दनाथ का ही स्मरण कीर्त्तन करना चाहिये । ये देवाधिदेव स्मरण मात्र से उल्वण पापराशि के सर्वनाश में समर्थ हैं । रहस्य की बात तो यह है कि, उनके ध्यान में लगे भक्तों की व्याधियों के उद्भव के मूल प्राक्तन पापों के विध्वंस के लिये ही उन्होंने इस प्रकार के विकराल रूप को अपनाया । अतः असह्य पीड़ाप्रद पाप–संघातों का नाश उनके स्मरण से ही हो जाना स्वाभाविक है ॥१०॥

किञ्च,

अस्य मन्त्रः पुराख्यातो द्वात्रिंशाक्षरसंमितः ।

यस्तं भीषणरूपानुगुणतया–

पञ्चप्रणवपूर्वान्तं तत्र लीनं जपेन्मनुम् ।।११।।

प्राग्दर्शितसतत्त्वाः पञ्च प्रणवाः पूर्वान्तयोः यस्य तम्, तत्रैव पञ्चप्रणवस्वरूपे लीनं विश्रान्तम्, तद्भित्त्यर्थं तदाच्छुरितं चेमम्, महामन्त्रं पूजान्ते जपावसरे जपेत् । अतश्चैवं वाच्यवाचकक्रमाभ्यां दीप्तत्वादघोरीश्वर्ययुक्तत्वाद् भाविविशिष्टदेवतापरिवृतत्वेतराभ्यामस्य द्वात्रिंशदक्षरादन्यत्वमित्यनुष्ठानान्तरमेवैतत् ॥११॥

तदीदृशस्य–

तस्य कल्पं प्रवक्ष्यामि समासान्न तु विस्तरात् ।

कल्प्यत आराध्यतेऽनेनेति कल्पः विधानम् । तमाह–

पूर्वोक्तभूप्रदेशे च विशुद्धे शुभलक्षणे ।।१२।।

व्याधियों और आधियों के कारणभूत पापराशि के नाश करने वाले ये कोटराक्ष रूप स्वच्छन्द भट्टारक भैरवदेव, चतुर्वक्त्र सम्पन्न व्याधिभक्ष नामक भैरव के अतिरिक्त देव हैं । इनकी पृथक् गणना करनी चाहिये । इनका द्वात्रिंशदक्षर का मन्त्र पहले ही कहा गया है । इस मन्त्र का जप पञ्चपणव पूर्व और अन्त दोनों ओर लगाकर किया जाता है । जप करते समय साधक स्वात्म को मन्त्र की रहस्यात्मकता में लीन रहकर जप करे । यही शास्त्र का निर्देश है । मन्त्र के वाचक वर्णों और उनके वाच्य देवों का क्रम निर्धारित है । उसी के क्रम के अनुसार अघोरैश्वर्य का बोध उससे होता है । इसमें अघोरीश्वरी को युक्त करने का विधान नहीं है । इसके अतिरिक्त एक अनुष्ठान ऐसा भी करते हैं, जिसमें भावी पटलों में उक्त देवताओं से परिवृत और अपरिवृत अन्य मन्त्रमय देव की आराधना की जाती है । वह अलग विधान है ॥११॥

उसी पूर्वोक्त पञ्चप्रणव पूर्वान्त मन्त्र सिद्धि का तत्काल प्रचलित प्रकल्प संक्षेप से यहाँ कहा जा रहा है । अतः वर्णन की समासपद्धति ही यहाँ अपनायी जा रही है । व्यास पद्धति का आश्रय यहाँ नहीं लिया जा रहा है । कल्पना का अर्थ आराधना का विधान ही माना जाता है । इसके लिये शुभ भूप्रदेश की अपेक्षा होती है । इसका वर्णन अन्य सन्दर्भों में भी आ चुका है । उसी के अनुसार भूप्रदेश की व्यवस्था करनी चाहिये ॥१२॥

पुष्पप्रकरसंकीर्णे गन्धधूपाधिवासिते ।
तत्र मण्डलमालिख्य पूर्वोक्तैर्वर्णकैः शुभैः ।।१३।।
एकहस्तं द्विहस्तं वा चतुर्हस्ताष्टहस्तकम् ।
सुसूत्रितं समं कृत्वा चतुरस्त्रं समन्ततः ।।१४।।
पूर्ववत्साधयित्वा तु दिग्भागांस्तु वरानने ।

पूर्वोक्तैरिति–

'धाम्ना तु रजसां पातः..........' । (४/३५)

इति वाक्येन सूचितैः, वर्णकैः सिन्दूरादिभिः । गतार्थमन्यत् ।

एतत्प्राक्तनमण्डलाद्विशिष्टं मण्डलमित्याह–

चतुर्द्वारसमोपेतष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
मध्ये पद्मं समालिख्य केसरैरुपलक्षितम् ।।१५।।
द्वात्रिंशदक्षरं बाह्ये चक्रमालिख्य शोभनम् ।
एवं सुसूत्रितं कृत्वा बाह्ये चैव तु वर्तुलम् ।।१६।।

भूमि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का उल्लेख कर रहे हैं । १–पुष्प राशि से समन्वित, २–गन्ध धूप आदि से अधिवासित, ३–मण्डल बनाने के योग्य इन तीन सुविधाओं से युक्त भूमि पर मण्डल रचना की जानी चाहिये । उसे रजस् से रंजित कर वर्णक अर्थात् सिन्दूर आदि शुभ रङ्गों से भी रंजित करना चाहिये ।।१३।।

यह मण्डल चतुष्कोण हो, एक, दो, चार, आठ आदि हाथों के चौकोर क्षेत्र में निर्मित हो, सूत्रों से शुद्ध नापने अर्थ में सुसूत्रित प्रयोग किया गया है । अच्छी तरह से चारों ओर से सुसज्जित किया गया हो । इस विषय में पहले कहे गये नियमों को ध्यान में रखकर सारे दिग्विभागों से सुरक्षित और आकर्षक मण्डल होना चाहिये । एक हाथ आदि के मण्डप वित्तहीन व्यक्तियों की सादगी को ध्यान में रखकर ही कहा गया है ।।१४।।

कुछ और विशिष्टता का वर्णन कर रहे हैं–१–चारों दिशाओं में चार द्वार हों, २–मुद्राओं और अलङ्कारों से सुशोभित होना चाहिये । ३–अष्टपत्र की रचना उसमें की गयी हो । ४–ऐसे अष्टपत्र कमल की कर्णिका भी रंगों से रंजित हो । ५–यह पद्म बीच में निर्मित हो । ६–केसरों की उसमें प्रकल्पना की गयी हो ।।१५।।

चतुरस्त्रं तदासन्नं बाह्ये वीथीं प्रकल्पयेत् ।
मध्यपद्मप्रमाणेन द्वारं कल्प्येत पूर्ववत् ।।१७।।

एवमिति चक्रपरीमाणानुसारेण, सुसूत्रितं वर्तुलं भ्रमं कृत्वा, तस्यासन्नं च चतुरस्त्रं कृत्वा वीथीं प्रकल्पयेत् । तद्बाह्येऽन्तःपद्मक्षेत्रमानं कण्ठकपोलशोभोपशोभाढ्यं चतसृषु दिक्षु द्वारचतुष्टयं कल्पयेत् ॥१७॥

अथ निष्पन्ने मण्डले साधकः-

भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालङ्कारभूषितः ।
केशयज्ञोपवीती च दिग्वासाः संयतेन्द्रियः ।।१८।।
शंखार्घपात्रहस्तस्तु सकलीकृतविग्रहः ।
परितोऽस्त्रं प्रविन्यस्य भैरवं पूजयेत्प्रिये ।।१९।।
प्रणवासनसंस्थं तु

भस्मोद्धूलितत्वादिना साधकस्य मन्त्राराधनावसरे महाव्रतित्वमुक्तमत एव परभैरवानुकारित्वेनापि तदभिमानिनो विघ्ना नश्यन्ति । भाव्यस्यात्र जलस्नानादि नोक्तम्, दिग्वासास्तदन्यस्य यत्संयमनाशनेनैव कौपीनग्रहणात् ? शङ्खमत्र प्रकरणसामर्थ्यान्महाशङ्खम् । परितोऽस्त्रं सर्वतोऽस्त्रप्राकारम् । प्रणवासनस्थत्वं प्राग्वत् ।

---

३२ अक्षर वाले मन्त्र का एक चक्र लिखकर उसके बाहर एक सूत्र लेकर चारों कोणों का स्पर्श करते हुए एक वर्त्तुल भ्रमि बनायी जाय । पुनः इसके चारों ओर एक वीथी बनायी जाय । मध्य में ३२ अक्षर वाले चक्र को ध्यान में रखकर चारों ओर द्वार बना लिये जाँय । अन्तश्चक्र के मान के अनुसार ही ये बाहरी बीथियाँ और द्वार निर्मित होने चाहिये ॥१७॥

यह एक मण्डल का प्रारूप है । इस मण्डल में बैठ कर साधक भैरव की पूजा करता है । साधक महाव्रती है । एकनिष्ठ भाव से उसे पूजा करनी है । इसलिये उसने सारे शरीर में भस्मी रमा रखी है । मुद्राओं और अलङ्कारों से वह अलङ्कृत है । केश रखे हुए है । साथ ही यज्ञोपवीत भी धारण कर रहा है । दिगम्बर भाव में प्रतिष्ठित है । इन्द्रियों को वश में करके रखने वाला है । अन्यथा कौपीन धारण करना पड़ता है । एक तरह से उसने भैरव का रूप ही धारण कर लिया है क्योंकि किसी रूप में भी विघ्न पास नहीं फटक पाते हैं ॥१८॥

अपने साथ में शङ्ख और अर्घपात्र धारण कर अवस्थित है । पूरा शरीर सकलीकृत है । अपने चारों ओर अस्त्रमन्त्र का प्रयोग कर वह सुरक्षित है । यहाँ शङ्ख का अर्थ प्रकरणवश महाशङ्ख लेना चाहिये ॥१९॥

कथं पूजयेत् कं च भैरवमित्याह–

मूर्त्तिं हंसाक्षरेण तु ।

तमेव सकलं देवं स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ।।२०।।

मूर्त्तिं हंसाक्षरेणेति पूर्वोक्तेन चिन्मूर्तिमन्त्रेण द्वात्रिंशदक्षरेण च सकलमूर्तिरूपेण । तमेवेति पूर्वोक्तम् ।।२०।।

किमविशिष्टं नेत्याह–

यत्तत्परमनिर्भासमनामयमरूपकम् ।

तेन चावाहयेद्देवि

परमः सर्वोत्कृष्टो निर्भासो यस्य, अनामयं मायासम्बन्धहरम्, अरूपकमनाकृति यत्पूर्वं निष्कलं तत्त्वमुक्तम्, तेन प्रोक्तनीत्याद्यन्तस्थितेन सहितमावाहनमुद्रयावाहयेत् पूजनार्थमभिमुखीकुर्यात् ।

किञ्च,

हृच्छिरश्च शिखां तथा ।।२१।।

वर्म नेत्रे तथास्त्रं त्त तेनैव परिकल्पयेत् ।

भैरवदेव वही सकल स्वच्छन्द भैरव ही यहाँ इस रूप में पूज्य हैं । वे प्रणव के आसन पर हंसाक्षर रूप में विराजमान हैं । इसका तात्पर्य यह है कि, वे सकल और निष्कल दोनों ही रूपों में वहाँ पूज्य हैं ।।२०।।

ऐसे ये भैरव देव अनन्त उत्कृष्टताओं से अलङ्कृत हैं, ऐसा शास्त्र कहते हैं । वे परम प्रकाश से शाश्वत प्रकाशमान हैं । उनके अनामय रूप के अमृत का पान भक्तों की आँखें नित्य करतीं और तृप्त होती हैं । इसी रूप में उनका आवाहन करना चाहिये । अवाहन में आवाहन मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये ।

उनके सकल और निष्कल रूपों के साथ हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र जातियों का परिकल्पन करना चाहिये । जैसे 'ओं हूं सर्वज्ञाय अघोरेभ्यो हृदयाय नमः' और अन्त में 'ओं हूं दुर्भेद्यपाशुपत्याय नमस्ते रुद्र रूपेभ्यो नमः अस्त्राय फट् हूं ओम्' ।

आचार्य क्षेमराज ने यहाँ एक पारम्परिक पद्धति की ओर सङ्केत किया है । हो सकता है, गुरु परम्परा में यह पद्धति रही हो किन्तु श्लोकों से यह

तेनैवेति नैष्कलेन हृदाद्यङ्गमन्त्रेण, न तु प्राग्वत्सकलेनापि । ब्रह्मपञ्चकमन्त्राणां तु न सकलादिविभागोऽस्तीति प्राग्वत् तन्न्यासानन्तरं भगवदाकृतौ निष्कलाङ्गन्यासः ।

इत्थं च निष्कलसकलात्मकैकरूपे भगवत्याह्वानसमय एव निष्कलसकलमन्त्रोच्चाराद् निष्कलस्थानविहितपरमीकरणे न्यस्ते वक्त्रनैष्कलाङ्गविन्यासे कृते–

स्थापनं सन्निधानं च निरोधार्घादिपूजनम् ।।२२।।

सर्वं तेनैव कर्तव्यमुक्तानुक्तं वरानने ।

स्थापनादि सर्वं पूर्वप्रदर्शितमुद्राबन्धपूर्वं कर्तव्यम् । तेनैवेति निष्कलसंपुटितेन सकलेन । उक्तमिति स्थापनादि, अनुक्तं तु स्वागतपाद्याचमनस्नानादि आत्मनिवेदनपर्यन्तम् । इत्थं च–

मध्यस्थं भैरवं पूज्यमङ्गषट्कसमन्वितम् ।।२३।।

मध्यस्थमिति मध्यगतम्, भैरवमिति भैरवतेज इत्यर्थः ।।२३।।

प्रमाणित नहीं प्रतीत होती । श्लोक २० में सकल और निष्कल दोनों की पूजा का निर्देश है । स्वयं क्षेमराज ने श्लोक २० के उद्योत में सकल मूर्त्तिरूपेण लिखा है ।

किन्तु श्लोक २१ के उद्योत में ब्रह्मपञ्चक मन्त्रों में सकलादि विभाग का खण्डन करते हुए आचार्य यहाँ कहते हैं कि, भगवदाकृति में निष्कलाङ्ग न्यास ही होगा । 'न तु प्राग्वत्सकलेनापि ?' यह क्यों । श्लोकों से यह झलक नहीं मिलती । इस पर विद्वान् साधकों को विचार करना चाहिये ।

आवाहन के समय सकल स्वच्छन्द परमेश्वर के रूप का कथन किया गया है । जो हो, यदि सकल और निष्कल की एक रूपता का भी आवाहन हो रहा है, तो भी भगवदाकृति में सकल निष्कल अङ्गन्यास करने में कोई हर्ज मुझे नहीं लगता । इसमें आग्रह की कोई बात नहीं होनी चाहिये । पारम्परिक शास्त्र की बात गहराई से विचार करने योग्य है ।

तत्पश्चात् स्थापन, सन्निधापन, निरोधन, अर्घ आदि मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक पूजन होना चाहिये । सारी पूजा निष्कल सम्पुटित सकल मन्त्र से की जानी चाहिये । अनुक्त पूजन के अन्तर्गत, स्वागत आचमन स्नानादि आत्मनिवेदन आदि आते हैं । इस प्रकार षडङ्ग भैरव की जो वहाँ मध्य में विराजमान हैं, उनकी पूजा होनी चाहिये ।।२१-२३।।

किं चात्र पद्मबाह्ये द्वात्रिंशदरेके चक्रे

ततः पत्रस्थिता देवीर्द्वात्रिंशार्णैर्निवेशयेत् ।

पूर्वारकात्समारभ्य यावदन्ते व्यवस्थिताः ।।२४।।

पत्रस्थिता इति अष्टपत्रस्य पद्मस्योक्तत्वात् प्रतिदिक्पत्रानुसारिस्थिताराचतुष्टये चक्रे सन्निवेशयेदिति द्वात्रिंशार्णैरिति तकारलोप ऐश्वरः, तेन द्वात्रिंशद्देवीः द्वात्रिंशतैव अर्णैः, अर्थाद् द्वात्रिंशद्वर्णसम्बन्धिभिर्विभज्य निवेशयेत् ॥२४॥

तासां नामानि वक्ष्यामि द्वात्रिंशत्परिसंख्यया ।

तानि मन्त्रस्थाक्षरस्फारसारतत्सदृशप्रथमनामाक्षररूपाणि निरूपयति–

अरुणा घोषा देवी च रेवती, भोगदायिका ।।२५।।

स्थापनी घोरसंज्ञा च रक्षा, भारभरेति च ।

घोररूपा रवा घोणा, रतिस्ताराथ रूपिणी ।।२६।।

भयहानिस्तु, चण्डा वै सर्वदा च तथा वरा ।

तक्षकी, च तथा शार्वी बर्बरा सर्वगा तथा ।।२७।।

रौद्री, च भ्रामणी चैव नागिनी च मनोहरा ।

स्तम्भनी, रोषणी चैव द्रावा रुद्रा प्रशासिनी ।।२८।।

---

३२ पत्रों वाले मध्य पद्म चक्र के पहले अररूप पत्र पर ३२ अक्षरों के वर्णों के रूप में देवी की न्यास विधि पूरी की जाती है । यह न्यास अनिवार्य न्यास माना जाता है । इन पत्रों पर ३२ शक्तियों का भी न्यास होता है ॥२४॥

अकरादि अघोर मन्त्र के ३२ अक्षरों के साथ ही इन शक्तियों का न्यास करना चाहिये । उनके नाम इस प्रकार हैं–

१–अरुणा, २–घोषा, ३–देवी, ४–रेवती, ५–भोगदा, ६–स्थापनी, ७–घोरा, ८–रक्षा, ९–भारभरा, १०–घोररूपा, ११–रवा, १२–घोणा, १३–रति, १४–तारा, १५–रूपिणी, १६–अभया, १७–चण्डा, १८–सर्वदा, १९–वरा, २०–तक्षकी, २१–शार्वी, २२–बर्बरा, २३–सर्वगा, २४–रौद्री, २५–भ्रामणी, २६–नागिनी, २७–मनोहरा, २८–स्तम्भनी, २९–रोषणी, ३०–द्रावा, ३१–रुद्रा, ३२–प्रशासिनी (भयापहारिणी) । इनका न्यास मन्त्राक्षर क्रम से करना चाहिये । इसी से इनके पराक्रम की व्याप्ति का भी अनुभव करना चाहिये ॥२५-२८॥

भयापहारिणी देवी ज्ञेया द्वात्रिंश तत्क्रमात् ।

तत्क्रमादिति मन्त्रगताक्षरक्रमानुसारेणेत्यर्थः । एवं चाभिदधन्न केवलं मन्त्रस्य पूर्वनिर्णीतवाक्यरूपा वीर्यव्याप्तिः यावद्वर्णानुसारेण प्रोक्तदेवताचक्रव्याप्तिमयत्वम-पीत्यादिशति देवः ।

आसां देवीनामावाहनादौ मन्त्रमाह–

प्रणवादिस्ततो वर्णो देवीनाम नतिस्तथा ।।२९।।
सर्वासां तु विधिर्ह्येष कर्तव्यो विधिवेदिना ।

वर्ण इति द्वात्रिंशदक्षरसम्बन्धी क्रमेणैकैक इत्यर्थः । नाम इति चतुर्थ्यन्त-मित्यर्थात् । विधिरिति पूजादिविषयो मन्त्रोच्चारणप्रकारः । विधिवेदिनेत्येष आवाहनादावामन्त्रणविभक्त्यन्तं नाम तथा तत्कर्मानुसारेण जातिप्रयोग इत्यनुमन्तव्यमिति ध्वनति ।

अथासां देवीनां प्रतिदिशं चतसृणां पूर्वोक्तनीत्या भैरवीयप्रपञ्चव्याप्तितत्त्व-लोकपालानुसारेण भैरवानुसारेण ध्यानं निर्दिशति–

हेमाभं प्राक्चतुष्कं तदिन्द्रचापसमप्रभम् ।।३०।।
चतुर्मुखं चतुर्बाहु वज्रहस्तं सुगर्वितम् ।
कपालमालाभरणं प्रहसत्तु विचिन्तयेत् ।।३१।।

प्राक्चतुष्कमिति पद्मप्राग्दलसंश्लिष्टानां चतुष्टयनिविष्टमरुणादिचतुष्कं तद्दिक्पतितुल्यत्वाद् हेमप्रभं वज्रहस्तं च, इन्द्रचापसमप्रभमिति अन्तःस्फुरन्नानावर्ण-भास्वरम्, ऊर्ध्ववक्त्रस्य निष्प्रपञ्चत्वात् सिद्ध्यनुगुणता नास्तीति पञ्चवक्त्रशक्तिम-

---

इनके आवाहन और स्थापन का मन्त्र इस प्रकार बनाया जाना चाहिये । पहले प्रणव, फिर वर्ण और देवीनाम तथा नमन होना चाहिये । जैसे 'ॐ अवर्णे अरुणामावाहयामि, स्थापयामि, प्रणमामि अरुणायै नमः । यही क्रम सभी देवियों के क्रमिक वर्ण के साथ अपनाना चाहिये । इस विधि के विशेषज्ञ को विवेक पूर्वक जाति आदि के प्रयोग के साथ ही इसकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥२९॥

पूर्वा दिक् की देवियों के ध्यान–पद्म के पूर्व दल में संश्लिष्ट अरुणा, घोषा, देवी और रेवती ये चारों स्वर्णवर्णा होने के कारण बड़ी रमणीय होती हैं । इनके दिक्पति इन्द्र हैं । इसी अनुरूपता के आधार पर इन्हें भी वज्रहस्ता मानते हैं । इन्द्रधनुषी रंगों से ये आभान्वित होती हैं । इनसे स्वतः स्फूर्यमाण विभिन्न वर्णों की भास्वरता से प्राचीदिङ्मण्डल भी भासमान हो जाता है ।

दधिष्ठितमपि देवताचक्रं साधकसिद्ध्यानुगुण्येन गृहीतचतुर्मुखचतुर्भुजादिरूपं दर्शितम् । एकत्र दक्षहस्ते वज्रस्योक्तत्वादनुक्तमपि कपालखट्वाङ्गधारित्वमभयकरत्वमंशेन भैरवरूपानुकारादुक्तम्, अतश्च कपालमालाभरणत्वमपि संगतमेवेति तदनुसारेण प्रतिवक्त्रं त्रिनेत्रत्वमपि मन्तव्यम् । सगर्विततत्वं प्रहसत्त्वं च निर्विघ्नसिद्धिदानानुगुण्येन कियदेतद्वस्तु इत्याशयात् । एतच्चतुर्मुखत्वादि प्रहसितत्वान्तं सर्वत्र चतुष्केऽनुमन्तव्यम् तथा कपालखट्वाङ्गहस्तत्वादिकं च ॥३१॥

आग्नेयं रक्तवर्णाभं शक्तिहस्तं सदा स्मरेत् ।
दण्डहस्तं स्मरेद्याम्यं कृष्णवर्णं सुभीषणम् ।।३२।।
नीलमिन्दीवराभासं नैर्ऋतं खड्गहस्तकम् ।
श्यामं वारुणदिग्भागे पाशहस्तं विचिन्तयेत् ।।३३।।

भगवान् भैरव का ऊर्ध्व मुख प्रपञ्च रहित माना जाता है । उसमें सिद्धियों का आनुगुण्य भी नहीं होता । इसीलिये इन शक्तियों को भी पञ्चवक्त्र शिव से अधिष्ठित पर भी चतुर्मुख और चतुर्भुज विशेषणों से विभूषित किया जाता है । एक हाथ में वज्र होने की बात पहले ही कही गयी है । अत: दूसरे हाथों में कपाल माला भरणा ये देवियाँ अन्य हाथों में कपाल, खट्वा, अभय और वरद मुद्राओं समन्वित होती हैं । इस तरह इनकी भैरव एकरूपता भी बनी रहती है । इनको त्रिनेत्रा मानना भी इसी आधार पर उचित है । सुगर्वितत्व और प्रहसत्वदनत्व भी भैरव के गुण हैं । अत: इनमें भी स्वभावत: प्रकल्पनीय है । ये चतुर्मुखत्व और प्रहसद्वदनत्व सभी देवियों के समान गुण है, यह ध्यान देने की बात है ॥३०-३१॥

आग्नेय दल पर भोगदा, स्थापनी, घोरा और रक्षा नामक देवियाँ रक्तवर्ण की आभा से भरपूर होती हैं । ये नित्य अपने एक हाथ में शक्ति धारण करती हैं । शेष हाथों में खट्वा आदि शस्त्र रहते हैं ।

याम्य दलीया भारभरा, घोररूपा, रवा और घोणा यम की तरह दण्डहस्त ही मानी जाती हैं । ये सभी कृणवर्णा, देखने में बड़ी भीषण होती हैं ॥३२॥

नैऋत्यकोणीय दल पर संश्लिष्ट रति, तारा, रूपिणी और भयहानि अर्थात् अभया नाम देवियाँ होती हैं । ये सभी अपने हाथों में तलवार धारण करती हैं । नील कमल के समान नीलवर्णों में इनकी उपासना की जाती है ।

वरुण देव की पश्चिमा दिक् वाले दल में चण्डा, सर्वदा, वरा और तक्षकी देवियों का निवास माना जाता है । ये सभी श्यामवर्णा, पाशहस्ता होती हैं । श्लोक ३१ में आये विशेषण सभी दिग्देवियों के माने जाते हैं ॥३३॥

धूम्रं सामीरदिग्भागे ध्वजहस्तं सुचञ्चलम् ।
उत्तरं धवलं ज्ञेयं गदाखेटकधारि च ।।३४।।
स्फटिकाभं तथैशान्यां त्रिशूलायुधपाणिकम् ।

उत्तरस्मिन्देवीचतुष्टये खेटकधारित्वस्य स्वकण्ठेनोक्तत्वादभयपाणित्वं न ध्यातव्यम् । चतुर्मुखत्वादि सर्वमन्यत्प्रागवत् ।

अत्र ध्याने फलमाह–

एवं ध्यानपरो यस्तु चक्रमेतत्सदाभ्यसेत् ।।३५।।
वत्सरार्धाद्वरारोहे तस्य सिद्धिस्त्रिधा भवेत् ।

उत्तममध्यमाधमरूपा । एवं ध्यानसिद्धिमुक्त्वा, तस्यैव जपसिद्ध्युचितं क्षेत्रमादिशति–

महेन्द्रे मलये सह्ये पारियात्रेऽर्बुदे तथा ।।३६।।

वायव्य दिग्विभाग में स्थित पद्मदल पर शार्वी, बर्बरी, सर्वगा और रौद्री देवियाँ न्यस्तव्य हैं । ये सभी धूम्रवर्णी, अन्यन्त चञ्चला और ध्वज धारण करने वाली हैं । इसी के साथ ही उत्तर की दलीय देवियाँ धवलवर्णा गदा और खेटक धारण करने वाली मानी जाती हैं । इसी तरह ईशान दल पर अवस्थित स्फटिकवत् पारदर्शी कान्ति से कमनीय देवियाँ, जिन्हें हम रोषणी, द्रावा, रुद्रा और भयापहारिणी प्रशासनी संज्ञा से विभूषित करते हैं, ये त्रिशूल धारिणी होती हैं । इसके अतिरिक्त श्लोक ३१ के विशेषणों से भी ये विशिष्ट होती हैं ।।३४।।

भगवान् भैरव भट्टारक देवी पार्वती को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, जो शक्ति के इस चक्र में न्यस्तव्य देवियों के साथ ध्यान के अभ्यास में लगे रहते हैं, वे लोग छः माह की इस ध्यानसाधना के बल पर त्रिधा सिद्धि के अधिकारी हो जाते हैं । यह त्रिधा सिद्धि उत्तमा, मध्यमा और अधम रूपा मानी जाती है ।।३५।।

यह ध्यानसाधना बड़े ही धैर्य की अपेक्षा रखती है । इसके लिये शान्त और नितान्त एकान्त की आवश्यकता होती है । जैसे पर्वतीय क्षेत्रों में महेन्द्र, मलय, सह्य, पारियात्र, अर्बुद, विन्ध्य, श्रीशैल अथवा कोल पर्वत ये आठों सिद्धिप्रद पर्वतों के रूप में प्रसिद्ध हैं । साधना के लिये सुविधानुसार इनका आश्रय ग्रहण करना उचित ही है ।।३६।।

विन्ध्ये श्रीपर्वते चैव तथा कोलगिरौ प्रिये ।

एतान्यष्टौ सिद्ध्यनुगुणानि पर्वतस्थानानि ।

किञ्च,

गङ्गायमुनासंबाधे कुरुक्षेत्रे वरानने ।।३७।।

गङ्गाद्वारे प्रयागे च ब्रह्मावर्ते समास्थितः ।

सम्बाधः संकटं संमिश्रयोस्तयोः यावती प्रवाहभूमिः । सरस्वतीचर्मण्वत्योरन्तरस्थो देशो ब्रह्मावर्तः ।

अन्तर्वेद्यां सुपुण्यायां नर्मदायां तथैव च ।।३८।।

गङ्गायमुनाप्रवाहयोर्मध्यमन्तर्वेदी । नर्मदायामपि तत्तटे ॥३८॥

किञ्च,

सुस्निग्धदेशे भूभागे पद्मषण्डैर्मनोरमे ।

पद्मषण्डैर्मनोरमो यः सुस्निग्धो देशस्तत्र भूभागे इति योजना ।

किञ्च,

येषु येषु प्रदेशेषु स्वयंभुर्भगवाञ्छिवः ।।३९।।

तेषु स्थानेषु देवेशि नियमस्थो जितेन्द्रियः ।

वाङ्निरुद्धः प्रसन्नात्मा लक्षाक्षरजपे रतः ।।४०।।

नदियों की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो शास्त्रवाक्य है कि, गंगा और यमुना का संगम स्थल उत्तम सिद्धिप्रद होता है । इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार (गंगोत्री) प्रयाग और ब्रह्मावर्त्त का भूभाग इस कार्य के लिये उत्तम है ॥३७॥

अन्तर्वेदी, पवित्र नर्मदा और उसके तट के पावन स्थान भी साधना की स्थली के रूप में प्रसिद्ध हैं । आवश्यकता और सुविधानुसार प्रबन्ध करना ही चाहिये । यह ध्यान रहे कि साधना भूमि अत्यन्त स्निग्ध और चिकनी मिट्टी की स्थली हो । आस पास के तालाबों आदि में कमल खिले हों, और सारा वातावरण प्रदूषण मुक्त हो ॥३८॥

जिन जिन स्थानों, भूखण्डों, या प्रदेशों में स्वयंभू भगवान् शिव विशेष रूप से ज्योतिर्लिङ्गों में आविर्भाव हुआ है, वे स्थान भी अति प्रशस्त माने जाते हैं । इन तथ्यों पर ध्यान देने के बाद ही साधनास्थली का चयन होना चाहिये ॥३९॥

इस प्रकार के पुण्यप्रद पवित्र स्थानों में हे देवेश्वरि ! जितेन्द्रिय साधक शौच, सन्तोष, तप, ईश्वरप्रणिधान आदि में निष्ठ अपने स्वीकृत व्रत में अवस्थित

शाकभक्ष्यः फलाहारी नीवाराद्यशने रतः ।
त्रिकालपूजानिरतोऽथाग्निकार्यपरायणः ॥४१॥
भावितात्मा महासत्त्वो रक्षायाश्च विधानवित् ।

यः–

तस्य मन्त्रः प्रसिद्ध्येत्तु

स च–

साधयेत्सचराचरम् ॥४२॥

स्वयंभूनामनुग्रहार्थमेवावतीर्णत्वात् तत्क्षेत्रस्य सातिशयं सिद्धिप्रदत्वम् । नियमस्थ इति शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधाननिष्ठः । वाक् च निःशेषेण रुद्धा जपैकनिष्ठीकृता येन, प्रसन्नः, त्यक्तसंगसंस्कार आत्मा मनो यस्य, लक्षाक्षरजपे रत इति प्राग्वद् द्वात्रिंशता लक्षैः सदशांशहोमैः, न तु यथान्ये अक्षरं मन्त्रस्तस्य लक्षेणैकेनेति अक्षरशब्दस्य मन्त्रवाचित्वाभावात्–

'........लक्षेणाक्षरसंख्यया' । (६/५१)

इति प्राक्तनोक्त्यविशेषप्रतिभासनादेतस्या उक्तेः । न च षाण्मासिकस्य प्रोक्तचक्रध्यानस्य काचिदनुपपत्तिः, तस्यैतज्जपसंख्याविधिं विना शुद्धस्यैव प्रोक्तफलहेतुत्वात् । न च ध्यानमात्रात्सिद्धिर्न भवतीति वाच्यमागमेषु शतशस्तत्प्रतिपादनात्, जपे तु तथोचितं ध्यानं न प्रत्याचक्ष्महे । यदि प्रोक्तचक्रध्यानं मन्त्रजपेऽङ्गं स्यात्, तच्चक्रदेवीनामपि जपनियममभिदध्यादित्यलम् । भावितात्मा आश्वस्तहृदयः, अत एव महासत्त्वः सावष्टम्भोऽत्यन्तशुद्धचित्तः । रक्षाया दिग्बन्धास्त्रप्राकारादिरूपायाः चकारात् क्षेत्रपालबल्यादेः विधानविदितिकर्तव्यताज्ञः ॥४२॥

होकर नियमित रूप में साधना में प्रवृत्त हों । साधना के प्रधान आचारों में सर्व प्रथम मौन को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है । इससे वाणी की तपस्या पूरी होती है । आत्मा के स्तर तक प्रसन्नता का उल्लास रहना आवश्यक होता है । जप का संकल्प ३२ लक्षाक्षर से कम नहीं (६/५१) रहना चाहिये । साधक को निश्चित रूप से शाकाहारी होना चाहिये । इसमें फलाहार करना स्वास्थ्य प्रद होता है । अन्न नीवारक सदृश हल्की वस्तुएँ होनी चाहिये । तीनों काल की सन्ध्या पूजा करनी चाहिये । अग्निहोत्र प्रतिदिन करना चाहिये । नित्य स्वात्म में परमात्मत्व का भावन, स्वात्म सुरक्षा में दत्त चित्र महासत्त्व पुरुष की साधना अवश्य ही फलवती और सम्यक् रूप से सिद्ध होती है । ऐसा पुरुष अपने परम पुरुषार्थ द्वारा सचराचर को साध लेने में समर्थ हो जाता है ॥४०-४२॥

यदुक्तं साधयेत्सचराचरमिति, तत्संक्षेपेण दर्शयन्, भाविपटलप्रमेयवस्तु कटाक्षयति–

कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः ।
सप्तलोकं सब्रह्माण्डं पञ्चाष्टकमतः परम् ।।४३।।
देवयोन्यष्टकं चैव प्रधानपुरुषान्तकम् ।
नियतिः कालतत्त्वं च रागो विद्या कला तथा ।।४४।।
माया विद्येश्वरं तत्त्वं सादाख्यं शक्तिगोचरम् ।
सर्वं सिद्ध्यत्यनायासान्मन्त्रराजप्रभावतः ।।४५।।

एतत्समनन्तरपटलनिर्णेष्यमाणं शक्तितत्त्वान्तं सर्वं साधकस्य वशे भवत्यतश्च शिवरूपः साधको जायत इति यावत् ।।४५।।

यत्र चेयद्विश्वमस्य वर्तते, तत्र दण्डापूपीयन्यायो मितसिद्धीनां स्थित एवेत्याह–

पूर्वोक्तं कर्म वै क्षिप्रमधमं मध्यमोत्तमम् ।
साधयेन्नात्र सन्देहो भैरवस्य वचो यथा ।।४६।।

अधमादि प्राग्वत् । मारणोच्चाटनवश्याकर्षणशान्तिकाप्यायनादि च यदधमादि कर्म पूर्वमुक्तम्, तदपि यथोक्तद्रव्ययुक्तिसहकृतमयं मन्त्रराजः, पूर्वोक्तन्यायेनैव जपलक्षेण सहोमेनाराधितः साधयतीति सिद्ध एवायम् । भैरवस्य यथैव वचस्तथा अत्राश्वस्तव्यम् । आश्वासो हि अकम्पः सिद्धिलिङ्गम् ।।४६।।

सचराचर शब्द श्लोक ४२ में प्रयुक्त है । इसके सम्बन्ध में संक्षेप रूप से कह रहे हैं–

कालाग्नि, नरक, पाताल, हाटकेश्वर, सप्तलोक, सब्रह्माण्ड, पञ्चाष्टक लोक, देवयोन्यष्टक, प्रधान और पुरुष लोक, नियति, काल, राग, विद्या और कलादि के माया से सम्बद्ध लोक, विद्येश्वर तत्त्व लोक, सादाख्य और शक्ति तत्त्व लोक तक मन्त्रराज के प्रभाव से अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ।।४३-४५।।

इस वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, मन्त्रराज के साधन से जब इतनी महत्त्वपूर्ण शक्तितत्त्वान्त सिद्धियाँ अनायास ही सिद्ध हो जाती हैं, तो सामान्य सिद्धियों की क्या बात हो सकती है ? इसी आधार पर कह रहे हैं कि, ग्रन्थ में पूर्व प्रतिपादित मारण, उच्चाटन, वशीकरण, आकर्षण, स्तम्भन, शान्तिक और आप्यायन आदि अधम, मध्यम और उत्तम कार्य तो लक्षाक्षर जप और होम से पुष्ट मन्त्रराज निश्चित रूप से सिद्धिप्रद होता है । इसमें सन्देह का कोई प्रश्न ही नहीं है । यह साक्षात् भैरव भट्टारक के मुखारबिन्द का मधु है । यह आश्वास अकम्प सिद्धि का लक्षण है ।।४६।।

अथ योग्यतमसाधकविषयमेतदेव दर्शनं द्वात्रिंशद्देवताचक्रपरिवारं विना एकवीरं निरूपयितुमाह–

अथैकवीरमाश्रित्य अङ्गषट्कसमन्वितम् ।
जातियोगयुतं कृत्वा अष्टपत्रे कुशेशये ।।४७।।
पूजयेत्पूर्वविधिना

एकमेव देवीपरिवाराद्यपरिवृतं वक्त्राङ्गषट्कमात्रसहितम्, वीरं साधकानां मुक्तिपर्यवसिततत्तत्सिद्धिसाधनायोद्यतम्, परमेश्वरं पूर्वोक्तविधिनेति 'भस्मोद्धूलित-देहस्तु' (९/१८) इत्यादिनोक्तेन सर्वेण क्रमेण पूर्वोक्त एव क्षेत्रे आराधनार्थं होमान्तेन विधिना पूजयेत् ।

ततः प्रोक्तसंख्याकं जपं होमं च प्रतिज्ञाय, तत्संपत्त्यै–

जपहोमार्चने रतः ।
ध्यायन्नेव महादेवि स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ।।४८।।
प्राप्नोति चिन्तितान्कामान्देवि नास्त्यत्र संशयः ।

एवं साधकसिद्ध्यानुगुण्येनाराधनप्रकारानुक्त्वा रक्षाकल्पं प्रस्तावयितुमाह–

अथ रक्षाविधानेषु अघोरं योजयेद्यथा ।।४९।।

उक्त मन्त्र साधन मन्त्रराज के सकल देवी परिवार के साथ के मन्त्राराधन से सम्बद्ध है । इस कारिका में एकवीर मन्त्र के जाति प्रयोग के साथ अङ्गषट्क युक्त मन्त्राराधन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं कि, अष्टदल कमल पर मात्र एकवीर अर्थात् आराधकों को मुक्ति सहित अनन्त फल प्रदान के लिये उद्यत निष्कल परमेश्वर की पूजा से ही अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है । इसमें भी जप और होम आवश्यक है ॥४७॥

इस प्रकार जप, होम और अर्चन में प्रवृत्त साधक अनवरत अनन्त अनुग्रह अमृत के वर्षक स्वच्छन्द परमेश्वर के ध्यानमात्र से समस्त चिन्तित मनोरथों की प्राप्ति कर लेता है । भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! इस सत्य तथ्य पर अविश्वास नहीं करना चाहिये ॥४८॥

मृत्युरक्षण प्रयोग–१–

साधना के इस उपक्रम में रक्षा विधान भी एक अंग के रूप में स्वीकृत है । वही कहने जा रहे हैं–

<u>रक्षा विधान–यन्त्र</u> के लिये सर्वप्रथम अघोर का योजन होना चाहिये । उसकी एक विधि है । कार्य तो विधि के अनुसार ही करना चाहिये । भगवान् देवी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, इसे एकाग्र भाव से अवश्य ध्यान देकर सुनो ॥४९॥

तथाहं कथमिष्यामि तदेकाग्रमनाः शृणु ।

तत्र–

द्वात्रिंशदक्षरयुतं चक्रमालिख्य भामिनि ।।५०।।
नाभिकेसरसंयुक्तं सुसमं तु वरानने ।
गोरोचनां तु संगृह्य सिद्धालक्तकसंयुताम् ।।५१।।
दूर्वाकाण्डेन देवेशि हरितेन समालिखेत् ।

सिद्धैः सिद्धार्थकैरलक्तेन च मिश्रां गोरोचनां कृत्वा दूर्वाकाण्डेन नीलेन तत् चक्रमर्थाद् भूर्जे लिखेत् । सिद्धालक्तकमलक्तकविशेष इत्यन्ये । सिद्धा भगवती चण्डिका, तत्पादाद्गृहीतेन कङ्कुमेनेति त्वसत् ।

अथास्य चक्रस्य–

विद्याराजं कर्णिकास्थं बिन्दुनादसमन्वितम् ।।५२।।
शक्त्यवसानं देवेशि तस्मिन्साध्यं समालिखेत् ।
कषमध्ये वरारोहे नयनाद्यन्तरोधितम् ।।५३।।
ईकारवेष्टितं कृत्वा

३२बत्तीस अरों वाला एक चक्र पहले लिखते हैं । यह चक्र भोजपत्र पर लिखना चाहिये । चक्र के मध्य में नाभि और केसर का निर्माण कर लेना चाहिये । चक्र समकोण या समवृत्त हो । गोरोचना को सिद्धार्थक और अलक्तक से मिश्रित करके भोजपत्र पर दूर्वाकाण्ड से लिखा जाना चाहिये । माँ भगवती के चरण से कुङ्कुम लेकर निर्मित अलक्तक कभी नहीं लेना चाहिये । उसे केवल माथे पर ही लगाया जा सकता है ।।५०-५१।।

इस चक्र की कर्णिका में शक्त्यन्त (ईकारान्त) बिन्दु-नाद समन्वित विद्याराज के बीजमन्त्र रखे जाते हैं । इसके अन्तर्गत आने वाले क्ष (क-ष) के बीच में साध्य का नाम लिखना चाहिये । नेत्र मन्त्र से इसे सम्पुटित करना भी आवश्यक है । सम्प्रदाय यह है कि, नेत्र मन्त्र पहले अनुलोम और साध्य नाम के बाद प्रतिलोम रूप से लिखना चाहिये । नेत्र मन्त्र भी ईकार रूप ऐश्वर्यशालिनी ईश्वरी के बीज मन्त्र से सम्पुटित करना चाहिये । इस प्रकार साध्य नाम त्रिसम्पुटित हो जाता है । १–ईकार से, २–नेत्रमन्त्र से और ३–क-ष से ।।५२-५३।।

विद्याराजं नवात्ममन्त्रम्, कर्णिकास्थमिति द्वात्रिंशदरचक्रनाभिगतकमल-कर्णिकागतमिति यावत्, बिन्दुनादशक्तयोऽत्र लिपिक्रमेण लेखितव्याः । साध्य-मिति तन्नाम, एवं चाभिदधद्वाच्यस्य वाचकाभिन्नत्वमीशेच्छाकृतमिति सूचयति । कषमध्य इति नवात्मसम्बन्धिनः क्षकारस्य यौ ककारषकारौ तयोर्मध्य इति, कादुत्तरस्य षस्य प्रथमभागे । नयनेन त्र्यक्षरेण पूर्वोक्तेन नेत्रमन्त्रेण, रोधितमिति सम्पुटीकृतम् । तत्र च नेत्रमन्त्राक्षराणामादावनुलोमक्रमः पश्चात्प्रतिलोमक्रम इति सम्प्रदायः । ईकारवेष्टितं कृत्वेति मायाबीजमालिख्य तदीकारेण नेत्रमन्त्रसम्पुटितं तत्साध्यनाम त्रिवेष्टितं कषमध्ये लिखेदित्यर्थः ।

इत्थं कर्णिकायां लिखित्वा–

अरकस्था निवेशयेत् ।

पूर्वोक्तदेवता देवि

पूर्वोक्ता अरुणाद्या यथोक्तैकैकमन्त्राक्षररूपाः साध्यान्ते भगवत्संमुखत्वेन, न तु तत्पराङ्मुखतयेत्याम्नायोऽत्र ।

अथ–

तद्गर्भे साध्यमालिखेत् ।।५४।।

साध्यमिति तन्नाम ।।५४।।

कथम्–

भवगर्भे तु तत्कृत्वा ईकाराख्येन वेष्टयेत् ।

त्रीन्वारांस्तु वरारोहे ध्यानयोगसमाश्रितः ।।५५।।

भव इह प्रणवः, तत्पूर्वस्य देवीमन्त्रस्योक्तत्वात्, तस्य गर्भे मध्ये, तदिति साध्यनाम कृत्वा पश्चादुपरिवर्तिमायाबीजसत्केनेकारेण प्राग्वद्वेष्टयेत् । तदीदृगिति-कर्तव्यताविशेषितं साध्यनाम एकैकारानिविष्टदेवीमन्त्राक्षरमध्ये आलिखेदित्यर्थः ।

इसके बाद अरों में पूर्व २५-२८ मन्त्रोक्त देवियों का न्यास अपेक्षित है । ये देवियाँ ३२ अक्षर के मन्त्र के एक एक अक्षरों की देवियाँ मानी जाती हैं । इनका न्यास भी भगवत्सांमुख्य पूर्वक होना चाहिये । इन्हीं के गर्भ में साध्य नाम लिखा जाना चाहिये ।।५४।।

इस क्रम को इस प्रकार जानना चाहिये । १–भव अर्थात् ॐकार रूप प्रणव, २–विद्याराज मन्त्र, ३–कष गर्भ में साध्य नाम, ४–ईकार वेष्टित करे । ५–आठों अरों के प्रारम्भ में भी साध्य नाम लिखे ।

एवं घोशब्दस्य रेशब्दस्य अन्यस्य च प्रथमकुटिलभागात्मनि मध्ये एतद् लेखनीयम् । तथाभूतं चैतदेकैकं देवीमन्त्राक्षरं कर्णिकागतमन्त्रराजसम्मुखं पूर्वादि-क्रमेणारासु निवेशयेत् । ध्यानयोगसमाश्रित इति भगवतो देवतानां च स्वरूपं सिद्धिसमुचितयथोक्ताकारं ध्यात्वा तद्व्याप्तिं च भावयित्वा लिखेत् ॥५५॥

तदेवं लिखितमेतत्सर्वमेव चक्रम्–

ऊर्ध्वे चैव तु संरोध्य क्रोंकारेण वरानने ।

दिगष्टकेऽस्याष्टौ बहिः क्रोंकारा दातव्या इत्यर्थः ।

अथैतत्–

इन्दुनाच्छुरितं कृत्वा पुष्पधूपैः प्रपूजयेत् ॥५६॥

इन्दुः कर्पूरम् । पूजनं मध्यमन्त्रात् प्रभृति सर्वमन्त्रैः यथास्थानम्, यथा-लेखोत्पुंसनं न सम्पद्यते ॥५६॥

अथ–

वेष्टयेच्चैव तद्भूर्जमरन्ध्रं निर्व्रणं समम् ।
पञ्चरङ्गकसूत्रेण वेष्टयित्वा वरानने ॥५७॥

इस प्रकार मन्त्रराज की स्थिति चक्र की कर्णिका में होती है । अरों में चार चार मन्त्राक्षर नामादि देवियों के नाम के पहले भी साध्य नाम लिखें । आठ अरों का प्रारम्भ तो बीच की कर्णिका से ही होता है । ये सभी देवियाँ मन्त्रराज के सम्मुख ही मानी जाती हैं । इस तरह ८ दिशाओं के आठ अरों के मूल में साध्य नाम आठ बार लिख जाता है । इस प्रकार ध्यान पूर्वक लिखे इस चक्रराज का ध्यान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है ॥५५॥

इस चक्र के आठों अरों के अन्त में आठ 'क्रों' बीजाक्षर लिख कर इस चक्र का और भी महत्त्वपूर्ण बना देते हैं । इसके बाद कर्पूर आदि से इसकी पूजा की जानी चाहिये ॥५६॥

वह भूर्जपत्र जिस पर यह मन्त्र लिखा जाय, छिद्र आदि दोष रहित हो । भोजपत्र को अरों के अन्त से इस प्रकार मोड़े कि, पहला अक्षर न मुड़े । आचार्य अपने सम्प्रदायानुसार मोड़ देकर पुण्डिका बनावें । पुनः पञ्चरङ्गी सूत से उसे बाँध दें । सिक्थ अर्थात् मोम से उसे लपेट कर मधु में उसे रख दें । इस तरह यन्त्र के माध्यम में साध्य का भी आप्यायन हो जाता है ॥५७॥

सिक्थेन मुटयेत्पश्चात् क्षौद्रमध्ये निधापयेत् ।

सिक्थं मधूच्छिष्टम् । क्षौद्रं माक्षिकं सर्वौषधिरससारभूतमिति तन्मध्ये स्थापनं साध्यस्याप्यायनाय ।

अस्य रक्षाविधेः फलमाह–

यदा मृत्युवशाघ्रातं कालेन कलितं प्रिये ।।५८।।
अरिष्टचिह्नितं ज्ञात्वा रक्षामेतां समालिखेत् ।
तस्य मृत्युर्न जायेत इत्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।।५९।।

यदाशब्दो भिन्नक्रमः समालिखेदित्यस्यादौ योज्यः । अस्य च पश्चात् तदेत्यध्याहार्यम्, तेन कालाधिकारप्रोक्तैरन्यैर्वारिष्टैः चिह्नितम्, तत एव च–

'एकोत्तरं मृत्युशतमस्मिन्देहे प्रतिष्ठितम् ।
तत्रैकः कालमृत्युः स्याच्छेषास्त्वागन्तवः स्मृताः' ।।

जब कोई व्यक्ति मृत्यु के वशीभूत होकर मृत्यु से आघ्रात होकर जीवन से निराश हो जाता है, तो उसे किसी की आशा नहीं रह जाती । उस नैराश्य के क्षण में यह यन्त्र आशापूर्ण दीप बन कर आता है । उस अरिष्ट ग्रस्त दशा का अनुभव करने के बाद आचार्य उस पर दया कर इस यन्त्र की रचना करता है । ऐसे निराश व्यक्ति की उम्र लौट आती है । वह यन्त्र धारण करता है और मृत्यु टल जाती है । यह भैरव का वचन है । अवश्य पूरा होता है । इसमें अविश्वास का कोई कारण इसमें नहीं है ।

श्लोक में यदा और तदा का क्रिया के साथ अन्वय करने पर ध्यान देना चाहिये कि, 'मृत्यु नहीं होती' इस वाक्य के सम्बन्ध में एक उक्ति द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि,

एक सौ एक बार मृत्यु की सम्भावना इस शरीर में रहती है । अन्तिम मृत्यु 'कालमृत्यु' कहलाती है । शेष आगन्तुक मृत्यु के रूप में ही प्रसिद्ध हैं ।

तन्त्र शास्त्र की इस उक्ति के परिप्रेक्ष्य में यह विचार करना पड़ता है कि, आगन्तुशत मृत्युओं से आघ्रात और एक कालमृत्यु से निर्धारित मृत्यु प्राप्त करने वाले संसारिक लोग होते हैं । इनमें से जो साध्य होता है, उसी की रक्षा के लिये गुरुदेव इस रक्षा-यन्त्र का निर्माण करते हैं । इस यन्त्र के महाप्रभाव से उक्त कोई भी मृत्यु पास नहीं फटक पाती है । यह स्वयं भगवान् भैरव भट्टारक के ही वचन हैं । लिपिमात्र से यह अशक्य कार्य कैसे हो सकते हैं ? इस प्रकार के संशय मन में कभी नहीं लाना चाहिये ।

इति स्थित्यागन्तुशतेनाघ्रातं कालमृत्युना च एकेन कलितं साध्यं ज्ञात्वा गुरुरिमां रक्षां यदा समालिखेत्, तदा तस्य मृत्युः कोऽपि न स्यादिति भगवतैवोक्तमेतदिति नात्र संशयितव्यं लिपिमात्रात् कथमेतद्भवतीति । यतः श्रीसर्ववीरश्रीभर्गशिखानिरूपितनीत्या लिपिरपि पराशक्तिप्रसररूपैव, अतो भगवतैवैवंप्रतिज्ञातत्वात् सत्यमेवैतन्मन्तव्यम् ॥५९॥

मृत्युरक्षणे प्रकारान्तरमाह–

कपालीशस्य गर्भे तु नाम यस्य समालिखेत् ।
भूर्जपत्रे वरारोहे रोचनाया रसेन तु ॥६०॥
ओंकारपुटमध्यस्थं रोधितं नयनाक्षरैः ।
वौषड्जातिप्रयोगेण तस्य मृत्युर्न जायते ॥६१॥

कपालीशः पूर्वोक्तः, तस्य गर्भे प्राग्वत्कषमध्ये । कीदृशं नाम ? ओंकारपुटमध्यस्थमाद्यन्तयोरोंकारसम्पुटीकृतम्, तथाकृतं च सत्पूर्वोक्तैर्नयनाक्षरैः वौषड्जातिप्रयोगेण पश्चात्कृतेनोपलक्षितैः, रोधितमिति प्राग्वदनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यामाद्यन्तयोः सम्पुटीकृतम् । दिग्विशेषानुपादानादष्टासु दिक्षु इति । अत्र च प्राग्वद् दूर्वाकाण्डलेखनपूजनादिक्षौद्रमध्यनिधापनपर्यन्तं सर्वमनुसर्तव्यम् ॥६१॥

यह ध्यान देने की बात है कि, लिपि का लेख भी पराशक्ति का ही प्रसर माना जाता है । सर्व वीर शास्त्र और श्रीभर्गशिखा नामक शास्त्रों में इस तथ्य का पूर्णतया प्रतिपादन किया गया है । भगवत्प्रतिज्ञात तथ्य में असत्य के लिये कोई अवकाश नहीं होता ॥५८-५९॥

मृत्युरक्षण प्रयोग– २–

मृत्यु से रक्षा के अन्य उपाय भी शास्त्रों में वर्णित हैं । इसी प्रकारान्तर की चर्चा यहाँ कर रहे हैं–

कपालीश भैरवाष्टक के एक मान्य सदस्य हैं । इनके मन्त्र के गर्भ में वही साध्य का नाम लिखना चाहिये । जैसे पहले 'कष' के मध्य में लिखा गया था । ओङ्कार से यह नाम सम्पुटित होना चाहिये । ओङ्कार सम्पुटित साध्य नाम को नेत्रमन्त्र और वौषड् जाति से पूर्ववत् अनुलोम विलोम दृष्टि से सम्पुटित करना चाहिये । यहाँ किसी दिशा का उल्लेख न होने के कारण आठ अरों में अरुण आदि देवियों की चार चार के संश्लिष्ट क्रम के अनुसार न्यास करना चाहिये । इसे भी दूर्वाकाण्ड से लिखने की प्रथा है । तत्पश्चात् यथावत् पूजन वेष्टन, मोम से वेष्टन और मधु में आप्यायनार्थ रखने की प्रक्रिया अपनायी जाती है । इसके प्रयोग से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है ॥६०-६१॥

एवं परिवारस्थभैरवाष्टकाद्यन्तस्थकपालीशविद्याराजाश्रयेण रक्षाविधानेन मृत्युजयमुक्त्वा, प्रसङ्गात् कर्मान्तरसिद्धिमपि यन्त्रक्रमेणादिशति देवः–

शिख्याह्वेन तु देवेशि साध्यनाम विदर्भयेत् ।
अनलार्णमधश्चोर्ध्वे साध्यार्णेषु नियोजयेत् ।।६२।।

शिख्याह्वेन शिखिवाहनमन्त्रेण पूर्वोक्तन, विदर्भयेदिति–

'अभिधेयं भवेत्पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद्भवेत्' ।

इति शास्त्रान्तरोक्तस्थित्यानुविन्यस्तमन्त्रं कुर्यात्, अनलार्णं रेफः, तदेकैकत्र साध्यनामाक्षर ऊर्ध्वाधो नियोजयेत् । इत्थं विदर्भितमेतदाग्नेयमण्डलान्तस्थवायुमण्डलसंस्थितं कुर्यात्, आग्नेयमण्डलं त्रिकोणं तद्बहिर्वायुमण्डलं षट्कोणं वर्तुलम् ।

एतच्च यस्य लिख्यते–

तस्य वै जायते दाहः

वाय्वाध्माताग्निदीपितत्वादग्निवर्णमध्यगताक्षरत्वात् शिखिवाहनविदर्भितत्वाच्च ।

दाहजनक प्रयोग–

इस प्रकार कपालीशादि भैरवों के मन्त्रों के माध्यम में 'मृत्युजित्' यन्त्र लेखन के बाद ऐसे यन्त्रों के प्रकार का उल्लेख कर रहे हैं, जिससे कर्मान्तरों की सिद्धि भी अनिवार्य रूप से होती है ।

शिखिवाहन भैरवाष्टक के द्वितीय भैरव हैं । इनका बीजमन्त्र 'हूं' माना जाता है । इस मन्त्र से साध्य नाम को विदर्भित करना चाहिये । इसका नियम यह है कि,

'अभिधेय पहले प्रयुक्त होता है और इसके बाद मन्त्र मात्र एक बार प्रयुक्त होता है' । इस उक्ति के अनुसार मन्त्र को अनुविन्यस्त करना चाहिये । श्लोक में प्रयुक्त 'अनलार्ण' शब्द का अर्थ बह्निबीज 'रेफ' माना जाता है । ह् र् ऊ म् इन चारों में रेफ दूसरे स्थान पर है । इस स्थिति में रेफ के ऊपर और नीचे अर्थात् पहले व बाद में अभिधेय का नाम लिखना चाहिये । इस प्रकार विदर्भित यह आग्नेय मण्डल अपनी आभा से यन्त्र को भास्वर बना देता है । यह आग्नेय मण्डल त्रिकोण होता है । वायु मण्डल षट्कोण होता है । इस षट्कोण के मध्य में ही त्रिकोण मण्डल को बना दिया जाता है ।।६२।।

यह यन्त्र जिस साध्य के नाम का होता है, उसके शरीर में भीषण दाह उत्पन्न हो जाता है । षट्कोण रूपी वायु से प्रज्वलित त्रिकोणात्मक अग्नि में वह

किं शिखिवाहनदिवर्भितमात्रमेव नामाग्नेयमण्डलान्तः क्रियते । न तन्मात्रमेव, किन्तु–

फट्काराद्यन्तरोधितम् ।

फट्कारान्तशिखिवाहनबीजविदर्भितमिति व्याख्यानमसत्, तथा वाक्यार्थस्याभावात् ।

एतल्लेखनानन्तरं च मन्त्रनाथं पूजयित्वा, एतच्चक्रमध्यगतमेव–

ज्वलन्तं चिन्तयेत्साध्यं दिनानां सप्तकं यदि ।।६३।।

ततस्तस्य–

तत्क्षणाज्जायते दाहो भैरवस्य वचो यथा ।

क्रोधराजप्रयोगेण मारणमाह–

क्रोधराजनिरुद्धं तु श्मशानपटमध्यगम् ।।६४।।
श्मशानादलिना लेख्यं विषरक्तान्वितेन तु ।
यस्य नाम वरारोहे हुंफट्कारविदर्भितम् ।।६५।।
मारयेतिसमायोगात्क्रूरजातिसमन्वितम् ।
म्रियते सप्तरात्रेण यो रक्षाभिः सुरक्षितः ।।६६।।

स्वयम् अनल अक्षर रेफ और शिखिवाहन से विदर्भित होने का ही यह परिणाम होता है । इसके अतिरिक्त शिखिवाहन के साथ फट् जाति के प्रयोग से आद्यन्त रोधित भी होता है । इस तरह सात दिन पर्यन्त लगातार साध्य को दाह से दग्ध होता हुआ अनुभव किया जाय, तो यह यन्त्र सिद्ध हो जाता है और चिन्तन के साथ ही उसके शरीर में दाह उत्पन्न हो जाता है ।।६३।।

मारण प्रयोग–

शिखिवाहन मन्त्र के साथ साध्य के प्रयोग का यह फल है । किन्तु क्रोधराज मन्त्र के साथ प्रयोग करने पर भयङ्कर परिणाम होता है । उस समय यन्त्र को श्मशानवस्त्र से (कफन से लपेट कर रखते हैं ।।६४।।

श्मशान के अलि अर्थात् अङ्गार (के कोयले) से और प्रेतरक्त रूपी विष के साथ स्याही बनाकर कफन पर ही हुंफट् जाति से अन्वित कर और क्रोधराज विद्या के मन्त्र से उसे निरोधित किया जाय, तो यह महाविनाशक यन्त्र बनता है ।।६५।।

सोऽपीति शेषः । श्मशानादलिः श्मशानाङ्गारः, तेन प्रेतरक्तविषमिश्रेण मषीं कृत्वा, प्रेतपटखण्डे यस्य नाम हुंफट्कारविदर्भितमित्यन्ते विन्यस्य हुंफट्-कारं कृत्वा, पश्चात्प्रागुक्तेन क्रोधराजेन निरुद्धमित्याद्यन्तरोधितम्, ततोऽपि मार-येत्यनेन युक्तम्, ततोऽपि क्रूरजात्या हुंफट् इत्यनेन समन्वितं लिख्यते, स रक्षाभी रक्षितोऽपि सप्तरात्रान्म्रियते । अत्र श्रीक्रोधराजरूपं शत्रुसंहारोचितमुग्रं चिन्त्यम् ॥६६॥

अथ शत्रोस्त्रासनाय विकरालप्रयोगमाह–

विकरालो महादेवि ऊर्ध्वाधःपाशसंस्थितः ।

साध्यनाम्नस्तु देवेशि हुंफट्कारविदर्भिणः ॥६७॥

न क्षामयत्ययत्नेन

यस्य साध्यनाम्नः प्रोक्तयुक्त्या हुंफट्कारविदर्भितस्य विकरालाख्यो मन्त्र-विशेषः चतुर्दिग्गतः प्रोक्तया मष्या लिख्यते, तस्यासावयत्नेन हेलयैव न क्षमते । **क्षामयतीत्यैशः पाठः ।**

किमस्य न क्षमणमित्याह–

तस्य शत्रोर्भयं भवेत् ।

अत्र च श्रीविकरालस्वरूपं मध्यस्थितस्य साध्यस्य चतसृषु दिक्षु त्रासकत्वेनोत्थितं चिन्तनीयम् ।

अथ मन्मथप्रयोगं वशीकारायाह–

मन्मथेन युतं कृत्वा साध्यनाम वरानने ॥६८॥

इस मन्त्र के साथ 'मारय' इस क्रिया का योगकर हुंफट् इस क्रूर जाति का प्रयोग करते हैं । ऐसे मन्त्र के कोप से अनेक रक्षा कवचों से रक्षित होने पर भी मात्र सात रात्रि में ही वह सुरधाम को सिधार जाता है ॥६६॥

यहाँ शत्रु को सताने और त्रस्त करने के लिये किकराल प्रयोग का उल्लेख कर रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! उक्त हुंफट् से विदर्भित साध्य नाम के ऊपर और नीचे विकराल बीज का चतुर्दिक् प्रयोग उसी श्लोक ६५ में प्रोक्त रोशनायी से लिखा जाय, तो यह ऐसा यन्त्र तैयार होता है, जिसे शत्रु आसानी से नहीं झेल पाता ॥६७॥

अर्थात् विना रक्षा का प्रबन्ध किये, वह जी नहीं सकता । उसे शत्रु का महान् भय उपस्थित हो जाता है । साध्य की चारों दिशाओं में विकराल बीज के प्रयोग के कारण चतुर्दिक् ताप से वह घिर जाता है ॥६७½॥

ध्रुवाद्यं स्वाहयान्तेन रक्तध्यानसमन्वितम् ।
अमुकोऽत्र वरारोहे तद्दिशोऽभिमुखः स्थितः ।।६९।।
अमुकस्य वशं यातु जपहोमौ समाचरेत् ।
सप्ताहाद्वशमायाति इति शास्त्रस्य निश्चयः ।।७०।।

पूर्वोक्तेन ह्व्ऊऔकारसमुदायात्मना सबिन्दुकेन पिण्डाक्षरेण मन्मथेन युक्तं यत्साध्यनाम, तदेव विभजति । अमुक इति अमुकस्य वशं यातु इत्येतदन्तं स्वाहया स्वाहाशब्देनान्तेनान्तस्थेन युक्तं कृत्वा च, ईदृशा प्रणवपूर्वेण मन्त्रेण रक्तध्यानसमन्वितमिति तं साध्यं रक्तं ध्यायन् तदवस्थितिदिगभिमुखः साधको यदि सप्ताहं जपं होमं च वशीकरणोचितैर्द्रव्यैः करोति, तदास्य साध्यो वशमायात्येवेत्यत्रार्थः । अत्र च यन्त्रप्रकरणादेतन्निश्चितं यदेवंविधं मन्त्रं लिखित्वा सम्पूज्य जपहोमौ कार्यौ ।।७०।।

मेघनादप्रयोगमुच्चाटनायाह–

मेघनादावसाने तु नाम यस्य समालिखेत् ।
यकाराद्यन्तसंरुद्धं मन्त्रं फड्द्वितयान्वितम् ।।७१।।
प्रेतस्थाने निधाप्यैतद्भैरवं तत्र पूजयेत् ।
अक्षपुष्पैर्वरारोहे तद्दिशोऽभिमुखः स्थितः ।।७२।।

वशीकरण प्रयोग (मन्मथ मन्त्र)

भगवान् आगे कह रहे हैं कि, देवि ! साध्य के नाम को मन्मथ से समन्वित करते हैं । आदि में ध्रुव (सकल मन्त्र) और अन्त में स्वाहा का प्रयोग करते हैं । इस प्रयोग में हमेशा रक्त ध्यान आवश्यक है और यह सोचते हैं कि, यह अमुक व्यक्ति इस विशिष्ट दिशा की ओर मुँखकर खड़ा है । वह अमुक व्यक्ति वश में हो जाय । इस तरह सोचते हुए साधक इस मन्त्र को एक सप्ताह लगातार जप करता है, तो वह अभीष्ट पुरुष के वश में अवश्य हो जाता है । यह शास्त्र का निर्णय है । इसमें जप और होम का यथोचित प्रयोग आवश्यक होता है ।।७०।।

मेघनादेश्वर मन्त्र से उच्चाटन का प्रयोग–

१–मेघनाद बीज के बाद साध्य नाम लिखना चाहिये । २–इसके बाद यकारादि+अन्त के अनुसार यः+साध्यनाम+यः+फट् यह मन्त्र लिख श्मशान भूमि में गाड़कर उसी स्थान पर मेघनादेश्वर की पूजा करनी चाहिये । यह मन्त्र भोजपत्र पर लिख कर श्मशान में ही मेघनाद की पूजा करनी चाहिये ।

तमुच्चाटयते क्षिप्रं देवि नास्त्यत्र संशयः ।

मेघनादो ह्र्‌य्ऊबिन्दुसमुदायात्मा । यकारेति सविसर्गयिकारसम्पुटितमित्याम्नायः । एतदित्येवं लिखितं भूर्जे । निधाप्येति श्मशानभूम्यन्तर्गतं कृत्वा । तत्र ईदृशे भूर्जे । अक्षा विभीतकाः । तदिति साध्यदिगभिमुखः । सप्ताहादिति स्थितमेव । स्पष्टमन्यत् ।

सोमराजप्रयोगं विभवार्थं वशीकृत्यर्थं चाह–

सोमराजेन देवेशि आदिमध्यान्तसंयुतम् ।।७३।।
नाम यस्य समालिख्य वषड्जातिसमन्वितम् ।
सन्निधाप्य त्रिमधुरे स्थापयेत्सुरसुन्दरि ।।७४।।
सप्तरात्रप्रयोगेण त्रिकालाष्टशतेन च ।
असाध्यं साधयत्याशु धनं च विपुलं लभेत् ।।७५।।

सोमराजो हुंकारस्तेन, साध्यनाम आदिमध्यान्तसम्बद्धं कृत्वेति नाम्न आदौ मध्येन्ते च त्रिः सोमराजं लेखित्वा, ततो वषडन्तं कृत्वा, तद्यन्त्रं सन्निधाप्य पूजयित्वा सिक्थसम्पुटितं क्षीरक्षौद्रशर्करापात्रसम्पुटगं कृत्वा, सप्तदिनं यस्त्रिसन्ध्यं तथैव जपेदसावसाध्यं साधयितुमशक्यमपि साधयति वशीकरोति, श्रियं चाप्नोति ।।७५।।

बहेरा के फूल से यह पूजा होती है । इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, साध्य जिस दिशा में हो, उसी दिशा में साधक भी बैठे । इससे तत्काल लाभ होता है । शीघ्र उच्चाटन होता है ।।७१-७२।।

सोमराज मन्त्र प्रयोग से वशीकरण–

भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! सोमराज के आदि, मध्य और अन्त में ४बार लिखे मन्त्रों के बीच बीच में ३बार साध्य नाम लिखे । अन्त में वषट् जाति का प्रयोग करे । जैसे (हुं शिव हुं शिव) इस तरह शिव के स्थान पर साध्य का नाम लिखे । इसे त्रिमधु में सिक्थ से संपुटित कर रखे । त्रिमुध (क्षीर, रौद्र (मधु) और शर्करा (चीनी) के सम्पुटित कर दें । सात रात्रों को इसका प्रयोग करें । त्रिकाल १०८ जप करें । इससे असाध्य की सिद्धि होती है और धन की भी प्राप्ति होती है ।।७५।।

पुनः प्रोक्तस्य क्रोधराजस्य जपहोमाभ्यां प्रयोगमुन्मादार्थमाह–

पञ्चाङ्गेन पिशाचस्य क्रोधराजावसानिकाम् ।
संज्ञां समुच्चरेद्देवि क्रूरजातिसमन्विताम् ।।७६।।
उन्मत्तो जायते साध्यो होमेन च जपेन च ।

पिशाचस्य विभीतकस्य मूलकाण्डपत्रकुसुमफलानि पञ्चाङ्गानि, तैर्मिलितं सप्ताहं प्रणवादिक्रोधराजहुंफडन्तं साध्यनामोच्चार्य, त्रिसन्ध्यमष्टोत्तरशतं यो जुहुयात्, तस्यासौ साध्यः शत्रुरुन्मत्तो भवति ।

पुनरप्यनुग्रहहेवाकितया मृत्युजिद्विधिमाह–

मृत्युञ्जयं प्रवक्ष्यामि तमेकाग्रमनाः शृणु ।।७७।।
भूर्जपत्रं समादाय नीरन्ध्रं निर्व्रणं समम् ।
तस्मिन्समालिखेत्पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ।।७८।।
तस्मिन्वै कर्णिकामध्ये साध्यनाम समालिखेत् ।
संवेष्ट्याष्टौ दिशो देवि स्वच्छन्देन कृशोदरि ।।७९।।

क्रोधराज बीज मन्त्र प्रयोग–

पिशाच अर्थात् विभीत का अर्थात् बहेरा के पाँचों अङ्ग (मूल, काण्ड, पत्र, पुष्प और फल) मिलाकर हवन सामग्री तैयार करें । इनके अतिरिक्त इनमें कुछ भी न डाले । इसी सामग्री से प्रणव सहित क्रोधराज मन्त्र में हुं फट् जाति को मिलाकर बने मन्त्र से साध्य नाम का उच्चारण करते हुए त्रिसन्ध्य अष्टोत्तरशत जप करते हुए हवन करें, तो वह साध्य पागल हो जायेगा । इसमें सन्देह नहीं ।।७६।।

मृत्युजिद्विधि–

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! मैं मृत्युञ्जय विधि तुम्हें सुना रहा हूँ । इसे ध्यान पूर्वक सुनो । भोजपत्र ऐसा हो, जो नीरन्ध्र और निर्व्रण हो । उसमें अष्टदल कमल लिखना चाहिये । कमल में कर्णिका का स्थान निर्धारित हो । उसी कर्णिका के मध्य में साध्य का नाम लिखा जाय । देवि ! आठों दिशाओं को स्वच्छन्द मन्त्र से संवेष्टित करना चाहिये । स्वच्छन्द मन्त्र से यहाँ सकल मन्त्र ही ग्रहण करना चाहिये । उसे प्रणव से संवेष्टित करना चाहिये । इसके बाद कर्णिका की तरह प्रति पत्र में लिखना चाहिये । अर्थात् आठों पत्रों पर इसी तरह लिख कर प्रणव से आवेष्टित कर उसे रेखा से वृत्त में आवेष्टित कर उसी वृत्त की

प्रणवेन तु संवेष्ट्य

स्वच्छन्देनेति सिद्धिप्रदानेन सकलेन साध्यनामाष्टौ दिशश्चक्रवदावरणक्रमेण संवेष्ट्य ततः प्रणवेन संवेष्ट्य कर्णिकामध्ये लिखेदिति योजना ।

कर्णिकावत्प्रतिपत्रं लिखेदित्याह–

पत्रेष्वेवं समालिखेत् ।

अष्टस्वपि । किञ्च,

पत्राष्टकेऽप्यघोरस्य नामाधस्तात्समालिखेत् ।।८०।।

पत्रबाह्य आवरणक्रमेण व्योमरेखामित्यर्थः । एवं लिखित्वा प्रागवत् कर्पूरादिना पूरयित्वा सम्पूज्य विज्ञप्त्यर्थम्–

वक्तव्यं देव संरक्ष शरणं त्वामुपागतम् ।

साध्यमित्यर्थात् । तत एषा रक्षा सिक्थकादिना संवेष्ट्य पयसि क्षेप्या । पयसि क्षीरे निक्षिप्तमात्रैव सती साध्यस्य सद्योमृत्युविनाशिनीति कर्णिकायां लिखित्वा तल्लग्नेषु अष्टसु पत्रेषु एवमेव लिखेत् ।

अथ शान्तिकमाह–

आदौ त्र्यक्षरविन्यासं स्वच्छन्दं तदनन्तरम् ।।८१।।
जन्मनाम तु साध्यस्य अक्षरान्तरितं लिखेत् ।
पुनस्त्र्यक्षरविन्यासं वषडन्तं नियोजयेत् ।।८२।।

नेत्रमन्त्राक्षराणि त्रीणि चतुष्कलं च लिखित्वा जन्मसमयकृतं साध्यनामाक्षरैरिति अर्थादघोरसत्कैरन्तरितमेकैकतदक्षरव्यवहितम्, 'अ देवदत्तः घो देवदत्तः' इत्यादिक्रमेण लिखित्वा पुनर्वषडन्तानि प्राग्वल्लिखेत् ॥८२॥

निचली रेखा पर अघोर भैरव का नाम चतुर्थ्यन्त नमः के साथ लिखे । इसे पूर्ववत् कर्पूर आदि से पूजित करें । तत्पश्चात् भगवान् से यह प्रार्थना करे कि, भगवन् देवाधिदेव ! तुम्हारी शरण में यह साध्य आया हुआ है । कृपा कर इसकी रक्षा करो भगवन् ! इसे मोम से मोड़कर यन्त्र का रूप दे और इस यन्त्र को दूध में छोड़ दें । दूध में पड़ते ही साध्य की सद्यो मृत्युविनाशिनी शक्ति जागृत हो जाती है ॥८०॥

शान्ति के प्रयोग–

नेत्र मन्त्र के तीन अक्षर, पश्चात् निष्कल स्वच्छन्द, साध्य के जन्म नाम के अक्षरों को अक्षरान्तरित रूप से लिखे और अन्त में वषड् का प्रयोग करें । सिक्थ से मोड़कर दूध में डालकर रखें । इससे परम शान्ति की अनुभूति होती है ।

इमां च रक्षां सम्पूज्य–

मुटित्वा सिक्थकेनैव क्षीरमध्ये तु प्रक्षिपेत् ।

इत्थं च साध्यस्य–

जायते परमा शान्तिः

किञ्च,

पुनरन्यन्निबोध मे ।।८३।।

कथम्–

जुंसः संपुटमध्यस्थं प्रणवोभयसंयुतम् ।

नाम कृत्वा वरारोहे प्रक्षिपेन्मधुरत्रये ।।८४।।

जुंस इत्यनेन प्राग्वत् प्रागनुलोमं पश्चात्तु प्रतिलोमं विन्यस्तेन सम्पुटीकृतं नाम पश्चात् प्रणवेन सम्पुटितं कुर्यादित्यर्थः । मधुरत्रयं प्राग्वत् ॥८४॥

इत्थं च–

परां शान्तिमवाप्नोति मृत्युरोगैर्न बाध्यते ।

साध्य इत्यर्थात् ।

पुनर्मृत्युजयप्रकारान्तरमाह–

भूर्जपत्रं समादाय रोचनाया वरानने ।।८५।।

भगवान् इसके अतिरिक्त शान्ति के अन्य प्रयोग की चर्चा के लिये देवी को सावधान कर रहे हैं । शान्ति के इस प्रयोग को सुनने के लिये देवी पूरी तरह तैयार हैं ॥८१-८३॥

शान्ति के प्रयोग–

नेत्र मन्त्र के सम्पुट में अनुलोम विलोम क्रम के मध्य में साध्य नाम रखे । सिक्थ (मोम) से मोड़कर मधुरत्रय में रखे । इससे वह साध्य पराशान्ति का अनुभव करता है । वह मृत्यु और मृत्युप्रद रोगों से एकदम बचा रहता है ॥८४॥

मृत्युजित् प्रयोगों के प्रकारान्तर–

भोजपत्र का चौकोर निर्व्रण पत्र लीजिये । गोरोचन की स्याही ले आइये । मातृकान्तरित नाम लिख जाइये । इसे दूब की शाखा से लिखना चाहिये । मातृकागर्भ में षोडश स्वरान्तरित नाम परिमण्डल रूप में पुनः

मातृकान्तरितं नाम दूर्वाकाण्डेन चालिखेत् ।
तदभ्यन्तरगर्भे तु स्वरैरन्तरितं कुरु ॥८६॥
पुनर्गर्भे समालिख्य साध्यनाम वरानने ।
ध्रुवेण वेष्टयेत्पश्चाद्वकारेण ततः प्रिये ॥८७॥
सकारं च क्षकारं च लिखेच्च तदनन्तरम् ।
पुनर्वेष्ट्य ठकारेण मायाबीजेन सुव्रते ॥८८॥
अङ्कुशेन निरुन्ध्येत रक्षां मृत्युविनाशिनीम् ।
स्वच्छन्दसहितां देवि प्रणवेनादियोजिताम् ॥८९॥
वषड्जातिसमोपेतां कर्पूरक्षोदचर्चिताम् ।
गन्धपुष्पादिना पूज्य प्रक्षिपेन्मधुरत्रये ॥९०॥

गर्भे साध्यनाम । प्रणवेनादियोजितामपि प्रणवान्तर्गर्भीकृतां विधाय स्वच्छन्दसहितां वषड्जातिसमोपेतां रक्षां कृत्वेति गर्भीकृतनाम्नः प्रणवस्य बहिर्घोरं वषडन्तं परिवेष्टनया लिखेत्, तच्च 'तदभ्यन्तरगर्भे तु स्वरैरन्तरितं कुरु' इति बहिर्विन्यस्तकादिक्षान्तमातृकाया अभ्यन्तरे षोडशभिः स्वरैरन्तःकृतैः परिमण्डलेन लिखितैर्व्याप्तं करणीयं यदाह–मातृकान्तरितमिति । एतच्च सर्वं पुनर्ध्रुवेण वेष्टितं सत् क्रमेण वकारसकारक्षकारठकारैर्वेष्टयेत् । तदनु मायाबीजसत्केकारेण त्रिर्वेष्टयेत् । पश्चादष्टसु दिक्षु क्रोंकारेण रोधयेदिति व्यवहितवाक्यार्थसंगत्यनुसारेण चक्रमेतत्प्रदर्शितम् ॥९०॥

लिखें । इसके बाद इस वृत्ताकार लिखे । मातृका मण्डलान्तरित साध्य नाम को ध्रुवमन्त्र से वेष्टित करें । फिर 'व' से पुनः 'स' से पुनः 'क्ष' से और इन तीनों को भी 'ठ' से वेष्टित करें । इस वेष्टित मण्डल को मायाबीज ह्रीं या ईंकार से तीन बर वेष्टित करें । पुनः आठों दिशाओं में 'क्रों' लिखें ।

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि परमेश्वरि ! यह मृत्यु–विनाशिनी यन्त्र-विद्या है । यह स्वच्छन्द भैरव से समन्वित प्रणवादि विद्या है । अन्त में इसमें वषट् योग देना चाहिये । कर्पूर और मधु से चर्चित मन्त्र को गन्ध पुष्प आदि के द्वारा इस यन्त्र की पूजा करनी चाहिये । पूजा करके त्रिमधु में इसे रखें । इस प्रकार इस यन्त्र से मृत्यु पर भी विजय का ध्वज फहराया जा सकता है ॥८५-९०॥

अर्चयित्वा चैतत्सिक्थकेन मुटितं मधुरत्रये यस्य क्षिप्यते, तस्य–

जायते परमा शान्तिर्नात्र कार्या विचारणा ।

निश्चितमतिनैतत्प्रयुक्तमभीष्टं साधयत्येव ।

अथवा गुटिकां कृत्वा कण्ठे बाहौ च धारयेत् ।।९१।।

यः–

तस्य व्याधिर्न जायेत इत्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।

गुटिकां कृत्वा इति जतुबद्धां कनकादिभूषितां विधाय कण्ठे भुजे वा धारयेत् । चो वार्थे ।

गुटिकां विना विशिष्टमन्त्राभिमन्त्रितभोजनपानक्रमेण सततं क्रियमाणेन मृत्युजिद्विधिमाह–

त्र्यक्षरं मूलमन्त्रं च वषड्जातिसमन्वितम् ।।९२।।
भोजनोदकपाने तु मन्त्रयित्वाश्नतः सदा ।
न तस्य जायते मृत्युर्भैरवस्य वचो यथा ।।९३।।

नेत्रमन्त्रचतुष्कलनाथाभ्यां वषडन्ताभ्यां भोजनपाने द्वे सततमभ्यवहरतो न मृत्युर्भवति ।।९३।।

जिस साध्य का नाम इस यन्त्र में दिया गया है । उसे यह आनन्द के अमृत से आप्यायित करता है । उसके जीवन में परम शान्ति का अनुभव होता है । इसमें सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं है । हाँ इस यन्त्र को भी मोम में लपेट कर त्रिमधु में रखना आवश्यक होता है । इसके साथ श्रद्धा और विश्वास का सम्बल आवश्यक माना जाता है । अथवा इस यन्त्र की गुटिका बनाकर गले में धारण करने से भी उसी तरह अनन्त फलों की अवाप्ति होती है । इस यन्त्र को बाहु में भी धारण कर सकते हैं ।।९१।।

जिसके हाथ गले या शिरो भाग में यह यन्त्र रहता है, उसे किसी प्रकार की व्याधि नहीं होती, यह स्वयं भैरव का वचन है । विना गुटिका के उक्त विशिष्ट मन्त्रों से समन्वित और अमान्त्रिक भोजन पान करने वाले लोगों के लिये एक नयी विधि का प्रदर्शन कर रही है । १–त्र्क्षर मन्त्र,+२–चतुष्कल मूल मन्त्र+ ३वषड् जाति के मन्त्रोद्धार से निष्पन्न मन्त्र से भोजन पान करने वाले लोगों का भी मृत्यु नहीं होती । यह भैरव का वरदान है ।।९२-९३।।

अथ विषादिहेतुर्यस्यापि मृत्युर्न, तं समादिशति–

अथाहिना महादेवि दूषितः साधको यदा ।

तदा–

मूलमन्त्रसमोपेतमघोरं तत्र योजयेत् ।।९४।।

मूलमन्त्रः श्रीचतुष्कलः, तेन समोपेतं सम्पुटीकृतम्, तत्रैति अहिदूषण-प्रशान्तिनिमित्तम् । अस्यान्ते 'भगवन्विषं शमय २ हुंफट्' इति क्रूरजात्यन्तः ऊहः प्रयोक्तव्य इत्यर्थात् ॥९४॥

प्रयोगावसरे च–

आत्मनो भैरवं रूपं कृत्वा चैव सुदारुणम् ।
दंष्ट्राकरालविकटं ज्वालामालोपशोभितम् ।।९५।।
सर्पैर्ललल्लम्बमानैः खड्गहस्तं सुभीषणम् ।
पूर्वरूपसमोपेतं सूर्यकोटिसमप्रभम् ।।९६।।
तेनाक्रान्तं महादेवि दष्टकं तु विचिन्तयेत् ।
तज्ज्वालाभिः सुदीप्ताभिर्दग्धं संचिन्तयेद्विषम् ।।९७।।

महादेवी को सम्बोधित कर भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! कभी ऐसा होता है कि, शिव भक्तों को साँप डस लेते हैं । ऐसी अवस्था में मूल मन्त्र अर्थात् चतुष्कल नाथ, इससे सम्पुटित अघोर मन्त्र के बाद 'भगवन् ! विष को शमन करो, शमन करो हुं फट्' इसका संस्कृत वाक्य अवश्य लगाकर मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । इससे विष का शमन हो जाता है ॥९४॥

जिस समय यह प्रयोग किया जाय, उस समय प्रयोक्ता अपने को भैरव रूप में आकलन करे और भैरव के भयप्रद भीषण रूप को देखे । साथ ही दंष्ट्रा से कराल विकटाकार रूप में अवस्थित, सर्पहार के पहले भैरव को ज्वालामाल से जाज्वल्यमान माने । हाथ में नंगी तलवार, कोटराक्ष के समान भीषण, करोड़ों सूर्य के समान चमकीले भैरव के द्वारा आक्रान्त उस भक्त को भी आकलित करें ।

इस तरह भगवान् भैरव की ज्वालाओं से दग्ध होकर शिव भक्त के ऊपर चढ़ा भयङ्कर जहर तत्काल शान्त होने लगता है । कुछ देर तक के इस प्रयोग से भक्त के प्राणों पर आ पड़े दारुण संकट से बचा जा सकता है । भगवान् भैरव का प्रत्यक्ष अनुग्रह उसे नया जन्म देता है । वह अब निर्विष हो जाता है ॥९५-९७॥

तत्क्षणाद्देवदेवेशि निर्विषः स तु जायते ।

कृत्वेति ध्यात्वा, सर्पैरिति हारकटकादिस्थैरुपलक्षितम्, पूर्वरूपं श्रीकोटराक्षसम्बन्धि । अहिदूषितत्वं विषदूषितत्वोपलक्षणपरम् ।

किञ्च,

ग्रहेष्वेवंविधं ध्यानं यः कुर्यात्

सः–

मोचयेत्क्षणात् ।।९८।।

तेभ्योऽपस्मारादिग्रहेभ्यः साध्यमित्यर्थात् । अत्र च 'भगवन्नस्य साध्यस्य ग्रहं शमय शमय हुंफट्' इत्यन्तपूर्वोक्तमन्त्राभिमन्त्रितेनाम्भःकुसुमादिना साध्यं ताडयेदित्यर्थात् ॥९८॥

ध्यानासमर्थं प्रति विषशमनं कारुणिकत्वादोषधिप्रयोगैरप्यादिशति शम्भुः–

अथ ध्याने ह्यकुशलो यदा कश्चिन्नरो भवेत् ।
तदागदैर्महादेवि निर्विषं कुरुते क्षणात् ।।९९।।

दष्टं भक्षितविषं च ॥९९॥

अगदमाह–

कुमारिद्वितयं गृह्य नागिन्या तु सहैकतः ।
गोकर्णिकासितं मूलं सोमाह्वामूलसंयुतम् ।।१००।।

ग्रहों की पीड़ा में भी इस प्रकार के ध्यान से बड़ा कल्याण होता है और ग्रहग्रस्त व्यक्ति का तत्काल उद्धार हो जाता है । अपस्मार आदि भी एक प्रकार के ग्रह ही हैं । इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करना और मन्त्र पाठ करना भी आवश्यक है । कुसुम आदि से साध्य का ताडन भी करते रहना चाहिये ॥९८॥

विष चढ़ रहा हो, ध्यान आदि की क्रियाओं में वहाँ कोई समर्थ न हो, उस समय विषहर ओषधियों से भी काम लेकर विष के शमन में प्रवृत्त होना चाहिये । विष शमन के वे प्रकरण भी इसी में जोड़ना चाहिये, जिसमें कोई विष खाकर मर रहा हो । वहाँ भी यह प्रयोग काम करता है ॥९९॥

पहला प्रयोग–

१–घृतकुमारी चाहे वह फलवती हो या बन्ध्या हो, दोनों ग्राह्य हैं । २–नागिनी (महागोनासा) इन दोनों को गाय के दूध में पीसकर पिलाना चाहिये ।

आमगोक्षीरसंपिष्टं भक्षयेन्निर्विषो भवेत् ।

कुमार्याख्यौषधिः सफला वन्ध्या चेति द्विरूपापि, नागिन्या महागोनासाह्वया सह गोक्षीरपिष्टमित्येकः प्रयोगः । गोकर्णिका गिरिकर्णिका, सोमाह्वा सोमराजी, सितं मूलं गोक्षीरपिष्टमिति द्वितीयः, क्षीरेण पिष्टमप्येतद्घृतेन सह पाने नस्ये वा प्रयोक्तव्यम् । यद्वक्ष्यति–

'अगदान्घृतसंयुक्तान् पिबेत्.......'। (१०८) इत्यादि ॥

किञ्च,

गोनिम्बस्य च मूलेन निर्विषत्वं प्रजायते ।।१०१।।

गोनिम्बो भूम्यामलकी । क्वचित्तु ऐरण्डस्य मूलेनेति पाठः । अत्रापि आमगोक्षीरपिष्टत्वं स्थितमेव ॥१०१॥

अश्वमारस्य मूलं तु उदकेन तु पेषयेत् ।
पाने नस्ये प्रदातव्यं तदा भवति निर्विषः ।।१०२।।

अश्वमारः करवीरकम् ॥१०२॥

आरग्वधस्य मूलं तु उदकेन च पेषयेत् ।
पाने नस्ये प्रदातव्यं तदा भवति निर्विषः ।।१०३।।

आरग्वधमारोचकमिति प्रसिद्धम् ॥१०३॥

दूसरा प्रयोग–

१–गो कर्णिका (गिरिकर्णिका) २–सोमा (सोमराज), इन दोनों के सफेद जड़ों को गाय के दूध में पीसकर पिलाने से विष की शान्ति होती है ।

तीसरा प्रयोग–

उक्त पिष्ट ओषधियाँ+घी के साथ लेने से या इनके रसका नस्य लेने से भी कल्याण होता है ।

चौथा प्रयोग–

गोनिम्ब (भूमि आँवला) की जड़ को भी पीने, लगाने और नस्य लेने से जहर उतर जाता है ॥१००-१०१॥

पाँचवाँ प्रयोग–

अश्वमार (कनेर, करवीर, कनइला) के मूल को पानी से पीस कर पीने और नस्य रूप में देने से व्यक्ति निर्विष हो जाता है ॥१०२॥

छठाँ प्रयोग–

आरग्वध (आरोचक) की जड़ को पानी से पीसकर पीने और रस को नस्य लेने से भी व्यक्ति निर्विष हो जाता है ॥१०३॥

मधुकस्य तु सारं यन्नस्ये पाने प्रयोजयेत् ।
निर्विषस्तु प्रजायेत भैरवस्य वचो तथा ।।१०४।।

मधुकस्य मधूकस्य सार आन्तरो भागस्तं द्वयो: प्रक्रान्तत्वाद् उदकेन क्षीरेण वा पिष्ट्वा, नस्ये पाने प्रदातव्यम् । मधुकं मधुयष्टिरित्यन्ये ॥१०४॥

जम्बूलासिकमूलं तु पाने नस्ये प्रयोजयेत् ।
निर्विषस्तु भवेद्देवि नात्र कार्या विचारणा ।।१०५।।

जम्बुलासिकमूलं जम्बूवृक्षमूलम् । अत्रापि गोक्षीरपिष्टमिति स्थितमेव ॥१०५॥

अथ विषानाक्रमणहेतुमगदगुटिकाप्रयोगमाह–

षड्बिन्दुपटखर्जूरसूक्ष्मचूर्णं तु कारयेत् ।
मयूरपित्तसंयुक्तं गुटिकां कारयेत्प्रिये ।।१०६।।
त्रिलोहवेष्टितां कृत्वा करे कण्ठे निधापयेत् ।
न विषं क्रमते तस्य यश्च दष्टो महोरगैः ।।१०७।।

षड्बिन्दु: प्राणिविशेष: । पटखर्जूरं शतपदी गुटिकां कारयेदित्यनन्तरं तां चेति, निधापयेदित्यनन्तरं यत इति चाध्याहार्यम् । त्रिलोहं हेमरजत-ताम्रम् ॥१०७॥

सातवाँ प्रयोग–

मधुक (मधूक) मधुयष्टि (मुलहठी) का आन्तर सार भाग दूध या जल से पीस कर पीने या नस्य से व्यक्ति निर्विष हो जाता है ॥१०४॥

आठवाँ प्रयोग–

जम्बुलासिक (जामुन वृक्ष की जड़) को दूध या जल से पीसकर पीने या पीसकर निकले रस के नस्य से विषग्रस्त व्यक्ति निर्विष हो जाता है । ये सारे प्रयोग भैरव प्रोक्त हैं । अत: सत्य तथ्य पर निर्भर हैं ॥१०५॥

गुटिका प्रयोग–

षड् बिन्दु (जीव) छबुन्ना–यह बरसात में देहातों में बहुतायत से पाया जाता है । पटखर्जूर शतपदी (जीव) गोजरों को कहते हैं । इन दोनों का चूर्ण बनाना चाहिये । इसे बारीक चूर्ण में मोरपित्त मिलाकर गोली बनानी चाहिये । इस गोली या गुटिका को त्रिलोह (चाँदी, सोना और ताँबा) से वेष्टित कर कण्ठ में धारण करना चाहिये । इसके महाप्रभाव से भयङ्कर विषधरों से दष्ट होने पर भी जहर उन व्यक्तियों पर नहीं चढ़ता, जो इसे कण्ठ में धारण किये हुए हैं । ये प्रयोग आयुर्वेदकी दृष्टि से उपादेय हैं । जीवनदाता प्रयोग के कारण इन्हें हेय नहीं मानना चाहिये ॥१०६-१०७॥

अगदप्रयोगे शेषविधिमाह–

अगदान्घृतसंयुक्तान्पिबेद्वै विषदूषितः ।
न विषं क्रमते तस्य इति शास्त्रस्य निश्चयः ।।१०८।।

एतेष्वगदेषु वान्येषु वा पृथक्पृथक् कुण्डलीयगारुड्येकवीराबलामोटादिमूलविषयेषु निष्कम्पप्रतिपत्तिना प्रयुज्यमानेषु अविसंवादिता भवतीति दर्शयन् पटलमुपसंहरति–

एवमन्येऽपि ये योगाः स्वच्छन्देन विनिर्मिताः ।
कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः ।।१०९।।
प्रदद्याद्भावितात्मा च सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।

स्वच्छन्देनेति सर्वं हि परमेश्वरेण प्रवर्तितम् । यदुक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्–

इन उक्त अगद प्रयोगों एवम् इनके अतिरिक्त अन्य कुण्डलीय, गारुड्य, एकवीर, बाला, मोटा आदि की जड़ों को भैरवोक्त होने के कारण दृढ़ विश्वास पूर्वक प्रयोग करना चाहिये । इन्हें पीस कर पीना चाहिये । घी में या दूध में पीस कर या जल से पीस कर प्रयोग में लाना चाहिये । इसका नस्य भी देना चाहिये । इससे विष चढ़ता नहीं और तुरत उतरने लगता है । यह शास्त्र का निश्चय है ॥१०८॥

इस प्रकार के और इनके अतिरिक्त भी बहुत सारे योग भगवान् भैरव द्वारा निर्दिष्ट हैं या निर्मित हैं । स्वच्छन्द भैरव द्वारा ही कालाग्नि, नरक, पाताल, हाटकेश्वर आदि लोक भी निर्मित हैं । कहीं भी उक्त अगद ओषधियों का प्रयोग करना लाभप्रद होता है । ये सार्वत्रिक सिद्ध प्रयोग माने जाते हैं । इसमें संशय नहीं ॥१०९॥

श्री कण्ठी संहिता का यह वचन इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य है–

सारा का सारा यह प्रपञ्च परमेश्वर से ही प्रवर्त्तित है । इसकी निवृत्ति अर्थात् इसका उपसंहार भी परमेश्वर में ही होता है । यह सब ईश्वर में ही अधिष्ठित है । स्थावर या जङ्गम यह सम्पूर्ण सचराचर जगत् उसी में अधिष्ठित है । महादेवाधिदेव महादेव से परे कोई भी तत्त्व नहीं है । इस कथन के रहस्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । यह सत्य वचन है । इस भाव से भावित होकर उक्त सारे प्रयोग प्रयोक्तव्य हैं । श्लोक १०९ में आये कालाग्नि नरक पाताल और हाटकेश्वर शब्दों के यहाँ प्रयोग करने से दशवें पटल की संगति भी कर दी गयी है–यह उपलक्षित हो रहा है ॥ इति शिवम् ॥

'प्रवर्तेतेश्वरात्सर्वं निवर्तेत तथेश्वरात् ।
ईश्वराधिष्ठितं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
महादेवात्परं नास्ति सत्यमेतन्न चान्यथा' ।

इति । च एवार्थे, भावितात्मैव प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । पाटलिकी संगतिरदूर एव–

'कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः' ।

इत्यादिना पटलान्तं कटाक्षयता ग्रन्थेन कृतेति शिवम् ॥

व्याधीनामगदं दिव्यमाधीनां मूलकर्तनम् ।
उपद्रवाणां दलनं महादेवमुपास्महे ॥

।। इति श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते नवमः पटलः समाप्तः ।।९।।

क्षेमराज पद्यानुवाद

व्याधि-आधिशामक दलक-सकल-उपद्रव वर्ग ।
परमोपास्य ! नमामि नित महादेव ! जय सर्ग ॥

भाष्यकार का निवेदन–

अचिन्त्या मे चितिश्चित्रा भैरवीयप्रभान्विता ।
स्वच्छन्दे चित्रिता सम्यक् मातृकातन्त्रमन्त्रिता ॥

महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् क्षेमराजकृतोद्योतविवरण समन्वित
डॉ० परमहंस मिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य सहित

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र का

कोटराक्षविधाननामक नवम पटल परिपूर्ण ॥९॥

॥ शुभं भूयात् ॥

●

मूलश्लोकादिपङ्क्तिक्रमः

पञ्चमः पटलः

उद्धरणान्यकारादिक्रमेण पञ्चमः पटलः

मूलश्लोकादिक्रमः षष्ठः पटलः

उद्धरणानि षष्ठः पटलः

सूक्तय:–

सप्तमः पटलः

उद्धरणानि सप्तमः पटलः

मूलश्लोकाकारादिक्रमः अष्टमः पटलः

उद्धरणान्यष्टमः पटलः

मूलश्लोकाकारादिक्रमः नवमः पटलः

उद्धरणानि नवमः पटलः

अकारादि-विशिष्टशब्दक्रमः

शास्त्राणि शास्त्रकाराश्च



मुद्रक : श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स